कारी प्रभाव, अशिक्षा, अज्ञानता, और निर्धनता में छटपटाते हुए लोगों की समस्याओं के व्यापक चित्र उपस्थित किए हैं। इस विशाल भू भाग में प्रति वर्ष बाढ़ आती है, समूचा गांव जलमग्न हो जाता है, त्राण पाने के लिए लोग इधर उधर बिखर जाते हैं।[1] 'लोग गांव छोड़कर भाग रहे हैं, खेती का कमाई में कुछ नहीं धरा है।' धामद पांडे घर छोड़कर लखनऊ भागगये, किसी मेस में नौकरी कर ली, टोसुन करताल लेकर लखनऊ निकल गया। बैना काका का छोटा लड़का छबोले कहीं निकल गया। रग्घू बाबा अपने छोटे भाई कन्नू पांडे के साथ बेलान करने निकल गये।.... गांव के हरिजन अपने गांव में निस्तार न देखकर भाग-भाग कर कलकत्ता और कोइलरी में जाने लगे।[2].... सारा गांव जैसे बिखरा हुआ, छटपटाता हुआ सन्नाटे में डूबा था।'

'पानी के प्राचीर' सीधे सीधे वर्णनात्मक पद्धति के द्वारा पाठकों के हृदय को झकझोरता है। लेखक ही पूरे उपन्यास की कहानी के सूत्र खोलता है, पात्र अपनी ओर से चुप रहते हैं। एकाध स्थल पर किस्सागोई या अलिफ-लैला की कहानी जैसी पद्धति का उपयोग हुआ है। नीरू की मां अपने[3] श्वसुर की वीरता की कहानी कहते समय इस पद्धति का प्रयोग करती है। लेखक को जैसे पांडेपुरवा गांव की कथा कहते समय वहां के खेत-खलिहान, भूमि, पेड़-पौधों एवं एक एक कण धरती का अनुभव हो। अपने जीवन्त अनुभव के आधार पर स्वाधीनतापूर्व भारत के गांव की कहानी उजागर करता है। इस कहानी में भूखे लोग छटपटाते हैं, एक एकरोटी के लिए हड्डी तोड़ परिश्रम करते हैं, रक्त बहाते हैं, जल्लाद जमींदार शोषण करते हैं, विदेशी सरकार जुल्म और अत्याचार की संगीनें भोंकती हैं, पुलिस रक्षा करने के बजाय गांव आने की कीमत वसूल करते हैं। पटवारी और अमीन लगान

---

१ पानी के प्राचीर, पृ०२१६

२ वही, पृ०२१७-१८

३ वही, पृ०३८-४८

स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यासों
का
शिल्प-विधान

इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी० फिल० उपाधि के लिए प्रस्तुत

शोध-प्रबन्ध

•
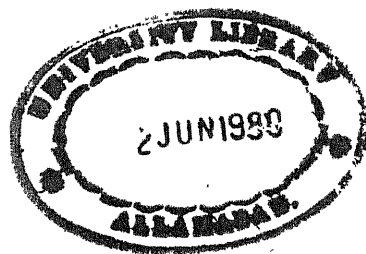
निर्देशक

डॉ० पारसनाथ तिवारी

•

प्रस्तुतकर्ता

प्रदीप कुमार शर्मा

•

हिन्दी-विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

१९७९

प्राक्कथन

रुचि के विषय पर शोध करना सुखकर तो होता ही है साथ ही रुकोन्मुखी बनना भी । न जाने क्यों कथा-साहित्य मेरे संवेदनशील हृदय को प्रकारान्तर से आकर्षित करता रहा है । इसका कारण शायद यह है कि कथा साहित्य के चरित्र हमारे जीवन से इतने घुले मिले होते हैं कि सहज ही हमारे आत्मीय बन जाते हैं-- और आत्मीय में लगाव तो होता ही है । इस रुचि के अनुसार शोध-विषय पर कार्य करना तो शुरु कर दिया, पर धीरे-धीरे परिस्थितियों के तंतु ऐसे फैलने लगे कि न जाने कितनी बार हताश,निराश और पराजित सा अनुभव करता रहा । अध्ययन से बड़ी भूख पेट की होती है, इस राक्षस पेट के लिए आवारों का तरह दर-दर भटकता रहा । गेटे ने कहीं कहा था--`अनवरत असफलता के सिवा इस दुनिया में सब चीज सहन की जा सकती है ।' और सच तो यह है कि अनवरत असफलता आदमी को मुर्दा बना देती है । निरन्तर बेकारी का दर्द लिए कच्छप गति से शोध-कार्य में लगा रहा । जुलाई से दिसम्बर तक इण्टरव्यू का सिलसिला, फिर खिन्न,हताश,असफल हो उपन्यासों को और ललचाई आंखों से देखता, तनाव की हालत में उठाकर पटक देता । कुछ आत्मीय लोगों से दिलासा मिलती ,फिर तो लेखनी सरपट दौड़ने लगती । अजब अस्त-व्यस्तता की स्थिति में शोध-प्रबन्ध पूरा हुआ और अब सोचता हूं कि एक किला फतह कर लिया है । इन सबके बीच किसको, किस चीज को प्रेरक समझूं अब तक समझ में नहीं आया ।

शोध-विषय-चयन के सिलसिले में आदरणीय अध्यक्ष जी से चर्चा करते समय उन्होंने कहा था--' प्रेमचन्द पर रिसर्च करोगे ? उनका आंख, नाक,कान सब तो आ गये हो । बचा क्या है ?' वस्तुत: स्वातन्त्र्य पूर्व उपन्यासों पर काफी कार्य हो चुके हैं, इसलिए प्रबन्ध लेखक की दृष्टि स्वातन्त्र्योत्तर नवीन उपन्यासों की ओर गई और उसे अनुभव हुआ कि इस क्षेत्र में अभी पर्याप्त कार्य किये जा सकते हैं । आलोच्यकालीन उपन्यासों पर सामाजिक,राजनीतिक,सांस्कृतिक चेतना और तत्व को लेकर कार्य हुए हैं, इनमें लेखकों की दृष्टि उपन्यासों के कथ्य पर टिकी रही है । वस्तुत: इस काल के उपन्यासकारों का रुझान कथ्य की अपेक्षा शिल्प-विधान की ओर अधिक रहा, कथ्य से अधिक शिल्प को लेकर आकर्षण,नवीनता और उपलब्धि देखी जा सकती है ।

स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यासों के शिल्प-विधान पर अब तक हुए शोध कार्य संग्रहमूलक अधिक बन पड़े हैं,अर्थात् कथानक, चरित्र के प्रकार,भाषा-संवाद के रूप आदि को दिखाकर कृतियों में एक साथ ढूंढने की कोशिश अधिक की गई है । वस्तुत: आलोच्यकालीन नवीन उपन्यास विविध और विशिष्ट व्यक्तित्व रखते हैं और उनका पर्याप्त विस्तृत अध्ययन की आवश्यकता है । विशिष्ट व्यक्तित्व वाले उपन्यासों पर अध्ययन नहीं के बराबर है, एकाध जो हुए भी हैं वे एकांगी, सतही और चलताऊ ढंग के हैं । कुछ अध्ययन तो शिल्प-विधान के अंगों को लेकर हुए हैं,जैसे हिन्दी उपन्यास में चरित्र-चित्रण का विकास(डा० रणवीर रांग्रा) हिन्दी उपन्यास में कथा शिल्प का विकास (डा० प्रतापनारायण टण्डन), हिन्दी उपन्यासों में नायिका की परिकल्पना(डा० सुरेश सिन्हा), हिन्दी उपन्यासों में नायक(डा० कुसुम वार्ष्णेय) और कुछ अध्ययन विशिष्ट प्रवृत्तियों के आधार पर हुए हैं, जैसे आधुनिक हिन्दी कथा-साहित्य और मनोविज्ञान(डा० देवराज उपाध्याय), हिन्दी के आंचलिक उपन्यास और उनकी शिल्प-विधि(डा० आदर्श सक्सेना) आदि;पर इनसे शिल्प-विधान का समग्र बोध उत्पन्न नहीं हो पाता । हिन्दी उपन्यास की शिल्प-विधि का विकास की दृष्टि से कुछ शोध-प्रबन्ध प्रकाशित हुए हैं-- हिन्दी उपन्यास की शिल्प- विधि का विकास(डा० कृष्णा नाग),हिन्दी उपन्यास की शिल्प-विधि का विकास (डा० ओम शुक्ल) और हिन्दी उपन्यासों

का शिल्पगत विकास(डा० कृष्णा सक्सेना) आदि -- पर इनमें स्वाधीनतापूर्व उपन्यासों का अध्ययन विशेषरूप से हुआ है, स्वातन्त्र्योत्तर उपन्यासों का अवलोकन नहीं हो पाया है, जो हुआ भी है वह संकुचित,एकांगी और अपूर्ण है।

स्वातन्त्र्योत्तर उपन्यासों का शिल्प-विधान की दृष्टि से अध्ययन संबंधी चार विशिष्ट शोध-प्रबन्ध देखने को मिले हैं । हिन्दी उपन्यास शिल्प : बदलते परिप्रेक्ष्य (डा० प्रेम भटनागर) तथा प्रेमचंदोत्तर उपन्यासों की शिल्प-विधि(डा० सत्यपाल चुघ) में उपन्यासों का शिल्प सम्बन्धी वर्गीकरण अवैज्ञानिक और भ्रमात्मक है । डा० भटनागर ने कई विशिष्ट शिल्प प्रविधियों से समन्वित उपन्यासों को समन्वित शिल्प-विधि के अन्तर्गत रखकर बचाव करने का उपक्रम किया है । उन्होंने बहुत से महत्वपूर्ण और कमजोर उपन्यासों को भी अध्ययन का विषय बनाया है, इसके अतिरिक्त उनका सम्पूर्ण विवेचन संक्षिप्त और एकांगी है । डा० चुघ ने अध्ययन को इतना विस्तार दे दिया है कि कई स्थलों पर वे विषय से असम्पृक्त हो गये हैं । साथ ही उन्होंने बहुत-सी नवीन उपन्यासों का अध्ययन छोड़ दिया है । हिन्दी उपन्यास : परम्परा और प्रयोग(डा० सुभद्रा) में परम्परा को दिखलाते हुए शिल्प और वस्तु सम्बन्धी प्रयोगों की खोज की गई है, इसलिए स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यासों के शिल्प-विधान का सम्पूर्ण बोध तो नहीं होता, पर नवीन शिल्प प्रवृत्तियों की ओर संकेत अवश्य मिल जाते हैं । हिन्दी उपन्यास : शिल्प और प्रयोग (डा० त्रिभुवन सिंह) में प्रथम बार स्वातन्त्र्योत्तरकाल में विकसित नवीन शिल्प प्रविधियों का नव्य,वैज्ञानिक और विस्तृत अध्ययन प्रस्तुत हुआ है । उनका अध्ययन इतने विस्तार के साथ हुआ है, फिर भी स्वातन्त्र्योत्तर विशिष्ट उपन्यासों के विशिष्ट शिल्प-विधान का अध्ययन अलग से नहीं दिखाया जा सका है । उनकी विवेचना वस्तुत: अंग्रेजी के आलोचना ग्रन्थों के सिद्धान्तों पर आधारित है, यहां तक कि बहुत से शिल्प रूप, जिनका हिन्दी उपन्यासों में उदाहरण तक नहीं मिलता, उनका भी संकेत किया गया है । शिल्प और प्रयोग की दृष्टि से उनका अध्ययन सम्पूर्ण तो है, किन्तु हिन्दी के नवीन उपन्यासों का विस्तृत और विशिष्ट अध्ययन होने की अपेक्षा अब भी रह

जाती है ।

इसके अलावा कई महत्वपूर्ण आलोचनात्मक ग्रन्थ भी प्रकाशित हैं । अधूरे साक्षात्कार(नेमिचन्द जैन), हिन्दी उपन्यास : उपलब्धियां(डा० लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय), हिन्दी उपन्यास : एक अन्तर्यात्रा(डा० रामदरश मिश्र), हिन्दी उपन्यास (डा० सुरेशसिन्हा), हिन्दी उपन्यास : पहचान और परख (डा० इन्द्रनाथ मदान), हिन्दी उपन्यास : प्रयोग के चरण (डा० राजमल बोरा) हिन्दी नवलेखन(डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी) तथा पत्रिकाओं में प्रकाशित छिटपुट लेख । इन ग्रन्थों को समीक्षा का रुझान उपन्यासों के कथ्य की ओर अधिक है, शिल्प-विधान की ओर संकेत सीमित और लगभग चलताऊ ढंग पर है ।

उपर्युक्त कमियों और आवश्यकता को ध्यान में रखकर प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध के लेखक ने चुने हुए कुल इक्कीस स्वातंत्र्योत्तर विशिष्ट उपन्यासों का शिल्प-विधान की दृष्टि से विस्तृत अध्ययन प्रस्तुत किया है । प्रथम अध्याय को चार विभागों में बांटा गया है । पहले विभाग में 'शिल्प विधान' के अर्थ या अभिप्राय के विषय में प्रचलित भ्रमों का खण्डन करते हुए उसे नये प्रकार से समझने का प्रयास हुआ है । शिल्प-विधान के महत्व का मूल्यांकन करते हुए उसके विभिन्न स्तरों का रूपायन और उसका सम्बन्ध उपन्यास के सृजन पक्ष से दिखाया गया है । दूसरे विभाग में उपन्यास की सृजन-प्रक्रिया का सम्पूर्ण विशद् विवेचन हुआ है । कथाकार के सृजन पर पड़ने वाले प्रभावों और सृजन की विधियों की ओर भी पर्याप्त संकेत किये गये हैं । तीसरे विभाग में औपन्यासिक शिल्प विधान के विकास का संक्षिप्त ऐतिहासिक वृत्त प्रस्तुत करते हुए यह स्पष्ट किया गया है कि युग और परिवेश के परिवर्तन के अनुरूप शिल्प विधान में परिवर्तन होना स्वाभाविक एवं अनिवार्य है । चौथे विभाग में उपन्यास के तत्वों--कथानक,चरित्र-चित्रण, संवाद,देश-काल और वातावरण तथा भाषा एवं प्रस्तुतीकरण का अर्थ तथा उनका उपन्यास में महत्व और कार्य दिखाते हुए स्वातंत्र्योत्तर नवीन शिल्प-परिवर्तनों का विस्तार से वर्णन किया गया है ।

द्वितीय अध्याय स्वातन्त्र्योत्तर परिवेश में हुए परिवर्तनों-- सामाजिक,राजनीतिक, आर्थिक,साहित्यिक तथा सांस्कृतिक-- की अभिव्यक्ति देता है । तृतीय अध्याय में अब तक किये गये वर्गीकरण को अस्वीकृत करते हुए प्रवृत्ति की प्रधानता के आधार पर वर्गीकरण किया गया है । वर्णनात्मक शिल्प-विधान के अभिप्राय और प्रक्रिया का स्पष्टीकरण देते हुए इस वर्ग के चार प्रमुख उपन्यासों-- जहाज का पंछी, बूंद और समुद्र, अंधेरे बंद कमरे तथा `यह पथ बंधु था का विशिष्ट अध्ययन प्रस्तुत किया गया है ।

चतुर्थ अध्याय मनोविश्लेषणात्मक शिल्प संसार को विवेचित करता है । इस विधान को स्पष्ट करते हुए इस वर्ग के तीन प्रतिनिधि उपन्यासों `नदी के द्वीप`, `मछली मरी हुई` तथा `सूरजमुखी अंधेरे के` का सांगोपांग अध्ययन प्रस्तुत करता है । पंचम अध्याय में अंचल और आंचलिकता का अन्तर तथा आंचलिक शिल्प विधान का सूक्ष्म विश्लेषण तथा इससे सम्बन्धित तीन विविध व्यक्तित्व वाले उपन्यासों-- `मैला आंचल`,`पानी के प्राचीर` और `अलग अलग वैतरिणी` का विस्तार से अध्ययन देने का प्रयास हुआ है । षष्ठ अध्याय ऐतिहासिक शिल्प विधान की विवेचना करता है । उपन्यासकारों द्वारा उपन्यास में इतिहास का उपयोग, ऐतिहासिक उपन्यासों का वर्गीकरण तथा इस क्षेत्र के तीन प्रयोग परक उपन्यासों--`मुर्दों का टीला( इतिहासाभास प्रस्तुत करने वाला),`चारु चन्द्र लेख`(अर्द्ध ऐतिहासिक) तथा `कुणाल की आंखें`(शुद्ध ऐतिहासिक) का विस्तृत अध्ययन स्थापित करता है ।

सप्तम अध्याय स्वतंत्रता के बाद निर्मित नये विधान- व्यंग्यात्मक शिल्प विधान- का स्पष्टीकरण कर तथा नव्यता एवं आकर्षण का विवेचन प्रस्तुत करते हुए इस वर्ग के दो विशिष्ट उपन्यासों--`खाली कुर्सी की आत्मा` तथा `राग दरबारी` का सम्पूर्ण अध्ययन देने का प्रयास करता है । अन्तिम अष्टम अध्याय में चमत्कृत करने वाले तथा पाठकों को केवल प्रयोगों के आधार पर आकर्षित करने वाले प्रयोगपरक उपन्यासों--`बहती गंगा`, `चांदनी के खण्डहर`,`सूरज का सातवां घोड़ा`,`अठारह सूरज के पौधे` तथा `दूसरी बार`का विशिष्ट अध्ययन प्रस्तुत किया गया है ।

प्रबन्ध लिखने और प्रस्तुत करने में आदरणीय गुरुवर डा० पारसनाथ तिवारी की अनुकम्पा को कभी नहीं भुला सकता, क्योंकि जिस कुशलता और सहज भाव से उन्होंने निर्देशन दिया, समय-समय अपनी ममता और स्नेह के स्फुरण से कठिनाइयों को हल्का किया-- यह सब न मिलता तो शायद अब तक प्रबन्ध लिख न पाता । यह सब उन्हीं के चरणों की कृपा का फल है ।

श्रद्धेय पिता श्री श्यामसुन्दर शर्मा तथा ममतामयी मां के प्रति आभार ज्ञापित करना तो औपचारिकता को निबाहना होगा, क्योंकि मेरा जो कुछ भी है, सब उन्हीं का दिया हुआ है । हर पल साथ रहने वाली तथा मेरी सारी वेदनाओं को सहज हंस कर पी जाने वाली पत्नी पुष्पा को आभार देना, उसके चरित्र को बौना कर देना है। बेकारी की कुंठाओं को जिस निश्छल स्नेह से कम किया और परितोष दिया, वह सहज भुलाने की चीज नहीं है ।

आदरणीय बड़े भाई श्री त्रिलोकीनाथ मिश्र का अत्यन्त कृतज्ञ और उपकृत हूं । उन्होंने प्रबन्ध को टंकित कराने के लिए आर्थिक सहायता देकर संकट का बहुत बड़ा हिस्सा हल्का कर दिया है । अपने मित्र भाइयों श्रीयुत डा० राकेश चतुर्वेदी, अशोक कुमार शर्मा, राकेश जौहरी, कैलाश गौतम, राजाराम दीक्षित तथा शरद शुक्ला की शुभचिन्ताओं और सहायता के प्रति अनुगृहीत हूं । श्रीयुत रामहित त्रिपाठी ने मेरी सीमाओं को ध्यान में रखकर शोध-प्रबन्ध टंकित करने में जो परिश्रम और विनम्र व्यवहार से आकर्षित किया, उसके प्रति अत्यन्त उपकृत हूं ।

अन्त में, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग संग्रहालय तथा इलाहाबाद विश्वविद्यालय पुस्तकालय के कर्मचारियों ने ग्रन्थों को देखने और पढ़ने में जो सहायता दी है, उनके भी आभारी हैं और उन सभी विद्वानों के प्रति आभार ज्ञापित करता हूं जिनसे प्रस्तुत प्रबन्ध में सहायता लेने की कोशिश की गई है ।

-0-

(प्रदीप शर्मा)

अनुक्रम

विषय | पृष्ठसंख्या

विषय | पृष्ठसंख्या

प्रथम अध्याय

-0-

(१) शिल्प विधान -- अर्थ विवेचन

उपन्यास साहित्य की आधुनिक विधा है । इसके विकास का इतिहास प्राय: दो-तीन शताब्दियों का ही है । अधिकतर आलोचकों (और रचनाकारों) का मस्तिष्क काव्य तथा काव्य शिल्प के अध्ययन और उसकी समीक्षा में संलग्न रहा है,[१] इसलिए एक प्रकार से उपन्यास का मार्ग ही अवरुद्ध हो गया था । उपन्यास भी एक कलात्मक विधा हो सकती है, यह बात उनके मस्तिष्क में नहीं खप पा रही थी । वे तो इसे सामाजिक स्थान दिलाने में ही असमर्थ हो रहे थे, समीक्षा और अध्ययन की तो बात ही विलग थी । व्यक्ति का उपन्यास पढ़ना और लिखना एक रहस्य और असामाजिक कार्य माना जाता था[२] । किन्तु आज इसे सर्वाधिक और अद्वितीय कला की वस्तु गृहीत किया जाता है[३] । अब तो अपनी विस्तृति में इसने

---

१ "More critics have applied themselves to the study of poetic forms than to the forms of the novel....."
O' Connar, William Van/Forms of Modern fiction /P. 3.

२ 'जिस स्वतन्त्रता के साथ हम आज उपन्यास पढ़ते हैं, वह स्वतन्त्रता उन्नीसवीं शताब्दी के पाठकों को नहीं थी । यही परिस्थिति यूरोप में १८ वीं शताब्दी में थी । जब वाल्टर स्काट ने अपना 'वेवर्ली' उपन्यास प्रकाशित किया था तो उस पर अपना नाम दिया था, क्योंकि उस समय उपन्यास लिखना किसी भी प्रतिष्ठित व्यक्ति के लिए अच्छा नहीं समझा जाता था ...... ।'
--डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय : 'हिन्दी उपन्यास-- उपलब्धियां', पृ०१३

३ "....The novel seems to me the most magnificent form of art..." James, Henry / The Art of fiction / P. 19.

एक विशाल परिधि को घेर रखा है । कलात्मक विधा के रूप में प्रतिष्ठित हो जाने से उसका शिल्प पक्ष व्याख्येय ही नहीं अत्यन्त महत्वपूर्ण हो जाता है । क्योंकि अंततः शिल्प के बिना कला अधूरी होती है । समकालीन आलोचना में शिल्प-विधान के विवेचन का रुझान तेजी से बढ़ा है, क्योंकि नये कथाकारों की प्रतिभा का निखार सबसे पहले नए शिल्प रूपों में संभावित होता है ।' शायद उपन्यास के इतिहास में ऐसा काल कभी नहीं आया था, जितना कि आज शिल्प सामग्री पर ध्यान केन्द्रित किया जाता है । मनोवृष्टि यह है कि निकट भविष्य में और भी बेहतर रूप से उसको समझा जायेगा, अपेक्षाकृत जैसा कि अतीत में समझा गया था[1] ।' इस प्रकार आज 'शिल्प - विधान' या 'शिल्प-विधि' को उपन्यास का सर्वाधिक महत्वपूर्ण पक्ष माना जाना चाहिए ।

इधर हिन्दी में 'शिल्प-विधान' या 'शिल्प-विधि' के अर्थ को ठीक-ठीक समझने की कोशिश कम की गई है । इसे प्रायः अंग्रेजी के 'टेकनीक' का हिन्दी-रूपान्तर माना गया है[2] । यदि हम इसे 'टेकनीक' का हिन्दी-रूपान्तर मान लें, तो कहेंगे कि किसी कृति के निर्माण में उसके अवयवों एवं व्योरों के कुशल संयोजन का प्रयास किया गया है । उसकी बुनावट में कारीगरी और बारीक युक्तियों से काम लिया गया है[3] । अतः कुशल कारीगरी ही किसी कृति का शिल्प-विधान है । इस शर्त

---

१ Beach, J.W. / The Twentieth Century Novel / P. 4.

२ 'शिल्प विधि अंग्रेजी के टेकनीक का हिन्दी रूप है, इसका तात्पर्य रचना-पद्धति से है ।'
--डा०सत्यपाल चुघ : 'प्रेमचंदोत्तर उपन्यासों की शिल्प-विधि', पृ०१

३ (क) Technique प्रविधि, क्रियाकल्प--'किसी भी कला में प्रविधि (Technique) का तात्पर्य कलात्मक निष्पादन की विधि से होता है, अर्थात् किसी कृति के अवयवों और व्योरों को गुम्फित करने की कुशल पद्धति ।'
--डा० नगेन्द्र(सम्पादक) : 'मानविकी पारिभाषिक कोश', पृ०२४७ ।

(ख) Technique (१)तकनीक, प्रविधि, (२) शिल्प कौशल, कला प्रवीणता
'मानक अंग्रेजी हिन्दी कोश', पृ०१३६० ।

में कि कृति की बनावट बड़ी बारीक और उसका गुम्फन अत्यन्त कौशलपूर्ण ढंग से निष्पादित किया गया हो, अनेक कृतियों का अपना कोई शिल्प-विधान नहीं होना चाहिए, क्योंकि हो सकता है कि उसमें कुशलपूर्ण संयोजन न हुआ हो । हिन्दी में प्रेमचंद के पहले के कलाकारों, अंग्रेजी में वाल्टर स्काट और कुछ पहले के कलाकारों, रूसी में गोर्की और तुर्गनेव के पूर्व के कथाकारों और फ्रेंच में बाल्जाक और फ्लाबर्ट से पहले के उपन्यासकारों का अपना कोई शिल्प-विधान न रहा होगा, क्योंकि इन रचनाकारों ने संगठन की कुशलता पर उतना ध्यान नहीं दिया है । इस स्थिति में यहां इन कृतियों की समीक्षा के लिए `शिल्प-विधान` का प्रश्न ही नहीं उठना चाहिए । पर वास्तविकता यह है कि इन कृतियों का भी अपना कोई न कोई `शिल्प-विधान` है, चाहे वह जिस प्रकार का हो । अतः अंग्रेजी का `टैक्नीक` शब्द शिल्प-विधान के पूरे अर्थ को व्यंजित करने में असमर्थ है ।

डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने शिल्प-विधि को शैली का पर्याय मान लिया है,[१] जब कि शैली साफ-साफ शिल्प विधि का एक अंग है । शैली किसी कृति की शिल्प-विधि को प्रस्तुत करने का सशक्त अंग अवश्य है, किन्तु उसे स्वयं शिल्प-विधि नहीं कहा जा सकता । शैली को ही शिल्प-विधि या शिल्प विधान मानने का भ्रम बहुत अरसे से हो रहा है ।

नाना प्रकार की विधियों, रीतियों और प्रक्रियाओं के समुच्चय को

---

१ वे स्वातन्त्र्योत्तर उपन्यासों का विभाजन शिल्प की दृष्टि से इस प्रकार करते हैं:-

(१) वर्णनात्मक शैली -- प्रमुख उपन्यास भूले बिसरे चित्र (१९५२) भगवतीचरण वर्मा, झूठा सच (१९५८-६०) यशपाल इत्यादि ।

(२) पत्रात्मक शैली -- चंद हसीनों के खुतूत (उग्र)

(३) फोटोग्रैफिक शैली -- मैला आंचल (१९५४), परती परिकथा (१९५६) फणीश्वरनाथ रेणु .... इत्यादि ।

जब कि यह विभाजन शैली की दृष्टि से है ।

द्रष्टव्य -- डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय : `हिन्दी उपन्यास-उपलब्धियां`, पृ०२२ ।

भी शिल्प-विधि माना गया है[१]। इस रूप में सर्जक के लिए जैसे कई नियम या रीतियां दी गई होती हैं,एक खाका उपलब्ध होता है । बस उस खाके पर रचनाकार उपन्यास खींच देता है । ऐसा आभास होता है, जैसे रचनाकार को शिल्प-विधि की शिक्षा दी जाती हो । शायद नियम,रीतियां और प्रविधियां उसे प्रदत्त न हों तो वह कृति का निर्माण कर ही नहीं सकता । कहना न होगा, कृतिकार किसी ढांचे या नियमों से बंधा नहीं होता[२]। न ही, उसे शिल्प-विधि की शिक्षा दी जा सकती है । प्रतिभाशील कथाकार अपनी प्रतिभा के द्वारा कुछ विधियों और प्रविधियों का गठन अवश्य कर सकता है, किन्तु ये विधियां और प्रविधियां उसकी व्यक्तिगत चीज होंगी । इतनी व्यक्तिगत नहीं जिसे कोई अन्य अपनाने का दावा न करे । दूसरे कथाकार भी इन विधियों का उपयोग कर सकते हैं, पर वे इसके लिए विवश नहीं हैं । इस प्रकार शिल्प-विधि या शिल्प-विधान को विभिन्न रीतियों, नियमों एवं प्रविधियों का आकलन भी नहीं कहा जा सकता । ऐसे भ्रम का संकेत पश्चिम के सशक्त समीक्षक मार्क शोरर ने भी किया है, 'उपन्यास विधा में शिल्प.... हम किसी प्रकार यह मानकर चलते हैं कि इसका अभिप्राय केवल दी गई सामग्री का संगठन है[३]।'

शिल्प-विधि या शिल्प-विधान का सम्बन्ध वस्तुत: उपन्यास के सृजन पक्ष से है । उपन्यासकार के मस्तिष्क में समाज की सच्चाइयां,आदमी की हालत

----

१ 'इस प्रकार ,साहित्यकार अपनी रचना के सृजन की प्रारम्भिक अवस्था से लेकर इसे कलात्मक रूप प्रदान करने की अन्तिम अवस्था तक जिन नाना प्रकार की विधियों,रीतियों एवं प्रक्रियाओं को काम में लाता है, वह सभी विधियां और रीतियां शिल्प-विधि के नाम से पुकारी जाती है ।'

--ओमशुक्ल(डा०श्रीमती) : 'हिन्दी उपन्यास की शिल्प-विधि का विकास', पृ०२६

२ "A novelist can not be taught the technique ..." O' Connar, Willian Van / Forms of Modern Fiction / P. 1.

३ do, P. 10.

और परिवेश के यथार्थ संग्रहीत होते रहते हैं । इसका वर्णन करने के लिए उसके मन में भावों का उद्वेलन होता है । वह इन संग्रहीत भावों अथवा भाववस्तु को कैनवस पर उतारना चाहता है । और जिस ढंग से, जिस प्रक्रिया से उसे उतारा गया है, वही इसका शिल्प-विधान है । उपन्यासकार जो कुछ कहना चाहता है, या जो उसने कहा है, वह उपन्यास की भाववस्तु है और जिस ढंग से, जिस ढांचे में उसे प्रस्तुत किया है, वह उसका शिल्प विधान है । भाववस्तु उपन्यास का बाह्य पक्ष है और शिल्प विधान आभ्यन्तरिक । दूसरे शब्दों में, उपन्यास के सृजन की आंतरिक प्रक्रिया ही उसका शिल्प-विधान है । सृजन का यह कार्य किसी भी प्रकार से पूरा किया जा सकता है । इस प्रकार शिल्प एक रचनात्मक मूल्य भी है[१] । एक ऐसा मूल्य जिसके द्वारा किसी कृति का मूल्यांकन किया जा सके[२] । सर्जक कथाकार अपनी भाव-वस्तु को सम्प्रेषित करने के लिए उपन्यास का सृजन इस प्रकार करता है कि सम्पूर्ण रूप से अभिप्रेत को अभिव्यक्ति दिला सके । नयी भाववस्तु नए शिल्प की सर्वदा मांग करता है । इसी में कथाकार तथा कथा की नवीनता की संभावनाएं परिभाषित होती हैं । समर्थ कलाकार हमेशा अपनी प्रतिष्ठा इन्हीं सम्भावनाओं में स्थापित करता है । वह नये भाव-बोध तथा नये सौन्दर्य-बोध को प्रस्तुत करने के लिए सर्जन का नवीन ढांचा प्रस्तुत करता है । शिल्प विधान के लिए इस प्रकार अंग्रेजी का स्ट्रक्चर (Structure)[3] और फार्म (Form)[४] शब्द अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है । स्ट्रक्चर और फार्म शब्दों में उपन्यास की सम्पूर्ण आन्तरिक सर्जना को समेटने

---

१ `हम उनका ध्यान शिल्प के रचनात्मक पक्ष और उसकी रचनात्मक संभावनाओं की ओर दिलाते हुए, निवेदन करना चाहेंगे कि `शिल्प` एक रचनात्मक `मूल्य` है, यन्त्र नहीं ।`
--डा०परमानन्द श्रीवास्तव : `हिन्दी कहानी की रचनात्मक प्रक्रिया`,पृ०२३३ ।

२ "Technique, at last is measure....." O' Connar, William Van / Forms of Modern Fiction / P. 28.

3 Edwin Muir ने शिल्प-विधान के लिए `Structure` शब्द को स्वीकार किया है । द्रष्टव्य -- "Structure of the Novel".

४ शिल्प-विधान के लिए `Form` शब्द पर William Vam O' Connar अत्यधिक जोर देते हैं। द्रष्टव्य -- 'Forms of Modern Fiction'.

की सामर्थ्य है ।

शिल्प-विधान की शक्तिमत्ता तथा निर्बलता कथाकार की प्रतिभा तथा उसकी क्षमता पर निर्भर । कोई शिल्प अधिक सक्षम हो सकती है और कोई अधिक निर्बल । यानी, उसके गुण में स्तरीय अंतर आ सकता है । उपन्यास की बुनावट बारीक, उसकी काट-छांट सूक्ष्म भी हो सकती है और भद्दी भी । किन्तु यह स्पष्ट है कि जहां सर्जन होगा, वहां उसका शिल्प-विधान भी होगा । जैसे मुर्तिकार एक मुर्ति के गढ़न में किसी भी प्रकार से छेनियों एवं हथौड़ों का आघात कर सकता है। कृति के समापन तक जो कुछ भी सर्जन की प्रक्रिया चल रही है, वही उसका शिल्प-विधान है । यह जरूरी नहीं कि प्रक्रिया में अत्यन्त बारीकियों से काम लिया गया हो अत्यन्त सूक्ष्म मनोभावों को व्यक्त करने की कोशिश की गई हो । वह प्राकृत सर्जना भोंडी और भोंथरी भी हो सकती है, किन्तु उसका यह रूप भी एक शिल्प है । इस स्तर पर हम यह अवश्य कहेंगे कि एक मुर्ति या मुर्तिकार का शिल्प कमजोर है,जब कि दूसरे मुर्तिकार या मुर्ति का शिल्प प्रखर और वजनदार है ।

उपन्यास शिल्प अपने-आप में किसी कृति को अभिव्यक्ति देने का अधिक और उपयुक्ततम माध्यम है । वह उपन्यासकार की पड़ताल करता है, कि वह कितना अर्थ समर्थ कथाकार है[1]। रचनाकार अपने उचित शिल्प के माध्यम से अपनी बात को अधिक सार्थक ढंग से कह सकता है । उपन्यास एक मकान है,जिसमें अनेक खिड़कियां हैं[2], और हम कहेंगे कि उस मकान के सौन्दर्य-बोध के लिए सभी खिड़कियों को परखना होगा । तभी उसकी पूरी कला का आकलन किया जा सकता है । उसकी खिड़कियों को हम उस मकान की शिल्प-विधि कहेंगे ।

शिल्प विधान एक मौलिक चीज है, किन्तु इतनी मौलिक नहीं कि परम्परा और समकालीनता से उसका कोई सम्बन्ध हो न हो । यह हम कह आये हैं कि रचनाकार बंधे ढांचे और नियमों में अपनी सर्जना नहीं करता, किन्तु ऐसा नहीं होता

---

1 "....That structure is the key to the novelist's success or failure". O' Connar, William Von / 'Forms of Modern Fiction' / P. 30.

2 Shepario, Charles (edited by) / Twelve Original essays on great English novels / P. 7.

कि वह उपन्यासों के सृजन में, उसके इतिहास को जाने बिना, उसकी शिल्प-युक्तियों एवं प्रविधियों से अभिज्ञ हुए बिना, कला कर्म पूरा कर ले । अर्थात् परम्परा और समकालीनता से परिचित होना जरूरी है । परम्परागत सूत्रों को वह पूरी तरह स्थापित तो नहीं करता, किन्तु उसको कोई-न-कोई ऐसा बाद की रचनाओं में अंकित अवश्य होती है । बिल्कुल नई या समकालीन कृतियों में अतीत के इन सूत्रों को देखना दुष्कर कार्य है, क्योंकि वे धीरे-धीरे इतने घुल-मिल जाते हैं कि उनके पृथकत्व के लिए इतिहास का मूल्यांकन करना होगा । पर यह सच है कि समकालीन रचनाओं में परम्परागत सूत्र किसी-न-किसी स्तर पर अनुगूंज प्राप्त करते हैं । परम्परागत सूत्र एक प्रकार से सतत् प्रवाहशील रहते हैं । कलाकार के अचेतन मस्तिष्क में ये सूत्र बिखरे पड़े रहते हैं, फिर उसके मस्तिष्क का निर्माण भी इन विचारों के द्वारा ही तो होता है । सर्जन की दुनिया में शिल्प का कार्य-व्यापार प्रवहमान परम्परा को आगे विकसित करना है । शिल्प अपने आप में मौलिक होते हुए भी परम्परागत सूत्रों द्वारा निर्मित होता है । मौलिक इसलिए कि दूसरी कृतियों के सापेक्ष में, किसी स्तर पर नवीनता की सामर्थ्य रखता है । इस प्रकार शिल्प मौलिक भी है और रूढ़ भी ।

शिल्प कथाकार के अनुभवों को प्रक्षेपित करने का उपयुक्ततम आधार है । शिल्प ही केवल साधन है, जिसके द्वारा वह अपने विषय एवं अपने अभिप्रेत को प्रस्तुत करने का माध्यम बनाता है । और उसी के द्वारा वह उसका अनुसन्धान, गवेषणा तथा विकास करता है, अपने अभिप्रेत को उचित रूप से सम्प्रेषित करता है और अन्त में इसका मूल्यांकन करता है[१] । एक अच्छे शिल्प के द्वारा वह अपनी बात को अधिक तीखे और तेवर के साथ रख सकता है । प्रबल से प्रबल भाववस्तु भी

---

१ "Technique is the only means he has of discovering, exploring, developing his subject, of conveying its meaning, and, finally, of evaluating it." O' Connar, William Von / Forms of Modern Fiction / P. 9-10.

सुगठित शिल्प की अनुपस्थिति में अर्थहीन हो जाती है ।

उपन्यास के प्रारम्भिक इतिहास में शिल्प को एक अतिरिक्त वस्तु के रूप में परखा जाता रहा है[1]। वस्तु पक्ष को अधिक सार्थकता दी जाती थी । शिल्प यदि अनगढ़ भी हो गया हो, पर यदि उसका वस्तुपक्ष सशक्त है, तो कृति के महत्व में कोई कमी नहीं होती थी, किन्तु आज स्थिति बदल गई है । उपन्यास की समीक्षा विकसित और समृद्ध हो रही है । उसपर गम्भीर विचारणाएं प्रस्तुत की जा रही हैं । आज की समृद्ध आलोचना ने यह दिखा दिया[2] है कि जितना उपन्यास का वस्तु मूल्यवान है, उतना ही उसका शिल्प भी । कभी-कभी शिल्प इतना प्रबल होकर आता है कि मात्र उसी के सहारे नया कथाकार अपनी स्थापना करता है ।

आज के बदले हुए जीवन में जब मनुष्य का आत्मतत्व धुंधला हो गया है, उसके बाहरी रूप के द्वारा महत्व का मूल्यांकन किया जाता है । मनुष्य की तरह उपन्यास का शिल्प, जो उसका शरीर है, उसका बाहरी परिधान है-- आज शायद आत्मा की बात को शताब्दियों का पीछे मान लिया गया है--अत्यन्त मूल्यवान हो जाता है[3]। शिल्प को हम केवल चमत्कार या प्रदर्शन का मसाला न कहकर उसकी नई वस्तु को उपयुक्ततम ढंग से कहने का आधार कहेंगे । केवल 'अजूबा' घोषित करने के लिए, हम बारीक पच्चीकारी नहीं करेंगे, बल्कि अपनी बात की अर्थवत्ता को, परिभाषित और समृद्ध करने का महत्वपूर्ण साधन है ।

----

१ ".....And as though technique were not a primary but a supplementary element capable perhaps of not unattractive embellishments upon the surface of the subject." O' Connar, William Von / Forms of Modern Fiction / P. 10.

२ वही, पृ०६

३ वही, पृ०१६

कला एवं शिल्प में अन्तर

समीक्षकों में प्राय: कला और शिल्प के एक होने का भ्रम रहा है। यहां हम बड़ी विनम्रता के साथ निवेदन करना चाहेंगे कि कला और शिल्प में पर्याप्त अन्तर है। कला एक प्रकार से किसी विधा के नियम की ध्वनि देता है, शिल्प कृति के आन्तरिक सर्जन की प्रक्रिया है। कला का क्षेत्र इस प्रकार पूरी विधा तक विस्तृत होता है, जब कि शिल्प का क्षेत्र एक कृति तक सीमित हो सकता है। कला को एक व्यापक मूल्य माना जा सकता है, शिल्प भी एक मूल्य है, किन्तु उसकी परिधि संकुचित है। कला की सुरक्षा के लिए कथाकार को पर्याप्त सावधानी बरतनी होती है, इसलिए कभी-कभी उसके पालन में वह अपनी बात को उपयुक्त ढंग से नहीं कह पाता। समर्थ से समर्थ कथाकार की कथाकृति कला की दृष्टि से हल्की हो सकती है, क्योंकि यह नियमों के अधीन होने और अधिक संघटन की मांग करती है। इसके विपरीत शिल्प की प्रक्रिया किसी प्रकार पूरी की जा सकती है, वह संघटित भी हो सकती है और अनगढ़ तथा लचर भी। जैसा सर्जन होगा, वैसा उसका शिल्प होगा। इस प्रकार शिल्प अनेक हो सकते हैं, जब कि कला केवल एक होती है। कला की सम्पृक्ति पूरी एक विधा से होती है, इसलिए उसके प्रयोग की सम्भावनाएं नहीं हैं। शिल्प का सम्बन्ध किसी एक कृति से हो सकता है, इसलिए उसमें प्रयोग की संभावनाएं मुखर हो जाती हैं। एक तरह से कहें तो शिल्प किसी कला के मूल्यांकन का आधार है, पर कला शिल्प को कभी मूल्यांकित नहीं कर सकती। शिल्प की अपनी पृथक कला हो सकती है, पर पूरी विधा की कला शिल्प को कैसे तौल सकती है ?

शिल्प-प्रयोग के स्तर

अब हम शिल्प को अधिक सूक्ष्म और बारीकी से स्पष्ट करना चाहेंगे इसकी स्पष्टता के लिए हमने मानसिक संरचना का आधार लिया है। मानसिक संरचना के आधार पर शिल्प-प्रयोग के तीन स्तर दिखाई देते हैं। लेकिन लेखक अपने मस्तिष्क की कई बारीक परतों से गुजर कर शिल्प प्रयोग के एक स्तर को रूपायित करता है। यह कुछ वैसे ही होता है, जैसे कई सूक्ष्म परतों से युक्त भूमि का रचाव। जिस प्रकार एक बीज भूमि की कई सूक्ष्म परतों को पार कर अंकुरित होता है, उसी

प्रकार शिल्प प्रयोग का एक स्तर मानसिक संरचना की कई बारीक परतों को पार कर रूपांकित होता है । अधिक स्पष्टता के लिए यहां हमने रेखीय पद्धति से समझाने का दुस्साहस किया है ।

शिल्प-स्तरों का रेखाचित्र

मानसिक संरचना
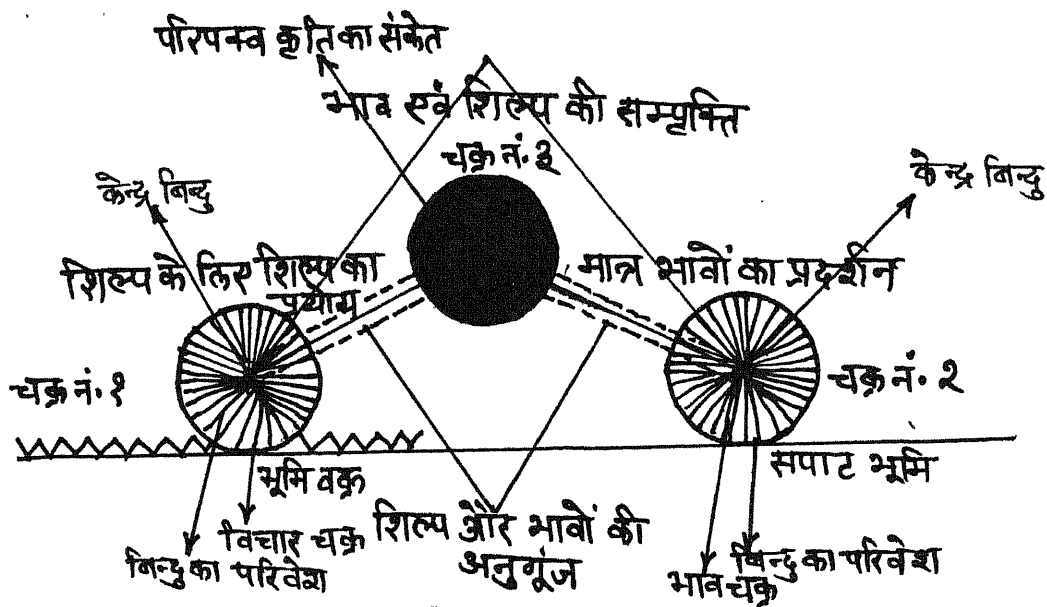
१- शिल्प के लिए शिल्प का प्रयोग

चित्र में, चित्र नम्बर एक ऐसे मस्तिष्क का द्योतक है, जिसके द्वारा मात्र शिल्प के लिए शिल्प[१] का प्रयोग होता है। नूतन शिल्प का यह रुझान एक तो फ़ैशनवश उजागर होता है, दूसरे केवल नवीनता की ललक इसमें अधिक होती है,

---

१ "Certainly something more than fashion is involved, more than a aping of an 'avant-garde', that is bent, only on the change for the sake of change." O' Connar, William Van / Forms of Modern Fiction / P. 2.

किसी महत्वपूर्ण निर्माण को कम । ऐसे मस्तिष्क में ब-र्फ बुद्धि अथवा विचारों का एक चक्र काम करता है । उसका एक केन्द्रबिन्दु है, जिसपर चारों ओर विचार घुमड़ कर केन्द्रित होते हैं । एकप्रकार से वे परस्पर टकराते हैं । अक्सर युक्तियों की खोज में यह विचार चक्र तेजी से चक्कर लगाता है । उसके केन्द्र में केवल एक सवाल होता है कि उपन्यास का गठन नया कैसे हो ? इस खोज में बुद्धि का वह अधिकाधिक प्रयोग करता है । क्योंकि ऐसी क्रिया में कोई गहरा दबाव पृष्ठ में नहीं होता । ऐसा कुछ नया प्रयोग कर दें कि पाठक को अजूबा लगे,इसी शर्त पर यह कार्य करता है ।एक प्रकार से लेखक पाठक को देने के बजाय चौंकाने का प्रयास अधिक करता है[१] ।घुम-घुमाकर ऐसे हा विचार उत्पन्न होते हैं,जिसमें नवीनता का ही लोभ संवरण किया जाता है। बहुत थोड़े शब्दों में कहें,विचार चक्र का यह रुफान केवल शिल्प के लिए शिल्प प्रयोग करने की ओर होता है । यह निर्मिति किसी महत्वपूर्ण लक्ष्य को अभिव्यक्ति नहीं देती जिसको चित्र में विचार चक्र के तीलियों के बीच छूटे खाली स्थानों से प्रदर्शित किया गया है,अर्थात् यह विचार चक्र जिस उपन्यास का निर्माण करेगा, वह अधिकतर रिक्त और कमजोर होगा ।

मनुष्य में कल्पना उठती है कि किस प्रकार नयी कृति दी जाय, पुन: सोचता है कि नया प्रदान करने के लिए किस प्रकार नये से नये साधनों का उपयोग किया जाय । इस प्रकार मन:स्थिति एक बिन्दु से दूसरे बिन्दु तक ऊपर नीचे चढ़ती गिरती है । एक प्रकार से अगर चित्र में व्यक्त भाव को उधार लें, तो मन: चक्र की जो भूमि तैयार होगी, उसका स्वरूप वस्तुत: वक्र होगा । बुद्धि की खींचतान में मन:स्थिति या विचार चक्र ऊंची नीची पहाड़ियों के सदृश लुढ़कता प्रतीत होता है । शिल्प स्तर के इस रुफान में कुछ नहीं तो,फायदा अवश्य होता है कि नित नए नए शिल्प का निर्माण होता है । शिल्प प्रयोग का यह

----

१ ...... उपन्यास लेखक पाठकों को विश्वास के में लाने की बात कम करते हैं, उन्हें चौंकाते अधिक हैं ।' कलकत्ते की एक विचारगोष्ठी में हजारीप्रसाद द्विवेदी द्वारा दिए गए भाषण से उद्धृत । द्रष्टव्य-- डा० सत्येन्द्र :'हिन्दी उपन्यास-विवेचन',पृ०२५४ ।

स्तर अकारण नहीं है, वास्तव में यह अपने उस पूरे परिवेश के अनुरूप है,जिसमें एक रूपान्तरण और संक्रमण की प्रक्रिया चल रही है । उसमें संवेदन तत्व विरलतर होता गया है । चित्र के शब्दों में, इस प्रकार के मस्तिष्क के केन्द्र बिन्दु का अपना पूरा परिवेश है,जिसके दबावों और आघातों में कृति का निर्माण होता है । इस सबे परिवेश को विचार-चक्र की तीलियों द्वारा प्रदर्शित किया गया है । चक्र की बिखरी हुई तीलियां परिवेश के बिखरे हुए दबाव तत्वों का द्योतन कराती है । एक ओर जहां मनुष्य को विज्ञान ने आतंकित किया है, वहां तथाकथित बढ़ती हुई भीड़ ने भी उसकी संरचना को झटका दिया है । इस भीड़ ने अधिकाधिक सम्पर्क होने के बावजूद अकेलापन महसूस कराया है । सम्पर्क की अवस्थिति किसी बड़े संवेदनशील तत्व की ओर नहीं ले जाती,क्योंकि यह केवल औपचारिकताओं और प्रदर्शनों पर आधारित होता है । मिलने पर सोचते हैं कि हमने बहुत कुछ पाया है,किन्तु अलग होने पर लगता है, जैसे सब कुछ बिखर गया है । वह अधिकाधिक अजनबी और अकेला होता जाता है । इस भीड़ में लेखक(अगर वह लेखक है) अपने को खोना नहीं चाहता, इसलिए वह ऐसी टोली का सदस्य बनने से इन्कार कर देता है, जिस ढर्रे पर उनकी रचना धर्मिता पहले से क्रियाशील रहती है । वह अपना मार्ग स्वयं चुनता है,जिस ढर्रे पर उनकी रचनाधर्मिता और लोगों को चौंकाने की प्रक्रिया में संलग्न हो जाता है ।

भीड़ के साथ मनुष्य में बेकारी बहुत हद तक आयी है । बेकारी (यहां केवल रोजगार से तात्पर्य है) में अधिकांश कथाकार का लेखन व्यावसायिक हो जाता है, लेखन का रोटी के साथ सम्बन्ध होना अपने आप बिखराव पैदा करता है । यह बिखराव अधिकतर शिल्प प्रयोग के स्तर पर देखा गया है ।

बेकारी और भीड़ में कुछ मूल्यवान भी है । इसमें आदमी का अहं तत्व प्रबल होता है । वह औरों से ऊंचे उठने अथवा बुजुर्ग लेखकों से विद्रोह करने की लगातार कोशिश करता है,क्योंकि उसे अपने को प्रतिष्ठित करने का सवाल रहता है । जब तक वह पुरानी पीढ़ी के लेखकों के प्रति रचनात्मक विद्रोह नहीं करेगा अपनी जमात को प्रतिष्ठित कैसे करा पायेगा ? नया लेखक स्वयं को प्रतिष्ठित कराने के लिए

पहले पहल साहित्यिक मोड़ को अबरज में डालने का प्रयास करता है । उसका यह प्रयास भावऔर अनुभव के गहरे चित्रण में सफल नहीं हो पाता, तो शिल्प का 'भाषा' प्रयोग कर मोड़ को खींचने को कोशिश में सफल हो जाता है। हिन्दी कथा साहित्य में यह चौंकाव बहुत कुछ लेखकों को मजबूर किए हुए है । शिल्प के लिए शिल्प का प्रयोग इस प्रकार अपने पूरे परिवेश के अनुरूप और प्रासंगिक है ।

२- केवल भावों का प्रदर्शन

शिल्प बुनावट का दूसरा स्तर केवल भावों के प्रदर्शन में है,जिसका संकेत चक्र नं०२ में प्रस्तुत है । कहना न होगा कि पहले स्तर को भांति यह स्तर भी उपन्यास की अर्थवत्ता के लिए छिछला और हल्का है । पहले स्तर में विचारों का एक चक्र अपने केन्द्रबिन्दु पर चक्कर लगाता है, जिससे मात्र शिल्प-प्रयोग की कृति तैयार होती है । कुछ वैसे ही, यह स्तर भी केवल भाव-सरणियों में निबद्ध होता है । नितान्त कई भावों का समुच्चय अपने केन्द्रबिन्दु पर तेजी से घूमता है । उसके द्वारा जिस कृति का निर्माण होता,है उसमें केवल भावों के प्रयोग का खिलवाड़ होता है । मस्तिष्क की वह संरचना भावुक व्यक्ति की होती है,जो अपने परिवेश के दबाव को सहन नहीं कर पाता और बिल्कुल तरल होकर बहने लगता है । मन: रचना का यह चक्र ऊपर नीचे गिरने के बजाय सीधे अपने ढर्रे पर एक ओर लुढ़कता जाता है और एक सपाट भूमि का निर्माण करता है । चित्र में चक्र नं० २ के नीचे पड़ी रेखा सपाट भूमि को चिन्हित करती है । इस प्रकार की रचनाशीलता के लिए कथाकार को नितान्त अनुभूतिशील हो जाना पड़ता है । उसमें बुद्धि तत्व विरल हो जाता है, केवल भावों की प्रक्षेपण क्रिया चलती है । अनुभूति की अतिशयता में कथाकार अपनी बाह्य चेतना खो बैठता है । एक प्रकार से, प्रयासगत तत्व खो जाता है । इस प्रकार,मात्र भावों के खिलवाड़ में किसी परिपूर्ण कृति का निर्माण नहीं होगा । चित्र में तीलियों के बीच के खाली स्थान रचना की रिक्ति का संकेत दिखाता है ।

३- भाव और शिल्प की सम्पृक्ति

शिल्प प्रयोग का तीसरा और अन्तिम स्तर अत्यन्त मूल्यवान और कारगर है । सृजनशील कथाकार के मस्तिष्क में अपने परिवेश के बदलते हुए नवीन भावों की चेतना निरन्तर घुमड़ती है, क्योंकि जीवन में बदलाव की प्रक्रिया उसकी नियति है । समकालीन परिवेश में यह बदलाव पूरे वेग से घटित हुआ है । उसमें एक ओर बदले हुए जीवन मूल्यों एवं भाव-दृष्टियों को प्रक्षेपित करने की ललक बढ़ी है, दूसरी ओर बुद्धि तत्व ने भी अपना दबाव प्रस्तुत किया है। नवीन भावों का आवेग और शिल्प का ताजापन एक दूसरे के नजदीक आये हैं ।[१] शिल्प और भाव, एक तरह से, परस्पर टकराकर-- इस मनःस्थिति में-- अनुगूंज उत्पन्न करते हैं । इसका रूपायन चित्र में वक्र १ और वक्र २ के मध्य वक्र ३ की ओर जाने वाली छोटी पड़ी रेखाओं द्वारा किया गया है ।

सशक्त कथाकार नवीन भावों और नवीन शिल्प दोनों को अभिव्यक्ति दे देता है । अपने अभिप्रेत को सम्पूर्णतः सम्प्रेषित करने के लिए नवीन शिल्प की हमेशा आवश्यकता होती है । फिर, नया भाववस्तु पुराने शिल्प शरीर में हस्तान्तरित करना असंभव भी होता है ।[२] शिल्प का यह स्तर महत्वपूर्ण ही नहीं, कृति और कला दोनों के लिए अत्यन्त मूल्यवान हो जाता है । इस मानसिक स्तर से जिस कृति का निर्माण होगा, वह सभी दृष्टिकोणों से परिपूर्ण और परिपक्व होगा । इसका रेखांकन वक्र नं०तीन द्वारा स्पष्ट किया गया है । वक्र का भरा होना कृति के परिपूर्ण होने का द्योतन करता है ।

अवश्य कलाकार का उद्देश्य अपनी अतिशय संवेदनशीलता के प्रदर्शन के द्वारा मात्र शिल्प(अथवा भावों) का खिलवाड़ करना नहीं होता, बल्कि उसका उद्देश्य हमेशा एक रचनात्मक संसार तैयार करना होता है।[२] सही और बुनियादी कला के लिए भाव और शिल्प की सम्पृक्ति होनी ही चाहिए । यह भी जरूरी है

---

१ नेमिचन्द्र जैन : `बदलते परिप्रेक्ष्य`, पृ० १७-१८

२ Liddell, Robert / A Treatise on the Novel / P. 28.

3.

कि भाव और शिल्प को यह सम्पृक्ति संघटित (Integrated) हो, उसमें बिलगाव न आने पावे । सशक्त रचना के लिए दोनों का संघटित एकता बनाये रखना एक अनिवार्य शर्त है । जब क्लीन्थ ब्रुक्स और राबर्ट पेन वारेन यह कहते हैं कि,"एक बेहतर कृतिकार यह जानता है कि उपन्यास का शिल्प केवल युक्तियों के पराक्रम या कौशल दिखाने में नहीं है,बल्कि असीमित तत्वों के सम्भव सम्बन्धों का सक्रियतापूर्ण अध्ययन है, जो कि एक उपन्यास कृति का निर्माण करता है ।"[१] तो उनका संकेत हमारे आशय को समर्थन दे देता है । इस प्रकार उपन्यास शिल्प का यह स्तर कथाकार के अभिप्राय को सार्थक ढंग से कहने में सहायक होता है ।

परिपूर्ण और खुरदुरा शिल्प

वैसे तो उपन्यास में अनेक शिल्प संभव हो सकते हैं (जिनका संकेत पहले किया जा चुका है)किन्तु कला की दृष्टि से मोटा विभाजन किया जा सकता है ऐसा शिल्प जिसमें अत्यन्त बारीक पच्चीकारी और सूक्ष्म मनोभावों की अभिव्यक्ति की गई हो,उसकी संरचना में किसी एक पद्धति की पतली और बारीक पर्तों को उभारा गया हो, उसे परिपूर्ण शिल्प कहा जा सकता है । यह शिल्प इस प्रकार गठित होता है कि निर्मिति का एक भी धागा को उठाया नहीं जा सकता । उसका पच्चीकारी नपा-तुला, सम्पूर्ण तथा सुगठित होता है । किन्तु इस प्रकार के शिल्प में पाठक मानसिक ऊब का अनुभव करता है ।[२] क्योंकि एक तो, सर्वत्र एक ही युक्ति का सहारा लिया गया होता है, दूसरे, पाठक बारीक पर्तों को आत्मसात करने में जल्दी सफल नहीं हो पाता । सर्वेश्वर दयाल सक्सेना कृत 'सोया हुआ जल' और रघुवंश कृत 'तंतुजाल' इस सर्जना के अच्छे उदाहरण हैं । पहले उपन्यास में 'सिनेरियो' पद्धति के प्रतीकात्मक रूप का परिपूर्ण पच्चीकारी है, और दूसरे में 'फ्लैशबैक' का ।

१ Brooks and Warren / Understanding Fiction / P. 570.

२ "परिपूर्ण शिल्प में पाठक के सक्रिय सहयोग की संभावना कम रहती है । भाषा, संगीत और शैली की बारीक पच्चीकारी संवेदनात्मक विस्तार को रोक सकती है ।"
—रामस्वरूप चतुर्वेदी : 'हिन्दी नवलेखन',पृ०१६२

यदि उपन्यास सर्जना में बारीक गढ़न के बजाय मोटी युक्तियों से काम लिया गया हो तो उसे खुरदुरा शिल्प कहा जा सकता है । इसमें कहीं मोटा, कहीं महीन और कहीं हास्यास्पद स्तर उभारा जाता है । एक प्रकार से बंधान में कई युक्तियों से काम लिया जाता है । इस शिल्प में पाठक को उतरने-चढ़ने की अनुभूति होती है, वह हिचकोले लेता अनुभव करता है । यह शिल्प कंक्रीट के प्लास्तर की तरह ग्रथित होता है, उसकी तहें ऊबड़ खाबड़ होती हैं । 'रागदरबारी'(श्रीलाल शुक्ल) 'आधा गांव'(राही मासूम रजा), 'चांदनी के खंडहर'(गिरिधर गोपाल) इस खुरदुरे शिल्प के नव्यतम और उत्कृष्टतम उदाहरण हैं । 'चांदनी के खंडहर' में संगीत सम्प्रेषण का हास्यास्पद स्तर -- 'हलो कमरे । हाउ डु यू डु ?' देखा जा सकता है । 'राग-दरबारी' में इस प्रकार की बुनावट पूरे उपन्यास में है । यहां तक कि फिल्मी गानों के चटपट छांट कर उनका भी उपयोग किया गया है । यह स्तर बारीक न होने के कारण पाठकों के साथ सक्रिय सहयोग कराता है ।

युगीन-शिल्प

बदलते हुए जीवन मूल्यों और दृष्टिबोधों को प्रदीपित करने के लिए युग-युग में नवीन शिल्प रूपों की मांग होती रही है । एक युग की अपनी चेतना होती है, जिसके परिप्रेक्ष्य में समकालीन लेखक, थोड़ा-बहुत भिन्नता हुए भी, एक होते हैं । एक युग शिल्प की कुछ ऐसी विशिष्टताओं और विशेषताओं को स्थापित करता है, जो सम्पूर्णतः उस पूरे युग का शिल्प हो जाता है । अतः शिल्प एक कृति का भी हो सकता है और समग्र एक काल का भी । शिल्प का एक विशिष्ट रूप एक युग में आकर्षक हो जाता है, जिसकी ओर उस युग के अधिकांश लेखकों का रूझान संलग्न दीख पड़ता है । इस तथ्य का साक्ष्य उपन्यास के इतिहास के पन्नों में देखा जा सकता है । हिन्दी उपन्यास का आरम्भिक शिल्प भोंथरा और अनगढ़ रहा है । देवकीनन्दन खत्री, लाला श्रीनिवासदास, किशोरीलाल गोस्वामी और उनके सहवर्ती लेखक इस एक ही प्रकार की शिल्प-चेतना से सम्बद्ध रहे हैं । प्रेमचन्द ने इस रूझान को दूसरा मोड़ दिया और अपने समकालीन लेखकों को एक पृथक् शिल्प संसार में जीने के लिए विवश किया । इस युग के अधिकांश लेखक राष्ट्रीय चेतना से सम्बद्ध

लम्बी वर्णनात्मकता के प्रति मोहित थे, सामाजिक और राष्ट्रीय समस्याओं के लम्बे इतिवृत्त और उनका समाधान प्रस्तुत करने के लिए उतावले थे । हम कह आये हैं, जब-जब जीवन मूल्यों में परिवर्तन की स्थिति आएगी, तब तक शिल्प की दुनिया भी बदल जायगी । अज्ञेय, जैनेन्द्र, जोशी ने प्रेमचन्द से अलग दूसरे संसार की रचना की। इन लेखकों ने बाहरी समस्याओं पर नहीं, आंतरिक मनोभावों पर बहस खड़ी करना प्रारम्भ किया । उनकी सारी सर्जना मनोविज्ञान के फार्मूलों में बद्ध हो गई और आज का नवलेखन जीवन के मोड़ और आतंक से ग्रस्त है । वह अधिकांशतः स्त्री-पुरुष के 'सैक्स' सम्बन्धों को उजागर करने में अपने शिल्प को गिरफ़्तार किए हुए है । 'सैक्स' रूपायन में वे ऐसा ताना-बाना बुनते हैं, जिससे इसका संकेत और ध्वनि बराबर बनी रहे, क्योंकि इस प्रकार की सर्जना निरा खोलकर नहीं रखा जा सकता । इसीलिए ऐसा शिल्प आन्तरिक विसंगतियों और मदेस वातावरण से सम्पृक्त हो जाता है । फिर भी, इससे हमें भयभीत नहीं होना है, क्योंकि यह शिल्प भी स्थायी नहीं रहेगा । परिवर्तनकालीन परिस्थिति में आकर यह सर्जना भी दूसरा मोड़ ले लेगी ।

-0-

(२) उपन्यास : सृजन प्रक्रिया

उपन्यास के शिल्प का सम्बन्ध उसकी आंतरिक सर्जना से है । जब तक हम सृजन के सूक्ष्म तन्तुओं की पड़ताल नहीं करेंगे, तब तक उपन्यास की सम्पूर्ण आन्तरिक सर्जना से साक्षात्कार नहीं कर पायेंगे । अर्थात् किसी कृति की रचना-प्रक्रिया में उसका लेखक किन परिस्थितियों एवं प्रेरणाओं से गुज़रा है, किन तनावों एवं दबावों से उसने संघर्ष किया है, कौन-कौन से तत्व उसकी रचना- प्रक्रिया को प्रभावित करते हैं-- इन सब का विवेचन करने के बाद ही हम रचना के सूक्ष्म आभ्यन्तरिक भाग को स्थापित कर सकते हैं । फिर, आज का युग केवल क्रिया का युग नहीं है, आलोचक उस क्रिया का मनोविज्ञान सम्मत समाधान भी खोजना चाहता है। वैसे कलाकार कदम तटस्थ होकर अपनी कला-साधना में संलग्न रहता है, सृजन के क्षणों में वह इतना तल्लीन हो जाता है कि उसे परिवेश का ज्ञान तो होता ही नहीं, परिस्थितियों का ज्ञान कहां से होगा ? अनुभूति के क्षणों में उसके सामने मात्र एक 'आब्जेक्ट' होता है, और उसके समक्ष अपने अस्तित्व को भूल बैठता है । एक प्रकार से अपनी सृजन-प्रक्रिया को आलोचकों एवं पाठकों के सामने प्रस्तुत करना उसके लिए दुष्कर कार्य है[1] ।फिर भी सृजन के पूर्व की एवं बाद की परिस्थितियों एवं दबावों को विवेचित करके उपन्यास की सृजन- प्रक्रिया का सूक्ष्म पर्यवेक्षण किया जा सकता है । क्योंकि ये स्थितियां रचना पर प्रत्यक्ष - अप्रत्यक्ष प्रभाव डालती हैं ।

सृजन और व्यक्तित्व

रचनाकार का व्यक्तित्व उसकी कृति को किसी न किसी स्तर पर प्रभावित करती है । इसीलिए औपन्यासिक संसार में अनेक व्यक्तित्व होने के कारण उपन्यास शिल्प के अनेक रूप उजागर हो जाते हैं । फ्रांस का मार्शल प्राउस्त एक रोगी व्यक्ति था । अनवरत बीमार रहने के कारण कमरे में बन्द रहना उसको

----

१ रणवीर रांग्रा : 'साहित्य-साधना और संघर्ष',पृ०१०

विवशता था । बाहरी संसार की गूंज और गंध से उसका बहुत कम सम्पर्क हो पाता था । मनोविश्लेषण शास्त्रियों के अनुसार[1] बीमार व्यक्ति के मस्तिष्क में अतीत की क्रियाएं वर्तमान में प्रक्षेपित होती हैं । इस प्रकार अतीत ही उसका वर्तमान हो जाता है । प्राउस्त बिस्तरे में पड़ा आत्मनिरीक्षण करने को विवश था । इसलिए उसके उपन्यास `रिमेम्ब्रेन्स आव थिंग्स पास्ट` (Remembrance of things past) में यह आत्मनिरीक्षण चेतनप्रवाहवादी शिल्प का रूप लेकर प्रस्तुत हुआ है । स्मृति की प्रक्रिया में उसने स्वयं की खोज की है[2] ।

आयरलैण्ड के जेम्स ज्वायस का व्यक्तित्व प्राउस्त से समान होते हुए भी कुछ भिन्न था । जन्म से ही नेत्रहीन होने के कारण स्वर और गंध की दुनियां में वह जीता रहा है । भाषा ही उसका सम्पर्क सूत्र था । भाषा तात्कालिक क्षणों का ही महत्व है ।वह वर्तमान के निजी क्षणों को अपने उपन्यास `यूलीसीस`[3] में प्रक्षेपित करता है । वर्तमान क्षणों के अनुभव को उसने `एपीफैनी` कहा है[3] ।

धर्मवीर भारती के प्रारम्भिक उपन्यास `गुनाहों के देवता` में किशोर सुलभ रोमानी भावुकता के चित्र अधिक अभिव्यक्ति पा सके हैं, क्योंकि यह उसके अपरिपक्व एवं किशोर व्यक्तित्व की रचना है । अज्ञेय के परवर्ती उपन्यास `अपने अपने अजनबी` तथा जैनेन्द्र के `जयवर्द्धन` में दार्शनिक प्रश्नों को सुलझाने की कोशिश अधिक है,क्योंकि व ये उनकी वृद्धावस्था की रचनाएं हैं । सन ६० के बाद के अधिकतर उपन्यासकार कुंठित और अतृप्त हैं । इसलिए स्वाभाविक रूप से उनके उपन्यासों में `सेक्स` के प्रति गहरी रुझान देखी गई है ।

----

१ Edel, Leon / Modern Psychological Novel / P. 26

२ do , P. 13.

३ "Unlike Proust, however, Joyce wanted to catch the Present to the immediate moment of preception - he called it an epiphany" do, P. 15.

नैन्सी हेल के एक उपन्यासकार मित्र ने अपने एक उपन्यास में अपने[1] ही जीवन की विभिन्न तीन स्थितियों को रूपायित किया है । एक इण्टरव्यू में फ्रांसिस मारयाक ने बताया कि अपने पात्रों के सृजन में उसने स्वयं को चित्रित किया है-- विशेष रूप से अपने[2] उपन्यास `एल० एफेण्ट चार्जे दे चायनेस` और `ला रोब प्रिटेक्सटे ` में ।

सृजन और अनुभव

कथाकार अपनी कृति में अपने जीवन अनुभव को ही रूपायित करता है । उसमें चित्रित पात्र, कथानक कथन एवं चेतना सब लेखक के अनुभव के अंग हैं । अनुभव रूपायन में अतीत और वर्तमान दोनों का हाथ रहता है । रचनाकार के लिए अनुभव अतीत की वस्तु है, किन्तु सृजन के क्षणों में वह वर्तमान बनकर उजागर होता है । बीती हुई घटनाएं इस प्रकार चित्रित होती हैं,मानों ये अभी-अभी घटी हों । क्रिस्टोफर ईशरवुड के अनुसार कथाकार एक कैमरे की भांति होता है,जिसकी खिड़कियां मुक्त हैं, उसमें दृश्यों एवं घटनाओं का संग्रह या रिकार्ड होता है । लेकिन कथाकार एक संग्रहकर्ता नहीं है,यह काम तो एक अच्छा संग्रहालय या अजायबघर कर सकता है । बल्कि वह अपने संगृहीत[3] अनुभव को चिन्तनशक्ति के द्वारा युग की चेतना के अनुरूप मूल्यवान बनाता है ।

उपन्यासकार मनुष्य जीवन की उन्हीं सचाइयों का निरूपण करता है, जिनका उसे निजी अनुभव है, या उन सचाइयों को उसने गहरी दृष्टि से परखा है । वह रचनाकार ऐसे जीवन को अभिव्यक्ति देने में कठिनाई महसूस करेगा

1 "A friend of mine once wrote a novel which she told me was peopled by the three primary aspects of herself"- Hale, Nancy / The realities of Fiction / P. 179.

2 ".. To some degree in all of them, I particularly describe myself in 'L, Enfant' charge' de' Chaines' and in 'La robe pre'texte' Allen, Walter / writ rs at work / P. 40.

3 Liddell, Robert / A Treatise on the Novel / P. 33.

जिसका उसे प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष अनुभव नहीं है । उपन्यास में चित्रित जीवन का प्रत्यक्ष या व्यक्तिगत अनुभव उसे अधिक आकर्षक एवं जीवन्त बना सकता है । इसीलिए फ्लाबर्ट अपनी प्रसिद्ध रचना `मादाम बावरी` के एक पृष्ठ के लिए पूरा दिन जंगलों में भटकता रहा है[१] । किन्तु कई उपन्यासकारों ने ऐसी भी स्थितियों, घटनाओं एवं पात्रों का वर्णन किया है, जिनका उन्हें कोई व्यक्तिगत अनुभव नहीं था । फ्रांसिस मारयाक ने स्वीकार किया है कि बिना व्यक्तिगत अनुभव के कई स्थितियां उसके उपन्यास में चित्रित हुई हैं[२] । ई०एम० फार्स्टर को `हावार्डस एण्ड` में वर्णित[३] लियोनार्ड और जैकी के पारिवारिक जीवन का कुछ भी अनुभव नहीं था । रचनाकार के समस्त जीवनानुभव उपन्यास में चित्रित नहीं हो जाते, बल्कि वही घटनाएं और दृश्य अपना स्थान पाती हैं, जिसने लेखक के अन्तर को संवेदित किया है । साधारण से साधारण घटनाएं भी लेखक को प्रभावित कर सकती हैं ।

सृजन के क्षण

कविता हो या कहानी, नाटक हो या उपन्यास, लेखक को रचना प्रक्रिया से सम्पृक्त सृजन के एक-एक क्षण मूल्यवान होते हैं । दोस्तावस्की रात्रि के शान्त वातावरण में सृजन कार्य करता था[४] । विलियम स्टायरन दोपहर के समय लिखने को विवश थे, क्योंकि वे रात को मद्यपान किया करते थे और सुबह देर से उठते थे[५] । इस प्रकार दोपहर का समय ही उनके लिए खाली रहता था । किन्तु रचनाकार के लिए समय की कोई पाबंदी नहीं होती । अनुभूति के क्षण सृजन में इतना तल्लीन कर देते हैं कि रात और दिन का आभास ही नहीं हो पाता ।

---

१ Liddell, Robert / A Treatise on the Novel / P. 33.

२ Allen, Walter / Writers at work / P. 32.

३ do , P. 28.

४ Allott, Miriam / Novelists on the Novel / P. 150

५ Allen, Walter / Writers at work / P. 243.

हेनरी जेम्स ऐसा ही कथाकार है[१]। जोसेफ कोनार्ड को हफ्ते गुजर जाते थे, और इस बीच सूर्य की किरणें पृथ्वी पर कब विकीर्ण हुईं, तारावलि आकाश में कब छिटकीं, इसका ज्ञान ही नहीं होता था[२]। इस प्रकार सृजन के क्षण में मौलिक आनंद सेब सम्पृक्ति नहीं[३] रह जाती। इसीलिए शायद विलियम स्टायरन सृजन-प्रक्रिया को नर्क मानता है।

उपन्यास का फलक विस्तृत होने के कारण कथाकार को उसकी रचना के लिए काफी संघर्ष करना पड़ता है। एक औपन्यासिक कृति के निर्माण में उसे वर्षों जूझना पड़ता है। क्योंकि उपन्यासकार केवल कथा कहना नहीं चाहता, बल्कि उसके माध्यम से मूल्यों का उद्घाटन करना चाहता है। कभी-कभी लेखक लिखना चाहता है, किन्तु प्रयत्न करने पर भी नहीं लिख पाता, क्योंकि संग्रहीत अनुभव उसको अब अर्थहीन प्रतीत होते हैं। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि अनेक मूल्यवान अनुभव को वह लिपिबद्ध करना चाहता है, किन्तु व्यक्तिगत या पारिवारिक परिस्थितियां बाधक बन जाती हैं। अज्ञेय के 'शेखर : एक जीवनी' का निर्माण बारह वर्षों में पूरा हुआ है। 'झूठा-सच और शहर में घूमता आईना' के लेखकों को इन्हें पूरा करने में वर्षों व्यतीत करना पड़ा है। इसीलिए व्यावसायिक लेखन जीवन्त साहित्य में बहुत कम मूल्यवान हो पाता है। विवशता में या प्रकाशकों की मांग पर लिखे गए उपन्यास महत्वपूर्ण और सशक्त नहीं बन पाते। यशपाल का 'क्यों फंसे ?' और जैनेन्द्र का 'मुक्तिबोध' उपन्यास इसका उत्कृष्ट उदाहरण है। दास्तावस्की को आश्चर्य होता है कि लेखक इतनी जल्दी उपन्यास कैसे लिख लेता है, जब कि उसे एक कृति को पूरा करने में वर्षों व्यतीत करना पड़ता है। कृति तैयार हो जाने पर भी उसे सन्तोष नहीं होता और पुन: उसमें काट-छांट करता है। यही कारण है कि

---

[१] Allen, Walter / Writers at work / P. 256

[२] Allott, Miriam / Novelists on the Novel / P. 151 - 2.

[३] Allen, Walter / Writers at work / P. 242.

उसके उपन्यासों में कलात्मक निखार अधिक देखा जा सकता है ।

सृजन और कथानक

कथाकार उपन्यास के कथानक कथन में अपनी-अपनी युक्तियों से काम लेता है, दूसरे शब्दों में, उपन्यासकार के कथा-सृजन में अपने अलग-अलग ढंग होते हैं । अज्ञेय के `शेखर : एक जीवनी` की लम्बी भूमिका एक लघु उपन्यास बन सकता है । उन्होंने अपने सभी उपन्यासों में श्रवणशील तत्वों को सम्प्रेषित करने के लिए अंग्रेजी और अन्य भाषाओं के गीतों का उपयोग किया है ।धर्मवीर भारती ने `सूरज का सातवां घोड़ा` में छोटी-छोटी लोककथाओं के द्वारा आकर्षण उत्पन्न किया है । नरेश मेहता के उपन्यासों में उनका कवि व्यक्तित्व अधिक मुखर हुआ है । `धूमकेतु : एक श्रुति`, `दो एकान्त`,`यह पथ बंधु था` आदि उपन्यासों की कथा पढ़ते समय अनुभव होता है कि हम कविता पढ़ रहे हैं । उषा प्रियंवदा ने अपने उपन्यासों की कथा के माध्यम से नारी-हृदय की तलाश की है । श्रीलाल शुक्ल सरकारी सेवा में रहने के कारण व्यवस्था की कमजोरी को नजदीक से जानते हैं । इसलिए उनके बहु चर्चित उपन्यास `राग दरबारी` में व्यवस्था के प्रति तीखे व्यंग्य देखे जा सकते हैं ।

आज के औपन्यासिक संसार में दो प्रकार के कथानक रचे जा रहे हैं :--

(क) कल्पित कथानक ।

(ख) यथार्थ कथानक ।

उपन्यास की रचना-प्रक्रिया में कल्पना का किन्हीं-न-किन्हीं अंशों में उपयोग होता है । कल्पना का तात्पर्य यहां दो अर्थों में लगाना चाहिए । एक तो, रचनाकार जहां जीवन की सच्चाइयों को चित्रित करते-करते थक जाता है, उसकी कलम रुकने लगती है, वहां वह कल्पना से काम लेता है। ऐसी प्रक्रिया कविता के क्षेत्र में अधिक देखी गई है । दूसरे, जीवन के यथार्थ को अधिक वजनदार एवं सशक्त बनाने के लिए भी कल्पना का सहारा लिया जाता है । यहां कल्पना यथार्थ की सहायिका बनकर आती है । कल्पित कथानक का मनुष्य जीवन से सम्पर्क कम

होता है जब कि यथार्थ कथानक जीवन की सच्चाइयों की तलाश करता है । किन्तु यदि ध्यान से देखाजाय तो यथार्थ कथानक में ही कल्पित कथानक घुलमिल और इस प्रकार प्रयुक्त होता है कि वह भी यथार्थ का रूप ले लेता है । जैसे 'मछली मरी हुई' में निर्मल पद्मावत का एक लावारिस इन्सान से तीस मंजिले 'स्काइ स्क्रैपर' कल्याणी मेन्शन का मालिक बन जाना नितान्त काल्पनिक लगता है, लेकिन इसका उपन्यास के कथानक में इस खूबी से नियोजन हुआ है कि कलकत्ता जैसे औद्योगिक महानगर का यथार्थ बन गया है ।

रचनाकार के लिए प्रत्येक गुजरते हुए चेहरों पर, पत्थरों और चट्टानों पर, खिड़कियों और दरवाजों पर कहानी लिखी होती है । कथाकार इन बिसरी हुई कहानियों की तलाश करता है[१] । और यदि वह ऐसा नहीं कर पाता तो यह उसकी कमजोरी है[२] । प्राय: यह देखा गया है कि लेखक महत्वपूर्ण या प्रभावपूर्ण घटनाओं या दृश्यों की टिप्पणियां तैयार करने के हमेशा अपने पास एक 'नोटबुक' रखते हैं । एक लेखक अपने कथानक निर्माण के विषय में बताता है कि वह सर्वप्रथम महत्वपूर्ण घटनाओं, दृश्यों एवं चरित्रों की टिप्पणियां लेता रहता है और उन्हें 'फाइल कार्ड्स' में टाइप करता चलता है और जब काफी कार्ड्स एकत्रित हो जाते हैं, तब उन्हें एक अलग फाइल में क्रम से रख देता है । इस प्रकार वह अपने फाइल कार्ड्स में जीवन के प्रत्येक क्षेत्र से टिप्पणियां लेकर उपन्यास के कथानक का निर्माण करता है[३] । उसका अन्तिम कार्य उन्हें केवल संगठित भर करना बचता है । एन्गुस विल्सन भी स्वीकार करता है कि वह दृश्यों एवं चरित्रों का सजगता से टिप्पणियां तैयार करता है[४] । किन्तु विलियम स्टायरन कहता है कि संस्मरण या जीवनी लिखने के लिए चाहे टिप्पणियां तैयार

----

१ Hale, Nancy / The Realities of Fiction / P. 30.

२ do P. 30.

३ do P. 169.

४ Allen, Walter / Writers at work / P. 230.

की जा सकती है, उपन्यास के लिए इससे कोई खास सुविधा नहीं मिलती ।यद्यपि उसने प्रयत्न भी किया कि नोटबुक[1] में रोजमर्रा का जीवन लिखा जाय,किन्तु इसमें उसे असफलता ही मिली है । इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि उपन्यास के कथानक निर्माण मेंलेखकों के लिए कोई युक्तियां निर्मित नहीं की जा सकतीं ।इसके लिए वे एकदम स्वायत्त हैं ।

लेखक सामान्य व्यक्ति से विशिष्ट होता है, यह तो सभी स्वीकार कर सकते हैं । समाज का प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन की महत्वपूर्ण घटनाओं एवं दृश्यों को देखकर प्रभावित एवं संवेदित होता है,किन्तु इनमें से सभी उसको अभिव्यक्त नहीं कर पाते, जब कि लेखक उसे प्रभावशाली ढंग से व्यक्त करने में समर्थ रहता है। यहीं लेखक और सामान्य व्यक्ति में अलगाव देखा जा सकता है । छोटी-छोटी घटनाएं ,छोटे-छोटे अनुभव और दृश्य हमारे सामने से रोज गुजरते हैं और निकल जाते हैं । हम सामान्य होने के कारण इनपर ध्यान नहीं देते या ध्यान देने की आवश्यकता नहीं समझते और जब लेखक इन्हीं छोटी-छोटी महत्वपूर्ण घटनाओं और दृश्यों का उपयोग करता है, तो पाठक प्रभावित हुए बिना नहीं रह पाते । 'राग दरबारी' में मैदान में गठरी जैसी बैठी स्त्रियों के मल विसर्जन और लोटे हाथ बात करते जाने का दृश्य जो गांव की रोजमर्रा की जिन्दगी है,भी महत्वपूर्ण बनकर चित्रित हुआ है । अत: लेखक कथा -रचना में छोटे छोटे स्पर्शों के द्वारा उसे स्पृहणीय बनाता है ।

कुछ कथाकार उपन्यास लिखने के पूर्व कथा की पूर्व योजना बना लेते हैं और इसी पूर्व योजना के आधार पर कथानक का निर्माण करते हैं । पर इस प्रक्रिया में लेखक अपनी बनाई गई योजना के प्रति बंध जाते हैं, यदि बीच में कोई नवीन सम्भावनाएं उत्पन्न हुईं, उन्हें स्थापित करने में असमर्थ पाते हैं । मारयाक स्वीकारता है कि वह अपने उपन्यास की सृजन-प्रक्रिया में कभी-कभी ऐसी स्थितियों को देखता[2] है,जहां पूर्व नियोजना से अलग नवीन सम्भावनाओं को मुखर किया जा सकता है । ई०एम० फार्स्टर भी यह मानता है कि कहानी कभी-

---

[1] Allen, Walter / Writers at work / P. 243.

[2] do P. 38 - 39.

कभी अज्ञात दिशा की ओर मुड़ने लगता है, जिसके बारे में लेखक को पहले ज्ञान नहीं रहता है[१]। डोरोथी पार्कर को एक उपन्यास का कहानी बनाने में लगभग छः महीने लग जाता है, क्योंकि उन्हें उसको कई बार काट-छांट करनी पड़ती है[२]। थार्न्टन विल्डर भी कथानक सृजन में बार-बार पुनर्लेखन से काम लेते हैं[३]। लियो टालस्टाय का कथन है कि कथानक सृजन में कथा का एक केंद्र केन्द्रबिन्दु होना चाहिए, जिसपर कथा के अन्य सूत्र घूम-फिर कर किरणों के रूप में प्रतिबिम्बित होते रहें। इस केन्द्रबिन्दु या 'फोकस'कोशब्दों में नहीं समझाया जा सकता[४]।

सृजन और चरित्र

पात्र-सृजन की प्रक्रिया को विवेचित करने के पूर्व हम यह मानकर चलते हैं कि रचनाकार चाहे जिस ढंग के चरित्रों की नियोजना करे, वे वृहत्तर समाज की किसी न किसी सचाई को उजागर करते हैं। अर्थात् किसी न किसी रूप से उनका सम्पृक्ति समाज से रहती है। वे व्यक्ति के उन्हीं व्यवहारों एवं क्रिया-कलापों को रचना में स्थान देता है,जिसका उसे प्रत्यक्ष अनुभव रहा है। यहां तक कि ऐतिहासिक पात्रों को रचना में भी इस युक्ति से काम लिया जाता है कि वे हमारे जाने-पहचाने से लगते हैं। अप्रत्यक्ष अनुभव से निष्पादित पात्र-- पढ़कर या सुनकर -- की ऐसी कलात्मक योजना की जाती है कि वे समाज के जीते-जागते प्रत्यक्ष अनुभव के चरित्र बन जाते हैं। ई०एम०फार्स्टरनेअपने उपन्यासों के पात्रों का चयन अपने परिवार से किया है। उसके अनुसार श्रीमती वलैंट उसकी चाची एमिली थी, श्रीमती हनीचर्च उसकी दादी मां थीं....[५]।

---

१ Allen, Walter / Writers at work / P. 27.

२ do P. 72.

३ do P. 96.

४ Allot, Miriam/ Novelists on the Novel / P. 235.

५ Allen, Walter / Writers at work / P. 31.

अर्थात् फार्स्टर ने अपने उपन्यासों की चरित्र योजना वास्तविक जीवन के पात्रों से की है । किन्तु फोर्ड जैसे कथाकार चरित्र-सृजन में वास्तविक जीवन से पात्रों के चयन को खतरनाक मानते हैं ।उनकी दृष्टि में वास्तविक जीवन के घूमने वाले पात्रों की कलात्मक योजना नहीं की जा सकती । विश्व के प्रसिद्ध उपन्यासों के महान पात्रों का चयन वास्तविक जीवन से नहीं किया गया है, बल्कि वे लेखक की प्रतिभा से कल्पना की उपज हैं और वे अधिक कलात्मक बन सके हैं । लेकिन ऐसा नहीं है कि वे जीवन के यथार्थ से असम्पृक्त हैं, कहने का तात्पर्य केवल यहीं इतना है कि किसी व्यक्ति-विशेष में यथातथ्य उन्हें नहीं ढूंढा जा सकता । कभी-कभी कथाकार स्वयं अपने को अपनी कृति का एक पात्र बना लेता है । जब उपन्यास में चित्रित पात्र लम्बे-लम्बे आदर्शमूलक भाषण देते हैं, या उनके चारित्रिक व्यवहारों पर कृत्रिमता का आरोप रहता है, वहां भी समझना चाहिए कि लेखक का अपना व्यक्तित्व उजागर हो गया है । इसके अतिरिक्त लेखक अपने व्यक्तिगत जीवन की परिस्थितियों और भोगे हुए यथार्थ को भी रचना में स्थान देता है । अमृतलाल नागर के 'बूंद और समुद्र' का महिपाल लेखक के चरित्र को ही प्रदर्शित करता है ।

ऐतिहासिक उपन्यास के पात्रों के सृजन में लेखक को अधिक सजगता की आवश्यकता होती है,क्योंकि प्रसिद्ध ऐतिहासिक पात्रों को दुहरे व्यक्तित्व के साथ उजागर करना रहता है । एक तो, उन्हें अपने ऐतिहासिक व्यक्तित्व की रक्षा करने का प्रश्न रहता है, दूसरे अतीत के व्यवहार के परिप्रेक्ष्य में आधुनिक समस्याओं का समाधान भी प्रस्तुत करना रहता है । यदि लेखक चित्रित अतीत के परिवेश और उसके यथार्थ से हट गया, या चित्रित पात्रों की रुचियों,व्यवहारों और सम्भाषणों को अतीत के समकक्ष न रख पाया एवं उसकी सम्पृक्ति समकालीनता के साथ न कर पाया, तो उपन्यास का सम्पूर्ण ढांचा ही बिखरा बिखरा और उखड़ा-उखड़ा सा लगने लगता है । चतुरसेन शास्त्री 'वयं रक्षाम:'

१Allott, Miriam / Novelists on the Novel / P. 284.

के असुर पात्रों के चित्रण में इसीलिए कमजोर दिखाई देते हैं । जब कि 'कुणाल की आँखें' का युवराज कुणाल अधिक सशक्त बन सका है ।

चरित्र गढ़न की प्रक्रिया में लेखक की कोशिश यह रहती है कि वह पाठकों का अधिक-से-अधिक सहानुभूति को अर्जित करे । जहाँ पाठक यह अहसास करने लगे कि उपन्यास में चित्रित अमुक पात्र वह खुद है या जिन परिस्थितियों से वह संघर्ष कर रहा है, जिन समस्याओं से वह जूझ रहा है, उसके जीवन में भी तो ऐसा ही हो रहा है । वहाँ लेखक का सम्पूर्ण प्रयास और श्रम सार्थक हो जाता है । स्वातन्त्र्योत्तर उपन्यासों में, शिल्प के प्रति अधिक रूझान के कारण पात्रों को संवेदनशील और यथार्थ बनाने के बजाय उनके माध्यम से मूल्यों का अन्वेषण अधिक किया जा रहा है । उनके मानसिक संसार को सुलझाने का उपक्रम अधिक हो रहा है ।

सृजन और अध्ययनशीलता

उपन्यास का सृजन-प्रक्रिया में अध्ययनशीलता भी कुछ अंशों में प्रभाव डालती है । उपन्यास एक ऐसी विधा है,जिसमें पाण्डित्य और चिन्तन की उतनी आवश्यकता नहीं होती जितनी कि कविता या नाटक में,बल्कि उसका सम्बन्ध लेखक की सर्जनात्मक प्रतिभा और हृदय की अनुभूति से है । फिर भी लेखक की अध्ययनशीलता उसकी औपन्यासिक कृति में अतिरिक्त प्रभाव डालती है । अध्ययनशीलता से यहाँ तात्पर्य यह नहीं है कि लेखक कितने विषयों का ज्ञाता है, कितने गंभीर एवं विविध विषयों का पंडित है । वरन् यह है कि वह औपन्यासिक संसार को कहाँ तक जानता है । अन्य भाषाओं की औपन्यासिक दुनिया और उसकी बदलतीहुई नवीन भंगिमाओं से कहाँ तक परिचित है । उपन्यास संसार की अतिरिक्त जानकारी लेखक की रचना में अधिक निखार एवं नवीनता उत्पन्न कर सकती है । किन्तु इसे कोई आवश्यक शर्त नहीं मानना चाहिए । अत्यधिक अध्ययनशीलता लेखक की सर्जनात्मक क्षमता या अनुभूत्यात्मक शक्ति को कभी-कभी बाधित भी कर देती है । उसका सबसे सटीक उदाहरण दूधनाथ सिंह ने एक गोष्ठी

में व्यक्त किया था । उन्होंने बताया कि जिस बादल को देखकर 'निराला' और पंत ने इतनी सशक्त रचनाएं प्रस्तुत की हैं, उस बादल को देखकर बहुत प्रयास करने पर भी न जाने क्यों उनकी अनुभूति जागृत नहीं होती । कई दिन वे आकाश में छितराये हुए बादल के सम्मुख बैठे, सूक्ष्म निरीक्षण किया, फिर भी अनुभूतिशील न हुए और एक पंक्ति भी न लिख सके । यहां स्पष्ट है कि दूधनाथ सिंह की अत्यन्त अध्ययनशीलता ने उनकी अनुभूतिशक्ति को क्षरित कर दिया है ।

सृजन : प्रतिभा और साधना

सभी व्यक्ति न तो कवि बन सकते हैं और न कथाकार । यह भी जरूरी नहीं है कि एक अच्छा कवि एक अच्छा कथाकार भी होगा, या एक अच्छा कथाकार एक अच्छा कवि भी होगा । यानी उसकी प्रतिभा एक खास विधा में ही मुखरित हो सकती है । जयशंकर 'प्रसाद' मूलत: कवि हैं,इसलिए उनकी यह काव्यात्मक प्रतिभा या कवि-व्यक्तित्व कहानियों एवं नाटकों में प्रभाव डालते हुए देखी गई है । मोहन राकेश मूलत: नाटककार हैं,इसीलिए उनके उपन्यास उतने सशक्त नहीं बन पाये हैं जितने कि नाटक । प्राय: यह देखा गया है कि कथाकार की प्रतिभा परिवेश के किसी दबाव या संवेदनात्मक क्षणों में सर्जन का काम करती है । वह अपनी प्रतिभा के बल पर समकालीन मनुष्य की प्रकृति के अनुरूप उसके अन्तर्बाह्य जीवन का साक्ष्य प्रस्तुत करता है । और यह भी सच है कि बहुत से लेखकों के पास प्रभूत प्रतिभा होते हुए सृजन नहीं कर पाते,क्योंकि उनकी प्रतिभा को अनुकूल वातावरण नहीं मिलता या अपनी प्रतिभा को साधना के स्तर पर अवकाश नहीं देते । कलाकार को अपनी प्रारम्भिक स्थिति में स्थापित होने के लिए बहुत संघर्ष करना पड़ता है । बहुत से प्रतिभाशीललेखक इस संघर्ष से पराजित होकर हताश हो जाते हैं,उससे उनकी प्रतिभा भी कुंठित हो जाती है । ऐसे भी लेखक हैं,जो पराजय कभी स्वीकार नहीं करते, सतत् संघर्षरत रहते हैं, और एक ऐसी स्थिति आती है, जब साहित्यकार समाज को उनकी प्रतिभा और लेखक को स्वीकारना पड़ता है ।बहुतेरे लेखक अपनी थोड़ी प्रतिभा के बावजूद केवल सतत अभ्यास एवं साधना के बल पर कला सृजन करते हैं । इसप्रकार ह उपन्यास की सृजन-प्रक्रिया में प्रतिभा या अंत:प्रेरणा और साधना का भी प्रभाव पड़ता है ।

सृजन और अवचेतन

बहुत-सी घटनाएं और प्रभावकारी दृश्य लेखक के मानस में अज्ञात रूप से पड़ी रहती हैं । सर्जना के समय अवचेतन में पड़ी ये घटनाएं और स्थितियां अनजाने रूप से साकार हो उठती हैं । लेखक का तात्कालिक चेतन मस्तिष्क इस संबंध में बिल्कुल अज्ञात रहता है । उसे आश्चर्य भी होता है कि इन घटनाओं के बारे में तो वह स्वयं कुछ नहीं जानता । किन्तु मनोवैज्ञानिक जब उसकी खोज करता है, तब सारी स्थिति साफ हो जाती है । लेखक के अचेतन मस्तिष्क में वही अनुभव संगृहीत होते हैं,जिसने उसे अत्यधिक पीड़ित किया है या अत्यधिक संवेदनशील बनाया है । इस प्रकार अवचेतन लेखक के मानसिक संस्कार एवं रुचि के अनुरूप निर्मित होते हैं[१] । स्वातन्त्र्योत्तर उपन्यासों में कई कथाकारों ने अपने उपन्यासों में पात्रों के अवचेतन मस्तिष्क की एक-एक पर्तों की खोज की है । फ्रायड,एडलर और युंग के मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों के आधार पर अचेतन मन को उपन्यास का आकर्षण बनाया है । अज्ञेय,जोशी के असाधारण पात्रों के क्रिया-कलाप और व्यवहार के बहुत सारे आयामों से स्वयं लेखक साक्षात्कृत हुआ होगा । इस प्रकार उपन्यास की सृजन-प्रक्रिया में अवचेतन दो प्रकार से सहायक होता है-- एक तो लेखक के अपने मस्तिष्क की अवचेतन स्थिति के चित्रण में, दूसरे उपन्यासों में चित्रित पात्रों के अवचेतन उद्घाटन में ।

अज्ञात सृजन

कभी-कभी लेखक अनजाने रूप से किसी विशिष्ट प्रकार की कला या शैली को जन्म दे देता है, जिसके बारे में उसने पहले कभी सोचा नहीं था । डा० भारतभूषण अग्रवाल ने इंगलैण्ड के उपन्यासकार रिचर्डसन का उदाहरण देकर सृजन-प्रक्रिया के इस तथ्य की ओर संकेत किया है,-- "इसका अत्यन्त सटीक उदाहरण तो इंगलैण्ड के उपन्यास के जन्मदाताओं में अन्यतम रिचर्डसन का ही

---

१ भारतभूषण अग्रवाल : 'हिन्दी उपन्यास पर पाश्चात्य प्रभाव',पृ०६२ ।

है । यह बात सर्वज्ञात है कि उनका विख्यात उपन्यास `पामेला` उपन्यास के रूप में कल्पित नहीं किया गया था । जब वे मुद्रक के रूप में अपने व्यवसाय में लगे थे, तब उन्हें अचानक यह विचार आया कि वे आदर्श पत्रों की एक माला लिखें जो जनसाधारण को विभिन्न अवसरों के अनुकूल पत्र लिखने की कला सिखा सकें ।जब रिचर्डसन यह पत्र लिखने बैठे तो उन्होंने सोचा कि क्यों न इन पत्रों को एक कथा सूत्र से संयोजित कर दें, जिससे वे अधिक ग्राह्य हो सकें और उन्हें पढ़ने में अतिरिक्त रस मिल सके । वे यह जान भी न पाये थे कि एक नवीन विधा को जन्म दे रहे हैं।[१] इस प्रकार अनजाने रूप से उन्होंने पत्र शिल्प को जन्म दिया है ।

इसके अतिरिक्त उपन्यासकार अपनी सर्जना के समय अनायास रूप से कई ऐसी स्थितियों को पुकार कर बैठता है, जिसके बारे में वह अनजान रहता है । या कथात्मकता या चित्रांकन कभी ऐसा नवीन मोड़ लेने लगती है, जिसके सम्बन्ध में उसे पहले से ज्ञान नहीं रहता । सृजन की यह प्रक्रिया भी अज्ञात सृजन के अन्तर्गत आएगी ।

-o-

---

१ भारतभूषण अग्रवाल : `हिन्दी उपन्यास पर पाश्चात्य प्रभाव`,पृ०५४ ।

(३) शिल्प विधान में परिवर्तन : एक अनिवार्य प्रक्रिया

उपन्यास-संसार से सम्बद्ध लेखक विभिन्न रूचियों एवं संस्कारों से युक्त होते हैं । युग की बदली हुई परिस्थितियां एवं मानव-प्रकृति भी उन्हें अपने से पहले के लेखकों से अलग करती है । इन दो कारणों से उपन्यासकार अन्य उपन्यासकारों की तुलना में (पहले से और समकालीन लेखकों की तुलना में) नये भाव-बोध एवं नई अनुभूतियों को सम्प्रेषित करते हैं । फिर,लेखक समाज एक ही प्रकार की रचना-प्रक्रिया में अपना श्रम व्यर्थ करना नहीं चाहता, क्योंकि इससे उसकी रचनात्मकता में आकर्षण की सम्भावना कम रहती है । उसका तो प्रयास यह रहता है कि वह क्या करे, कौन सी युक्तियां प्रयोग करे, जिससे उसकी रचनाओं में निरन्तर आकर्षण और नवीनता की चेतना बनी रहे । उस चेतना में नये लेखक अधिक संलग्न दिखाई पड़ते हैं । उपन्यास के इतिहास पर दृष्टि डालने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि उपन्यास के वस्तुपक्ष एवं शिल्प पक्ष में निरन्तर बदलाव या परिवर्तन की प्रक्रिया अनिवार्यरूप से चलती रही है ।

यह कहना भ्रामक होगा कि हिन्दी उपन्यासों ने पश्चिमी उपन्यासों की तुलना में हमें कुछ भी नहीं दिया है,पश्चिमी उपन्यास साहित्य के समकक्ष हिन्दी उपन्यासों को रखा ही नहीं जा सकता । हम यह क्यों भूल जाते हैं कि जिस स्थिति को पाने में पश्चिमी उपन्यास-कृतियों ने शताब्दियों गुजार दी है, वहां हिन्दी उपन्यासों ने अपने सीमित काल में ही बहुत कुछ उपलब्ध किया है । हिन्दी उपन्यास का इतिहास कोई लम्बा इतिहास नहीं है, उसका विकास हुए अभी कम ही समय हुआ है, किन्तु इस सीमित काल में भी उसने जो मंजिल तय किया है, वह निश्चित रूप से स्वस्थ एवं गर्व करने योग्य है । अब उसने अपना मार्ग इतना प्रशस्त कर लिया है कि उसे विश्व की किसी भी भाषा के उपन्यास -साहित्य के समकक्ष रखा जा सकता है । भारतीय आलोचकों के मन में अभी अंग्रेजी और अंग्रेजियत की बू नहीं गई है । वे अजीब से भ्रम और मोह में गिरफ्त हैं । इसी कारण हिन्दी उपन्यास की उपलब्धियों के विषय में उनकी स्वस्थ दृष्टि विकसित नहीं हो पाती ।

हिन्दी-उपन्यासों का प्रारम्भ तिलस्मी और ऐयारी उपन्यासों से होता है । इस काल के रचनाकारों ने उपन्यास-कला पर ध्यान नहीं दिया है । उनकी कृतियों में केवल सस्ती मनोरंजकता और अस्वाभाविक वर्णन - विस्तार ही देखा जा सकता है । किन्तु इन्हें हम केवल सस्ती मनोरंजकता की वस्तु कहकर टाल नहीं सकते । क्योंकि इन कृतियों का भी हिन्दी उपन्यास के विकास में अपना महत्व है । प्रेमचंदकालीन औपन्यासिक कृतियों का मूल्यांकन करने के लिए इसके पूर्व की उपलब्धियों को समालोचित करना जरूरी है । जब तक हम देवकीनन्दन खत्री, गोपालराम गहमरी, लाला श्रीनिवासदास के औपन्यासिक संसार से परिचित नहीं होंगे, प्रेमचंद और परवर्ती कथाकारों की रचनाओं को अधिक सशक्त और महत्वपूर्ण कैसे कह सकते हैं । अर्थात् उनके नवीन शिल्प और नवीन मूल्यों की खोज के लिए पूर्व परम्परा को सापेक्ष्य दृष्टि में रखना ही होगा । तभी उनकी रचनाओं का स्वस्थ मूल्यांकन किया जा सकता है ।

देवकीनन्दन खत्री और किशोरीलाल गोस्वामी के उपन्यास हाथों-हाथ स्टालों और फुटपाथों पर इसीलिए बिके, क्योंकि पाठक इनसे अच्छा मनोरंजन प्राप्त कर सकता था । ये रचनाकार पाठकों को एक ऐसे स्वप्निल संसार में विचरण कराते थे, जहां नायक अथवा ऐय्यार किसी तिलस्म को तोड़ने में निरन्तर जिज्ञासा बनाये रखता था । चौंकाने वाले दृश्य एवं घटनाएं और रहस्य को बनाये रखने की अद्भुत क्षमता इन कृतियों में देखी जा सकती है । उपन्यास के दो ही तत्व-- कथानक और चरित्र -- इन रचनाओं में मिलते हैं, चाहे उनकी संयोजना केवल मनोरंजकता के लिए ही रही, एक खास ढंग से की गई है । संवाद एवं भाषा तो उपन्यासकार के पीछे-पीछे भागते हैं । वास्तव में इन उपन्यासों में उपन्यास कला का कोई निखार देखना, अपरिचित मार्ग में भटकना है । यह कुछ वैसे ही है, जैसे वर्तमान बाजारू उपन्यासों (गुलशन नंदा और प्रेम वाजपेयी के रोमैंटिक उपन्यासों) में चरित्र एवं कथानक को ढूढ़ना । क्योंकि इनसे किसी कलात्मक उपलब्धि की आशा नहीं की जा सकती ।

आलोचकों का ऐसा कथन है कि प्रेमचंद के आगमन से उपन्यास साहित्य में एकाएक क्रान्तिकारी परिवर्तन उपस्थित हुआ है । यह कथन अतिशयोक्ति से कम नहीं है,क्योंकि प्रेमचंद ने अपने उपन्यासों में जिस शिल्प की खोज की है,उसका बीज पूर्ववर्ती रचनाकारों में देखा जा सकता है । गोपालराम गहमरी के `सास-पतोहू`(१८९८), राधाचरण गोस्वामी के `बाल विधवा` (१८८६),` विधवा विपत्ति`(१८८८), मेहता लज्जाराम शर्मा के `हिन्दू गृहस्थ` (१९०३), `आदर्श दम्पत्ति`(१९०४), `सुशील विधवा`(१९०७) और राधाकृष्णदास के `नि:सहाय हिन्दू`(१८९०) आदि उपन्यासों में अपने समकालीन जीवन की समस्याओं को आदर्शवादी ढंग पर स्पर्श करने का प्रयास हुआ है । प्रेमचंद ने इस पूर्ववर्ती प्रवृत्ति को व्यापक एवं कलात्मक रूप प्रदान किया है । उन्होंने पाठकों की रुचि को परिष्कृत करके लगभग एक नवीन सृजन संसार की ओर ध्यान आकर्षित कराया । उपन्यास को सस्ती मनोरंजकता, तिलस्म और ऐय्यारी की संकुचित दुनिया से निकाल कर जीवन की सच्चाइयों, मनुष्य के जूझते हुए आयामों, छटपटाती हुई मानवीय पीड़ा जैसी गहरी उच्च भावभूमि में प्रतिष्ठित किया । मनुष्य जीवन के व्यापक एवं विस्तृत चित्रफलक को सूक्ष्म एवं गहरे यथार्थ के माध्यम से उजागर किया । मनुष्य की महत्ता प्रदान करते हुए उसके जीवन का अन्वेषण -विश्लेषण एवं संश्लेषण प्रस्तुत किया । समाज में बिखरी हुई समस्याओं पर एक - एक करके प्रश्नचिन्ह लगाया,लोगों की आँखें खोलने पर विवश किया । समाज की परम्पराओं, रूढ़ियों एवं ढीले होते हुए बन्धनों और उसकी कमजोरियों पर बेलाग कहने को झिझक नहीं की। किन्तु मनुष्य जीवन का यह यथार्थ उनके उपन्यास-साहित्य में नंगे रूप में नहीं देखा जा सकता । उपन्यास के रचना-स्वरूप के प्रति उनकी दृष्टि प्रकारान्तर से उद्देश्यमूलक रही है । उनका कथन है--`साहित्य का उद्देश्य जीवन के आदर्शों को प्रतिष्ठित करना है, जिसे पढ़कर हम जीवन में कदम -कदम पर आने वाली कठिनाइयों का सामना कर सकें, अगर साहित्य से जीवन का सही रास्ता न मिले, ऐसे साहित्य से लाभ ही क्या ? ..... अगर उसमें हमें जीवन का सही रास्ता नहीं मिलता तो उस रचना से फायदा नहीं । साहित्य न चित्रण का नाम है, न अच्छे शब्दों को चुनकर सजा देने का, न अलंकारों से वाणी को

शोभायमान बना देने का। वे ऊंचे और पवित्र विचार ही साहित्य की जान है।[1]' अर्थात् उपन्यास का प्रयोजन मनुष्य जीवन के पवित्र भावनाओं को उजागर करना है। इसी प्रयोजन को दृष्टि में रखकर उन्होंने देवत्व चरित्र एवं अधम चरित्रों की नियोजना की है। और उपन्यास की कथा का अंत आते-आते इन विरोधी अथवा अधम पात्रों को भी देवता बनते हुए दिखाया है। वे स्वयं कहते भी हैं -- 'मनुष्य स्वभाव से देवतुल्य है। जमाने के छल प्रपंच या परिस्थितियों के वशीभूत होकर वह अपना देवत्व खो बैठता है। साहित्य इसी देवत्व को अपने स्थान पर प्रतिष्ठित करने की चेष्टा करता है। उपदेशों से नहीं, नसीहतों से नहीं, भावों को स्पन्दित करके, मन के कोमल तारों पर चोट लगाकर, प्रकृति से सामंजस्य उत्पन्न करके।[2]' किन्तु पात्रों को देवता बनाने की यह प्रवृत्ति उन्हें आरम्भ से कमजोर बनाती रही है। क्योंकि ऐसे स्थलों पर लगता है कि रचनाकार जानबूझकर उपन्यास में आदर्श थोपने का प्रयत्न कर रहा है। यानी, चरित्र अपनी स्वाभाविक अवशता खोकर लेखक ही के हाथ की कठपुतली बन जाता है। वह जैसे चाहे उसे घुमा सकता है। यह कमजोरी गोर्की और तुर्गनेव में भी निखार नहीं ला सकी थी, जैसा कि बाद में बाल्जाक और फ्लाबर्ट की रचनाओं में देखने को मिलता है। प्रेमचंद और उनके सहवर्ती कथाकारों में कथा-सृजन के प्रति विस्तार का आग्रह रहा है, यहां तक कि दूसरे, तीसरे कथानकों का एकसाथ निर्वाह करने का प्रयत्न किया है। मुख्य कथानक और इतर प्रासंगिक कथाओं के संयोजन में उनका रचना-कौशल बहुधा असमर्थ हो जाता है। 'गबन' और 'रंगभूमि' के कथानक इसका प्रमाण हैं। इनमें एक तो कथानक को अनावश्यक घटनाओं से लादकर विस्तृति प्रदान की गई है। दूसरे, प्रासंगिक कथाओं और मुख्य कथानक संगठित रूप से सम्पृक्त ह नहीं हो पाये हैं। इसके अतिरिक्त लम्बे-लम्बे भाषण भी भद्दे, थोपे हुए और अनर्गल लगते हैं। 'कायाकल्प' का शिल्प तो पिछले रचनाकारों से एकदम आगे नहीं बढ़ सका है। आद्यन्त एक अजीब सी रहस्यात्मकता और

---

१ प्रेमचन्द : 'कुछ विचार', पृ० ३२

२ वही, पृ० ३६

अनेक अविश्वसनीय कल्पनाओं ने उपन्यास के ढांचे को चरमरा दिया है ।

प्रेमचन्द के बाद के रचनाकारों ने एक नई भूमि की ओर उपन्यास की दुनिया विकसित करने का प्रयत्न किया है । प्रेमचन्द के उपन्यासों में प्रयुक्त मनोविज्ञान मानव-चरित्र के स्वाभाविक व्यवहार पर आधारित है । किन्तु आगे चलकर जैनेन्द्र,जोशी,अज्ञेय आदि कथाकारों ने उपन्यास को मनोवैज्ञानिकता की ओर उन्मुख किया है । पश्चिम के उपन्यासों में जिसपर मनोवैज्ञानिक उपन्यासों का पूरा एक काल रहा है, उसी प्रकार निश्चित रूप से हिन्दी में भी मनोवैज्ञानिक उपन्यासों का एक युग देखा जा सकता है । फ्रायड, एडलर और युंग जैसे मनोविज्ञानियों ने मनुष्य की छिपी हुई परतों को उघाड़ते हुए अंतर के यथार्थ को प्रकट किया है । उन्होंने यह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया कि मनुष्य का बाहरी जीवन न तो यथार्थ है और न शक्तिशाली । सत्य तो अन्दर अवगुंठन में है, जो अनजाने रूप में हमें परिचालित किये रहता है । पश्चिम के अनेक लेखक कथाकार इस संजीवनी को लेकर अपने रचनाकर्म में प्रवृत्त हुए । पश्चिम की देखादेखी हिन्दी उपन्यासकारों ने भी इस संजीवनी का उपयोग करके अपनी रचनाओं को नव्य स्वरूप प्रदान करने की चेष्टा की । जैनेन्द्र और जोशी,अज्ञेय और माचवे ,देवराज और राजकमल चौधरी के अधिकतर पात्र असाधारण हैं,जो अपनी कुंठाओं,अतृप्ति और दमित कामवृत्ति में जीते हैं । उनका संघर्ष समाज से नहीं, अपने आप से है । कथा रचना पात्रों की मानसिक परतों को एक-एक करके अनावृत करती है । अंदर से निर्देशित होने के कारण वे बार बार बदलते हैं और पलायन करते हैं । नारी में अज्ञेय,जैनेन्द्र,और जोशी आदि ने समर्पण भाव दिखलाया है लेकिन नारी के इस मुक्त समर्पण भाव को पुरुष ~~बक~~ पात्र स्वीकार करने में असमर्थ रहते हैं ।

इन मनोवैज्ञानिक उपन्यासकारों के अतिरिक्त इस काल में कई लेखक-समाज की नई व्याख्या को साथ लेकर सम्मुख उपस्थित हुए । भगवतीचरण वर्मा, यशपाल, उदयशंकर भट्ट, रांगेय राघव, उपेन्द्रनाथ अश्क,अमृतलाल नागर, आदि उपन्यासकारों का रचना-विधान प्रेमचंद के नजदीक होते हुए कुछ भिन्न

प्रकार का है । उन्होंने लम्बी-लम्बी तफसीलों, लम्बे भाषणों के स्थान पर स्वाभाविक कथा-वर्णन उपस्थित किए हैं । पात्रों का कृत्रिम आदर्शात्मकता के स्थान पर सहज रूप से विकसित और बनते-बिगड़ते हुए दिखाया है । कुंठित और रोगी पात्रों की जगह पर साधारण और निर्बल पात्रों का चयन किया है । बदलते हुए नवीन परिवेश के अनुरूप यथार्थ का स्वर कहीं तीखा और कहीं ठंडे रूप में मुखर हुआ है । मनुष्य के बाह्य जीवन को उजागर करने के लिए नई नई युक्तियों एवं प्रविधियों का उपयोग किया ।

भाषा के स्तर पर इस काल के रचनाकारों की उपलब्धि महत्वपूर्ण मानी जा सकती है । क्योंकि इन्होंने उपन्यास को अभिधात्मकता से व्यंजनात्मकता की ओर उन्मुख करने का प्रयास किया है । सीधा-सादी वर्णनप्रधान भाषा के द्वारा मनुष्य का आन्तरिक यथार्थ प्रकट भी नहीं किया जा सकता । अत: लेखकों ने संकेतों,बिम्बों,प्रतीकों,दृश्यचित्रों,स्मृतियों,स्वप्नों आदि के माध्यम से मनुष्य के छिपे हुए यथार्थ को शक्तिशाली ढंग से प्रस्तुत करने की चेष्टा की है ।

स्वतन्त्रता के बाद के भारतीय परिवेश में आदमी की जिन्दगी रूपान्तरण की प्रक्रिया के बीच गुजर रही है । उसकी आस्थाएं, उसके विश्वास नई चेतना को पाने के लिए लालायित हैं । पुरानी स्थापित मान्यताएं, परम्पराएं और मूल्य सब बेमानी हो रहे हैं और नए मूल्य जो स्थापित भी रहे हैं,बिखरे-बिखरे और गड्डमड्ड हैं । विज्ञान और तकनीक की शक्ति के लिए अधिकाधिक प्रयोग मनुष्य को अपने जीवन और अस्तित्व के प्रति शंकित कर रहा है । पश्चिम के अस्तित्ववादी विचारकों-- सार्त्र,कामू,काफ्का,कालिन विल्सन, ज्या जेने आदि के प्रति शायद इसीलिए इस काल के रचनाकार अधिक आकर्षित एवं प्रभावित हैं ।

नये लेखक जो स्वतंत्रता के पूर्व किशोर थे, अब युवा होकर नई पीढ़ी और नवलेखन का नारा और अस्त्र लेकर सामने आये । स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास में निश्चितरूप से दो पीढ़ियां रचनाकर्म में संलग्न देखी जा सकती

हैं । एक पुरानी पीढ़ी जो या तो मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों का पिष्टपेषण कर रहे हैं, या प्रेमचंद के नज़दीक रहकर सामाजिक यथार्थ से साक्षात्कार कर रहे हैं । दूसरी नवीन पीढ़ी जो नये मूल्यों और नये तेवर की तलाश में है : उसने आजादी के पहले के सपने भी देखे हैं और आजादी के बाद की सच्चाइयों को भी भोगा है । वह एक पवित्र भारत के निर्माण की आशा में था, किन्तु आजादी मिलने के बाद ही राजनीतिक छीना-झपटी, स्वार्थान्धता का जो दौर चला उसमें उसको आशाओं के चिथड़े होते नज़र आये । उसमें व्यवस्था के प्रति विद्रोह और मोहभंग का भाव उजागर हुआ, क्योंकि सारी कार्यवाही उनके लिए झूठी, खोखली और एक खतरनाक साजिश की तरह दिखाई देने लगी ।

हिन्दी की नवीन पीढ़ी राजनीति, राजाश्रय और पदकों की ओर ललचाई आंखों से नहीं देखती, बल्कि ईमानदारी के साथ समाज की सच्चाइयों को बेलाग उजागर करती है । मनुष्य के मुखौटे खोलने में जरा भी हिचक व्यक्त नहीं करती । नई पीढ़ी के रचनाकारों ने भाषा के सर्जन में अद्भुत कारीगरी और कुशलता का परिचय दिया है । अनुभूतिपरकता प्राणतत्त्व के रूप में चित्रित हो सकी है । अनुभूतिशीलता का सघन और प्रभावशाली स्तर नारी लेखिकाओं के माध्यम से प्रकट हुआ है । कृष्णा सोबती, उषा-प्रियंवदा, मन्नू भंडारी, ममता कालिया आदि के उपन्यासों में बिन्दु-बिन्दु गलती हुई 'अनुभूति की पीड़ा' सार्थक हुई है । 'निराला' ने कहीं पर कहा था कि एक अच्छी कवितात्मक भाषा गद्य होती है और एक अच्छा गद्य अच्छी कविता भी कही जा सकती है[१] । यानी 'निराला' के कथन के अनुकूल दोनों विधाओं को एक शिविर में लाने की कोशिश की गई है । उपन्यास के ठोस और जड़ भाषा में द्रवणशील तत्वों के सम्प्रेषण के द्वारा उसे कविता और इस प्रकार संवेदना का स्तर प्रदान करने का प्रयास किया गया है । निर्मल वर्मा के 'वे दिन' की भाषा में छोटे-छोटे बिम्ब और हल्के स्पर्श दृश्य

---

१ अशोक वाजपेयी : 'फिलहाल', पृ०१३

पाठकों की संवेदना को उभारने में सक्षम हैं । संवादों में लय या अधिकाधिक रिद्म देकर काव्यात्मक ध्वनि उत्पन्न की गई है ।

नवीन पीढ़ी शिल्पविधान के प्रति अधिक सचेष्ट है और नित-प्रति उसके नूतन प्रयोग की खोज जारी है । यद्यपि कहीं कहीं शिल्प की सचेष्ट और सायास प्रयोग उपन्यास की भाववस्तु को क्षरित कर देता है । गोविन्द रजनीश ने कल्पना के नवलेखन विशेषांक में यह बात स्पष्ट भी की है--"नवलेखन में रचनाकार जितना आत्मचेता और शिल्प चेता होता है, उतना समाज चेता नहीं । इस रचनात्मक दौर में वह शिल्पी का कार्य करता है । तकनीक की सूक्ष्मता में पड़ता हुआ पाठकों की अभिरूचि से सम्बद्ध विषय सामग्री से कटता जाता है ।.... उपन्यास महज इसलिए बिगड़ जाते हैं कि उनमें रूप और शिल्प के नये-नये प्रयोग होते हैं[1] ।" पश्चिमी आलोचक यह स्वीकार करते हैं कि सूक्ष्म शिल्प संरचना मनुष्य की बौद्धिक अनुभूति के अनुरूप आयित होती है । स्वातन्त्र्योत्तर भारतीय परिवेश में जहाँ मनुष्य की अनुभावन शक्ति क्षरित हुई है, वहाँ उसकी बौद्धिकता अधिकाधिक बढ़ी है । इस प्रकार यदि हम कहें कि शिल्प का सूक्ष्म स्तर समकालीन मनुष्य की प्रकृति और उसके यथार्थ को व्यक्त करता है, तो आश्चर्य की बात नहीं । "रूप(शिल्प, एक बिम्बात्मक संघटन,जीवन सम्प्रेष्य कहानी नहीं है,बल्कि यह क्रिया की स्थापना है,जो बाह्य कला के अस्तित्व को समग्र चेतना से समझने में सहायक है । शिल्प विचारों को वस्तुपरक बनाने की सामग्री है..... ।[2]" अर्थात् पश्चिमी विचारक शिल्प की सूक्ष्म संरचना को आज के औपन्यासिक संसार के लिए प्रासंगिक स्वीकार करते हैं । स्वातन्त्र्योत्तर नयी पीढ़ी के रचनाकारों ने नये भाववस्तु को सार्थक बनाने के लिए नये शिल्प स्तरों की गवेषणा की है । अब वह अपने उपन्यासों में पात्रों की भीड़ एकत्रित नहीं करता बल्कि कम से कम पात्रों के द्वारा मनुष्य

---

१ 'कल्पना', नवलेखन विशेषांक,पृ६०

२ O' Conner, William Van / Forms of Modern Fiction / P. 31.

के खण्ड-खण्ड जिन्दगी को चरितार्थ करता है । यहां तक कि मात्र एक पात्र के सहारे उपन्यास की संवेदना को मुखर करता है । दोस्तावस्की,बाल्जाक,फ्लाबर्ट आदि जहां पात्रों के गढ़न में अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगाते थे, वहां नया रचनाकार उपन्यास के पात्र में हो सारा श्रम खर्च नहीं करता । `लेडी चैटलीज लवर` या `मादाम बावरी` के पात्रों को जहां पाठक जल्दी भूल नहीं पाते, वहां नयी पीढ़ी की नवीनतम कृतियों के कोई भी पात्र स्थायी रूप से याद करने योग्य नहीं है । वे हलका झटका भर देकर निकल जाते हैं । कथा-नियोजन भी विवरणात्मक या तथ्यपरक विस्तार के साथ प्रस्तुत नहीं होता,बल्कि चरित्र के मानसिक घटकों से साक्षात्कार कराया जाता है, इसलिए कथातत्व स्वाभाविक रूप से झीना होता चला गया है । इस विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि औपन्यासिक शिल्प संसार में परिवर्तन की प्रक्रिया अनिवार्य रूप से चल रही है । यद्यपि परिवर्तन कोई अनिवार्य शर्त नहीं है, लेकिन बदलते हुए परिवेश और वातावरण के अनुरूप उसमें निरन्तर बदलाव देखा जा सकता है ।

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी-उपन्यासों के शिल्प-परिवर्तन का संक्षिप्त इतिहास भी यहां प्रस्तुत किया जा सकता है,अर्थात् किन नई प्रविधियों एवं प्रयोगों ने उपन्यास के शिल्प-विधान को विकसित और प्रशस्त कर उसे सार्थक बनाया है । जैनेन्द्र का `सुनीता` (१९३५) और अज्ञेय का शेखर : एक जीवनी`-- दो भाग(१९४०) नूतन शिल्प चेतना के साथ स्वतंत्रतापूर्व ही प्रकाशित हो चुका था । `शेखर : एक जीवनी` में पुरादीप्ति, संकेतों, स्वप्न प्रतीकों,स्मृतियों आदि की नवीन विधियों का उपयोग किया गया है । फिल्मों में जिसप्रकार छोटे-छोटे दृश्य उभर कर स्पर्श करते हैं, उसी प्रकार इस उपन्यास में भी विभिन्न लघु चित्र वीथिकाएं नयी ऊर्जा के साथ उपस्थित हुए हैं । काम, अहं और भय इन तीन मूल प्रवृत्तियों को केन्द्र में रखकर पात्रों के चरित्र की बुनावट की गई है । जैनेन्द्र के `परख` (१९२९),`सुनीता` (१९३५),`व्यतीत`, `विवर्त` आदि में मानसिक झुरमुटों,कुंठाओं और ग्रन्थियों को खोलने के लिए संकेत शैली, जोशी के `सन्यासी` (१९४५) में बाधकता विश्लेषण,स्मृत्यवलोकन,

शब्दसहस्मृति,आदि की नवीन पद्धतियों का अभिनव प्रयोग किया गया है । इस प्रकार प्रयोग की शुरुआत स्वतन्त्रता के पूर्व ही हो जाती है और स्वतंत्रता के पश्चात् तो योजनाबद्ध तरीके से नवीन से नवीन पद्धतियों के प्रयोग की झड़ी सी दिखाई देती है ।

अज्ञेय के `नदी के द्वीप`(१९५२) में पूर्व में प्रयोग की गई शिल्प प्रविधियों को और भी व्यापक विस्तार एवं नवीन चेतना प्रदान की गई है । कथानक, पात्रांकन, संवाद, नाम एवं भाषा आदि उपन्यास के सभी तत्वों को नव्य स्वरूप प्रदान करने की चेष्टा की गई है । मुक्त आसंग , स्वप्न विश्लेषण, शब्द सहस्मृति, इंटीरियर मोनोलोग या अन्तर्विवाद आदि विधियों का विशिष्ट प्रयोग इसमें उल्लेखनीय है । हजारीप्रसाद द्विवेदी के `बाणभट्ट की आत्मकथा` ... `चारु चंद्र लेख`(१९५४) में कहानी में से कहानी निकालने की नूतन कथा-विधि प्रयोग किया गया है । नागार्जुन ने `बलचनमा`(१९५२) के माध्यम से आंचलिक शिल्प-विधान के नव्य प्रयोग की खोज की है, बाद में फणीश्वरनाथ`रेणु` ने `मैला आंचल` (१९५४) और `परती परिकथा`(१९५६) उपन्यासों में इस प्रविधि को कलात्मक स्वरूप प्रदान किया । इसमें चलचित्रात्मक और सम्पूर्ण आंचलिक परिवेश को एक साथ उपस्थित करने के लिए एकान्वित शिल्प प्रविधि की खोज की गई है । धर्मवीर भारती ने नानी की कहानी, अलिफ लैला, तोता मैना आदि की कहानी शैली को अपने उपन्यास `सूरज का सातवां घोड़ा` में सम्प्रेषित किया है । अलग अलग सी दिखायी देने वाली दस कहानियों को एक साथ जोड़ने का इसमें सफल प्रयत्न है । शिवप्रसाद मिश्र `रुद्र` कृत `बहती गंगा` में भी इसी के समानान्तर विभिन्न सत्रह कहानियों को एक भावसूत्र में जोड़कर बनारस की जिन्दगी को साकार किया गया है । गिरिधर गोपाल के `चांदनी के खंडहर`में शिल्प की एक नयी ताजगी देखने को मिलती है । इस लघु उपन्यास की सम्पूर्ण कथा को मात्र चौबीस घंटे के सीमित काल में संघटित करने की कोशिश की गई है । डा० रघुवंश कृत `तंतुजाल (१९५६) तथा प्रभाकर माचवे कृत `द्वाभा` में चेतन प्रवाहवादी शिल्प विधान का प्रयोग हुआ है । प्रतीकात्मक शिल्प विधान की नवीन चेतना और आकर्षण `खाली कुर्सी की आत्मा` (लक्ष्मीकांत वर्मा) `काठ का उल्लू और

कबूतर (केशवचंद वर्मा), 'सोया हुआ जल' (सर्वेश्वरदयाल सक्सेना) तथा 'एक चूहे की मौत' (बदीउज्जमा) आदि उपन्यासों में देखा जा सकता है। 'सोया हुआ जल' सिनेरियो और समकाल-वर्तित्व पद्धति की प्रथम कृति मानी जा सकती है। यहां कथा की कालसीमा भी घटकर मात्र मात्र छः घंटे रह गई है। 'राग दरबारी' (१९६८) में श्रीलालशुक्ल ने जीवन के छोटे और बड़े चित्रों व्यंजनात्मक स्तर पर चुभते हुए व्यंग्यों के माध्यम से उभारा है। भाषा की खोज के रूप में नरेश मेहता कृत 'यह पथ बंधु था' (१९६४) और निर्मल वर्मा कृत 'वे दिन' (१९६४) विशेष महत्वपूर्ण हैं। 'वेदिन' में हल्के-फुल्के बिम्बों के सहारे आधुनिक जिन्दगी की रिक्तता और फीकेपन को स्पर्श करने का प्रयास है। 'यह पथ बंधु था' की भाषा संवेदना अपने सघन रूप में व्यक्त हुई है। 'मछली मरी हुई' में रघुवीर सहाय ने समलिंगी सेक्स को तनाव की भाषा में सजाया है। 'कालेज स्ट्रीट के नये मसीहा' (शरद देवड़ा) में बाटनीकुस कवियों का मैनिफेस्टो उपन्यस्त है। 'जबवर्धन' (डा० देवराज) में डायरी पद्धति का सफल प्रयोग हुआ है। विष्णु प्रभाकर ने 'दर्पण का व्यक्ति' में पत्र शिल्प-विधान का उपयोग किया है। रमेश बक्षी ने 'अठारह सूरज के पौधे' में मशीनी जिन्दगी को उसी अनुरूप गति एवं प्रवाह की भाषा में निबद्ध करने का महत्वपूर्ण प्रयास किया है। इसके अतिरिक्त सहलेखन के प्रयोग की दिशा भी अन्वेषित हुई है। 'बारह खंभा', 'ग्यारह सपनों का देश', और 'एक इंच मुस्कान' सहलेखन के उत्कृष्ट उपन्यास हैं।

संक्षेप में इसप्रकार स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यासों में शिल्प-विधान के नूतन प्रयोग निरन्तर चल रहे हैं, जो हमें सर्वथा नये औपन्यासिक संसार से परिचित कराते रहते हैं।

-0-

(४) उपन्यास के तत्व : व्याख्या और विवेचना

(क) कथानक

कथा कहने की प्रवृत्ति मनुष्य में युग-युग से निरन्तर प्रवहमान है । वेदों और उपनिषदों जैसे धार्मिक ग्रन्थों में धार्मिक, दार्शनिक और नैतिक शिक्षाओं को सूत्रों के साथ कथा रूप में भी निबद्ध किया गया है । पौराणिक साहित्य तो पूरा का पूरा अतिशयोक्तिमूलक कथाओं से भरा पड़ा है । जैन और बौद्ध शिक्षायें कहानियों के आधार पर निर्मित उपलब्ध हैं । इसका कारण शायद यह है कि कहानी अपनी संरचना और प्रवृत्ति में शीघ्र ग्राह्य,मनोरंजक और आकर्षक होती है । कहानियों के माध्यम से कोई बात शीघ्रता से और अधिक स्पष्टता से सम्प्रेषित की जा सकती है । यही नहीं, कहानियां परिवार में नानी और दादी के मानस में, सैकड़ों की संख्या में बिखरी पड़ी है । मासूम और अबोध बालक बड़े बूढ़ों से बिना कहानियां सुने सोते नहीं हैं । माघ और पूस की रात में अलाव के सामने बैठे हुए ग्रामीणों की बैठक में आप आकर्षक कहानियां सुन सकते हैं । खेत-खलिहान में फ़ुरसत से बैठे हुए लोग एक दूसरे को कहानियां सुनाकर मनोरंजन प्राप्त करते हैं ।इस सम्बन्ध में डा० त्रिभुवन सिंह लिखते हैं -- 'कहानी का सर्वाधिक चमत्कार तो लोकजीवन में देखा जा सकता है । साहित्य की मर्मज्ञता,उसकी कलात्मकता और शिल्पगत गुत्थियों से अपरिचित जीवन्त जातियों में कहानी के प्रति कितना आकर्षण है, यदि इसे देखना है तो गांव की बैठकों, अलावों की ऊष्मा और तपती धूप से राहत की सांस लेती अमराइयों की गोष्ठियों की सैर करनी पड़ेगी, जहां आपको चाव से कहानी कहने वाला किस्सागो और रस विभोर श्रोताओं की भीड़ मिल जायगी ।'[१] मध्ययुगीन सामन्ती व्यवस्था में राज दरबारों में कहानी कहने वाले व्यावसायिक कथाकारों की भीड़ लगी रहती थी । कहा जाता है कि कहानी कहने वाले यदि अपनी

---

१ डा० त्रिभुवन सिंह : 'हिन्दी उपन्यास : शिल्प और प्रयोग',पृ०३२५ ।

कहानी समाप्त कर देते थे, तो वे मृत्यु दंड के और यदि उनका कहानी कभी भी समाप्त नहीं होती थी तो वे पुरस्कार के भागी होते थे । ऐसी कहानी - कहने वाले या तो व्यावसायिक किस्सागो हुआ करते थे अथवा रानी बनने की अभिलषित सुन्दर कुमारी युवतियां । क्रूर अत्याचारी शासकों को प्रभावित करने का एकमात्र साधन आश्चर्य में डाल देने वाली कहानियां ही हुआ करती थीं ।[1] साहित्य की प्रत्येक विधा में कहानी का तत्व किसी न किसी प्रकार प्राप्त है । प्रबन्ध काव्य(महाकाव्य एवं खण्डकाव्य) नाटक,एकांकी,प्रहसन, व्यंग्य, रेखाचित्र , रिपोर्ताज आदि में कहानी की अनुभूति कोई-न-कोई रूप लेकर उपलब्ध है । इस प्रकार कहानी की लोकप्रियता,सम्मोहन और रूझान असंदिग्ध है ।

उपन्यास में उपलब्ध कथानक अपने रचना विन्यास और संगठन में विशिष्ट होता है । उपर्युक्त क्षेत्रों में वर्णित और प्रयोग की जाने वाली कथा से उपन्यास में प्रयोग किये जाने वाले कथानक में अंतर होता है । पहले प्रकार की कथा में केवल जिज्ञासा तथा मनोरंजकता का तत्व प्रधान होता है । कथाकार यहां अधिक से अधिक रहस्यमूलक प्रसाधनों से काम लेता है, लेकिन उपन्यास का कथानक एक विशेष प्रकार के कौशल एवं संयोजन की मांग करता है । उपन्यास का कथानक एक कला है । यहां कथा और कथानक का अन्तर भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है । कथा अथवा कहानी घटनाओं का अनुक्रम से संगठित वर्णन है । कथानक अथवा कथावस्तु(Plot) में भी घटनाओं का अनुक्रमिक वर्णन होता है,किन्तु उसमें कार्य-कारण के सम्बन्ध को प्रमुखता दी जाती है और आगे की घटनाओं का कोई न कोई उचित कारण दे दिया जाता है । `राजा मर गया और तब रानी मर गई` यह एक कथा (Story) है । `राजा मर गया और तब उसके शोक में रानी मर गई` यह कथानक (Plot) है । अगर यह कहानी है तो हम कहते हैं ` और तब ?`

---

१ डा० त्रिभुवन सिंह : `हिन्दी उपन्यास : शिल्प और प्रयोग`,पृ०३२६ ।

और यदि यह कथानक है तो हम पूछते हैं 'क्यों ? 'उपन्यास के इन दो तत्वों कथा और कथानक में यही मूलभूत अंतर है । कहानी केवल और तब-- और तब ? के द्वारा चेतना बनाये रखती है, वह केवल हमारी जिज्ञासा की पूर्ति कर सकती है । परन्तु कथानक बौद्धिकता और स्मृति की भी मांग करती है ।[1] इस सम्बन्ध में डा० त्रिभुवन सिंह का कथन है--'कहानी,कथावस्तु का आधार अवश्य प्रस्तुत करती है, पर कथावस्तु, कहानी की अपेक्षा एक उच्चस्तरीय साहित्यिक संगठन है । उपन्यासों के माध्यम से कही जाने वाली कहानी,अन्य कहानियों की भांति सीधे सादे ढंग से लेखक द्वारा ही नहीं कह दी जाती बल्कि उपन्यासकार को उसकी समुचित व्यवस्था करनी पड़ती है । उसका क्रम निर्धारण करना पड़ता है तथा आये हुए अन्य प्रसंगों के साथ उसकी संगति बैठानी पड़ती है । उपन्यास की कहानी और सामान्य कहानी में जो अन्तर दिखलाई पड़ता है उसका मुख्य कथावस्तु के रूप में उसका परिवर्तित हो जाना ।....... कथावस्तु के द्वारा घटनाओं का ही सुनियोजित एवं सुव्यवस्थित विवरण प्रस्तुत किया जाता है, जिसमें कारण और उससे उत्पन्न परिणाम पर ही विशेष जोर दिया जाता है । कथा और कहानी में समय का महत्व अधिक रहता है, परन्तु कथावस्तु में कारणों पर विशेष बल देने के कारण समय का उतना महत्व नहीं रह जाता। कथावस्तु का यही एकमात्र रहस्य है, जिसके कारण इसका पर्याप्त विस्तार संभव हो पाता है । समय में विस्तार करना कदापि संभव नहीं होता, पर कारणों के विस्तार की कोई सीमा नहीं होती ।'[2] इस प्रकार कहा जा सकता है कि उपन्यास का कथानक अपनी संरचना और संयोजन में एक कलात्मक प्रक्रिया है । इसके मूल में घटनाएं अनगिनत और सीमित दोनों रूपों में प्रवाहित रहती हैं, कथाकार उसका अनुक्रम में संगठन करता है और उसकी निष्ठा इस बात में रहती है

----

१ Forster, E.M. / Aspects of the Novel / P. 130 - 1.

२ डा० त्रिभुवन सिंह :'हिन्दी उपन्यास: शिल्प और प्रयोग',पृ०३३७-३८ ।

कि जिज्ञासा के साथ-साथ वह जीवन मूल्यों का प्रतिपादन, घटनाओं की व्याख्या-आलोचना और उसके कारणों का विवेचन भी करता है।

इस बात को लगभग सभी विद्वान् स्वीकार करते हैं कि कहानी अथवा कथातत्व उपन्यास का मूलाधार है।[१] कथा कहना उपन्यास की प्रमुख विशेषता है, इसके अभाव में उपन्यास का अस्तित्व ही निरर्थक प्रतीत होने लगेगा। यहां तक कि नवीन उपन्यासों, फ्रांस के 'एंटी नावेल्स' में भी जहां शिल्प ही शिल्प है, जहां केवल मानसिक घटकों का फुटपुट दृष्टिगोचर होता है, जहां घटनाएं ढूंढना असाध्य कार्य है, वहां भी कथा तत्व किसी न किसी रूप में सम्पृक्त रहता है, चाहे उसका रूप फीना ही क्यों न हो। कथाकार उपन्यास की परम्परित कथात्मकता को तो तोड़ सकता है, किन्तु कथातत्व को एकदम फुठला नहीं सकता।

कतिपय पश्चिमी विचारक उपन्यास में कथातत्व की अनिवार्यता को अस्वीकृत करते हैं। शेरवुड एण्डरसन और विवान जैसे आलोचकों ने उपन्यास में कथातत्व के प्रयोग को विष के तुल्य बतलाया है। विवान का कथन है-- 'आपको यह बात चाहे अच्छी लगे या बुरी, मैं-- कथावस्तु-- इस शब्द को यह आशा करके कि यह डूब जायगा और फिर नहीं उभरेगा, नीचे सागर में फेंक देना चाहूंगा। अनर्गल कला या विधान के अन्तर्गत यह एक भारी भ्रामक शब्द है। संज्ञा के रूप में यह साधारणतया, न कम, न अधिक मात्रा में कहानी समझा जाता है या रूपरेखा माना जाता है। इसका क्रिया रूप में प्रयोग आकार या विधि के अर्थ में होती है। अनिश्चितता से मुझे घृणा है। अत: मैं प्लाट शब्द का संज्ञावाचक रूप के लिए और क्रियावाचक के लिए रचना शब्द का प्रयोग कर रहा हूं।'[२] इसी प्रकार फ्रांसीसी विचारक और कथाकार एलेनरोब ग्रिल्लेत भी उपन्यास को जीवित रखने के लिए कथातत्व में अनास्था प्रकट करते हैं -- '..... कथानक की अनिवार्यता बाल्जाक की अपेक्षा पुस्तकें कम, पुस्त

---

१ द्रष्टव्य, E.M. Forster / Aspects of the Novel / P. 44., Edwin Muir / Structure of the Novel / P. 16, Allott, Miriam / Novelists on the Novel / P. 173 - 4

और डा० त्रिभुवनसिंह : 'हिन्दी उपन्यास : शिल्प और प्रयोग', पृ०३३६

२ Vivvan / Creative Technique in Fiction / P. 424.

की अपेक्षा फाकनर की ओर भी कम तथा फाकनर की अपेक्षा बैकेट की ओर भी कम महसूस होता है.... आज के लेखक की ओर भी व्यस्ततायें हैं । प्रूस्त फिर भी कभी-कभी कहानी कह देता था, लेकिन इसे आवरण में लपेट कर उपस्थित करने में उसे हमेशा भय लगता था । जब फाकनर कहानी पर अपना पंजा डालता है तो उसे नष्ट करने के लिए,कहने के लिए कभी नहीं । जहां तक बैकेट का सवाल है, वह तो विवरण का कभी उपयोग ही नहीं करता--सिवाय व्यंग्य करने के । और इसी तरह यह क्रम चलता रहता है । `तुम उपन्यास को मार डालोगे`, मुझे आलोचकगण कहते हैं । लेकिन वे गलत कहते हैं। सच यह है कि स्वयं उपन्यास ने भी कहानी में अपनी पुरानी आस्था खो दी है,अत: कहानी में उपन्यास को साधे रखने की शक्ति रही ही नहीं है । अगर उपन्यास को जीवित रहना है तो इसे अपने सहारे के लिए निश्चितरूप से कुछ अन्य उपायों की खोज करनी होगी ।`[1] लेकिन रिचर्ड्स, फार्स्टर,एडविन मुर और परसी ल्यूबक जैसे विद्वानों ने बिना कथा के उपन्यास की निरर्थकता पर जोर दिया है । उनके मत में उपन्यास में कथा तत्व का होना जरूरी है, क्योंकि इसके ही कारण वह उपन्यास कहने का अधिकारी है । ई०एम० फार्स्टर का कथन है--` हां, प्रिय, हां -- उपन्यास कहानी ही कहता है । यही उपन्यास का मुख्य आधार है, जिसके बिना इसका अस्तित्व नहीं हो सकता । यह सभी उपन्यासों की सर्वप्रिय और सर्वोच्च विशेषता है ।`[2]

इन दो प्रकार के मतों को देखते हुए कहा जा सकता है कि उपन्यास में कथानक का निर्माण आवश्यक तो है । लेकिन इसका प्रयोग परम्परित अर्थ में नहीं कर किया जा सकता । अब उपन्यासकार परम्परित अर्थ वाले कथानक के प्रति अनास्था प्रकट करता है । मार्शल प्रूस्त,जेम्स ज्वायस, रिचर्डसन और वर्जीनिया वुल्फ जैसे कथाकारों ने मनुष्य की अनुभूतियों,काल के क्षणों,मानसिक घटकों,मन की गुत्थियों को बिम्बों,प्रतीकों और संकेतों के आधार पर चित्रित किया है । फ्रांसीसी उपन्यासकार एलेन राब ग्रिलेत की कथारचना `लाबोयर` में केवल आंख

---

१ द्रष्टव्य -- शरदकेवड़ा : `युग चिन्तन`,पृ०८४

२ Forster, E.M. / Aspects of the Novel / P. 45.

के ही सूक्ष्म संवेदनाओं पर समस्त ध्यान केन्द्रित रखने का आग्रह रहा है। हिन्दी उपन्यासों में भी अब प्रेमचंद युगीन वर्णन की स्थूलता के प्रति कथाकारों का मोहभंग हो चुका है। अब कथानक का परम्परित रूप आदिमध्य और अन्त का कोई निश्चित पूर्व नियोजित योजना पर ध्यान नहीं दिया जाता। यह भी जरूरी नहीं कि किसी कथा को चरमोन्नत अवस्था तक पहुंचाया जाय और उसके लिए समस्त अंतर्दशायें, गौण घटनाएं एवं विभिन्न भूमिकाएं क्रमपूर्वक नियोजित की जाय। अब कहानी की आदि, मध्य और अन्त कहीं से भी शुरू किया जा सकता है। `शेखर ? एक जीवनी` की कथा मध्य से प्रारम्भ की गई है। `अंधेरे बंद कमरे` में कभी मध्य, कभी अंत की कथा व क्रमोच्छेदन पद्धति के द्वारा प्रवाहित की गई है। `अठारह सूरज के पौधे` में सारी कथा योजना रेलगाड़ी के एक डिब्बे में बीत जाता है, जिसके बीच समकालीन जिंदगी की यांत्रिकता का अनुभूतिपरक यथार्थ सम्प्रेषित करने का प्रयोग किया गया है। `चांदनी के खंडहर` में दिवा स्वप्नों, स्वसंलापों और संकल्पों से चौबीस घंटे की जिन्दगी का चित्र प्रस्तुत किया गया है। `सोया हुआ जल` में समकालवर्तित्व पद्धति के प्रयोग के द्वारा प्रतीकों एवं रूपकों की सफल नियोजना की गई है। `तंतु जाल` और `परन्तु` में मात्र फ्लैशबैक और स्मृतियों से सम्पूर्ण कथा को संगठित किया गया है। यहां तक कि `दूसरी बार` में चार पांच दिन की कथा में से भी मार्मिक क्षणों की अनुभूति चित्रित की गई है। इसप्रकार इन उपन्यासों में परम्परित कथात्मकता का संस्पर्श नहीं है, और सच तो यह है कि यहां क्रमश: कथा-तत्व क्षरित होता गया है, कभी-कभी तो भ्रम हो जाता है कि उपन्यास में कथा संवेदना है भी या नहीं। रमेश बक्षी के उपन्यास `चलता हुआ लावा` या बदीउज्ज़मा के उपन्यास `एक चूहे की मौत` को शुरू से अंत तक पढ़ जाने पर भी कथा समझ में नहीं आती। प्रभाकर माचवे के उपन्यास `द्वाभा` और सर्वेश्वरदयाल सक्सेना के `सोया हुआ जल` में कथा का कोई भी आकर्षण नहीं दिखाई देता।

उपन्यास में कथा ह्रास का कारण भी समझ में आता है। वर्तमान युग में सांस्कृतिक संक्रमण और अधिकाधिक यांत्रिकता के कारण मनुष्य का जीवन जटिल से जटिलतर हुआ है। आज का जीवन क्रमहीन और अव्यवस्थित है, उसे ठीक ठीक समझ पाना हमारे लिए मुश्किल है। नेमिचन्द्र जैन ने आज की दुनिया की

विघटित होती हुई और ऊब-घुटन, बेकार, अव्यवस्थित जिन्दगी को नष्ट किया है।[1] दर असल सारी दुनिया आज एक वैचारिक बौद्धिक संक्रान्ति से गुजर रही है। सिद्धान्तों और मान्यताओं में ऐसी उथल-पुथल, टूट-फूट और किसी हद तक विघटन और अवमूल्यन की हालत शायद ही पहले कभी आई थी। विज्ञान और टेक्नालिजी पर आधारित पश्चिमी समाज आज अपनी बुनियादों के ही बारे में शंकित हो उठा है। विज्ञान ने इन्सान को अभूतपूर्व शक्ति तो दी है, पर उसका इस्तेमाल वह अपनी भलाई के लिए नहीं, बर्बादी के लिए करने को आमादा है। औद्योगिक और प्राविधिक विस्फोट से समृद्धि और अवकाश पर पैदा होना खुशहाली और सन्तोष के बजाय ऊब और घुटन और निराशा का कारण बन गया है। पश्चिम में विराट संगठनों की केन्द्रित शक्ति के सामने आम आदमी खासकर बुद्धिजीवी तथा लेखक को पूरी तरह असहाय, लाचार और बेकार महसूस करने लगा है।...... आज ही मानवीय कार्य बेगाना और विसंगत लगता है।" इन निराशा भरे वातावरण में ऊब, घुटन, अकेलापन, अजनबीपन एवं रिक्तता की संवेदनायें मुखर हुई हैं। इन संवेदनाओं के कारण आम आदमी व्यक्तिवादी होकर अन्तर्लोक में विचरण करने लगा है। मनुष्य का अन्तर्लोक बेक्रम, अव्यवस्थित और जटिल है, वह अनिश्चित, असम्बद्ध, अविचारित अनुभूतियों का पुंजमात्र होता है। अत: आज के यथार्थ के अनुरूप लेखकों ने उपन्यास में मनुष्य की आंतरिक दुनिया की पड़ताल की है और उसके अनुरूप उसके शिल्प विधान में जटिलता और कथानक को अव्यवस्थित और असम्बद्ध रखा है। इन उपन्यासों के कथानक में व्यवस्था योजना सुसम्बद्ध घटनाओं का तारतम्य योजना मुश्किल है। लेकिन इन सारी कोशिशों के बावजूद भी यह तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि आज भी, यहां तक कि रमेश उपाध्याय और रमेश बक्षी की 'एंटी नावेल्स' में भी कथानक का कोई न कोई रूप और आकार उपलब्ध है।

----

१ नेमिचन्द्र जैन : 'समकालीन हिन्दी कथा साहित्य की स्थिति : बहस के लिए कुछ मुद्दे' -- हिन्दुस्तानी एकेडमी की परिचर्चा में पढ़े गए एक लेख से।

उपन्यासकार में कहानी कहने की प्रतिभा होनी चाहिए, क्योंकि बिना प्रतिभा के वह नये यथार्थ का साक्षात्कार नहीं कर पायेगा। पाठक पुराने घिसे-पिटे चित्रों को देखना नहीं चाहता, बल्कि उसकी जिज्ञासा निरन्तर नया स्वाद ग्रहण करने में होती है। इसलिए रचनाकार अधिक से अधिक मौलिकता से काम लेता है। और बिना प्रतिभा के वह मौलिक नहीं बन सकता। मौलिक सृजन के द्वारा वह अपनी कृतियों में जिज्ञासा या कुतूहल के भाव को स्थायी रखता है। कथानक में जिज्ञासा और रहस्य की अनुभूति स्थायी रहने से रोचकता बराबर बनी रहती है।[1] रोचकता की सृष्टि के लिए कुतूहल और नवीनता का प्रक्षेपण आवश्यक है। जो कुतूहल प्रारम्भ से जागृत हो, वह अंत तक बना रहना चाहिए। यदि कुतूहल जागृत नहीं हुआ या जागृत होकर एक बार शान्त हो गया तो निश्चित है कि उपन्यास नीरस समझा जायगा और उसकी उत्कृष्टता समाप्त हो जायगी। उपन्यास का कथानक इस प्रकार गठित किया जाना चाहिए कि कुतूहल का शमन धीरे धीरे हो।[2]

कथानक के द्वारा मनुष्य जीवन के सत्य का उद्घाटन भी आवश्यक है। कथाकार अपने विभिन्न अनुभवों का सम्प्रेषण करता है, लेकिन इस प्रक्रिया में उसने उन अनुभवों को कितनी ईमानदारी, कितनी सचाई के साथ स्थापित किया है, इसका महत्व होता है। यानी उसके अनुभव सत्य हैं अथवा नहीं। मनुष्य की जिन्दगी से उसका स्पर्श मोहैया नहीं। क्योंकि अन्ततः उपन्यास का विषय मनुष्य ही हो सकता है और उसके पाठक भी वही होते हैं। वह अपने ही जीवन का सच्चा और जीवन्त रूप उसमें देखना चाहता है। सत्य उद्घाटन में लेखक के अनुभव जितने परिपक्व एवं व्यापक होंगे, उसकी रचना उतनी ही सशक्त और तीखी बन सकेगी। हेनरी जेम्स उपन्यास में सत्य के उद्घाटन को अनिवार्य समझते हैं।[3]

प्रत्येक उपन्यासकार अपनी रचनात्मक विशिष्टता के द्वारा सौन्दर्य की खोज एवं सृष्टि करते हैं। उनकी संरचना चाहे जिस प्रकार की हो,

---

१ Forster, E.M. / Aspects of the Novel / P. 118.

२ डा० मक्खनलाल शर्मा : `हिन्दी उपन्यास : सिद्धान्त और समीक्षा`, पृ०४४

३ डा० देवराज उपाध्याय : ~~[illegible]~~ 'आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य और मनोविज्ञान', पृ०७८।

प्रत्येक कृति के कथानक का सौन्दर्य अलग-अलग महत्व रखता है । सौन्दर्य-सृष्टि के लिए कथानक का सुगठित एवं सुनियोजित होना जरूरी है । कथानक का संगठन इस प्रकार का होना चाहिए जिसमें अनावश्यक विवरण का अवकाश न मिल सके । उसका प्रत्येक स्तर गठा एवं कसा होना चाहिए । जहां तक हो सके लेखक को अप्रासंगिक विवरणों से बचना चाहिए । बड़े-बड़े लेखक भी कभी कभी इस कमजोरी के शिकार हो जाते हैं । कथावस्तु की सापेक्षता में कभी कभी पात्र अपनी सत्ता खो बैठते हैं, यह स्थिति वहां आती है,जहां कथानक सुगठित एवं प्रबल होता है, वह इतना रोचक एवं आकर्षक हो जाता है कि उसके सामने चरित्र एकदम फीके एवं अशक्त लगने लगते हैं ।

कथानक के प्राय: दो भेद किए जाते हैं:--

(१) सरल कथानक ।

(२) गुम्फित या जटिल कथानक ।

सरल कथानक में एक ही कथा सीधे सादे ढंग से कही जाती है, उसमें प्रासंगिक कथाएं नहीं होतीं । उदाहरणार्थ गिरिधर गोपाल कृत `चांदनी के खंडहर`, शैलेश मटियानी कृत `बोरीवली से बोरीबंदर तक`,अमृतराय कृत `नागफनी का देश` आदि उपन्यासों के कथानक सरल हैं,जिनमें एक ही कथा बिना किसी उलझाव के कही गई है । लेकिन यहां यह भी ध्यान रखना होगा कि सरल कथानक के इस अर्थ में तो वह एक लम्बी कहानी से आगे नहीं बढ़ पायेगा । वस्तुत: जिस कथानक में कथा सम्प्रेषण की जटिलता न हो, वह सीधे ढंग पर पाठकों तक पहुंच जाय उसे भी सरल कथानक के अन्तर्गत मानना चाहिए । अमृतलाल नागर कृत `बूंद और समुद्र` में कई कथायें हैं, लेकिन उसके सम्प्रेषण में कोई जटिलता नहीं है,इसलिए उसे सरल कथानक ही कहा जायगा। वर्णनात्मक शिल्प विधान के अधिकतर उपन्यास सरल कथानक वाले होते हैं । गुम्फित कथानक में दो या इससे अधिक कथाएं होती हैं, जो एक-दूसरे के से मिलने का प्रयास भी करती है और अपना अलग स्थान भी लिये रहती हैं । अब प्राय: अधिकांश उपन्यास गुम्फित कथानक वाले होते हैं । गुम्फित

कथानक वहां भी होता है,जहां कथा सम्प्रेषण में जटिलता होती है । लेखक आसानी से उपन्यास के कथानक को पकड़ पाने में कठिनाई महसूस करता है । पूरा उपन्यास पढ़ लेने पर ही उसे उपन्यास का कथानक समझ में आता है, चाहे उसमें एक ही कथा क्यों न हो, ऐसे भी कथानक गुम्फित कहे जायेंगे ।एक ही पात्र की स्मृतियों के आधार पर खड़ा किया गया कथानक सरल कथानक कभी नहीं कहला सकता । उपन्यास में वर्णन किये जाने वाली कथा के दो भाग किये जाते हैं:--

(१) मुख्य या प्रधान कथा

(२) प्रासंगिक या गौण कथाएं ।

उपन्यास के प्रधान पात्र को लेकर जो कथा कही जाती है, उसे मुख्य कथा कहते हैं । किसी भी उपन्यास में एक से अधिक मुख्य कथाएं नहीं हो सकतीं । `सूरज का सातवां घोड़ा` का कथारूप इस व्याख्या के अंतर्गत नहीं रूप पाता,क्योंकि यहां लगभग सभी कथाएं अलग-अलग होती हुई भी मुख्य कथा का स्थान लेती हुई आभासित होती हैं । प्रमुख पात्र के अतिरिक्त इतर पात्र से संबंधित कथाएं प्रासंगिक कथाएं कहलाएंगी । एक उपन्यास में कई प्रासंगिक कथाएं हो सकती हैं । शिवप्रसाद सिंह कृत `अलग अलग वैतरिणी` में करैता के बबुआन परिवार की कथा मुख्य कथा है और इसके अतिरिक्त इतर छोटी-छोटी कथाएं प्रासंगिक कथाओं के रूप में निर्मित हुई हैं । स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी-उपन्यासों में कथात्मकता या परम्परित कथानक का रूप उत्तरोत्तर ह्रास को प्राप्त होता रहा है। इसका कारण एक तो यह है कि स्वयं लेखक एक ही लीक पर चलने का मोह पाल नहीं सकता । उसका निरन्तर यह प्रयास रहता है कि अपने रचनाकर्म के माध्यम से वह अधिक-से-अधिक नव्य प्रदान कर सके । इसके लिए वह विभिन्न नई नई युक्तियों का सहारा लेकर कहीं चौंकाता है,कहीं परम्परित शिल्पविधान को एकदम झकझोर या तोड़ देने को लालायित रहता है । सर्वेश्वरदयाल सक्सेना ने `सोया हुआ जल` में कथानक की परिकल्पना को ही खंडित कर डाला है, श्रीकांत वर्मा के उपन्यास `दूसरी बार `में ढूढ़ने पर कथानक का झीना रूप प्राप्त तो हो जायगा ,पर

उसका कोई अर्थ निकलता हुआ नहीं दिखाई देता । रमेश उपाध्याय ने अपने समस्त उपन्यास रचनाओं में कथानक की रुढ़ि को तोड़कर चौंकाने का प्रयास किया है । अब लेखक कथा कहना नहीं चाहता, वह जीवनगत मूल्यों का सम्प्रेषण करना चाहता है । और ये मूल्य मानवीय समस्याओं के निरीक्षण-परीक्षण तथा व्याख्या-विश्लेषण से ही प्राप्त किये जा सकते हैं,अत: उनकी दृष्टि चरित्र पर जाती है, कथा पर नहीं[१] ।

दूसरा कारण मनोविज्ञान के प्रति कथाकारों का बढ़ता हुआ मादन भाव है । इससे वह आत्मविश्लेषण पर अपना ध्यान अधिक केन्द्रित करता है । अब कथा पात्र के बहिर्लोक का चित्रण नहीं करती,बल्कि उसके सूक्ष्म अंतर्लोक का विचरण करती हुई मानसिक परतों को उघाड़ती है । एक ओर कथाकार के लिए नितान्त सामयिक क्षण का महत्व होता है, तो दूसरी ओर बीती हुई घटनायें हिलकोरें लेती हुई फ्लैश बैक के रूप में उपस्थित होती हैं । वही विगत वर्तमान का रूप हो जाता है । यहां जीवन्त सामाजिक समस्याओं की विवेचना नहीं हो पाती और उसके स्थान पर नितान्त व्यक्तिगत जीवन की आलोचना विपर्यस्त होने लगती है । फ्रांस के अस्तित्ववादी जीवन दर्शन ने भी उपन्यास की कथात्मकता को क्षरित किया है । बीसवीं शताब्दी का साहित्य, विशेषकर कथा साहित्य, अस्तित्ववादी दर्शन से बहुत कुछ प्रभावित देखा जा सकता है । इस प्रभाव के फलस्वरूप लेखक ने यह समझा है कि जहां हमारे जीवन का अस्तित्व ही निरर्थक है, वहां कथा का मोह कहां रह जाता है । वह जीवन की निरर्थकता, अजनबीपन, बेगानेपन और जीवन के त्रास की अनुभूति को रूपायित करता है ।

स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी -उपन्यासों में कथात्मकता शिल्प-विधान के नव्य प्रयोगों एवं कौशलों के कारण भी क्षरित हुई है । `अज्ञेय` ने `नदी के द्वीप` में और लक्ष्मीनारायण लाल ने `काले फूल का पौधा` में विभिन्न

----

१ जैनेन्द्र : `सुनीता`,पृ० ३-४

पात्रों के दृष्टिकोण से कथा को अभिव्यक्त किया है । यहां उपन्यासकार कथा कहने की बागडोर अपने हाथ से हटाकर उपन्यास के पात्रों पर सौंप देता है । इसलिए उपन्यास का समस्त शक्ति उसके पात्रों पर केन्द्रित हो जाता है ।हेनरी जेम्स ने इस कथा प्रविधि को दृष्टिकेन्द्र विधि या [१]
कहा है । इसमें कथाकार उपन्यास की समग्र कथा को विभिन्न पात्रों के नाम पर लघु लघु खंडों में विभक्त कर देता है । प्रत्येक खण्ड में एक विशेष पात्र अपनी कथा कहता है साथ ही दूसरे पात्रों की आलोचना- प्रत्यालोचना करता है । एक पात्र की कथा एक से अधिक बार भी आ सकती है, लेकिन उस खंड में वह केवल अपने दृष्टिकोण से कथा कहेगा, तथा अपने दृष्टिकोण के द्वारा ही दूसरे पात्रों को प्रकाशित करेगा ।

पत्र,डायरी और रिपोर्ताज पद्धति के प्रयोग द्वारा भी कथा का परम्परित रूप तोड़ा गया है । इसमें स्वच्छन्दरूप से पात्र अपनी तत्कालिक मानसिक दशा का वर्णन तथा आलोचन करता है । पत्र-डायरी का उपयोग या तो किसी विशेष स्थल पर कई पन्ने तक चलता रहता है या बीच-बीच में पात्र की मानसिक स्थिति की यथार्थ अभिव्यक्ति के लिए प्रयुक्त कर दिया जाता है । इससे पाठक सीधे-सीधे कहानी को नहीं पकड़ पाता, उसे यथासाध्य परिश्रम करना पड़ता है ।

आज का लेखक जीवन के भारी-भरकम इतिहास को महत्वपूर्ण नहीं मानता, उसके स्थान पर नितान्त क्षण की अनुभूतियों को प्रमुख और सशक्त स्वीकार करता है । बड़ी-बड़ी,लम्बी-लम्बी तफसीलों में मनुष्य की सतही बातें अधिक रूपायित हो सकती हैं, इसके विपरीत वे अनगिनत छोटी-से-छोटी अनुभूतियां,अकिंचन और हेय स्थितियां, जिन पर हमारा ध्यान कम जाता है, भी महत्वपूर्ण और सार्थक हो सकती हैं । मनुष्य के दैनंदिन जीवन में बहुत से छोटे-छोटे दृश्य और क्षण जिससे जीवन भरा पड़ा है, भी उजागर करना रचनाकार

१Edel, Leon / Modern Psychological Novel / P. 36.

का कर्म है, क्योंकि सूर्य की भव्यता का दिग्दर्शन कराने वाली दूरबीन के मुकाबले में नन्हें-नन्हें अदृश्य, अकिंचन कीटाणुओं को दिखाने वाली खुर्दबीन कम महत्वपूर्ण और उपादेय नहीं है।[1] नरेश मेहता ने 'दो एकान्त' में घटनाओं का नहीं, स्थितियों का अवलोकन किया है।[2] श्रीकान्त वर्मा के 'दूसरी बार', निर्मल वर्मा के 'वे दिन', मोहन राकेश के 'अंतराल', महेन्द्र भल्ला के 'एक पति के नोट्स', तथा श्याम व्यास के 'एक प्यासा तालाब' में जीवन की अकिंचन और हेय अनुभूतियां प्रमुख रूपसे उजागर हुई हैं।

छोटी और लघु कथाओं के उपयोग के कारण अब घटनाएं तीव्रता से घटित और विकसित नहीं होतीं, बल्कि रुक रुक कर मन्थर गति से लगभग जीवन का आलोचन करते हुए चलती हैं। पात्रों के तनाव सीधे संघर्ष को प्रेरित न करके ठंडे और मूक भाव से टूटने और बिखरने को विवश करती हैं। अब विस्तार की अपेक्षा गहराई, परिमाण (घटनाओं की संख्या) की अपेक्षा गुण और स्थूलता की अपेक्षा सूक्ष्मता को प्रश्रय मिलता है।[3] काल और स्थान की सीमा भी लघु से लघुतर होती जा रही है। अब कथा सौ दो सौ वर्षों का इतिहास न कहकर एक-दो दिन या एक-दो घंटे की कथा कहने मात्र से अपना कर्तव्य पूरा कर लेती है। 'चांदनी के खंडहर', 'तंतुजाल', 'दूसरी बार', 'सोया हुआ जल' आदि उपन्यासों में कालसीमा लघु से लघुतर देखी जा सकती है। अब कथा देश-विदेश का भ्रमण भी नहीं करती, बल्कि एक मुहल्ले या एक विशेष स्थान के छोटे घेरे तक सीमित रह सकती है। 'चांदनी के खंडहर' में कथा देश-विदेश का इलाहाबाद के सिविल लाइन्स से नया कटरा तक के सीमित क्षेत्र में ही समाप्त हो जाती है, 'बूंद और समुद्र' की कथा लखनऊ के चौक की एक विशेष गली तक ही सीमित है। 'अठारह सूरज के पौधे' की सम्पूर्ण कथा रेलगाड़ी के एक डिब्बे में ही खत्म हो जाती है।

---

१ 'गिरती दीवारें' की भूमिका से।

२ 'दो एकान्त' की भूमिका में नरेश मेहता ने स्वीकार भी किया है कि 'आज के जीवन में सामान्यत: घटनायें नहीं घटतीं, बल्कि स्थितियां उत्पन्न होती हैं।'

३ प्रेम भटनागर : 'हिन्दी उपन्यास शिल्प : बदलते परिप्रेक्ष्य', पृ०१६

कथा अभिव्यक्ति और प्रस्तुतीकरण में भी प्रयोगों के कारण कथानक का परम्परित रूप विच्छिन्न हुआ है । `अमृत और विष` में उपन्यास के भीतर उपन्यास कहा गया है तो रमेश बक्शी के उपन्यास `किस्से ऊपर किस्सा` में कहानी में से कहानी उत्पन्न करने की कथा प्रविधि का विचित्र निर्माण किया गया है । शिवप्रसाद मिश्र `रुद्र` के `बहती गंगा` में सत्रह कहानियां धारा तरंग न्याय के अनुसार जुड़ी हुई एवं अलग-अलग भी दिखाई देती हैं । धर्मवीर भारती के `सूरज का सातवां घोड़ा` में अनेक कहानियों में एक कहानी का आग्रह रहा है ।

इन सब कथा-प्रयोगों के बावजूद स्वातन्त्र्योत्तर काल में कतिपय ऐसे उपन्यास भी लिखे गए हैं, जो वर्णनात्मक ढंग का उपयोग करते हुए भी मानवीय संवेदनाओं को जीवन्त रूप से उजागर करती हैं ।`यह पथ बंधु था` (नरेश मेहता), `झूठा-सच`(यशपाल),`बूंद और समुद्र`(अमृतलाल नागर), `सबहिं नचावत राम गोसाईं`(भगवतीचरण वर्मा), चारुचन्द्र लेख(हजारीप्रसाद द्विवेदी) और जुगलबन्दी (गिरिराजकिशोर) जैसे उपन्यासों में मानवीय मूल्य और संवेदनाएं व्यापकता के साथ स्थापित हुई हैं ।

(ख) चरित्र-चित्रण या पात्रांकन

उपन्यास वस्तुत: मनुष्य जीवन को ही स्थापित करता है,चाहे उसका रूप किसी ढंग का हो, अत: उसमें मानवीय पात्रों का अनिवार्यरूप से उपयोग होता है ।प्रतीकात्मक उपन्यासों में जहां मनुष्येतर पात्रों के क्रियाकलाप चित्रित किये जाते हैं, वे भी मनुष्य जीवन के क्रिया-कलाप को प्रतीकात्मक ढंग पर व्यंजित करते हैं । इसलिए निर्जीव पात्र भी यहां जीवित-से दिखाई देने लगते हैं । कहानी में जो घटनाएं होती हैं, या घटनाविहीन उपन्यासों में , जहां मानसिक घटनाओं का चित्रण होता है,उसका भोक्ता पात्र होता है या वह जिसके आधार पर घटनाएं या काल्पनिक मानसिक संसार की रचना होती है, पात्र का चरित्र कहला सकते हैं ।

कथाकार समाज का एक जीवंत एवं विशिष्ट सदस्य होता है । वह समाज में फैले हुए विविध मानव-चरित्रों को अपनी रचना में स्थान देता है । अर्थात् उसके उपन्यास में जिन पात्रों का चित्रण होगा, वे समाज के ही एक अंग होंगे । पाठक भी चाहता है कि जिन पात्रों की कहानी वह पढ़ रहा है, क्या ऐसे पात्र हमारे आस-पास हैं भी अथवा नहीं । यदि समाज से उनका मेल नहीं होता, तो ऐसे पात्रों के प्रति पाठकों की रुचि नहीं होती । इसके विपरीत यदि उपन्यास में चित्रित पात्रों के क्रिया-कलाप उसके अपने क्रिया-कलाप होते हैं या पात्र उपन्यास में जिन समस्याओं से संघर्ष कर रहा है, ऐसी समस्याओं से उसने भी साक्षात्कार किया है । ऐसी स्थिति में उपन्यास में चित्रित पात्र उसको गहराई से स्पर्श करते हैं । यहां तक कि मनो-विश्लेषणात्मक उपन्यासों के कुंठित और असाधारण पात्र भी समाज में कहीं न कहीं मिल जाते हैं ।

युग और परिवेश के अनुसार लेखक पात्र का निर्माण करता है । लेखक की संवेदना युग-परिवर्तन को और उससे उत्पन्न जीवन वैविध्य तथा समस्याओं को जीवन्त रूपसे जागृत करती है । पाठक यह नहीं चाहता कि ऐसा होता था बल्कि वह तो यह देखना चाहता है कि आज क्या हो रहा है ? और जो कुछ हो रहा है उसके कर्ता मनुष्य पात्र ही हैं । इसलिए स्वाभाविक रूप से उपन्यास में चित्रित पात्र युगानुरूप होंगे, यहां तक कि ऐतिहासिक उपन्यासों में भी पात्रों की चेतना को सामयिक चेतना से सम्पृक्त करने का प्रयास किया जाता है ।

चरित्र का निर्माण वास्तव में पाठक करते हैं,[१] क्योंकि लेखक को उपन्यास की रचना-प्रक्रिया के समय पाठकों का कुछ-न-कुछ ध्यान अवश्य रहता है । जब वह सोचता है कि अपनी रचनाशक्ति के माध्यम से अधिक से अधिक मौलिक व हो, अधिक से अधिक नव्य प्रदान करे, उस समय उसके अचेतन

---

१ Liddell, Robert / A Treatise on the Novel / P. 26.

में पाठक का बिम्ब होता है । समाज और युग की चेतना के अनुरूप पाठकों की चेतना में परिवर्तन होते रहते हैं, उसी प्रकार लेखक भी पाठकों की चेतना के अनुरूप पात्र का निर्माण करते हैं ।

उपन्यास में चरित्र-चित्रण के प्रायः दो प्रकार मिलते हैं, जिसे अधिकांश विद्वानों ने स्वीकार किया है--

(१) सपाट चरित्र (फ्लैट कैरेक्टर)

(२) जटिल चरित्र (राउण्ड कैरेक्टर)

सपाट चरित्र की प्रकृति प्रायः एक ही बिन्दु पर केन्द्रित रहती है । पूरे उपन्यास में उसका चारित्रिक विकास स्थिर रहता है। उपन्यास के ऐसे पात्रों को पहचानने में कोई कठिनाई नहीं होती । सपाट चरित्र अपने शुद्ध रूप में एक ही विचार या गुणों में निर्मित होते हैं,उनमें परिस्थितियों के अनुसार अपने चरित्र के आयाम को बदल डालने की क्षमता नहीं होती । इनमें जब विचारों अथवा गुणों के एक से अधिक आयाम की सम्भावना होने लगती है, उस समय हमें यह समझ लेना चाहिए कि वे जटिल पात्र की प्रारम्भिक अवस्था में पहुंच रहे हैं । हास्य या व्यंग्यात्मक पात्रों में सपाट चरित्रांकन आसानी से खपाया जा सकता है । चरित्रांकन के एक ही बिन्दु पर भटकने के कारण ये पाठकों में ऊब अनुभव करते हैं । क्योंकि रहस्य या जिज्ञासा की आशा इनसे नहीं की जा सकती । ये पाठकों के समक्ष पूर्व परिचित से आते हैं और सरलता से पहचान लिए जाते हैं ।

इसके विपरीत जटिल पात्र पाठकों के आकर्षण के केन्द्र होते हैं । उन्हें पहचानने के लिए पाठकों को अपनी ओर से प्रयास और श्रम करना पड़ता है । जटिल पात्र में परिस्थितियों के अनुसार विकास और परिवर्तन की पूरी सम्भावना रहती है । इनके चारित्रिक परिवर्तन के कारण ही पाठकों की जिज्ञासा बराबर बनी रहती है । आधुनिक उपन्यासों में

----

१ Forster, E.M. / Aspects of the Novel / P. 103.

अधिकतर जटिल पात्रों का चयन किया जाता है । `यह पथ बंधु था` का श्रीधर, `बूंद और समुद्र` का महिपाल ,`नदी के द्वीप` का रेखा और `मछली मरी हुई` का निर्मल पद्मावत जटिल चरित्र के उत्कृष्ट उदाहरण हैं । प्रतीकात्मक पात्र भी जटिल चरित्र के अंतर्गत समाहित किए जा सकते हैं । क्योंकि इन पात्रों का चरित्र सम्प्रेषण जटिल या कठिन होता है । `काली कुर्सी की आत्मा` में काली कुर्सी,बन्दर,रीछ इत्यादि तथा`एक चुहे की मौत` में चुहा नं० एक,दो, तीन इत्यादि प्रतीकात्मक जटिल पात्र हैं ।

कुछ विद्वानों ने अन्य नामों से चरित्र-विभाजन प्रस्तुत करने का प्रयास किया है, किन्तु ध्यान देने पर ये विभाजन सपाट और जटिल चरित्र के अन्तर्गत ही आते हैं समाहित प्रतीत होते हैं । नेन्सी हेल ने पात्र-विभाजन इस प्रकार किया है --

(१) वे चरित्र जो प्रभावित करते हैं ।

(२) वे पात्र जो प्रभावित नहीं करते हैं ।[१]

विवेचन में यह पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है कि सपाट चरित्र में आकर्षण क्षरित रहता है, वे पाठकों को प्रभावित नहीं करते हैं और जटिल पात्र अपनी संरचना एवं चेतना के द्वारा पाठकों को प्रभावित करने की क्षमता रखते हैं । इसलिए श्रीमती हेल का यह विभाजन कोई नवीन सूचना नहीं देता । इसके अतिरिक्त और भी विभाजन किए गए हैं--

(१) सरल एवं गूढ (इजी एण्ड डिफिकल्ट)

(२) स्थिर और गतिशील (स्टेटिक एण्ड डाइनैमिक)

(३) प्रतिनिधि और व्यक्तिवादी (टाइप एण्ड इण्डिविजुवल)

सरल अथवा स्थिर चरित्र को ही सपाट चरित्र कहा गया है । सपाट चरित्र पाठकों को आद्यन्त याद रहते हैं, उन्हें समझने में कोई

----

१ "...And I think there are two kinds of creation of characters, just as there are two kinds of gossip - the kind that hurts and the kind that does not hust ..." Hale, Nancy / The realities of Fiction / P. 53.

कठिनाई नहीं होती, वे विकसित अथवा परिवर्तित भी नहीं होते, बल्कि स्थिर रहते हैं । ऐसे पात्रों को 'टाइप' भी कहा जाता है, क्योंकि ये वर्ग-विशेष का प्रतिनिधित्व करते हैं । अतः सरल, स्थिर अथवा प्रतिनिधि पात्र सपाट चरित्र ही हैं । जटिल पात्रों का चरित्रांकन अधिक गहराई एवं सूक्ष्मता के साथ उपस्थित किया जाता है, उन्हें पहचानने में पाठकों को परिश्रम करना पड़ता है । ये वातावरण एवं परिस्थितियों के अनुसार विकसित या परिवर्तित होते हैं, इस प्रकार गतिशील भी हैं । व्यक्तिवादी पात्र में विकास और परिवर्तन की सम्भावनाएं अधिक देखी जा सकती हैं, इसलिए व्यक्तिवादी चरित्र ही जटिल या गतिशीलपात्र हैं । इस विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि सपाट और जटिल पात्र के अन्तर्गत चरित्रों के अन्य प्रकार सम्मिलित प्रतीत होते हैं ।

सपाट और[१] जटिल चरित्र भी दो रूपों में निर्मित होते हैं-- (१) अंतः और (२) बाह्य । जब कथाकार पात्र के आंतरिक संसार का, उसके मानसिक जगत का विश्लेषणात्मक चित्रण प्रस्तुत करता है, ऐसे चरित्रांकन को अंतः कहा जा सकता है और जब वह एक ही युक्ति का प्रयोग करते हुए सम्पूर्ण आकर्षण एक ही तरह के मानसिक धरातल पर केन्द्रित और स्थिर रखता है तो उसे सपाट अंतः चरित्र कहा जायेगा । इसके विपरीत पात्रों की मानसिक गुत्थियां विविध आयामों में प्रकाशित की जाती हैं । इससे चरित्र अंतः प्रेरित होकर बार-बार परिवर्तन की सूचना देते हैं । पाठक यह नहीं समझ पाता कि चरित्र का अमुक परिवर्तन अचानक कैसे हो गया ? लेकिन कथाकार बाद में उसका मानोवैज्ञानिक समाधान भी देता है । इस प्रकार ऐसे चरित्रों को जटिल अंतः चरित्र कहा जायेगा । 'नदी के द्वीप' का भुवन और रेखा, 'शेखर : एक जीवनी' का शेखर, 'अजय की डायरी' का अजय और [illegible] इसी प्रकार के चरित्र हैं।

---

१ "..... Each of which can be further subdivided according to whether it is the 'inner' or the 'outer man' that is presented" Rickword, C.E. / A note on Fiction / quotted from 'Forms of Modern Fiction / P. 281.

अभिनयात्मक या नाटकीय विधि में प्रस्तुत किए गए पात्र भी स्थिर और गतिशील चित्रित किए जाते हैं । इस विधि में कथाकार अपनी ओर से उनका चरित्र विश्लेषण नहीं करता, बल्कि पात्र स्वयं जीवन्त रूप से बनते-बिगड़ते हैं । लेखक उनको विभिन्न स्थितियों, दशाओं एवं परिस्थितियों में लाकर उनके चारित्रिक आयाम को स्वाभाविक बनाता है ।

स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी-उपन्यासों में चरित्रांकन -प्रक्रिया और पद्धति में अनेक नवीन परिवर्तन देखे जा सकते हैं । मनोविश्लेषणात्मक उपन्यासों में यह बदलाव सजगता से उभारा गया है । प्रेमचंदयुगीन उपन्यासों में घटनाओं की प्रधानता है, पात्रों के चरित्र का परिवर्तन घटनाओं की नवीन स्थिति के कारण होता है । लेकिन आलोच्यकालीन उपन्यासों में घटनाओं का स्थान गौण होकर कथाकारों का सम्पूर्ण परिश्रम चरित्र गढ़न में केन्द्रित होता है । उपन्यास के अन्य उपादान चरित्र के इर्द-गिर्द चक्कर लगाते हैं । अब उपन्यास समष्टि के स्थान पर व्यक्ति चित्र को प्रस्तुत करता है । पात्र समाज में रहते हुए भी उसके यथार्थ से प्रभावित नहीं होते । उनका संघर्ष सामाजिक विद्रूपताओं या व्यवस्था से नहीं होता, बल्कि वे अपने-आप से, अपनी आंतरिक दुनिया से लड़ते हुए देखे जाते हैं ।

प्रेमचन्द-युग में अधिकतर लेखकों का रुझान वर्णनात्मक शिल्प-विधान की ओर था । इस विधि के उपन्यासों में पात्रों का चरित्र अशक्त और कमजोर होता है, क्योंकि वे अपनी स्वाभाविक गति से नहीं बनते-बिगड़ते, बल्कि उनका भाग्यविधाता और निर्माता लेखक हुआ करता है । कथाकार अपने विस्तृत एवं व्यापक इतिवृत्तों के द्वारा पात्रों के चरित्र का संचालन स्वयं करता है। अर्थात् पात्र लेखक के हाथ के इशारों पर नाचते हैं । वह जिन्हें चाहे बिगाड़ दे, जिन्हें चाहे बना दे । लेकिन आलोच्यकालीन उपन्यासों के पात्र उनसे एकदम भिन्न हैं । इनका परिचालन चेतन जगत से न होकर अपनी अंत:प्रेरणाओं से होता है । वे अवचेतन और अर्द्धचेतन जगत की मानसिक गुत्थियों में जीते हैं । उसकी जटिल आवृत्त और रहस्यमयी दुनिया को मूलप्रवृत्तियों एवं संस्कारों के परिप्रेक्ष्य में रखकर देखा जाने लगा ।'.... प्रेमचन्द अपने 'गोदान' में होरी, गोबर, धनिया,

मालती, मेहता को मानो जीवन लिख गये हों । वे इन पात्रों पर कलम उठाते ही कलम तोड़ते दृष्टिगत होते हैं, पर चरित्र वर्णन करते नहीं अघाते । जब कि जोशी जी की लज्जा या अज्ञेय की शशि या जैनेन्द्र का मृणाल अपने व्यक्त सार्वजनिक जीवन के स्थान पर मात्र अपने अव्यक्त निजी जीवन के उस अंश का विश्लेषण करते हैं, जो उन्हें क्षण विशेष में पीड़ित कर किए हैं । ये पात्र अपने रहस्यावृत अपरिमित मनोजगत की अन्तर्लीला, अंत:प्रेरणा, अंत:स्फूर्ति तथा अंत:प्रवृत्तियों का कोना-कोना झांक लेना चाहते हैं तथा अपने पाठकों को अपने अछूते, अतल गह्वर में छिपे व्यक्तित्व का दर्शन करा देना चाहते हैं।[1]

चरित्रोद्घाटन के लिए मनोवैज्ञानिक कथाकारों ने पात्रों के पूर्ववृत्त तथा उनकी मानसिक रुग्णता के लिए 'केस हिस्ट्री' का चित्रण किया है, जिसके बीच उसके बाल जीवन प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष स्मृतियां और दृश्य एक-एक करके कैनवस पर उभरते हैं । अतृप्त कामेच्छाओं और प्रबल अहं का चित्रण और विवेचना फ्रायड और युंग के मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों पर आधारित होते हुए भी उनका स्वस्थ और उदात्त रूप में प्रसार दिखाया गया है । कामेच्छाओं की अन्तिम परिणति जोशी ने उदात्तीकरण की ओर, अज्ञेय ने आत्मविश्वास तथा जैनेन्द्र ने आत्मसमर्पण की ओर संकेतित किया है । मनुष्यों की रुग्ण मानसिक स्थितियों और विकृत चित्त का उद्घाटन उनके अन्तर में छिपी पाशविक वृत्तियों की अभिव्यक्ति के लिए किया गया है । डा० सत्यपाल चुघ के शब्दों में --'विकृत पात्रों का चुनाव उन्हें स्वस्थ बनाने के लिए है, उनके भीतर के 'मैले' को निकाल धौला बनाने के लिए है । तात्पर्य यह है कि प्राय: अस्वस्थ पात्रों का स्वस्थ चित्रण तथा स्वस्थ प्रभावोत्पादन हुआ है ।'[2]

आलोच्यकाल के अधिकांश मनोवैज्ञानिक उपन्यासों के पात्र कुण्ठ और असाधारण हैं । लेखकों ने जानबूझकर उनपर किसी वस्तु

---

१ प्रेम भटनागर : 'हिन्दी उपन्यास[शिल्प]: बदलते परिप्रेक्ष्य', पृ०२१

२ सत्यपाल चुघ : 'प्रेमचंदोत्तर उपन्यासों की शिल्प विधि', पृ०६५-६६

का आरोप नहीं किया है,समाज में जो जैसे हैं,उन्हें उसी रूप में कमजोर,हीन और कुंठाग्रस्त दिखाया है । असाधारण पात्र समाज के कोई देवी पुरूष नहीं हैं, बल्कि अपनी हीन भावना और कामग्रंथियों के शिकार होकर दोहरे-तिहरे व्यक्तित्व में जीते हैं । चेतन-अचेतन के अंत:संघर्ष और आत्मावलोकन के द्वारा असहाय और अप्रत्याशित गति से विकसित होते हैं । वे जो चाहते हैं, कर नहीं पाते और जो नहीं चाहते वह हो जाता है । रेखा ने भुवन को पहले अपना शरीर दान दिया, किन्तु बाद में उससे अलग हट जाती है, गौरा का मूक प्रेम, कभी प्रकट नहीं हो पाता, चंद्रनाथ और साधना भाई-बहिन बने हुए भी नजदीक आकर वासना के द्वन्द्व में विचलित होते हैं,चेतन पत्नी के होते हुए भी अपनी साली नीला को प्यार करता है और दोनों को पाने और छोड़ने के असमंजस में छटपटाता है । इस तरह पात्रों के चेतन-अचेतन की द्वन्द्व स्थितियां पात्रों के वैचित्र्य तथा अप्रत्याशित किन्तु मनोविज्ञान सम्मत आचरणों में व्यक्त होती रहती हैं...[१] । विचित्र और असाधारण पात्र चयन के कारण प्रेमचंदकालीन बहुपात्रों के स्थान पर प्राय: पात्रों की संख्या सीमित होती गई है । एक-दो पात्रों का चित्र चरित्र ही उभर कर सामने आता है । आंतरिक संसार के उद्घाटन के लिए स्वप्न विश्लेषण,सह शब्द स्मृति परीक्षा,सम्मोहन,स्मृत्यवलोकन, पूर्वावलोकन,इंटीरियर मोनोलाग, चेतन प्रवाह, बाधकता विश्लेषण आदि प्रणालियों का आश्रय लिया गया है ।

आलोच्यकाल में मनोविश्लेषणात्मक उपन्यासों के अतिरिक्त कई वर्णनात्मक शिल्प-विधान के उपन्यास भी लिखे गये हैं । यहां पात्रों की जटिल मानसिक स्थिति का चित्रण करने के बजाय यथार्थपरक बाह्य चित्र उपस्थित करने का प्रयास हुआ है । वे अपनी घनीभूत संवेदना के साथ उजागर हुए हैं । समाज की सचाइयों, उसकी विद्रूपताओं और कमजोरियों को विविध पात्रों के माध्यम से व्यापकता के साथ स्पर्श किया है । इस दृष्टि से `बूंद और समुद्र`,`अमृत और विष` (अमृतलाल नागर),`अलग अलग वैतरिणी` (शिवप्रसादसिंह)

---

१ सत्यपाल चुघ : `प्रेमचंदोत्तर उपन्यासों की शिल्प विधि`,पृ०६८ ।

'उखड़े हुए लोग' (राजेन्द्र यादव), 'जुगलबन्दी' (गिरिराजकिशोर) तथा 'झूठा सच' (यशपाल) विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं । स्वातन्त्र्योत्तरकालीन संक्रमण की स्थिति के कारण नैतिकता और आदर्श में जो बिखराव परिलक्षित होता है, उसका उद्घाटन लेखकों ने बड़े तेवर के साथ किया है । खोखलापन, रिक्तता, पलायन, कुंठा, संत्रास, अजनबीपन, एकाकीपन, अवगुंठन, तनाव, पराजय, हीन बोध, अपराध आदि भाव स्थितियां पात्रों के माध्यम से व्यापकता के के साथ उजागर देखा जा सकती हैं ।

आंचलिक उपन्यासों में पात्रांकन का एक अलग और विशिष्ट रूप दिखाई देता है । यहां भिन्न-भिन्न पात्रों का निर्माण उनकी व्यक्तिगत विशिष्टता दिखाने के लिए नहीं, बल्कि समूह चरित्र उद्घाटन के लिए किया जाता है । उपन्यास के सभी अवयव अंचल विशेष को व्यक्तित्व प्रदान करने के लिए संगठित किए जाते हैं । नागार्जुन, फणीश्वरनाथ 'रेणु' देवेन्द्र सत्यार्थी, अमृतराय, शिवप्रसादसिंह, मार्कण्डेय, शैलेश मटियानी तथा विवेकीराय आदि के उपन्यास आंचलिकता की दृष्टि से सफल बन पड़े हैं । रेणु के उपन्यासों में इस चित्रण की सफलता का आधार नूतन सामूहिक शैली भी है, जिसमें कथा का विकास कुछ मनोवैज्ञानिक उपन्यासों की तरह ग्रामीण पात्रों के दृष्टिकोण से किया गया है । इस शैली में जहां ग्राम कथा का विकास होता है, वहां पात्रों का चरित्रांकन भी साथ-साथ होता जाता है[१] ।

(ग) संवाद

उपन्यास के शिल्प-विधान में संवाद अथवा कथोपकथन भी एक मुख्य भूमिका निभाते हैं । लेखक अपनी ओर से केवल पात्रों का वर्णन करता जाय, तो पाठक निश्चित रूप से ऊब का अनुभव करते हैं, किन्तु जब

---

१ सत्यपाल चुघ : 'प्रेमचंदोत्तर उपन्यासों की शिल्प विधि', पृ०१०१ ।

वह संवादों के द्वारा पात्रों के तेवर को प्रस्तुत करता है,तब वे आकर्षक,सशक्त एवं स्वाभाविक गति प्राप्त करते हैं । यद्यपि संवादों का उपयोग कोई अनिवार्य तत्व नहीं है,किन्तु उसके द्वारा हम उपन्यास को अधिक स्वाभाविक एवं यथार्थ बना सकते हैं । उपन्यास की स्वाभाविकता का आधार उसके संवाद ही होते हैं। उपन्यास के शिल्पविधान के अंतर्गत संवाद निम्नलिखित कार्य करते हैं:--

(१) कथानक का विकास

लम्बे-लम्बे वर्णन के बजाय कथाकार पात्रों के संवादों के द्वारा कथानक को गति और विकास प्रदान करता है,इस युक्ति में कहानी तीव्रता के साथ और अपने वास्तविक रूप में प्रकट होती है । कभी-कभी उपन्यास में संवादों का उपयोग किसी स्थल पर इतना आवश्यक हो जाता है कि उसके बिना कथा आगे बढ़ ही नहीं सकती । बहुत-सी घटनाएं ऐसी होती हैं, जिनका वर्णन नहीं किया जा सकता । या तो वह भूतकाल में हो चुकी होती है अथवा ऐसी और परिस्थिति में होती हैं,जिनका उपन्यास से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं होता,किन्तु उपन्यास के कथानक की पूर्णता और चरम विकास की दृष्टि से उनका वर्णन करना आवश्यक होता है तो उपन्यासकार स्वाभाविकता उत्पन्न करने के लिए ऐसे पात्र द्वारा उनका वर्णन करा देता है जो उस घटना से परिचित होता है और इस प्रकार कथानक में गत्यावरोध उत्पन्न नहीं होता और घटनाक्रम आगे बढ़ता चला जाता है[१] ।

(२) चरित्रांकन में सहायक

कथा वर्णन में पाठक का तादात्म्य लेखक से होता है किन्तु संवादों के द्वारा वह पाठकों से सीधा साक्षात्कार करता है । उन दोनों के बीच से लेखक का हस्तक्षेप हट जाता है । स्वयं लेखक भी संवादों के द्वारा पात्रों

---

१ मक्खनलाल शर्मा : 'हिन्दी उपन्यास सिद्धान्त और समीक्षा', पृ०६५

को आसानी से और सशक्त रूप में व्यक्त कर सकते हैं,क्योंकि उसके बीच सदैव चरित्र अपने पूर्ण रूप में अभिव्यक्ति पाते हैं । सभी प्रकार के उपन्यासों में पात्रों का चरित्रांकन अधिक शक्तिशाली ढंग से सम्प्रेषित किया जा सकता है ।

(३) पात्रों को स्वाभाविक बनाना

संवादों के उपयोग से पात्र अपने स्वाभाविक एवं सहज रूप में प्रकट होते हैं । समाज में उनका जैसा व्यवहार और स्थान होता है, उनको उसी रूप में उपस्थित किया जाता है । पात्रों की प्रकृति के अनुरूप लेखक संवादों को अलग-अलग रूपप्रदान करता है,क्योंकि इसी युक्ति से प्रत्येक पात्र अपना यथार्थ तेवर दे सकते हैं । 'राग दरबारी' में वैद्य जी के संवादों की भाषा नपी-तुली, खोखली और दार्शनिक मुद्रा में व्यक्त होती है, रंगनाथ की गंभीर,कामचलाऊ और संक्षिप्त,रुप्पन की उद्दण्ड,कमजोर और किशोर नेतागिरी की भाषा, सनीचर की चापलूसी और पिछलग्गू चरित्र की भाषा अलग-अलग आयाम लेकर पात्रों को स्वाभाविक मर्यादा में बांधते हैं ।

आलोच्यकाल के उपन्यासों में कथानक की अपेक्षा पात्रांकन को अधिक महत्व देने का प्रयास किया जा रहा है,और पात्रांकन की अपेक्षा मनुष्य की सच्चाइयों को अर्थ और व्यंजना के स्तर पर उभारा जाता है । उपन्यास के शिल्प विधान को कलात्मक रूप प्रदान करने के लिए एक से एक नई युक्तियों का सहारा लिया जाता है । शिल्प के नाटकीय बंध में संवादों की महत्वपूर्ण भूमिका होती है । पाठकों में वर्तमानता तथा व्यवधान शून्यत्व या अपरोक्षत्व की भ्रान्त्युत्पत्ति का स्यात् यह सर्वाधिक सुगम व स्पष्ट साधन है ।[१]

स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी-उपन्यासों में संवाद प्रचुर,नवीन और कलात्मक रूप में निखार पा सके हैं । मनोवैज्ञानिक उपन्यासों के वार्तालाप संकेतात्मक,संक्षिप्त और अधूरे अधिक मिलते हैं । इसका कारण यह है कि इन

---

१ सत्यपाल चुघ : प्रेमचंदोत्तर उपन्यासों की शिल्प-विधि',पृ०१०२-१०३ ।

उपन्यासों में मनुष्य के मानस-जगत की गुत्थियों को सुलझाया जाता है । वार्तालाप का सम्बन्ध वर्तमान जगत से होता है, लेकिन पात्र कामचलाऊ वार्तालाप हो प्रयोग करते हैं । अधिकतर वे अपनी पूर्व स्मृतियों में खोए हुए पूर्व संवादों को हो याद करते हैं और वर्तमान जगत में क्षण भर के लिए चेतन होकर अधूरे वाक्य या `आय--ऊं, हुं-- हां` भर करके रह जाते हैं । स्वप्न के संवाद संकेतों और बिम्बों की भाषा में प्रकट होते हैं । इन मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में शब्द-चयन की दृष्टि से पात्रानुसारिणी भाषा अत्यन्त कम है, किन्तु पात्रों की मन:स्थिति, परिस्थिति तथा उनकी शील प्रकृति की व्यंजना का वैशिष्ट्य अवश्य है । इसका कारण यह भी है कि ये सभी प्रशिक्षित होते हैं ।[१] प्रभाकर माचवे के उपन्यास `परन्तु`,`आभा`, `सांचा`, गिरिधरगोपाल के `चांदनी के खंडहर`,`रघुवंश के `तंतुजाल` और अज्ञेय के `नदी के द्वीप` में संवादों का नवीन और सशक्त रूप देखा जा सकता है । सर्वेश्वर-दयाल सक्सेना का `सोया हुआ जल`तो संवादों का ही उपन्यास है ।

आंचलिक उपन्यासों के संवादों में एक अलग आकर्षण और भंगिमायें देखा जा सकता हैं । ये अपने संवादों के माध्यम से सहज स्थानीयता का रंग और निजता को स्पर्श करते हैं । प्रत्येक पात्रों के वार्तालाप अलग अलग निजत्व और विशिष्ट तेवर लिए होते हैं । इस दृष्टि से रेणु का `मैला आंचल`, अमृतलाल नागर का `बूंद और समुद्र`विशेष उल्लेखनीय है । `मैला आंचल`के संवाद अद्भुत लयात्मकता ,`बूंद और समुद्र` के संवाद पात्रानुकूल निजता और `रागदरबारी` के संवाद स्थानिकता को प्रकट करते हैं ।

इसके अतिरिक्त कई उपन्यासों में लम्बे-लम्बे भाषण, विकृत चित्तवृत्तियों के अचेतन संवाद और कृत्रिम और अस्वाभाविक हैं,जो उपन्यास का सम्प्रेषण क्षमता और वजन को क्षरित करते हैं । इलाचन्द्र जोशी का `जिप्सी` डा० देवराज का `अजय की डायरी`,जैनेन्द्र का `जयवर्द्धन` और अमृतराय के `बीज` में यह कमजोरी देखी जा सकती है । डा० सत्यपाल चुघ ने स्वातन्त्र्योत्तरकालीन

---

१ सत्यपाल चुघ : प्रेमचंदोत्तर उपन्यासों की शिल्प-विधि,पृ०१०३

उपन्यासों में निम्नलिखित नूतन संवादों के रूप की ओर संकेत किया है--

समवेत, गांतराय(इंटरमिटेंट टाक), लिखित, दूरभाषीय (टेलीफोनिक), स्फुट, प्रतीकात्मक, स्वप्नीय, अंतर्विवाद(इंटीरियर मोनोलाग) और सामूहिक संवाद ।[1]

इन सभी संवादों को आलोच्यकालीन उपन्यासों में बहुधा देखा जा सकता है ।

(घ) देश-काल और वातावरण

उपन्यास के शिल्प-विधान के अन्तर्गत देश-काल और वातावरण अथवा परिवेश एक महत्वपूर्ण तत्व है । हिन्दी के अधिकतर मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में वातावरण अथवा परिवेश शून्य है, किन्तु यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो यहां भी वातावरण का विन्यास देखा जा सकता है । व्यक्ति के मन की भी तो एक दुनिया है, जिसे स्पष्टरूप से तो नहीं समझा जा सकता, किन्तु यह दुनिया, यह अंत:वातावरण इतना सशक्त है कि मनुष्य की जिन्दगी तक को बदल डालता है, इसलिए कहा जा सकता है कि देश-काल और वातावरण प्रत्येक प्रकार के उपन्यासों में किसी न किसी सीमा तक अवश्य उपलब्ध हो जाता है ।

देश-काल और वातावरण के अन्तर्गत किसी भी समाज या राष्ट्र की धार्मिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक परिस्थितियां, आचार-विचार, रहन, रीति-रिवाज....[2] तथा व्यक्ति का आंतरिक संसार कुंठा, काम, भय, अहं, अचेतन व्यापार, स्वप्न आदि के जटिल आदि परिवेश को समाहित किया जा सकता है । अंतर केवल यह है कि मनुष्य का आंतरिक संसार जहां क्षण-क्षण परिवर्तित होता है, वहां बाह्य वातावरण का परिवर्तन मंद गति से होता है । बाह्य वातावरण व्यक्ति के आंतरिक वातावरण को प्रभावित करता है । उदाहरण के लिए, पिछले दो-तीन युद्धों के बाद देश में उत्पन्न शोषण आर्थिक संकट ने,

---

१ सत्यपाल चुघ : `प्रेमचंदोत्तर उपन्यासों की शिल्प-विधि`, पृ०१०३

२ मक्खनलाल शर्मा : `हिन्दी उपन्यास सिद्धान्त और समीक्षा`, पृ०७५ ।

विज्ञान और तकनीकी के अत्यधिक विकास ने मनुष्य जीवन को व्यक्तिवादी बनाया है । व्यक्ति आज अपनी ही आंतरिक दुनिया में भटकता हुआ आश्चर्य भरा सुख प्राप्त कर रहा है । दमघोट गरीबी और बेकारी ने उसे अकेले, अपने में ही जाने को विवश किया है ।

पात्रों के चरित्र को उनके वार्तालाप, क्रियाओं और व्यवहार से उभार तो दिया जाता है, किन्तु किन परिस्थितियों या परिवेश की किन सीमाओं ने उनको विकसित, परिवर्तित और बनाया-बिगाड़ा है, जब तक उसका पूरा-पूरा चित्र प्रस्तुत नहीं किया जाता, उसकी विवेचना और अवलोकन नहीं किया जाता, तब तक न तो वह उपन्यास जीवन्त बन सकता है और न ही उन चरित्रों में पूर्णता आ सकती है । अस्तु, यह जरूरी हो जाता है कि लेखक को पात्रों के व्यक्तित्व की पूर्णता को उजागर करने के लिए उनकी परिस्थितियों, स्थान और काल का भी पूरा विवरण दे जिसके बीच चरित्र विकसित हुए हैं और घटनायें बनी-बिगड़ी हैं । आज का उपन्यास उद्देश्य सत्य का भ्रम उत्पन्न करना है । जब तक यह प्रतीत नहीं होगा कि घटना और पात्र यथार्थ जीवन के हैं, तब तक उस उपन्यास से प्रभावित नहीं होंगे और उसके लिए आवश्यक है कि उस वातावरण का पूरा-पूरा चित्र दिया जाय और इससे विश्वास उत्पन्न कराया जाय[1] ।

मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में बाह्य वातावरण यत्किंचित चित्रित तो किया जाता है, लेकिन उसका प्रयोजन चरित्र की आंतरिक दुनिया में हलचल या परिवर्तन की सूचना देने के लिए । इनमें पात्र अपनी ही छोटी-सी दुनिया में भटकता है, मन के अचेतन व्यापार से साक्षात्कार करता हुआ, कुंठाओं, दमित वासनाओं और अतृप्त आकांक्षाओं के कारण उसका संसार विचित्र और जटिल दिखाई देता है । यहां मनुष्य का बाह्य यथार्थ चित्रित करने का उद्देश्य भी नहीं होता । इलाचंद्र जोशी कृत 'जिप्सी' में सामाजिक विद्रूपताओं को उभारने का प्रयत्न तो है, लेकिन केवल मनिया के आंतरिक संसार को स्पष्ट करने के लिए । अज्ञेय के 'नदी के द्वीप' का भुवन बर्मा फ्रंट पर भाग लेता है, लेकिन लेखक ने युद्ध को

---

१ मक्खनलाल शर्मा : 'हिन्दी उपन्यास सिद्धान्त और समीक्षा', पृ०७५

स्थिति का चलताऊ ढंग पर संकेतमात्र दे दिया है । किसी आकर्षण से अथवा प्रकृति की अनुकूलता के कारण वह फ्रंट पर नहीं जाता, बल्कि अपनी आत्मग्लानि के कारण अपने संसार से दूर भागना चाहता था । किन्तु वहां जाकर भी उसे शांति नहीं मिलती, इसीलिए पत्रों में वह अपने मन की उलझन को व्यक्त करता है । गौरा स्वाधीनता को मनुष्य के मन की एक प्रवृत्ति स्वीकार करती है । स्वाधीनता के लिए मन की ट्रेनिंग जरूरी है, क्योंकि व्यक्ति ही समाज को बनाता है।[1] राजकमल चौधरी कृत 'मछली मरी हुई' में एक ओर कलकत्ता शहर की आर्थिक विपन्नता और दूसरी ओर व्यावसायिक दौड़, सट्टा, कल-कारखानों की समस्याओं एवं परिस्थितियों का विन्यास हुआ है, लेकिन इसके केन्द्र में निर्मल पद्मावत के मानसिक तनाव को स्पष्ट करना लक्ष्य रहा है । निर्मल के चरित्र का विकास दिखाने के लिए सामाजिक वातावरण को भूमिका में रखा गया है, क्योंकि वह अंततः सब कुछ खोकर मात्र नारी को प्राप्त करता है और न्युरोसिस से छुटकारा पाता है। इस प्रकार उक्त उपन्यासों में बाह्य जगत आया भी है तो साक्षात् चित्रण के रूप में नहीं, व्यंग्य रूप में ही और वह भी भीतर के निरपेक्ष महत्व को उजागर करने के लिए।[2]

मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में प्राकृतिक चित्रों का वातावरण काव्यात्मक ढंग पर प्रस्तुत किया जाता है, क्योंकि इससे पात्रों के भावलोक को उद्बुद्ध करने में सहायता मिलती है । 'दो - एकान्त' में गोमती के किनारे का सुन्दर भावात्मक दृश्य, जंगल में चांदनी रात का उन्मुक्त दृश्य पात्रों के मानस को विचलित करने के लिए दिखाया गया है ।'नदी के द्वीप' में नौकुछिया और तुलियन के झील के आकर्षक प्राकृतिक चित्र, भुवन और रेखा को नजदीक लाने के लिए उपस्थित किया गया है । 'केचिन' में अनेक छोटे-छोटे प्राकृतिक चित्र सौन्दर्य-बोध की अनुभूति उजागर करने के लिए उभारे गये हैं । 'सोया हुआ जल' में रात और प्रभात के वातावरण

---

१ 'नदी के द्वीप', पृ०१८९

२ सत्यपाल चुघ : 'प्रेमचंदोत्तर उपन्यासों की शिल्प-विधि', पृ०१०७

का प्रतीकात्मक उपयोग हुआ है और पात्रों की छटपटाहट के अनुकूल रात का 'भयावह', 'मुर्दा खामोशी' का कुशल सांकेतिक चित्रण एवं सामंजस्य था[1]।

वर्णनात्मक शिल्प-विधान के सामाजिक उपन्यासों में वातावरण का सघन चित्रण, पात्रों का परिस्थितियों का अनुकूल विवेचन रचना को श्रेष्ठ बनाता है। हिन्दी के उपन्यासों में मार्क्सवादी तथा अस्तित्व-वादी विचारधारा का पर्याप्त प्रभाव देखा गया है। 'शहर में घूमता आईना' तथा 'गिरती दीवारें' में कथानक के अनुकूल सामयिक दुनिया का वृहद एवं सूक्ष्म पायन किया गया है और उसी के अनुकूल पात्रों का उत्तरोत्तर विकास दिखाया गया है। यशपाल के 'झूठा-सच' में के वातावरण का फलक तो अत्यन्त विस्तृत है। इसमें कई वर्षों का भारतीय परिवेश सूक्ष्मता के साथ समेटने का प्रयास हुआ है। गिरिराज किशोर के उपन्यास 'जुगलबन्दी' में स्वतंत्रतापूर्वक भारतीय वाता-वरण का सघन एवं सफल चित्रण किया गया है। जेल के दृश्य तो बरबस आंखों के सामने घूमते रहते हैं। श्रीकांत वर्मा के 'दूसरी बार' में ऊब, घुटन, कुंठा, अकेलेपन के वातावरण का विन्यास सफाई के साथ प्रस्तुत है।

ऐतिहासिक शिल्प-विधान के उपन्यासों में लेखक को समकालीन वातावरण उपन्यस्त करने के लिए बड़े मनोयोग की आवश्यकता होती है। ऐसे उपन्यासों का उद्देश्य कथानक में नाटकीय अनुभूति उत्पन्न करके पात्रों द्वारा जीवन की विभिन्न स्थितियों से साक्षात्कार कराना है। ये चित्र उस काल के होते हैं, जिस काल का वर्णन उस उपन्यास में होता है[2]। लेखक का अधिकांश परिश्रम ऐतिहासिक वातावरण उत्पन्न करने में लग जाता है, क्योंकि यदि पाठक के मन में यह भ्रम पैदा न हो सका कि वह जो कुछ भी पढ़ रहा है, वह भूतकालीन घटनायें हैं, भूतकालीन पात्र हैं, भूतकालीन संवेदनायें हैं, तो लेखक का श्रम व्यर्थ हो जाता है। इसलिए ऐसे उपन्यासों में वातावरण का निर्माण करने में अत्यन्त सजगता की आवश्यकता होती है। लेखक अपने उपन्यासों में वर्णित काल के प्रति पूरी तरह

---

१ सत्यपाल चुघ : 'प्रेमचंदोत्तर उपन्यासों की शिल्प विधि', पृ०१०८

२ मक्खनलाल शर्मा : 'हिन्दी उपन्यास : सिद्धान्त और समीक्षा', पृ०७७

समर्पित हो जाता है । सम-सामयिक परिस्थितियों को चित्रित करते हुए भी वह उसे उसी काल के अनुरूप ढाल देता है । लगभग वह उसी काल में जाता हुआ प्रतीत होता है । 'ऐतिहासिक उपन्यास का महत्व तो केवल इसी में है कि इसमें किसी प्राचीनकाल के जीवन का पूर्ण विस्तृत वर्णन किया जाय, जिससे पाठकों के सामने उस कालका जीता-जागता चित्र उपस्थित हो जाय और यह बात तभी हो सकती है, जब लेखक ने उस काल की सभी बातों का भली भांति अध्ययन किया हो, और साथ ही उसमें उनका ठीक-ठीक वर्णन करने की पूरी शक्ति भी हो'[1]। ऐतिहासिक उपन्यास में देश-काल एवं वातावरण का चित्रण इतिहाससम्मत तथा कालानुरूप होना चाहिए । इस सन्दर्भ में हजारीप्रसाद द्विवेदी कृत उपन्यास 'बाणभट्ट की आत्मकथा' एक सफल कृति कहा जा सकता है । ऐतिहासिक सामग्री के अभाव में लेखक कल्पना से भी काम ले सकता है । डॉ. रांगेय राघव ने 'मुर्दों का टीला' तथा आचार्य चतुरसेन ने 'वयं रक्षाम:' में ऐतिहासिक वातावरण की रचना करते हुए कल्पना से भी कामलिया है । यशपाल के 'दिव्या' तथा वृन्दावनलाल वर्मा के 'वैशाली की नगरवधू' में लेखक इस कमजोरी से नहीं बच सके हैं, वे वर्तमान को पुराने ढांचे में ढालने में असफल कहे जा सकते हैं ।

आंचलिक शिल्प-विधान के उपन्यासों में भी देश और वातावरण सृजन के लिए लेखक को पर्याप्त श्रम करना पड़ता है, क्योंकि यहां लेखक का उद्देश्य उपन्यास में चित्रित क्षेत्र या स्थान का सम्पूर्ण चित्र उपस्थित करना होता है । यहां चित्रित स्थानीय या आंचलिक क्षेत्र का ही सम्पूर्ण नायक हो जाता है । उस नायक को सम्पूर्णता के साथ उजागर करने के लिए वातावरण को सघन रूप से विन्यस्त करना आवश्यक है । इसके लिए चित्रित अंचल के मुहावरे, रीति-रिवाज, पर्व-त्योहार, समस्याएं, मान्यताएं, विश्वास, आचार-व्यवहार, परम्पराओं आदि के द्वारा वातावरण का सृजन किया जाता है । यहां अंचल के बहुरंगी जीवन का प्रतिरूपण ही प्रधान होता है, शेष सभी तत्त्व, सभी पात्र उसमें सहायक होते हैं[2]। क्षेत्र विशेष या अंचल का सूक्ष्म विश्लिष्ट चित्रण इतने

---

१ मक्खनलाल शर्मा : 'हिन्दी उपन्यास सिद्धान्त और समीक्षा', पृ०७६ ।
२ सत्यपाल चुघ : 'प्रेमचंदोत्तर उपन्यासों की शिल्प-विधि', पृ०१२० ।

विशिष्ट ढंग पर व्यक्त होता है कि उसमें वातावरण केन्द्र में तो उपस्थित रहता ही है, साथ ही घटनाक्रम के लिए विभिन्न लोकोपकरण भी जुटाये जाते हैं। उसमें स्थानीय रूप, रंग,गन्ध, लय के द्वारा वातावरण का प्रत्यक्ष और सघन अनुभूति दी जाती है। आंचलिक उपन्यासों में देश और काल की सीमा अत्यन्त सीमित होती है,क्योंकि चित्रित स्थानीय अंचल का वह अतिक्रमण नहीं कर सकता।

कुछ प्रयोगात्मक उपन्यासों में स्थान और काल की सीमा आंचलिक उपन्यासों से भी संकुचित देखी जा सकती है। नरेश मेहता की रचना 'डूबते मस्तूल' में वर्णन का क्षेत्र केवल नायिका का कमरा है, जहां वह अपने जीवन की कथा सुनाती है। रमेश बक्षी कृत 'अठारह सूरज के पौधे' के कथानक में रेलगाड़ी और उसमें भी नायक के डिब्बे का स्थान ही चित्रित है। सर्वेश्वरदयाल सक्सेना कृत 'सोया हुआ जल' में सम्पूर्ण कथावस्तु नाटक के रंगमंच के समान यात्रि-शाला तक ही परिसीमित है। रघुवंश के 'तंतुजाल' में दो-तीन दिनों की यात्रा का काल, गिरिधर गोपाल के 'चांदनी के खंडहर' में केवल चौबीस घंटे की कथा और सर्वेश्वर कृत 'सोया हुआ जल' में तो मात्र रात से प्रभात तक के छ: सात घंटे का चित्र उजागर हुआ है। ये उपन्यास प्रयोगात्मकता के साथ-साथ अपनी सार्थकता को भी स्थापित करते हैं।

(उ0) भाषा एवं प्रस्तुतीकरण

उपन्यास की भाषा और साहित्य की अन्य विधाओं की भाषा में अन्तर होता है, उसमें न तो नाटक की भांति संवादों का प्रयोग और तदनुरूप गति होती है, न कहानी की भांति क्षिप्रता। काव्य भाषा की भांति उपन्यास में संवेदन तत्व का प्रक्षेपण तो किया जाता है,लेकिन काव्य की सी व्यंजना और सौन्दर्य उपन्यास के प्रस्तुतीकरण में नहीं देखा जा सकता। निबंध की ठोस जड़ भाषा से भी उपन्यास की भाषा को अलग किया जा सकता है। उपन्यासकार के पास अपनी कृति को प्रस्तुत करने का आधार होता है-- शब्द। शब्दों के माध्यम से भाषा का निर्माण किया जाता है तथा भाषा के माध्यम से कथाकार अपने अभिप्रेत को और उपन्यास की सम्पूर्ण सर्जना को सम्प्रेषित

करता है । इस अर्थ में भाषा उपन्यास का सर्वप्रमुख तत्व हो जाता है(उपन्यास का नहीं, साहित्य का प्रत्येक विधा में भाषा,सम्प्रेषण का प्रमुख आधार है)।

भाषा की दृष्टि से स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास विकास का सूचक है । नि:सन्देह उसमें इतनी विविधता है कि अपने आप में एक स्वतंत्र अध्ययन का अवकाश देता है । आलोच्यकालीन उपन्यासों में जीवन को बिम्बों,प्रतीकों एवं संकेतों के सहारे सूक्ष्मता एवं गहराई लाने का प्रयास किया जाता है । नीरस इतिवृत्त या वर्णनप्रधान जड़भाषा के स्थान पर काव्यभाषा की व्यंजना प्रवृत्ति के द्वारा संवेदना तत्व को तीव्र किया जाता है । प्रसिद्ध आलोचक लियोन एडेल के कथन में भविष्य के उपन्यास काव्य के अधिकाधिक नजदीक होते जायेंगे[1] । हिन्दी उपन्यास को काव्य के नजदीक लाने का प्रथम प्रयास जैनेन्द्र और अज्ञेय ने किया है और बाद के हिन्दी उपन्यासों में तो यह प्रवृत्ति उत्तरोत्तर विकसित होती गई है । स्वयं अज्ञेय के परवर्ती उपन्यास 'अपने अपने अजनबी' में इस प्रवृत्ति का उत्कृष्ट रूप देखा जा सकता है । लियोन एडेल के शब्दों में "आज के उपन्यासों में भाषा केवल मस्तिष्क की उपज नहीं होती,बल्कि वह आंतरिक संसार के बिम्बों को भी व्यक्त करती है,जिसमें स्वर एवं गंध की अनुभूति होती है।"[2]

उपन्यास-संसार में जितने लेखक हैं, उनका अपना अलग-अलग औपन्यासिक व्यक्तित्व है । उनकी भाषा एवं शैली का स्वरूप एक दूसरे से भिन्न है । जैनेन्द्र की भाषा में दार्शनिक रुचि एवं लाक्षणिक सांकेतिकता अपने पूर्ववर्ती कथाकारों से नितान्त भिन्न है । वहां लघु लघु वाक्य मर्मियता लिए हुए प्रस्तुत होते हैं । भाषा सरल होते हुए भी अपनी विदग्धता,गम्भीरता,सूत्रात्मकता एवं प्रभावात्मकता के द्वारा आकर्षित करती है । पात्रों के आंतरिक संसार की अभिव्यक्ति के लिए अंतर्विवादों,चेतनप्रवाहों,भाव संवेगों एवं अनुभूतियों के माध्यम से चिन्तनपरक ढंग से प्रभावी बनाया गया है । यह आत्म विकास की,चिन्तन की, मन की भाषा है, अतः व धारा-वाहिक प्रवाह से नहीं,अपितु रुक-रुक कर पाठकों की चिन्तन परतों को कुरेदती हुई आगे बढ़ती है । भाषा का दूसरा

----

[1] Edel, Leon / Modern Psychological Novel / P. 135.

[2] do P. 16.

पथा लेखक की उस स्वतंत्र रुचि में है जो शब्दों को जुटाने, बनाने, बिगाड़ने तथा व्याकरण की दृष्टि से असंख्य चिन्त्य प्रयोग करने में कोई बन्धन नहीं मानता। इसका कारण एक तो उनकी स्वभावज लापरवाही है, दूसरे, अंग्रेजी की अतिरिक्त प्रभावशालकता[1]। जोशी की भाषा में तीव्र गति नहीं है, लेकिन वह जैनेन्द्र की अपेक्षा अधिक ताज़गी लिए हुए है। वे आभिजात्य भाषा के द्वारा एक और काव्यात्मक प्रभाव उत्पन्न करते हैं, दूसरी ओर पात्रों के मानसिक जगत को खोंच-खोंच कर व्याख्यायित करते हैं। उनकी भाषा कहीं-कहीं कृत्रिमता का बोझ ढोते हुए देखा जाता है। वे शब्दों को चबा-चबा कर पकड़ते हैं।

अज्ञेय उपन्यासों को प्रस्तुत करने में अपने ढंग के निराले कथाकार हैं। उनमें आभिजात्य भाषा का उत्कृष्ट रूप तो है, साथ ही शिल्प-विधान की अनेक युक्तियों को विषयानुरूप ढालकर प्रस्तुतीकरण की अनेक शैलियों का निर्माण किया है। वे पात्रों की मन:स्थिति के अनुकूल भाषा को संवारने तथा पृथक्-पृथक् विशिष्ट ढंग से प्रस्तुत करने में सबसे सक्षम कलाकार हैं। `नदी के द्वीप` इसका उत्कृष्ट उदाहरण है। यहां कई युक्तियों के द्वारा तथा भाषिक संरचना में बिम्बों, प्रतीकों एवं सैकेतों के सहारे अभिव्यंजना का स्तर प्रदान किया है। वे काव्यात्मकता एवं भावतीव्रता के प्रभाव को और भी गहरा करने के लिए बहुत सी बंगला, अंग्रेजी, हिन्दी आदि की कविताएं भी उद्धृत करते हैं। वे उनके पात्रों की तीव्र मन:स्थितियों से जुड़ी हुई हैं और एक प्रकार से उनके भावद्वन्द्व की उस स्थिति को सूचित करती हैं कि साधारण से साधारण गद्य सघन से सघन होकर भी उसकी तीव्रता को व्यक्त करने में असमर्थ हो जाता है[2]। `यह पथ बंधु था`, `दो एकांत`, `धूमकेतु : एक श्रुति` और `डूबते मस्तूल` में नरेश मेहता ने काव्यात्मक उपमाओं और दृश्य बिम्बों के द्वारा भाषा में लोच और आकर्षण उत्पन्न किया है। इनके पात्रों की भावमय तीव्रता अनुभूति को सघन बनाती है। श्रीधर और सरो इसके प्रमाण हैं। `वे दिन` (निर्मल वर्मा) की भाषा अपनी व्यंजना और

---

१ सत्यपाल चुघ : `प्रेमचंदोत्तर उपन्यासों की शिल्प विधि`, पृ०२२३

२ नेमिचन्द्र जैन : `अधूरे साक्षात्कार`, पृ०१८०

छोटी- छोटी अनुभूतियों के द्वारा अधिकाधिक सघन संवेदना उत्पन्न करती है । शब्दों के लयात्मक प्रवाह, बिम्बों का हल्का-फुल्का अनुगुंज, मान्यों की गंध, अभिजात सादगी सम्मोहन पैदा करती है । प्रतीकात्मक और काव्यात्मक संरचना में सर्वेश्वर का 'सोया हुआ जल' सबसे अलग व्यक्तित्व रखता है ।

कई कथाकारों की भाषा अपनी सादगी में भी मानव जीवन की अभिव्यक्ति का कौशल उत्पन्न करती है । उपेन्द्रनाथ अश्क की रचनाओं विशेषरूप से --'गिरती दीवारें', और 'शहर में घूमता आईना' में पात्रों के स्वभाव एवं रुचि के अनुकूल भाषा को संवारा गया है । अज्ञेय और जैनेन्द्र की भांति उसमें कृत्रिमता नहीं है,बल्कि वह अपने सहज और यथातथ्य रूप में उपस्थित होती है । पहले उर्दू लेखक होने के कारण तथा पंजाबी वातावरण में पलने के कारण भाषा में पर्याप्त लोच और गति स्वाभाविक रूप से उभरती है । यशपाल भी पात्रानुकूल जनभाषा की अभिव्यक्ति के समर्थक हैं । लेकिन उनमें मतवादिता के आग्रह के कारण सरलता और प्रचारात्मकता अधिक दिखाई देती है ।उनके व्यंग्य -व्यंजक न होकर सीधे चोट करते हैं अर्थात् उनके व्यंग्य का रूप एकदम उघड़ा हुआ रहता है । भारती 'सूरज का सातवां घोड़ा' में सहज और सरल शब्दों के द्वारा भी व्यंजनात्मक और गहरा अर्थ भरने में सक्षम हैं । अमृतलाल नागर अपनी सभी रचनाओं को प्रस्तुतीकरण का भिन्न भिन्न आयाम देते हैं । उनमें भाषागत विविधता का प्रौढ़ रूप देखा जा सकता है ।

लोक-रुचि और जनभाषा का परिष्कृत रूप आंचलिक कथाकारों की रचनाओं में मिलता है । इन कथाकारों ने स्थानीय रंगको उभारने और अंचल की समग्र अभिव्यक्ति के लिए लोक शब्दों, लोकगीतों और लोकोक्तियों आदि का यथानुरूप उपयोग किया है । रेणु की भाषामें अंचल अपनी माधुरी लय और तान के साथ प्रस्तुत होती है । दृश्यों के चित्रांकन में बिम्बों का इतना कुशल उपयोग हुआ है कि वे समस्त दृश्य प्रत्यक्ष से दिखाई देने लगते हैं ।ध्वनि,गंध, लय तथा वर्ण चित्र सजीव बनाकर अंचल को रूपायित करते हैं । 'मैला आंचल' और 'परती परिकथा' दृश्य विधान शैलीकास्वच्छ उदाहरण है । रेणु की भाषा अज्ञेय और निर्मल वर्मा से कहीं अधिक काव्यमय है । लोकगीतों एवं ध्वनिचित्रों के उदाहरण

कविता के उद्धरणों से कहीं अधिक भावानुभूति को स्पष्ट कर पाते करते हैं। नेमिचन्द्र जैन के शब्दों में--"यह काव्यात्मकता और सुघड़ता लाने के लिए रेणु लोकगीतों का कड़ियों का उपयोग करते हैं, जो कहीं अधिक सहज, स्वाभाविक है, और भाषा का सहज प्रकृति और उसके प्रवाह के साथ पूरा तरह से समन्वित हो सकता है। रेणु के सभी उपन्यासों में भाषा को इस प्रकार संगीतात्मक, व्यंजनापूर्ण और प्रभावी बनाने का प्रवृत्ति है।"[1] किन्तु नागार्जुन के 'बलचनमा' और रेणु के 'मैला आंचल' के बाद का सभी रचनाओं में भाषा का उपर्युक्त गुण प्रयुक्त होता चला गया है और धीरे-धीरे यह आग्रह बन जाता है। प्रत्येक प्रसंग और दृश्य को एक ही सांचे में ढालने के प्रयास में वह कृत्रिम बनता गया है। जीवन का प्रत्येक पक्ष, प्रत्येक अनुभव एक ही आरोह-अवरोह में पायित होकर कटघरे का निर्माण करता है। कुछ समय बाद ऐसा प्रतीत होने लगता है कि रेणु (और नागार्जुन) जानबूझकर केवल ऐसे ही प्रसंग या अनुभव अपना रचना के लिए चुनते हैं, जिनके प्रस्तुतीकरण में यह संगीतात्मकता बनाए रख सकें। रेणु के परवर्ती उपन्यासों में इसी से कृत्रिमता कहीं अधिक अनुभव होती है।[2] स्थानीय बोलियों का अधिकाधिक प्रयोग धीरेधीरे भाव अन्विति को तोड़ता हुआ 'अपरिचय' का भाव उत्पन्न करता है। क्योंकि अनगिनत शब्दों के अर्थ का पादटिप्पणियां देना पड़ता हैं। रुद्र ने 'बहती गंगा' में अवश्य भाषा को गति एवं भावरंगानियों के साथ प्रस्तुत किया है। जिसके बीच काशी का सम्पूर्ण वातावरण और व्यक्तित्व पाठकों से तादात्म्य स्थापित कर सका है। सम्पूर्ण उपन्यास भावपूर्ण शैली के कुशल संयोजन का उदाहरण प्रस्तुत करता है। रिपोर्ताज शैली का स्वस्थ रूप नागार्जुन के 'बाबा बटेसरनाथ' और श्रीलाल शुक्ल के 'राग दरबारी' मे मिलता है।

राजेन्द्र यादव, मोहन राकेश और उषा प्रियंवदा ने अपनी भाषा में पारिवारिक संवेदना लाने का प्रयास किया है। यादव में यह परिवारिकता कृत्रिम बनकर उपस्थित होती है, लेकिन दूसरी ओर भंगिमा और

---

१ नेमिचन्द्र जैन : 'अधूरे साक्षात्कार', पृ०१८१

२ वही, पृ०१८१

व्यंग्य वक्रता के द्वारा वे भाषा को कौमिक बनाने का कोशिश करते हैं। मोहन राकेश की भाषा में कलात्मक निखार और सुनिश्चितता शब्द से अधिक है और चित्रात्मकता भी। विशेष प्रसंगों में ही व्यंजना प्रयोग की जाती है। उषा प्रियंवदा में घरेलूपन की अनुभूति अधिक रहती है।

लक्ष्मीकांत वर्मा कृत 'काली कुर्सी की आत्मा', केशवचंद्र वर्मा रचित 'काठ का उल्लू और कबूतर' तथा बदीउज्जमा कृत 'एक चूहे की मौत' में प्रतीकात्मक शैली के द्वारा बेजान चीजों को मानव-भाषा में उतारने का यत्न हुआ है। मनुष्य जीवन के यथार्थ और सामयिक समस्याओं के चित्रण में प्रतीकात्मक व्यंग्य किस विशेष सफलता के साथ नियोजित हुए हैं। ये पाठक के हृदय को गहराई के साथ स्पर्श करते हैं। ममता कालिया, कृष्णा सोबती, गिरिराजकिशोर श्रीकांत वर्मा, भीष्म साहनी और रमेश बक्षी के उपन्यासों की भाषा उनकी कहानियों की भाषा से मिलतीजुलती है। मनुष्य के यथार्थ को उभारने तथा संक्रमणशील जिन्दगी को से साक्षात्कार करने में इन कथा कथाकारों की भाषा सीधे चोट करती हुई क्षमता का परिचय देती है। यथार्थ को सामने करने के लिए 'गालियों' के प्रयोग तक में हिचकिचाहट नहीं दिखाई गई है। सामयिक जिन्दगी की अस्तित्वहीनता, अजनबीपन, ऊब, रिक्तता, बेगानापन और बेकारी की हालत थें को वक्रता और तेज-फाँकी भाषा में गढ़ने का प्रयास हुआ है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि आलोच्यकालीन उपन्यासों में भाषा एवं वस्तुतीकरण की नूतनता और विविध आयामिता विकास की सूचक के साथ लेखकों की मौलिकता तथा सजगता का परिचय देती है।

-0-

---

१ नेमिचन्द्र जैन : 'अधूरे साक्षात्कार', पृ०१८३

द्वितीय अध्याय

-0-

स्वातन्त्र्योत्तर परिवेश

साहित्य और मानवीय चेतना का सम्बन्ध अटूट है। मनुष्य हमेशा एक तरह ही नहीं रहा है, वह देश और काल के अनुरूप बदलता रहा है। इसी बदले हुए मनुष्य, परिवर्तित मानवीय चेतना को उजागर करने का प्रयत्न लेखक करता है। क्योंकि लेखक आखिरकार एक मनुष्य होता है। वह अपने चारों ओर के परिवेश और उसके विभिन्न आयामों से अपने को असम्पृक्त नहीं कर पाता। बदली हुई परिस्थितियां हमेशा कुछ नवीन मूल्यों को निर्मित करती हैं।

बदलते हुए रिश्ते, मानवीय मूल्य और समस्याएं यही सब संगठित रूप से किसी देश का परिवेश होता है। और भी विस्तृत रूप में यह विश्व परिवेश भी हो सकता है। आज मनुष्य की गति बहुत तेजी से बढ़ रही है, यातायात के साधन मनुष्यों को तीव्र गति से नजदीक ला रहे हैं। संचार के साधनों की अत्यधिक वृद्धि और गति के कारण विश्व सिकुड़ रहा है। अंतर्राष्ट्रीयता एकराष्ट्रीयता की ओर संकुचित हो रही है। इस रूप में आज के लेखक का परिवेश बहुत बढ़ गया है। लेखक के लिए परिवेश एक व्यक्तिगत वस्तु होती है, क्योंकि परिवेश में तो न जाने क्या-क्या बिखरा पड़ा है, एक लेखक परिवेश के सभी बारीक और स्थूल आयामों को तो स्थापित कर नहीं डालता। परिवेश की उसी दिशा से उसका सम्बन्ध होता है, जिसने लेखक की चेतना को स्पर्श किया है। परिवेश का वह रूप जिसने लेखक और बहुत सारे लेखकों में

दबाव उत्पन्न किया है, या रचनाकार की ग्रहणशक्ति ने उसको उजागर करने को लालायित किया है । इस प्रकार हर लेखक का अपना परिवेश हो जाता है। वह दूसरे लेखक से मिल भी सकता है और भिन्न भी हो सकता है । बहुत सारे कथाकारों के परिवेश को यदि मिलाकर देखें तो परिवेश के विभिन्न स्तर स्थापित हुए देखे जाते हैं ।

अपने परिवेश से हर युग का रचनाकार प्रभावित होता रहा है,किन्तु आज के युग और प्राचीन युग के परिवेश में अंतर था । पहले की दुनिया परिवर्तनशील होते हुए भी छोटी थी,क्योंकि संचार के साधनों के अभाव के कारण हम बदलाव से प्राय: अपरिचित रह जाते थे । आस पास के सीमित कटघरे में ही लेखक बंद रहता था । कहना चाहिए कि उसका परिवेश स्थितिशील होता था । विश्व में तथा एक राष्ट्र में बदलाव तो हमेशा से होता चला आया है,किन्तु प्राचीन युग में इस बदलाव का परिचय लोगों को देर से होता था । दूसरे शब्दों में, संसार की महत्वपूर्ण घटनायें मनुष्यों के लिए अनजान रह जाया करती थीं । किन्तु प्राचीन युग और आज के युग में बहुत अंतर हो गया है ।आज एक-एक क्षण में जो भी बदल रहा है, उससे लेखक की गहरी सम्पृक्ति होती जाती है । यदि अज्ञेय कल किसी दूसरे प्रकार के परिवेश में रहकर उसके अनुसार रचनाशीलता में संलग्न थे । तो आज के बदलते मूल्यों के कारण, बदलती हुई परिस्थितियों के कारण अपने रचनाकर्म को, चाहे अनजाने रूप में ही सही, एक पृथक और वृहत् आयाम दे रहे हैं । पंत में यह चेतना बड़ी सार्थक ढंग से देखी जा सकती है । इस प्रकार आज की दुनिया में लेखक का परिवेश सतत् चलनशील या गत्यात्मक होता है । उसकी चेतना का प्रत्येक स्पर्श बदलाव की प्रक्रिया से होकर गुजरता है । आज एक लेखक अपनी रचना के माध्यम से जो कुछ भी उजागर कर रहा है, हम नहीं कह सकते कि अमुक बिन्दु ही उसकी सीमा है या अमुक बिन्दु पर आकर उसकी रचनाशीलता रुक गई है ।

एक बिन्दु पर आकर स्वयं लेखक भी अपना परिवेश हो

जाता है[1]। प्रतिभाशील और सचेत कलाकार का परिवेश विस्तृत होगा। कुछ परम्परावादी कलाकार जानबूझकर बदलाव से आंख मूंद लेते हैं। क्योंकि उनका चेतना सीमित होती है, इसलिए उनका परिवेश भी सीमित कटघरे में गिरफ़्त होता है। किन्तु इस बात से भी इन्कार नहीं किया जा सकता कि आज का अधिकांश लेखक अपने परिवेश से दबाव की अनुभूति का अहसास करता है। अपने परिवेश के उस भाग से, जिसने उसकी चेतना के तार को स्पर्श किया है, उसके अनुसार उसकी रचनाशीलता उद्वेजित और निर्मित होती है। इस प्रकार हर अच्छा लेखक शीघ्र ही अपना परिवेश बन जाता है[2]। अपने परिवेश के अनुरूप ही कृतियां तैयार होती हैं। आज कथाकार विश्व के समूचे परिवेश से प्रभावित होकर, अपनी रचनात्मकता को उजागर करने का प्रयत्न कर रहा है, किन्तु एक राष्ट्र का परिवेश अपेक्षाकृत जल्दी लेखक को बदलता है। विश्व की घटनायें और बदलाव यहां तक आते-आते अपना प्रकृत रूप खो देता हैं। या इस देश के परिवेश के अनुसार उसमें घुलमिल कर एक नवीन रूप धारण कर लेती है। इसलिए स्वातन्त्र्योत्तर परिवेश के विवेचन के लिए हमारा विवेचन भारतीय संदर्भ तक ही सीमित रहेगा। साथ ही विश्व की जिन घटनाओं ने भारतीय चेतना को फकफोरा है, उसे भी साथ साथ बताते चलेंगे। परिवेश के ये सब रूप कहीं तेवर के साथ, कहीं ठंडे रूप में और कहीं विस्फोटक होकर हिन्दी उपन्यासों में उपलब्ध है। हिन्दी-उपन्यास परिवेश के परिवर्तन के अनुरूप अपने को ढालता रहा है।

(क) राजनीतिक परिवेश

बहुत संघर्ष, त्याग और छटपटाहट के बाद परतन्त्रता की बेड़ी कटी, १५ अगस्त सन् १९४७ को भारत आज़ाद हुआ। इसके ठीक तीन वर्ष बाद स्वतन्त्र भारत का संविधान बना, हम गणतंत्रात्मक शासन की जनता हो गये। कहा गया कि हमारे हाथ में ही प्रशासन का सूत्र है-- सिद्धान्त रूप में यह सही भी है, किन्तु भारतीय जनता पश्चिम की तुलना में अब भी सैकड़ों

---

१ अज्ञेय : `आल्वाल`, पृ०२०

२ वही, पृ०२१

वर्ष पीछे है । वह अर्द्धमुर्दा है, उसमें सब कुछ सहने की आदत पड़ चुकी है । इस तथ्य का संकेत डा० राममनोहर लोहिया हमेशा करते रहे हैं । आजादी मिले आज सत्ताईस वर्ष बीत चुके हैं । इन वर्षों में भारतीय राजनीति और राजनीतिक ढांचे में बहुत परिवर्तन आये ।

भारतीय प्रशासन का ढांचा एक अभिशाप लेकर उपस्थित हुआ । आजादी प्राप्त हुए अभी थोड़े समय ही व्यतीत हुए थे कि प्रशासन से ब जिसका नेतृवर्ग अपने स्वार्थ में अंधा होने लगा । जनता बेहद तंगी, गरीबी और बेकारी में जीवन बिता रही है, इससे सत्तालोलुपों को कोई सरोकार नहीं रह गया । वे तो स्वयं परस्पर उठापटक के शिकार हो रहे हैं । जनता की तकलीफ और दु:ख-दर्द सुनने के लिए इनके पास अवकाश कहां ? जो लोग स्वतन्त्रता के पूर्व और प्रथम आम चुनाव के पूर्व चिकने चिकने और मीठे मीठे वादे कर चुके थे कि अपने हाथ में शासन आने पर सारी समस्यायें एक-एक करके हल हो जायेंगी , वेह ही लोग अपना घर भरने लगे । अभी हमने आजादी का सबेरा ही देखा था, कि पुन: वही घटाटोप अंधेरा चारों ओर घिर आया । भ्रष्टाचार, घूस और अफ़सर-परस्ती का धुआंधार आलम चारों ओर मुंह बाये लोगों को खाने लगा । चुनाव में करोड़ों रुपयों का व्यर्थ व्यय और फिर उसकी पूर्ति के लिए गलत नीतियों का अनुसरण-- जनता के प्रतिनिधियों का यही कार्य हो गया । शासन से जो हमने चाहा था, वह अल्पकाल में ही बिखरा-बिखरा-सा लगने लगा । पूंजीवाद को उत्तरोत्तर बढ़ावा मिलता गया । आम आदमी निरन्तर गरीबी और बेबसी की ओर बढ़ता गया । काला धन्धा करने वाले तथा पूंजीपति समृद्ध होते गये । खाई बढ़ती गई । सरकारी मंत्री और अफ़सर-- इनपर पहले हमारी श्रद्धा थी, क्योंकि ये त्याग, तपस्या और नैतिकता के प्रतिमूर्ति थे । किन्तु आज़ादी मिलने के बाद इन्होंने एकदम से रंग बदल दिया । ये लोग दायित्व की बात भूलकर नैतिकता की हत्या करने लगे । जो जितना बड़ा मंत्री है, वह उतना ही बड़ा भ्रष्ट और चालाक आदमी है, जो जितना बड़ा अफ़सर है, वह उतना ही बड़ा रिश्वतखोर है । कहां से वे जनता की तकलीफ़ को महसूस करें । चुनाव के समय ऊंचे-ऊंचे मंचों पर खड़े होकर गरीबी हटाने का ढोंग, बंगलों में बैठकर स्वार्थ

वक्तव्य, संवाद में शोर-गुल और चिल्लाहट-- समस्याओं पर महा बहस और उसपर कुछ करने की बात बेमानी होती गयी । नीचे से ऊपर तक पूरा सरकारी तंत्र भ्रष्ट और गन्दा हो गया ।

जिस व्यक्ति को गरीबी और जहालत भरी जिन्दगी की अनुभूति है, वह अगर जनता की वकालत करता है, तो बात समझ में आती है, लेकिन जिसने यह न जाना कि सड़ान्ध भरा जीवन क्या होता है, बदबू भरी नाली और तंग बस्तियों में बिलबिलाते मनुष्य क्या होते हैं, उससे जिसका कोई स्पर्श नहीं रहा है, उनका जनता की वकालत करना अर्थहीन और भोंडा लगता है । दुर्भाग्य यह है कि सरकारी तंत्र में अधिकतर ऐसे ही लोग हैं, जिनके पास पूंजी है और सबसे मजे की बात यह हुई कि जो लोग निम्न वर्ग के होकर संसद और विधान सभा में गये, वे भी अपनी स्थिति जल्दी ही भूल गये । 'प्यादे से फरजी भये, टेढ़ो टेढ़ो जाय' वाली कहावत ये चरितार्थ करने लगे । इस तरह कठिनाइयों को रखने की बात जब यह नेतृवर्ग करता है, तो अजीब सी परेशानी हमें होती है । किन्तु हमने हजारों वर्षों तक गुलामी सही है । संस्कार कुछ ऐसे बन चुके हैं कि इसका जबरदस्त विद्रोह अथवा प्रतिरोध करने के लिए हमारी ताकत मर चुकी है । यदि हम कुछ करते भी हैं, तो सरकारी ताकत के सामने पराजित और असहाय हो जाते हैं । इस प्रकार सब कुछ सहे जाने की आदत से हम मजबूर हो चुके हैं ।

आजादी मिलने के ठीक एक वर्ष पश्चात् गांधी जी की हत्या और भारतवर्ष का विभाजन-- इन दोनों घटनाओं ने राजनीतिक जीवन में अभूतपूर्व मोड़ उपस्थित किया । इन घटनाओं के बाद प्रतिक्रियावादी शक्तियां तीव्र रूप में अपनी शक्ति का प्रसार करने लगीं । बंगाल और बिहार का अकाल भुखमरी से बेबस जनता की चीख-पुकार भयावह होकर सामने आई । यद्यपि एक ओर कांग्रेस शासन के द्वारा देश में निर्माण कार्य चल रहा था, हर दिशा में तीव्र गति से उत्थान एवं प्रगति के कार्य चल रहे थे, किन्तु दूसरी ओर विघटनकारी प्रवृत्तियां भी शक्ति प्राप्त कर रही थीं । देश के विभाजन के पश्चात् जो सांप्रदायिक दंगे हुए, उसमें रक्तपात के वातावरण ने सामान्य चेतना को विक्षुब्ध कर दिया ।

लोगों का इन्सान पर से विश्वास उठने लगा, हम एक दूसरे को भय और शंका की निगाह से देखने लगे। राष्ट्रीय स्तर की नींव, एक प्रकार से हिलने लगी। साम्प्रदायिकता की यह आग यद्यपि धीरे-धीरे बुझने लगी थी, किन्तु जो बीज एक बार बोया जा चुका था, वह २७ वर्ष बाद भी आज कनखियां फोड़कर कभी-कभी लहलहा उठता है।

कभी न मिटने वाला अंधेरा बढ़ता ही गया, क्योंकि राजनीतिक जीवन जो स्वतन्त्रता के पूर्व त्याग, संघर्ष और नैतिक आचरण से युक्त था, वह अब स्वेच्छाचार, मिथ्याचार, ढोंग, फिरकापरस्ती, कूटनीति और प्रतिद्वन्द्विता में परिवर्तित होकर गया। राजनीति के खेमों में द्वन्द्व, चालाकी और अनैतिक दांव-पेंच उत्तरोत्तर बढ़ते गये और आज स्थिति यह आ गई है कि पूरे शासनतंत्र में नीचे से ऊपर तक भ्रष्टाचार का वातावरण बदबू कर रहा है। एक ईमानदार आदमी जो ईमानदारी से जीना चाहता है, वह जी नहीं पाता, बल्कि बड़ी आसानी से पीछे ढकेल दिया जाता है। सरकारी और अर्द्धसरकारी सभी प्रकार के संस्थानों में जो जितना बड़ा धूर्त और चालाक आदमी है, वह उतने ही बड़े पद को सुशोभित कर रहा है, चाहे योग्यता के नाम पर वह शून्य ही हो। जिसकी जितनी बड़ी पहुंच है, वह उतना ही बड़ा आदमी है। आम आदमी व्यवस्था में इस प्रकार जकड़ गया है कि वह उसमें से निकल नहीं पा रहा है, उसी में छटपटाकर दम तोड़ता जा रहा है।

१. नैतिकता की बात

'मुझे उपाय तो एक दीखता है। वह यह कि राज्य उत्तरोत्तर कार्मिक से नैतिक स्वरूप लेता जाये। केन्द्रीकरण हो, पर वह आत्मिक और नैतिक हो। केन्द्रीकरण जब एक्जिक्यूटिव (कार्मिक) होता है तो राज्य को धन, जन, सत्ता, शरण आदि के सब साधन अपनी मुट्ठी में लेने हो जाते हैं। इसमें नागरिक अंक और बिन्दु के मानिन्द हो जाता है। उसका प्रयोग और उपयोग होता है, सहयोग जरूरी नहीं रहता, अर्थात् इस व्यवस्था के नीचे से असन्तोष बनता और ऊपर से शोषण और दमन होता है। किन्तु यदि राज्यसत्ता

नैतिक हो जाता है तो उसकी शक्ति यंत्रीकृत नहीं हो सकता ।[१] जैनेन्द्र जी ने राजनीति और एवं राज्य के स्वरूप में जिस नैतिकता की बात को उठाया है, वह सिद्धान्ततः सही है, किन्तु व्यवहार में वह सम्पन्न हो पायगा अथवा नहीं सोचने की बात है । कि समाज का कौन-सा वर्ग है, जिसे हम नैतिक कहने का दावा कर सकते हैं । तो फिर, राजनीतिक तंत्र में तो नैतिकता के आचरण की बात करना निरर्थक लगता है । नैतिकता के प्रश्न को बहुत सदियों पीछे अधकचरी रूढ़ि मानकर नकारा जाने लगा है । अब यह केवल वक्तव्य में कहीं-कहीं सुनायी पड़ जाता है । सब एक ही मिट्टी के बने हैं, किसी के आचरण पर विश्वास करना अपने को झुठलाना है । वस्तुतः नैतिकता के मापदण्ड बदल गये हैं, पुराने आईने जंग खा चुके हैं । जो हमारे लिए उचित है, वही नैतिक है। जो हम ठीक नहीं समझते, वही अनैतिक है । इसलिए राजनीति में भी नैतिकता की बात करना बेमानी है, कुछ बुजुर्गाना अंदाज सा लगता है ।

एक दूसरी रेखा पर हम देखें, कि स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भारतीय प्रशासन से चिपके लोग और पूरी शासन-व्यवस्था इसप्रकार से आचरण भ्रष्ट हो गई है कि उसमें नैतिक शक्ति जगाना खोखला नारा लगता है । किन्तु यह सच भी है कि शासन तंत्र और व्यवस्था नैतिक और आत्मिक होजाय, तो बहुत सारी समस्याएं अपने आप हल हो जायेंगी । भ्रष्ट वातावरण और शासन में व्याप्त अनैतिक आचरण और भ्रष्टाचार ही समस्याओं की जड़ है।

२. आम जनता और चुनाव

आजादी मिलने के पश्चात् से अब तक तीन-चार आम और मध्यावधि चुनाव हो चुके हैं । जनतंत्र में चुनाव एक ऐसा अस्त्र है, जिससे नागरिक अपनी शक्ति का अंदाजा लगा सकता है । इस समय जनता के हाथ में राजनीतिकों की भाग्य रेखा रही रहती है । किन्तु चुनाव के बाद क्या होता है?

---

१ जैनेन्द्रकुमार : 'समय, समस्या और सिद्धान्त', पृ०७ ।

अनेक मुखौटों का निर्माण होता है । मंचों पर किए गए वादे सब बिसर जाते हैं । संसद और विधान सभा के भवनों में जाकर नेता जल्दी ही अपनी हैसियत भूल जाते हैं । स्वार्थ की पूर्ति के लिए कलाबाजियां और दावपेंच उनके लिए सब कुछ हो जाता है । उनके शब्दकोष में केवल शब्द रह जाते हैं-- बटोरो जितना बटोर सको, पता नहीं पांच वर्षों के बाद अवसर मिलेगा अथवा नहीं । जनता की सेवा और उनकी आवाज को आवाज देने का काम सब बेमाना हो जाता है । मध्यावधि चुनाव के बाद संसद में कांग्रेस को दो तिहाई से भी अधिक बहुमत प्राप्त हो गया । विरोध-पक्ष एकदम से शक्तिहीन हो गया । इस काल में दर्जनों संविधान संशोधन विधेयक पास हो जाने पर यह अनुभव किया जाने लगा कि जनतंत्र की कब्र बनने में अब देर नहीं है । चुनाव में करोड़ों रुपयों के खर्च का भार जनता को ही वहन करना पड़ता है । वास्तव में आम जनता को ही चारों ओर से पीसा जाता है ।

३. <u>जी हुजूरी और पहुंच</u>

भारतीय व्यवस्था में हर जगह राजनीतिक दुच्चागीरी का वातावरण निर्मित हो गया है । आप कितने योग्य हैं, कितने प्रतिभासम्पन्न हैं, इसका प्रश्न ही नहीं है । आपकी कितनी ऊंची सिफारिश है, आप कितने बड़े-बड़े लोगों से सम्बन्ध रखते हैं, आपमें कितनी चालाकी है, आप कितने भ्रष्ट हैं आप उतने ही ऊंचे पद को प्राप्त कर लेंगे । सरकारी, गैर सरकारी तथा शैक्षिक संस्थानों में इस वातावरण ने प्रगति के स्तर को एकदम गिरा दिया है ।

४. <u>शोषण</u>

स्वातन्त्र्योत्तर राजनीतिक व्यवस्था जनता का अधिक से अधिक शोषण कर रही है । भारतीय जनता का शोषित होना कोई नई बात नहीं है । पहले विदेशियों के द्वारा वह शोषित होती रही है, अब अपने ही लोग उसका शोषण कर रहे हैं । फर्क यह है कि पुराना रूप अब बदल गया है । यहां की दूषित राजनीति के कारण समाज का प्रत्येक वर्ग आज दु:खी है, त्रस्त है, परेशान है । राजनीति में रह गया है--दूसरों का खाली करके अपना अधिक से अधिक भरो, गिराओ विरोधियों को कि उठने न पावे, अपनी कुर्सी

को लेकिन सलामत रखो । स्वार्थ के पुतलों का नंगा नाच हो रहा है ।लेकिन इन सब का शिकार होता है,सामान्य जनता । वह अधिक से अधिक शोषित होती है ।

५. व्यवस्था के खिलाफ आवाज़

इस राजनीतिक कुव्यवस्था के प्रति अन्दर ही अन्दर आक्रोश है । फिर विरोध क्यों नहीं होता ? विरोध होता है लेकिन आश्चर्य यह है कि जो विरोध का नेतृत्व करते हैं, वे भी उसी ढांचे में बने हुए हैं , तो दोष किसको दें ? वस्तुत: दोष अपना ही है । ऊपर से अगर आदमी ठीक होता जाये तो बात संभल पायेगी । आज की व्यवस्था के विरोध में क्रान्ति की बात भी उठती रही है । लेकिनयह क्रांति केवल मंचों पर और शब्दों में सीमित रही है। कभी-कभी तात्कालिक झटका देकर चुप रह जाती है । नारेबाजी,आगजनी,और छिटपुट हिंसा से क्रान्ति नहीं आयेगी,इससे तो राजनीतिक ही फायदा उठाते हैं । जैनेन्द्र के शब्दों में --" इस तरह जनता में यद्यपि अमित शक्ति पड़ी है पर अपनी चिनगारी के स्पर्श से उसे जगा उठाने वाला वर्ग या व्यक्ति नहीं है । ऐसी हालत में राजनेताओं के चुनाव के खेल में गोटों की भांति उसका उपयोग हो तो क्या आश्चर्य है ? बड़ाबड़ वक्तव्यों और मन्तव्यों और प्रस्तावों और शब्दों की जो सृष्टि होती है रहती है, सो इन सबसे जनता का मानस प्रक्षुब्ध होकर बहक तो जाता है, पर किसी रचनात्मक मुहिम पर गठित नहीं हो पाता । यही मानस कुछ अतिवादियों के हाथ आखेट बनता है और उत्पात-उपद्रव के मार्ग पर सहज चल पड़ता है । इन छिटपुट हिंसा की दुर्घटनाओं या नारेबाजियों से खुली संयत और अनुशासित जनक्रांति का मार्ग उल्टे अवरुद्ध होता है । ..... वह संस्था कांग्रेस जिसने स्वराज्य से पूर्व राष्ट्रीय आकांक्षाओं का और स्वराज्य के पश्चात् राष्ट्रीय नीतियों का वहन किया था, दो टूक पड़ी हुई है । देश जिन पर भरोसा बांधे बैठा था, वे आपसी कलह में ही उलझे हैं । ऐसी स्थिति में आस्था सब की टूट गई है और अपने-अपने स्वार्थ की सबको लग आई है । स्वार्थ के इस बोलबाले में शब्दों का मूल्य टूट गया है और सब कुछ जायज बन गया है ।

६. युद्ध की विभीषिकायें

सत्ताइस वर्षों के स्वराज्य काल में लगातार तीन युद्धों ने भारतीय परिवेश को झकझोर दिया । सन् १९६२ में अचानक चीन ने भारतीय सीमा का अतिक्रमण किया, हमें विश्वास नहीं होता था कि भाई का दम भरने वाला देश कैसे हमारा गला काट लेगा, किन्तु तत्कालीन प्रधान मंत्री शान्ति के अग्रदूत बने फिरते रहे, देखते-देखते हमारी भूमि पर चीनी आधिपत्य हो गया । सन्धि हुई । भारतीय शासकों ने आसानी से हारी हुई भूमि सौंप दिया । देश के बाहर शान्ति की साख न घटने पाये, चाहे हमें कुछ भी खोना पड़ जाय । नेहरू की विदेश नीति बहुत कुछ नपुंसक सी रही है । उसके पश्चात् सन् १९६५ में पाकिस्तान ने आक्रमण किया, तब हमारी नींद खुली । अब हमें लगा कि शान्ति बहकने से हमारा खतरा बढ़ता ही जायेगा । भारतीय सैनिकों ने साहस और वीरता के साथ आक्रमण का मुंह तोड़ उत्तर दिया, पाकिस्तानी भूमि पर अधिकार भी किया । ताशकन्द सन्धि में हमने हासिल कुछ नहीं किया बल्कि रक्तपात को यूं घलुए में बांट दिया । भारत की विदेशी नीति ऐसी ही है रही है-- कोई आक्रमण करे, रोकने की कोशिश करो, जो जीतते हो, वापस कर दो, हारते हो तो लेने का दम मत भरो ।

यही स्थिति १९७१ के युद्ध में भी हुई । यानी लगातार तीन युद्धों में हमने दिया तो बहुत कुछ और लिया कुछ नहीं । क्योंकि इससे अंतर्राष्ट्रीय साख घटने का खतरा था । और युद्ध के बाद की परिस्थितियां तो और भी भयानक होतीं हैं । अब प्रशासक एक-दूसरे का मुंह ताकते हुए हताश हो गये । 'धीरज और सहने' की सीख देने का प्रयत्न करने लगे । करों का भार जनता की रीढ़ तोड़ने लगा, बेकारी में अप्रत्याशित वृद्धि हुई, बेरोजगारी, भ्रष्टाचार, लूट और काला बाजार को उत्तरोत्तर प्रश्रय मिलता गया । निर्धनता बढ़ती गई । मुद्रा स्फीति ने मनुष्य के मूल्य को कम कर दिया- वह कुछ ही कीमत में आसानी से बिक सकता है ।

इसके पूर्व द्वितीय महायुद्ध ने जब कि पूरे विश्व को उदास और विशृंखलित कर दिया था, भारतीय परिवेश भी इससे अछूता न रह सका था। महायुद्ध में प्रयुक्त होने वाले अणु और विस्फोटक अस्त्रों के प्रयोग ने मनुष्य जीवन को खतरे में लाकर खड़ा कर दिया। आशंका और भय का वातावरण निर्मित हुआ। यहां तक कि मनुष्य अपने जीवन के प्रति शंकित हो चला। युद्ध के बाद भीषण तबाही, बर्बादी और बिखराव का घेरा बढ़ा। भारतीय जीवन में भी विश्व के अन्य देशों की भांति संक्रमण और बिखराव की प्रक्रिया दिखाई पड़ी। लेकिन इसके बाद कभी न समाप्त होने वाला शीतयुद्ध प्रारम्भ हो गया। प्रतिस्पर्धा और शक्तिसंतुलन के खेलने जीवन में भय और असुरक्षा की भावना को जन्म दिया। प्रसिद्ध पश्चिमी विचारक आल्डुस हक्सले ने युद्ध के बाद की स्थितियों का भयावह चित्र उपस्थित किया है। उन्होंने यह स्वीकार किया कि २० वीं शताब्दी का मानव(युद्ध के बाद का) अधिकाधिक यंत्र के नजदीक होता जायेगा। उद्जन बमों एवं अणु की शक्ति के रूप में इस्तेमाल किया जायेगा, जिससे मनुष्य की मानवीय क्षमता उत्तरोत्तर क्षरित होती जायेगी। मनुष्य मनुष्य के प्रति खतरनाक होते जायेंगे। वह अपना बुद्धि कौशल अधिकांशतः विस्फोट और मानवीय खतरे के लिए करेगा। विश्व में उद्योगों का अधिकाधिक विकास होगा। मनुष्य का सम्पर्क बाहरी रूप में बढ़ेगा, किन्तु अकेलेपन और अजनबीपन की अनुभूति निर्मित होगी और इससे सेक्स के प्रति रूझान तेजी से बढ़ेगा[१]।

७. <u>दायित्व की बात</u>

स्वातन्त्र्योत्तर राजनीतिक परिवेश में जहां जीवित मनुष्य अधकचरे की भांति कूड़ों और नाबदानों में बिदबिदा रहे हैं। वहां दायित्व की बात करना बेमानी सा लगता है। मनुष्य की व्यक्तिगत प्रतिभा समाप्त हो चुकी है। " अब तो दल, वर्ग, समूह, संस्था, यंत्र-तंत्र ही अधिक

---

१ Huxley, Aldous / Brave New World / P. 14.

प्रधान है । उनके पीछे बड़ी-बड़ी व्यक्ति मेधाएं, प्रतिमाएं, शक्तियां कार्य करती हैं । पर उनके व्यक्तित्व के विकास की संभावनायें कम से कम होती जा रही हैं ।[१] शासन तंत्र ने मनुष्य की शक्ति को कम करके अपना स्थान ऊपर कर लिया है । सन् १९६९ के मध्यावधि चुनाव में तथा उसके बाद 'समाजवाद' का नारा तेजी से उभरा । किन्तु उसके बाद आज यह नारा खोखला लगने लगा । जब इस राजनीति शासित समाज के कलबल में नेतृवर्ग व्यक्तिगत नैतिकता और दायित्व की बात करते हैं तो वे यह भूल जाते हैं कि पहले अपने चेहरे को आइने में देखें । वस्तुत: सभी के चेहरे के नीचे मैला चमड़ा चढ़ रहा है । दूध का धुला हुआ कोई तो नज़र नहीं आता । अस्तु, यदि शासक स्वयं अपने स्वार्थ का नंगा नाच कर रहे हैं तो जनता से धैर्य और दायित्व की बात करना कहाँ तक अर्थवत्ता प्राप्त करेगा ?

८. छटपटाता हुआ मनुष्य

स्वतन्त्रता पूर्व के हिन्दुस्तान में भी समस्याएं थीं, किन्तु तब यह सोचकर लोग सह लेते थे कि वे परतंत्र हैं । किन्तु स्वराज्य काल में भी आम आदमी उसी जगह पर है, जहाँ पहले था । बल्कि कहना यह चाहिए कि उस स्थिति से और भी नीचे गिर गया है । आदमी को संतोष तब होता जब उसी तरह की अनुभूति सभी करते । पर हो यह रहा है कि उसी के सामने चरित्रहीन और अनैतिक लोग शासक का मुलम्मा चढ़ाये शान से रह रहे हैं । उन्हें किसी प्रकार का अभाव नहीं है । बल्कि बंगलों में बैठकर वक्तव्यों में,मंचों पर सवार हो होकर भाषण में कठिनाइयों का साहस और धैर्य के साथ झुकने की सीखली सीख दे रहे हैं ।

दूसरी ओर आम आदमी पीड़ित होता हुआ छटपटा रहा है । वह अपनी स्त्री के पैबंद भरी साड़ी को देखकर रोता है और गहरी सांस लेकर चुप रह जाता है । दूध के लिए छटपटाते बच्चे को तमाचा मार कर उसकी चीख बंद कर देता है । खाधान्न जुटाने के लिए रात दिन परिश्रम करते हुए भी फटेहाल रहता है । चूते हुए खपरैलों के नीचे बरसात के पानी को झेल

---

१ कल्पना । १८२--१९६७,पृ०४६
डा०रघुवंश के 'आज के राजनीति शासित समाज में साहित्यकार का स्थान' से उद्धृत

लेता है । लेकिन यह कब तक ? रोजी रोटी जुटाने में ही उसकी वय गुजर जाती है । हजारों और करोड़ों ऐसे भी हैं,जो परिश्रम करना चाहकर भी बेकार बैठे हैं। बड़ी-बड़ी पंचवर्षीय योजनायें और बजट बनते हैं । लेकिन इन योजनाओं के बहाने लाल फीताशाही और अफसरों की बन आती है । प्रशासन यंत्र में बीच के न जाने कितने लोग लाभ उठा ले जाते हैं और आम आदमी वहीं का वहीं रह जाता है ।

शासक और राजनीतिक के पास हृदय नहीं होता । स्वातन्त्र्योत्तर पूरा परिवेश इस हृदयहीनता के लिए उत्तरदायी है, क्योंकि अत्यधिक औद्योगीकरण में हृदय और मानवीय गुण क्षरित होता ही है । इस कारण वे साधारण की बात सहानुभूति नहीं दे पाता । फिर भी योजनायें चलती हैं, कागज के खाने भी भरे जाते हैं, लेकिन लाभ आम आदमी को कहीं ही मिल पाता।है

९. साहित्यकार भी राजनीति से सम्बद्ध है

पैसे की कीमत बढ़ने के साथ-साथ आज़ादी के बाद साहित्यकारों का एक बड़ा वर्ग राजनीतिक जमात के रूप में उभर कर आया । उनकी सृजनशीलता चाहे भोथरी हो रही हो,किन्तु शासन के साथ और शासकों के साथ चिपके रहने के कारण उन्हें बड़ी-बड़ी पदवियों और पुरस्कारों से विभूषित किया जाता है । बहुत से ऐसे साहित्यकार आज दम खम के साथ साहित्यसेवा का दम भर रहे हैं, जो रचना के नाम पर कूड़ा दे रहे हैं । किन्तु चूंकि बड़े-बड़े नेताओं के साथ है,बड़ी-बड़ी सरकारी कमेटियों के सदस्य हैं, या जिनकी पहुंच शिक्षा मंत्रालय और सूचना-विभागों में है । येसाहित्यकार केवल पदों की शोभा बढ़ा रहे हैं । साहित्य-सृजन या साहित्यिक स्तर पर विचारों का तीव्र आन्दोलन करना नहीं, वरन् लिखना-पढ़ना छोड़कर केवल इन कमेटियों में शोभा सदस्य[१] के हैसियत से हिन्दी साहित्य और संस्कृति का प्रतिनिधित्व करना है । सरकारी और अर्द्धसरकारी संस्थानों से सम्बद्ध साहित्यकारों

१ कल्पना । १९८२।पृ०९४

ने मूल्यवान साहित्य को बेशक चारित किया है । वैसे भी साहित्यकार और साहित्यिक संस्थायें हैं,जो किसी राजनीतिक पार्टी विशेष से सम्बद्ध होकर सरकार का तीव्र विरोधी या समर्थक हो जाने की लालसा में लगे हैं । दोनों ही स्थितियां स्वस्थ नहीं कही जा सकतीं । ज्ञानपीठ पुरस्कार या अकादमी पुरस्कार या पद्मभूषण प्राप्त करने मात्र से उसके साहित्य को मूल्यवान नहीं कहा जा सकता ।

१०. युवा पीढ़ी

आजादी के पहले जो मासूम और किशोर आयु के थे वे आज युवक हो गये हैं । पहले उनके सपने थे, खुशहाली और सुख के मादक और मीठे सपने । किन्तु आजादी के बाद वे सपने धीरे-धीरे बिखर गये । हमारे आदर्श खोखले और नपुंसक हो गये । यह नयी पीढ़ी विरोधाभास के वातावरण में जी रही है । उसे आजादी के पूर्व के आदर्शों और बाद के बिगड़ते आदर्शों के बीच गच्चा खाना पड़ रहा है । उनकी शक्ति सतही और पर हल्की गूंज देकर रह जाती है, क्योंकि कहने के लिए उनके पास बहुत कुछ है पर सब असंगठित इसलिए उनका यथार्थ सही होते हुए भी बिखरा हुआ और लुंज-पुंज है । डा० लक्ष्मीकांत वर्मा ने इसी बात की ओर संकेत करते हुए कहा है कि "उसके स्वप्न सत्य होते हुए भी खंडित है, उसके आदर्श सही होने के बावजूद पराजित हैं,उसकी कल्पना भावनीय संवेदनाओं से ओत प्रोत होते हुए भी अभिशाप है,उसका स्वर आत्मोत्सर्ग के संकल्प से जन्मने के बावजूद झूठे यथार्थ के परिवेश में केवल खोखली खनक-सी ध्वनि देकर मौन हो जाती है ।"[१]

आज का युवा आक्रोश,युवा विद्रोह,दूसरी ओर, राजनीति के अजीब कुचक्र में गिरफ्तार है । वह जो कुछ चाहता है पूरा नहीं हो पाता और जो करना चाहता है, उसे करने नहीं दिया जाता।वह एक दिशा-हारा की भांति राजनीतिकों के हाथ कठपुतली बना नाच रहा है । बेकारी

---

१ कल्पना ।१९८२।पृ० ११

और बेरोजगारी ने उसकी तल्खी को बढ़ावा दिया है । क्योंकि उसमें चिन्तन और एक व्यवहार का संगठन नहीं है, इसलिए उसकी आवाज सतही रुन-झुन करके चुप रह जाती है ।

सामाजिक परिवेश

१. संक्रमण

स्वतन्त्रता प्राप्ति के कुछ वर्षों पूर्व से ही भारतीय समाज में संक्रमण और रूपान्तरण की प्रक्रिया चल रही थी और स्वराज्य काल में इस प्रक्रिया को और भी बढ़ावा मिला । अज्ञेय और सहवर्ती साहित्यकारों ने १९४३ के तार सप्तक के माध्यम से भारतीय समाज में निर्मित और परिवर्तित हो रहे मूल्यों को संकेतित और अन्वेषित करने का प्रयास किया था । रूपांतरण की इस प्रक्रिया में हमारे आदर्श परिवार, धर्म,समाज और संस्थाएं बिखर रही थीं । लेकिन नवीन मूल्यों की खोज और स्थापना में अधिकांशतः उखड़ा उखड़ा सा, बिखरा-बिखरा सा दिखाई दे रहा था । नेमिचन्द्र जैन के शब्दों में " हमारे समाज के आर्थिक,राजनैतिक,सांस्कृतिक रूपान्तरण की प्रक्रिया एक अजब से असमंजस में गिरफ्तार है-- वह या तो इधर से उधर टकराती रहती है या ठहर कर नये भंवर पैदा करती है । १९४७ में राजनैतिक आज़ादी से जिस व्यापक सामाजिक रूपान्तरण की सम्भावना की आशा होने लगी थी और उसके रास्ते खुलते नज़र आये थे, वह बाद के बरसों में राह से भटक गया,जिसने बड़ा गहरा असंतोष एक प्रकार का अपने आप से ही अलगाव और बेगानापन, आम आदमी और खासतौर पर सर्जनशील मन में पैदा किया । सामाजिक रूपान्तरण के इस भटकाव और साहित्य की मौजूदा अस्थिरता में कोई कार्य-कारण सम्बन्ध हो या न हो, पर दोनों की समानान्तर स्थिति की सचाई से

इनकार नहीं किया जा सकता ।[१]

पर वास्तव में रूपान्तरण की यह प्रक्रिया पूरे विश्व में चल रही है । एक बौद्धिक संक्रान्ति जिसमें हमारे पिछले सारे आदर्श, मान्यतायें टूट टूट कर बिखर-बिखर कर अवमूल्यन और असमंजस की ओर जा रहा हैं । इस उथल पुथल में कुछ भी संगठित या स्थापित नहीं हो पा रहा है । जब कि जो भी नवीन विचारणायें और मान्यतायें सामने आती हैं, वे भी एक सी नहीं लगतीं । एक विशाल रूप में जहां परिवर्तन हो रहा है, वहां कुछ भी एकत्रित नहीं बल्कि इधर उधर गडमगड़ सा लगता है ।

२. बढ़ती हुई भीड़ और अकेलेपन की अनुभूति

इस बात को लगभग सभी स्वीकार करते हैं कि स्वतंत्रता के बाद भारत की जनसंख्या में तीव्रगति से वृद्धि हुई और आधुनिकता के चकाचौंध में एक बड़ी तादाद गांव छोड़कर नगरों की ओर पलायन कर रही है । इससे गांव तो टूट रहे हैं किन्तु नगरों और महानगरों की भीड़ आशातीत रूप से बढ़ रही है । बढ़ती हुई भीड़ में आम आदमी आसानी से खो जाता है, व्यक्ति की व्यक्ति से पहचान तात्कालिक खोखली, आडम्बरयुक्त और लगभग नहीं के बराबर होती हैं । उसकी दुनियां क्रमशः छोटी होती जाती है । इससे वह टूट टूट कर आत्मपरीक्षण की भावना में अपने को विवश पाने लगता है । नगरों का कृत्रिम जीवन तथा विज्ञान और प्रविधि का विकास मनुष्य को यंत्रीकृत करता है । अधिकाधिक यंत्रीकरण में मनुष्य की मानवीय क्षमता क्षरित होती है । आदमी अजनबी होता हुआ अकेलेपन के वैभव में जीता है । फलस्वरूप निराशा और अवसाद का वातावरण निर्मित होता है । 'नगरों की ओर खिंचकर आने वालों का मोहभंग हुआ, नगरों का जीवन नीरस, आत्मीयताहीन, व्यर्थ के आडम्बरों और

---

१ नेमिचन्द्र जैन : 'समकालीन साहित्य की स्थिति': बहस के लिए कुछ मुद्दे हिन्दुस्तानी एकेडमी, प्रयाग की एक परिचर्चा में पढ़े गए एक निबन्ध से उद्धृत ।

मुखौटों से भरा हुआ था । यहां मूर्ख राजनीतिक अपने टुच्चे दांव-पेंच से कहीं अधिक सम्मान का अधिकारी था ,बनिस्बत उस ईमानदार बौद्धिक के जो अपनी पत्नी की पैबन्दों भरी साड़ी और दवा के लिए तरसते बीमार बच्चों की मासूम आंखों में झांककर रात बिता देता था । चुनाव एजेण्ट वाले,अड़ियल घूसखोर,उनकी चाटुकारिता करने वाली व्यवस्था के अंग टुकड़हे बौद्धिक,इजारेदार, सरमायेदार जिस समाज में पनपते हैं, वहां सब कुछ होता है, सिर्फ न्याय नहीं होता ।[१]

३. नागरी बोध

नागरी और ग्राम्य जीवन में निश्चित रूप से अन्तर होता है । नगरों की सभ्यता कृत्रिमता के आवरण में ढंकी हुई और फैशन-परस्त और मुखौटों वाली होती है । नागर व्यक्तित्व की अपनी अलग विशेषता होती है । उसकी चाल,व्यवहार,भाषा एवं चरित्र में उलझाव,बनावट एवं स्वार्थ की बू आती है । वह जीवन को एक गति और क्षण के रूप में देखता है । उसमें आस्था और विश्वास की रिक्ति तथा वर्तमान को अच्छी तरह जीने की प्रवृत्ति होती है । नगर की समस्यायें ग्राम्य से अलग विविध होती हैं ।अकाल, भुखमरी,बेरोजगारी,लूट, हत्या और आगजनी तो आज आम बात है । रास्ते चलते आदमी की मौत हो जाती है और नागरिक अपने काम में लगे रहते हैं । नागरी जीवन में आदमी जल्दी टूटकर बिखरने लगता है,क्योंकि उसके स्वप्न अधूरे रह जाते हैं । व्यक्ति विवश होकर किसी तरह जिन्दगी के बोझ को ढोये जाता है, लेकिन यहां ऐसे भी लोग होते हैं, जो अन्याय और टुच्चागिरी और तिकड़म के द्वारा खुशहाल रहते हैं । यहां वही चल सकता है जो एक नम्बर का टुच्चा हो ,दांव पेंच और चापलूसी का गुर जानता हो, लोगों के तलवे सहलाना जानता हो । यश प्राप्त करने के लिए आम आदमी मृगतृष्णा की भांति भागता है, लेकिन हासिल नहीं कर पाता । और हासिल करने के लिए

---

१ कल्पना : नवलेखन विशेषांक--१,पृ०६-७ ।

झूठ-सच, न्याय-अन्याय सब कुछ करना होगा ।

४. ग्राम्य बोध

नगरों की तुलना में गांव का जीवन प्राय: स्थिर,खुला और सरल होता है । यहां का आदमी बेईमान,दुधारी मस्तिष्क वाला,टुच्चा, चापलूस और स्वार्थी नहीं होता । मानवीय गुण यहां खारिज नहीं है । किन्तु स्वतन्त्रता के बाद से भारतीय गांव भी बदलते हुए दिखाई देने लगे । संचार के साधनों के प्रसार और नगरों से सम्पर्क के कारण गांवों में भी नागरी तत्त्व उजागर होने लगे । प्रेमचंद के समय के गांव में आज के गांव में बहुत अंतर हो गया है । अब आदमी पहले जैसा सरल और सपाट नहीं रहा । नगर के व्यक्ति गांव में रहकर अपना प्रभाव छोड़ जाते हैं और गांव के व्यक्ति शहर में रहकर बदल गये हैं । राष्ट्र में परिवर्तन की दिशाओं और घटनाओं का ज्ञान उसे हो गया है । वह अब पहले से चालाक और छल-छद्म जानने लगा है । सन् १९५० के बाद से बहुत सारे रचनाकारों का अचानक गांवों से मोह बढ़ा । ढेर सारी रचनायें गांवों के कूलों,कछारों और वहां के सामाजिक , राजनैतिक परिवर्तन तथा मनुष्य के नये तेवर को उजागर करने के लिए प्रस्तुत हुई ।रेणु, नागार्जुन, श्रीलाल शुक्ल,सुरेन्द्रपाल, मार्कण्डेय, राजेन्द्र अवस्थी, उदयशंकर भट्ट, रामदरश मिश्र, देवेन्द्र सत्यार्थी और राजेन्द्र अवस्थी `तृषित` आदि कथाकारों की रचनायें इसका साक्ष्य प्रस्तुत करती हैं ।

५. पश्चिम का प्रभाव

स्वतन्त्रता के बाद भारत की सामाजिक स्थिति में पश्चिमी सभ्यता ने बहुत कुछ प्रभाव उत्पन्न किया । पश्चिम के वर्जनाहीन समाज के अनुरूप भारत की सामाजिक स्थिति में भी वर्जनायें और बन्धन टूट रहे हैं । परम्परा और रूढ़ि में आबद्ध नारी का रूप आज बदल चुका है, पश्चिमी संस्कृति के प्रभाव के कारण वह `नारी मुक्ति` के लिए निरन्तर संघर्ष कर रही है । समाज

के प्रत्येक क्षेत्र में-- चाहे राजनीतिक हो या धर्म,साहित्य हो या कला-- समाज में समान रूप से हिस्सा लेता है और उनसे उपलब्धि की सम्भावनायें भी देखी गईं। पश्चिमी समाज के तत्वों को आयात करने के कारण आज पारिवारिक रिश्ते टूट रहे हैं, धर्म,समाज एवं नैतिकता के मानदण्ड तेजी से विघटित होकर नया रूप प्राप्त कर रहे हैं। सेक्स का आदर्श मान बदल कर एक आवश्यकता की तरह कल्पित किया जाने लगा है। एक तरह से इस संक्रमण के बीच, भारतीय संस्कृति और समाज की जड़ें हिल चुकी हैं। युग-युग से संस्कृतियों को बचाने वाली भारतीय संस्कृति पश्चिम को आत्मसात न कर सकी। पश्चिमी संस्कृति को आधुनिकता की अवधारणा और फैशन का स्वर दे दिया गया है। इस प्रभाव के सन्दर्भ में बीटनिक्स पीढ़ी, भूखी पीढ़ी अथवा नंगी पीढ़ी की निर्मिति द्रष्टव्य है।

६. 'सेक्स' के प्रति रुझान

बदलाव की प्रक्रिया में 'सेक्स' का आदर्श पुराने आदर्शों से मेल नहीं खाता। यह बदलाव और बन रहे नये रूप,साहित्य के माध्यम से अधिक तीखे स्वर में अभिव्यक्ति पा सके हैं। नई कहानी और नये उपन्यासों में एक से एक आयाम और स्थितियां दिखाकर 'सेक्स' के नये बनते रिश्ते को उजागर किया गया है। चूंकि हमारे पुराने आदर्श टूट रहे हैं और नये आदर्शों के निर्माण में उभरती नयी पीढ़ी 'सेक्स' के खुलेपन की ओर आकर्षित और मोहित होती जा रही है। यह एक भूख है,अत:इसके लिए हमें किसी प्रकार की वर्जना स्वीकार नहीं। औद्योगिक नगरों और अधिक भीड़ वाले शहरों में यह प्रवृत्ति अधिक तीव्रता प्राप्त कर रही है। फ्रायड के मनोदर्शन ने इस दिशा में एक नया सूत्र प्रदान किया। जैसे भोजन के बिना मनुष्य जी नहीं सकता, उसी तरह 'सेक्स' तृप्ति के बिना भी मनुष्यों में अनेक कुंठाएं और ग्रन्थियां निर्मित हो सकती हैं। आदिम मानव में इस संदर्भ में कोई अवगुंठन नहीं था।

७. अस्तित्व-बोध, खोखलापन और रिक्तता

द्वितीय महायुद्ध के बाद जिस प्रकार यूरोप के देशों में अजीब उदासी और बेगानापन का वातावरण सर्जित हुआ । विशाल आकार में पूरा यौरोप एक बेकारी और भूख की स्थिति से गुजर रहा था, यहां तक कि मनुष्य अपने अस्तित्व के प्रति भी भयभीत और शंकित होने लगा था । अनैतिक आचरण और चोरबाजारी निरन्तर बढ़ती गई थी । इससे समाज का एक वर्ग लगातार नीचे गिरता गया । उसने अनुभव किया कि आदमी केवल खाली पुतला ऊपरी खोल लटकाये जा रहा है । लेकिन सुविधाओं और भौतिक सुखों को प्राप्त करने की, रिक्ति और खोखलेपन की यह अनुभूति आज दूर नहीं हुई है । लगभग यही स्थिति भारतीय परिवेश में लगातार सूखे और युद्धों के कारण उत्पन्न हुई है। सार्त्र और कामू, काफ्का और कालिन विल्सन का सम्पूर्ण दर्शन इस अस्तित्व-हीनता की कहानी को रूपायित करता है । सम-सामयिक हिन्दी साहित्य में भी मनुष्य में बन रही अस्तित्वहीनता और रिक्ति की अनुभूति को मानवारा और सफाई के साथ उजागर हुआ है । अधिकाधिक प्रविधि और विज्ञान के विकास के कारण आज का जीवन इतना समूहीकृत और यांत्रिक हो गया है कि उसमें हम अपने अस्तित्व को खोया हुआ पाते हैं । यह अनुभव ही नहीं हो पाता है कि हमने भी कुछ किया है या हमारी अनुभूतियों एवं विचारों का भी कुछ उपलब्धि है । '.... आज के वैज्ञानिक तथा प्राविधिक विकास ने १६ वीं शता से आरम्भ होने वाली अनेक संस्थाओं, व्यवस्थाओं और सिद्धान्तों तथा मूल्यगत स्थितियों का अनुपात और सन्तुलन भंग कर दिया है । परिणाम है कि नये विकास की सारी सम्भावनाएं ऐसी समूहीकृत और यांत्रिक[१] हो गई हैं कि इस स्थिति में व्यक्तिगत दायित्व-बोध असंगत जान पड़ता है ।'' आधुनिक मानव की आन्तरिक समस्याओं और उनसे उत्पन्न व्यक्तित्व संकट पर विचार करने वाले और इससे मानव-व्यक्तित्व की अखण्डता को खतरा मानने वाले

१ रघुवंश : 'आज के राजनीति शासित समाज में साहित्यकार का स्थान' । 'कल्पना', १८२।१९६७, पृ०४८ ।

मनोवैज्ञानिकों और मन:चिकित्सकों की पहली स्थापना है कि बीसवीं सदी के मध्य देश के व्यक्ति की प्रमुख समस्या `खोखलेपन` और `रिक्तता` की है। रिक्तता का अर्थ केवल इतना नहीं है कि आज अनेक लोग यह नहीं समझ पाते कि वे चाहते क्या हैं; बल्कि यह भी अक्सर उन्हें अपनी अनुभूति और संवेदना की स्पष्ट धारणा भी नहीं होती। आज का व्यक्ति प्राय: अपनी आंतरिक प्रेरणाओं से निर्देशित और चालित न होकर `अन्यों` से, समूह से निर्देशित होता है। उसकी अपनी कोई निजी इच्छा, निजी प्रेरणा, निजी मूल्य और आदर्श नहीं रह गई है। वह अपने प्रति समूह की इच्छाओं, आशाओं और आकांक्षाओं का प्रतिबिम्ब मात्र रह गया है।`[1]

आर्थिक परिवेश

१. बढ़ती हुई खाई

सैकड़ों साल तक जिस भारत को विदेशियों ने शोषित करके जर्जर किया था, उसके बाद का टंगा हुआ भारत आज भी उसी धुरी पर घूम रहा है। हमने आजादी की लड़ाई अपूर्व त्याग और तपस्या से लड़ी थी और उस समय जो सपना बनाया था, वह स्वतन्त्रता के बाद धीरे-धीरे टूट कर बिखर गया। भारत की जन सरकार ने पूंजीपतियों को बढ़ावा दिया, फलत: धीरे-धीरे भारत की समस्त पूंजी एवं ऐश्वर्य चन्द धनी लोगों की मुट्ठी में बंद होने लगा, वे निरन्तर अमीर होते गये। दूसरी ओर जो गरीब थे, फटेहाल थे, उनकी स्थिति दिन-पर-दिन गिरती गई। आज अमीर और गरीब के फासले में असामान्य वृद्धि निर्मित हो चुकी है।

सरकार से सम्बद्ध तथा राजनीतिक मनुष्य प्रत्येक छल और छद्म के द्वारा अपने स्वार्थ की पूर्ति करने में संलग्न हैं। सबको अपने-अपने की चिन्ता ही है, किसी दूसरे की नहीं। सरकार की गलत नीतियों के कारण उससे हमारा विश्वास उठ चुका है। हमने सब देख और समझ लिया है।

---

१ ब्रजविलास श्रीवास्तव : `आधुनिक मानव के संदर्भ में अस्तित्व बोध का संकट` कल्पना, १८२, १९६७, पृ०७८

लेकिन आश्चर्य यह है कि लगातार यंत्रणा सहने के बावजूद हममें सहे जाने का आदत बन चुका है । तो फिर मुक्ति के लिए किससे कहें ? कौन मसीहा बने ? यह भारतीय आदमी की विसंगति और सचाई है । आर्थिक नव निर्माण के लिए बड़ी बड़ी योजनायें और विकास की स्कीमें फाइलों में बन्द होकर सड़ रहा हैं, जिस अनुपात से पिछले वर्षों में मुद्रा स्फीति का स्थिति आई है, उससे बाजों केभाव ताजो से बढ़े हैं,बढ़ते जा रहे हैं । इससे आम आदमी की हालत पर दूर व्यापी प्रभाव पड़ताहै । उसकी कमर एकदम टूट जाती है । आज स्थिति यहां तक पहुंच चुकी है कि किसी भांति दो वक्त की रोटी लोग जुटा लें,वही सबसे बड़ी उपलब्धि है । इस हालत को और संकेत करते हुए डा० शिवप्रसाद सिंह ने लिखा था --"जीर्ण-शीर्ण परम्परा से चिपकी तथा अनेक समस्याओं पर भीषण मतभेद रखने वाली बेशुमार भारतीय जनता दिनोंदिन अभिशाप के गर्त में गिरती गई । पंचवर्षीय योजनायें असफल हुईं । गरीब निरन्तर गरीब और अमीर निरन्तर अमीर होते रहे । अलगाव बढ़ता गया । स्वदेशी सिक्का और इन्सान सस्ते होते गए ।"[१] और जब शिवदान सिंह चौहान ने आज से सौ साल पहले जब लिखा था --"इन परिस्थितिजन्य वैविध्यों के बीच से गुजर कर भारतीय जीवन अपने चतुर्मुखी विकास की नई दिशा पाने का प्रयास कर रहा है ।"[२] तो आज की हालत को देखते हुए यह कथन सचाई से कोसों दूर तथा खोखला प्रतीत होता है ।

२. औद्योगीकरण

सन् १९५० के आस पास से ही देश में बड़े बड़े उद्योग स्थापित होने लगे थे और सत्ताईस वर्ष के स्वातन्त्र्यकाल में विश्व सभ्यता की तरह भारत की सभ्यता में भी यंत्र और उद्योगों की प्रमुखता हो चली है । बड़े-बड़े औद्योगिक नगर विकसित हो रहे हैं । गांव से भाग भाग कर लोग कारखानों में मजदूरी करने लगे हैं ।लेकिन अधिकाधिक औद्योगीकरण और मशीनी विकास में

१ कल्पना।२१०,पृ०१५।
२ आलोचना।३४ स्वतन्त्र्योत्तर हिन्दी साहित्य विशेषांक,पृ०३३

हमें दो बातें सोनी पड़ीं -- पहली चीज तो यह कि इन बड़े उद्योगों और मशीनों की होड़ में हमारे कुटीर उद्योग, हाथकी कारीगरी, जिसकी कोई मिशाल नहीं रहा करती थी, नष्ट होने लगी । इससे देश का गरीब आदमी प्रभावित हुए बिना न रह सका । उसकी आय का एक प्रमुख स्रोत बन्द हो गया । दूसरी चीज इससे पूंजी का बंटवारा असमान रूप से समाज में दिखाई देने लगा ।

विज्ञान के विकास में एक से एक नई चीजें प्रतिदिन खोज में आ रही हैं, उसका स्पर्धा में हमारा पुराना कारीगरी बेकार साबित हो रही है । आज तो केवल वह अजायबघर की चीज बनकर रह गई है ।

३. सरकारीकरण

१९६७ के मध्यावधि चुनाव के बाद से नई सरकार की नीतियां बहुत कुछ बदलीं । इस बदलाव के मूल में आर्थिक असमानता को दूर करने का लक्ष्य रखा गया । वस्तुत: यह लक्ष्य विदेशों की नकल हैं, इन नीतियों के पीछे बड़े राष्ट्रों का भी हाथ हो सकता है, क्योंकि इससे विदेशों में हमारी साख बढ़ सकती है । सरकार ने जनता की पूंजी को अधिकाधिक सरकारीकरण करने का प्रयत्न किया । उद्योग एवं उत्पादन को अपने हाथ में लेकर आबंटित करने का लक्ष्य रखा गया । राजाओं-महाराजाओं का पेंशन बन्द कर दी गई । बैंकों का राष्ट्रीयकरण किया गया । चीनी, कोयला यहां तक कि खाद्यान्नों को भी सरकारीकृत करने का प्रयास किया गया । लेकिन इससे सरकार यह भूल गई कि अब तक चोरबाजारी एवं भ्रष्टाचार को बढ़ावा मिलेगा । भ्रष्टाचार ने मुद्रा स्फीति को बढ़ावा दिया । चीजें मंहगी और बाजार से गायब होने लगीं, इससे राहत मिलने के बजाय उलझन ही होती गई । विदेशी मुखौटा भारतीय परिवेश में पहनाना शायद मुश्किल कार्य है ।

इसप्रकार भारत की आर्थिक नीतियों ने आम जनता की रीढ़ को तोड़ कर बरबरा दिया है । ऋण के भार से लदा हुआ आदमी जिया जा रहा है । दूसरे शब्दों में कहाजा सकता है कि आज रुपया सस्ता

हो गया है और आदमी ही हाथों बिक रहे हैं । बेकारी और आर्थिक तंगी के कारण कितने लोग अपनी इज्जत बेचने को मजबूर हो रहे हैं । वेश्याओं के कोठे आबाद हो रहे हैं । गरीब लड़कियां बिक रही हैं । परिवार की शान बाजारू होती जा रही है । ये समस्याएं निकट भविष्य में हल होना मुश्किल दिखाई पड़ रहा है ।

(घ) सांस्कृतिक एवं साहित्यिक परिवेश

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् संस्कृति और साहित्य की दुनिया में संक्रमण की स्थिति देखी गई और स्थिति यहां तक है कि हमारे परम्परागत सारे मानदण्ड और मुल्यों के आधार हो जैसे उखड़ गये हैं । भारतीय जीवन में परिवार,धर्म,प्रेम और सामाजिक आचरण की मर्यादाएं अनिश्चित हो गई । यह इसलिए भी हुआ कि जहां मनुष्य मनुष्य से टकरा रहा है, वहां अनेक राष्ट्र एवं जातियां परस्पर टकरा रही हैं । इस संघर्ष और टकराहट के बाद मानवीय अनुभूतियां कम हुई हैं और अनुभूति के स्खलन का मतलब है अनर्थक, मुल्यहीन,अर्थहीन जीवन की स्थिति ।

जातियों और संस्कृतियों की परस्पर टकराहट और संघर्ष में नये नये विचारों का आदान-प्रदान और मुल्यांकन होता है । परम्परा के प्रति मोह-भंग की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है और नवीन चेतना का भाव उदित होता है । आधुनिकता और अत्याधुनिकता का मुल्य इस संक्रमण और टकराहट का परिणाम है । साहित्य के माध्यम से सांस्कृतिक उपलब्धियों एवं परिवर्तन का मुल्यांकन किया जाता है और साहित्य भी तो संस्कृति का एक अंग है ।

परिवार,धर्म एवं नैतिकता के परम्परागत मानदण्डों में बदलाव की प्रक्रिया कई आयामों में परिलक्षित हुई । इस सम्बन्ध में मनुष्य की दृष्टियां कई मार्गों की ओर अग्रसर हुईं । यहां यह ध्यान रखना उचित होगा कि आलोच्यकाल के मनुष्य का सांस्कृतिक जीवन प्रविधि प्रधान हो गया है।

इसका परिणाम अच्छा नहीं हुआ, क्योंकि 'मशीन के संस्पर्श से मनुष्य भी यंत्र हो जाने के खतरे में हो गया है।'[1] आधुनिक भारत के सर्वश्रेष्ठ मनीषी गांधी ने अपने समूचे जीवन में और साहित्यकार जयशंकर 'प्रसाद' ने अपनी उत्कृष्ट रचना 'कामायनी' में मानवीय सभ्यता के इस वर्तमान खतरे की बड़ी क्षमता के साथ ध्यान आकृष्ट किया है।

आज धर्म के प्रति हमारी परम्परागत रूढ़िबद्ध विचार-दृष्टियां बदल चुकी हैं। उसके स्थान पर नवीन मान्यताओं एवं विचारों ने जन्म लिया है। धर्म के ठेकेदारों की लूट-खसोट और आडम्बर का मुखौटा उतर चुका है। अब तो मशीनी संस्कृति के विकास के कारण नैतिकता और धर्म के आदर्शों का कोई मूल्य नहीं रह गया है। न्याय-अन्याय और किसी भी कीमत पर लोग अपने स्वार्थ की पूर्ति में लगे हुए हैं। नैतिकता-अनैतिकता से आज मनुष्य भयभीत नहीं होता। स्वर्गवादी दृष्टि को क्योंकि मनुष्य ने भुला दिया है। इसी भूमि पर मनुष्य ने मरना और जीना सीखा और समझा है। इसलिए पाप-पुण्य नाम की चीज दिखाई नहीं देती। मनुष्य कितना नैतिक है और कितना अनैतिक यह उसकी अपनी क्षमता और दृष्टि पर निर्भर करता है। कोई बात यदि दूसरों की दृष्टि में अनैतिक है, तो वह हमारी दृष्टि में नैतिक भी हो सकता है। नैतिकता-अनैतिकता का सवाल व्यक्ति की अपनी दृष्टि और परिस्थितियों पर आधारित है।

मूल्यगत संक्रमण के परिप्रेक्ष्य में व्यक्तिवादी दृष्टि का खासा विकास हुआ है। लगातार युद्धों के बाद उत्पन्न संकट की स्थिति में मनुष्यों में घोर निराशा, कुंठा और निरुपाय की भावना को जन्म दिया है। इससे उसमें अनुभूति शक्ति स्खलित हुई है और उसने अपने आपको आत्मपरीक्षण में संलग्न किया है। उसे समूह और वर्ग से प्रेम न होकर नितान्त अपने से मोह होता गया है। व्यक्तिवादी अंतर्दृष्टि के कारण बौद्धिक जागरूकता की क्षमता बढ़ी है।

---

१ रामस्वरूप चतुर्वेदी : 'हिन्दी साहित्य की अधुनातन प्रवृत्तियां', पृ०४
२ वही, पृ०४

साहित्य के क्षेत्र में भी स्वतन्त्रता के पश्चात् तेजी से बदलाव देखा जा सकता है। "सन् पचास के बाद के साहित्य को देखने से स्पष्ट हो जायगा कि यह साहित्य वैयक्तिक आत्म परीक्षण की भावना से ओतप्रोत था। आत्मपरीक्षण का यह भाव मोहभंग का सूचक होता है। आत्मपरीक्षण की प्रक्रिया सच्चे अर्थों में तभी शुरू होती है,जब व्यक्ति का अपने से भिन्न किसी महत् तत्व, मूल्य या धारणा से विश्वास खत्म हो जाता है।"[1]

स्वतन्त्रता के पश्चात् के साहित्य को देखने से स्पष्ट हो जायगा कि निश्चित रूप से इस समय दो धाराएं चल रही थीं। एक धारा नगरों एवं महानगरों के जीवन को समेटने में व्यस्त थी। दूसरी धारा अछूते अंचलों के प्रति मोहित थी और बड़े विश्वास के साथ सहज और अकृत्रिम जीवन को स्थापित करने के लिए लालायित थी। चाहे नागरी और महानगरी जीवन के चित्रण में हो या आंचलिक जिन्दगी के सम्प्रेषण में,दोनों शिविरों में नये लेखकों ने परम्परा और पिटी-पिटायी पद्धतियों एवं माध्यमों को तोड़ा है। पुराने जर्जर मूल्यों की अपेक्षा नये मूल्यों की पड़ताल की गई है। पुराने जर्जर मूल्यों की अपेक्षा नये मूल्यों की पड़ताल की गई है। स्वतन्त्रता के पश्चात् नागरी और आंचलिक जीवन में जो बदलाव आया, उसकी नाप-जोख और मूल्यांकन नये साहित्यने विभिन्न आयामों में प्रस्तुत किया। जीवनगत परिवर्तन के विभिन्नम मुद्दों का संकेत हम पिछले पृष्ठों में कर आये हैं। सन् ५० के बाद कई सारे नये लेखक उभर कर साहित्य क्षेत्र में आये और कई मुहावरों के साथ सृजन-प्रक्रिया में संलग्न हुए। युवा लेखकों को अपने को स्थापित करने में काफी संघर्ष करना पड़ा है,क्योंकि पुराने लेखक जम कर बैठे थे और युवा पीढ़ी को सामने आने देना नहीं चाहते थे। वे कमर बांध कर अखाड़े में उतर आते थे और किसी के सुनने का उनके यहां अवकाश नहीं होता था। किन्तु

---

१ कल्पना, नवलेखन विशेषांक : अगस्त-सितम्बर १९६६--वर्ष २०,अंक८-९ सम्पादकीय टिप्पणी से उद्धृत डा० शिवप्रसाद सिंह (सम्पादक)।पत्रिका संख्या २१०,पृ०३।

नये लेखकों के प्रवाह ने एक जुट होकर पुराने अखाड़ियों की नकेल घुमाने में जबर्दस्त लोहा लिया।है । उन्हें लेखक होने के साथ साथ आलोचक की भी भूमिका निभानी पड़ी । अधिकतर नये रचनाकारों ने शिविर बनाकर संघर्ष का रास्ता अपनाया । अपनी बात को वे एक समूह में स्वीकृत करा लेते थे और एक समूह के मान लेने पर वह बात लगभग स्वीकार कर ली जाती थी । इस प्रकार इस काल में लेखकों में आपाधापी और आपद्धर्मों की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई । यह बात भी रही है कि बिना शिविर का पल्ला पकड़े स्थापित नहीं हो पाता था और वह मजबूर होकर अनर्थक ही सही, लड़ाई वाली क्रिया में संलग्न हो जाता था ।

मजे की बात यह है कि नये लेखकों का शिविर जो स्थापित हो जाता है, वह भी जमकर वहीं बैठ जाता है और आगे आने वाले दूसरे लेखकों का रास्ता रोककर खड़ा हो जाता है । स्थापित हो जाने के बाद वह समझने लगता है कि साहित्य का विलक्षण सृष्टिकर्ता वही है । जो वह कहेगा, वह पत्थर की लकीर है और सब तो हवा है । पर सत्य यह है कि हर लेखकके यहां कुछ न सार्थक रहता ही है । उसी को ढूढना आलोचक का कर्तव्य है । इसलिए किसी भी लेखक को ठुकराना उसके साथ बेमानी करना होगा । कृति फरवरी-मार्च,५८ की टिप्पणी 'जितने पंडे उतने झंडे' में यह स्वीकार किया गया है कि साहित्य की सृष्टि में उन्मुक्त बड़े आत्मीयता का अभाव है। इसका कारण यही था कि अपने-अपने शिविर के लेखक अपनी-अपनी बात को मनवाने के लिए आतुर रहते थे, चाहे वह महत्वपूर्ण हो या बेकार ।

आलोच्यकालीन मनुष्यों की तरह लेखकों का भी चारित्रिक पतन हो रहा था । नैतिकता और आदर्श के स्थान पर वे धन की कीमत पर बिक रहे थे,जिसके कारण टुच्चे और नकली साहित्य की भी सृष्टि हुई । चारों तरफ घोर निराशा और पराजय के बाद मजबूर होकर रचनाकारों का रुझान आत्मपरीक्षण की ओर जा रहा था । उनके लेखन में बेगानापन, खालीपन,खोखलापन,क्षमानियम और भय का भाव उदित हुआ । डा०शिवप्रसाद

सिंह ने स्वीकार किया है कि --' धुरीहीनता, स्वार्थपरता, दलबन्दी, फिरकापरस्ती, आलोचना का शिविरवाद, आत्मीयता का अभाव और सबसे ऊपर समकालीन स्थितियों के प्रति उदासीनता-- यह सत्यावान के बाद वाले पंचवर्षीय नवलेखन के वातावरण का निर्माण करते हैं, जहां पहुंचकर सच झूठा में और सारा झूठा सच का रूप धारण कर लेता है ।[1]' तो उनका संकेत नये लेखकों के निराशापन और पराजय को स्पष्ट करना था । बहुत से नये लेखक तो स्थापित होने की आतुरता में ही निराश हो जाया करते थे, क्योंकि किसी और उनको शरण नहीं मिल पाती थी । श्रीकान्त वर्मा ने 'अंधा-युग' को इसीलिए आड़े हाथों लिया था, क्योंकि उस समय समीक्षा के क्षेत्र में दलबन्दी का ही बोलबाला था ।

स्वातन्त्र्योत्तर साहित्य युवा पीढ़ी का विक्षोभ कई आन्दोलनों के रूप में दिखाई देता है । 'भूखी-विद्रोही पीढ़ी, अन्ययावाद, अनर्थक अभिव्यक्ति के विभिन्नप्रकार तथा अकहानी और अकविता इन सभी आन्दोलनों के बीच हमारे युग की युवा पीढ़ी का विक्षोभ, आक्रोश और विद्रोह भावमूलक प्रेरक शक्ति के रूप में देखा जा सकता है । पर ऐसा लगता है कि यह विक्षोभ, आक्रोश और विद्रोह का भाव, तथा उसकी दिशा ठीक-ठीक परिभाषित नहीं की जा सकी है, समीक्षा के क्षेत्र में नहीं स्वयं रचना के क्षेत्र में ही ।[2]'

नवलेखन में पाठकीय संकट भी देखा गया है । एक तो नवलेखन के नाम पर बहुत-सी रचनाएं इतनी उलझी और दुरूह हैं कि उन्हें सामान्य पाठक आसानी से नहीं समझ पाता । दूसरे, हिन्दी के पाठक पश्चिम के पाठकों की तुलना में अभी उतने जागरूक नहीं हो पाये हैं ।वस्तुत: 'हिन्दी का पाठक सही रूप में पाठक नहीं है ।साहित्य के प्रति रुझान वैसे ही कम लोगों में पाया जाता है, फिर साहित्य खरीदने की क्षमता का अभाव भी उन्हें साहित्यिक हलचलों से दूर करता जाता है । 'कुछ' पढ़ने के नाम पर वह

---

१ कल्पना : १८२-- नवलेखन विशेषांक, सम्पादकीय टिप्पणी से ।

२ डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी : 'हिन्दी साहित्य की अधुनातन प्रवृत्तियां',पृ०२१

उन्हीं पुस्तकों को पुस्तकालयों से निकलवाता है,जो किसी के द्वारा सुझायी हुई होती हैं,फलत: स्व-विवेक जो पाठकीयता की जरूरी शर्त है, आज के पाठक में नहीं पाई जाती[१]। स्वयं पाठकों ने नवलेखन को सही मायने में समझने की कोशिश नहीं की है। क्योंकि उसका युग-बोध, भावबोध और शिल्पबोध इतना पुराना है कि वह नवलेखन के साथ चल नहीं पाता है। उसके फिसड्डी होने कारण यह भी है कि वह परम्पराओं और रूढ़ियों से इतना जकड़ा हुआ है कि वह हर नये प्रयोग को पुराने नजरिये से देखने का आदी हो रहा है। इसी वजह से वह नवलेखन को समझ नहीं पाता और उसे मखौल के रूप में ले लेता है। इस अगम्यारता के लिए पाठक ही पूरे तौर पर जिम्मेदार है[२]।

इस समय चाटुकार और सरकारी साहित्यकारों का एक भीड़ दिखाई देती है। इन टुच्चे साहित्यकारों स्वातन्त्र्योत्तर साहित्य सर्जन को कुछ मूल्यवान देने के बजाय, एक गन्दे वातावरण की सृष्टि की है। इससे सृजन आसानी से बाधित होता जाता है। आज भी सर्वमान्य साहित्यकार वह है,जिसकी पहुंच प्रदेश के या केन्द्र के सूचना विभागों, शिक्षा संबद्धमंत्रालयों में है। प्रतिष्ठित और सम्माननीय वह है जो विभिन्न सरकारी कमेटियों में सदस्य,अध्यक्ष या मंत्री है। सरकार की हजारों कमेटियां हैं, जिनसे चिपके रहकर ऐसे व्यक्तित्व विकसित हुए हैं जिनका काम साहित्यिक सृजन या साहित्यिक स्तर पर विचारों का तीव्र आन्दोलन नहीं है,वरन् लिखना-पढ़ना छोड़कर केवल उन कमेटियों में शोभा[३] सदस्य की हैसियत से हिन्दी साहित्य और संस्कृति का प्रतिनिधित्व करता है।

आलोच्यकाल में नवलेखन की अपनी कुछ विशेषताएं हैं, जिसके आधार पर हम उसे पुराने लेखन से अलग खड़ा कर सकते हैं। श्रीलक्ष्मीकांत वर्मा ने इन विशेषताओं का संकेत निम्न प्रकार किया है--

----

१ कल्पना, नवलेखन विशेषांक--२,पृ०६३

२ कल्पना,अगस्त,१९६८,पृ०६२-६३।

३ कल्पना,जनवरी-फरवरी,१९६७।१८२,पृ०१४

(१) वैयक्तिक स्वातन्त्र्य और कलात्मक सृजनशीलता के साथ मानव-मूल्यों की प्रतिष्ठा ।

(२) राजाश्रय से मुक्त लेखक का व्यक्तित्व ।

(३) महामानवों की खोखली और बिकाऊ प्रवृत्ति के विरुद्ध लघुमानव की विवेकपूर्ण दृढ़ता ।

(४) कम्युनिस्ट विचारधारा से प्रभावित कृत्रिम-साहित्य सृजनशीलता के विरुद्ध सौन्दर्यपरक (एस्थेटिक) कलासृजन की सार्थकता ।

(५) इतिहास के दुराग्रह और परम्परा की रूढ़ियों से मुक्त आधुनिकता की मांग जिसमें अद्वितीय क्षणों की अनुभूति और विवेक का समर्थन कोरी भावुकता और इल्हामी नपुंसकता की निंदा[१] ।

इस प्रकार स्वातन्त्र्योत्तर सांस्कृतिक और साहित्यिक परिवेश का हिन्दी उपन्यासों पर अप्रत्यक्ष प्रभाव देखा जा सकता है,क्योंकि इसी साहित्यिक वातावरण में ही तो सर्जक कलाकार जीता है और अपने रचनाकार्य में वह जाने-अनजाने इससे प्रभावित हो जाता है ।

-0-

---

१ कल्पना, जनवरी-फरवरी,१९६७--१८२, पृ० ६ १३ ।

तृतीय अध्याय

-0-

शिल्प-विधान का वर्गीकरण

एवं

स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यासों का शिल्पगत मूल्यांकन

शिल्प विधान का वर्गीकरण

उपन्यास-गृह में एक नहीं, बल्कि लाखों खिड़कियां अथवा झरोखे होते हैं[1]। इन झरोखों के निर्माण में प्रत्येक कथाकार अपनी पृथक्-पृथक् और निजी युक्तियों को सम्प्रयुक्त करता है। अर्थात् उपन्यास की सृजन-प्रक्रिया इतनी निजी है कि हर लेखक के लिए बिल्कुल अलग और किन्हीं अर्थों में रहस्य भी रह सकती है[2]। औपन्यासिक दुनियां में जितने उपन्यासकार सर्जक हैं, उतनी ही सृजन की युक्तियां या शिल्पविधान हैं, और ये परस्पर पृथक् अपने-आप में विशिष्ट हैं। इस प्रकार उपन्यास की अनेकों शिल्प विधियां सम्भव हैं या जितने उपन्यासकार हैं, उतनी शिल्प-विधियों सम्भव हो सकती हैं। यदि विभिन्न शिल्प विधियों के प्रकार

---

१ Shapario, Charles / Twelve Original essays on great English Novels / P. 7

२ रणवीर रांगा : 'साहित्य साधना और संघर्ष', पृ०(६०)

गिनाये जायं या उनका वर्गीकरण किया जाय तो बड़ी कठिनाई उत्पन्न हो जाती है, क्योंकि किसी भी उपन्यास को एक प्रकार के अंतर्गत समाहित नहीं किया जा सकता, वह कई प्रकार की युक्तियों से बना हो सकता है[१]। यह अवश्य है कि उसमें एक प्रकार की युक्ति या प्रवृत्ति की प्रधानता हो सकती है, लेकिन अन्य युक्तियां भी उसमें किसी न किसी रूप में प्रयुक्त रहती हैं। अस्तु, किसी भी कृति को शुद्ध रूप से किसी एक विशिष्ट प्रकार की युक्ति का उपन्यास नहीं कहा जा सकता, उसका वर्गीकरण प्रवृत्ति या युक्ति की प्रधानता के आधार पर ही किया जाना युक्तियुक्त प्रतीत होता है। वस्तुत: औपन्यासिक क्षेत्र में वर्गीकरण पूर्ण तथा वैज्ञानिक नहीं हो सकते, फिर भी विश्लेषण ध्येय की सिद्धि के लिए वर्गीकरण के जोखिम को स्वीकारना पड़ता है। स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास सम्बन्धी शोध-प्रबन्धों में अभी तक इस प्रकार के कई वर्गीकरण प्रस्तुत किए गए हैं, किन्तु उनकी पूर्णता तथा मान्यता विवादास्पद है। डा० सत्यपाल चुघ ने उपन्यास के तत्वों की प्रधानता के आधार पर वर्गीकरण इस प्रकार किया है --

(क) कथानक प्रधान, (ख) अंतरंग चरित्र प्रधान, (ग) बहिरंग चरित्रप्रधान,
(घ) देश प्रधान, (ङ०) देश-काल प्रधान, (च) उद्देश्यप्रधान
(छ) शिल्प प्रधान।

डा० चुघ के शोध-प्रबन्ध प्रकाशित हो जाने के पश्चात् कई ऐसे नवीन उपन्यास प्रकाशित हुए हैं, जो अपने नव्य शिल्प के कारण उनके वर्गीकरण में अट नहीं पाते। उद्देश्य प्रधान का प्रकार तो भ्रामक कहा जा सकता है, क्योंकि प्रत्येक कृति की रचना-प्रक्रिया में सर्जक का कोई-न-कोई उद्देश्य होता ही है और उसे प्रधान रूप से अपनी दृष्टि में रखता है और इस प्रकार सभी उपन्यास उद्देश्यप्रधान हो जायेंगे। डा० प्रेम भटनागर ने एक भिन्न प्रकार से वर्गीकरण इस प्रकार प्रस्तुत किया है --

(क) वर्णनात्मक शिल्प-विधि, (ख) विश्लेषणात्मक शिल्प-विधि,
(ग) प्रतीकात्मक शिल्प-विधि, (घ) नाटकीय शिल्प-विधि,
(ङ०) समन्वित शिल्प-विधि।

---

१ Muir, Edwin / The structure of the Novel / P. 62.

लेकिन इस वर्गीकरण को भी पूर्ण नहीं कहा जा सकता,क्योंकि इसमें कई एक रचनाओं को जानबूझकर अवैज्ञानिक ढंग से ठूंसने का प्रयत्न हुआ है । उदाहरण के लिए `बूंद और समुद्र`(अमृतलाल नागर) को लेखक ने प्रतीकात्मक शिल्प विधि के अन्तर्गत रखकर विश्लेषण किया है, जब कि शिल्प की दृष्टि से इसका विवेचन वर्णनात्मक शिल्प विधान के अन्तर्गत होना चाहिए था । केवल शीर्षक की प्रतीकात्मकता के आधार पर इसे कैसे प्रतीकात्मक उपन्यास कहा जा सकता है ? इस प्रकार कई अपूर्णता इस वर्गीकरण में देखी जा सकती है । डा० त्रिभुवन सिंह ने अवश्य अपने शोध-प्रबन्ध में उपन्यास की शिल्प-विधियों की विस्तारपूर्वक चर्चा की है । किन्तु अधिक विस्तृत प्रकारों की चर्चा के कारण उनका वर्गीकरण भी उलझ गया है । प्रस्तुत ● प्रबन्ध में स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी-उपन्यासों के शिल्प-विधान का वर्गीकरण निम्न प्रकार से प्रस्तुत किया गया है --

(क) वर्णनात्मक शिल्प विधान, (ख) मनोविश्लेषणात्मक शिल्प विधान,
(ग) आंचलिक शिल्प विधान, (घ) ऐतिहासिक शिल्प विधान,
(ङ०)व्यंग्यात्मक शिल्प विधान, (च) प्रयोगात्मक शिल्प विधान ।

उपन्यास की शिल्प-विधि या शिल्प विधान का सम्बन्ध उसके आंतरिक सृजन से है । अत: प्रबन्ध-लेखक के वर्गीकरण का आधार रचना में प्रयुक्त प्रवृत्तियों अथवा युक्तियों की प्रधानता है, अर्थात् किसी कृति के निर्माण में अथवा उसके केन्द्र में किस युक्ति या प्रवृत्ति को सशक्त रूप से प्रस्तुत किया है । उसी आधार पर भेदक रेखाएं खींची गई हैं । रचना में लेखक ने जिन अन्य युक्तियों से काम लिया है, उसका भी लेखक ने यथावसर उल्लेख करने का प्रयास किया है । उदाहरणार्थ,वर्णनात्मक शिल्प-विधान का उपन्यास `बूंद और समुद्र`अथवा `अंधेरे बन्द कमरे` की सृजन-प्रक्रिया में वर्णन की प्रवृत्ति या युक्ति अधिक सशक्त (Dominating) है,किन्तु उसमें अन्य तरह की युक्तियों का भी उपयोग हुआ है । उन स्थितियों की ओर भी लेखक ने पर्याप्त संकेत किया है । यहां यह निर्देश कर देना आवश्यक है कि यह वर्गीकरण या भेदों की सीमा-रेखाएं एकान्त स्थिर अथवा सर्वथा सुदृढ़ नहीं हैं । काल के अनुरूप नये उपन्यासों के के आगमन पर इसमें पर्याप्त परिवर्तन हो सकता है । यहां केवल हम इतना कह सकते हैं कि

प्रस्तुत वर्गीकरण अब तक उपन्यासों के शिल्प-विधान को प्रस्तुत करने में अधिक सार्थक और संगत है ।

(क) वर्णनात्मक शिल्प-विधान

वर्णनात्मक शिल्प-विधान के उपन्यासों में जीवन को विशद रूप से विभिन्न आयामों में विवरणपूर्ण या वर्णनात्मक ढंग पर बढ़ा-चढ़ाकर प्रस्तुत किया जाता है । इस विधि को अपनाने वाले लेखकों के पास पूर्ण स्वतन्त्रता तथा छूट रहती है । वह जीवन के किसी भी क्षेत्र से कथानक का वृहद् निर्माण कर सकता है । वह जीवन की एक या एक से अधिक समस्याओं को एक साथ प्रस्तुत कर उसकी व्याख्या और आलोचना कर सकता है । विस्तृत कथानक चयन के कारण पात्र भी अधिक संख्या में उपयोग किये जाते हैं । उसे कितने भी पात्र चुनने की छूट रहती है, ये पात्र समाज के विभिन्न क्षेत्रों और स्थितियों से चुने जाते हैं । वर्गीय पात्रों का भी चयन यहां किया जा सकता है । वह लम्बे-लम्बे भाषण, आदर्शों की प्रस्तुति और समस्याओं के निदान के लिए कोई भी उपाय दे सकता है। इसलिए यहां लेखक का जीवन-दर्शन और आस्थाओं-आदर्शों का सहज ही निरूपण हो जाता है । भाषा स्पष्ट और इतिवृत्तात्मक होती है । समस्याओं की अभिव्यक्ति के साथ-साथ समकालीन वातावरण और परिवेश का चित्रण कभी सघन और कभी संकेतात्मक ढंग पर प्रस्तुत किया जाता है । वातावरण को उकेरने के लिए वह किसी भी वस्तु का कितना भी लम्बा विवरण दे सकता है । वर्णनात्मक उपन्यासों के तत्वों से हम आवश्यक रूप से तीन कार्यों की उपेक्षा करते हैं -- आनन्द प्रदान करना, अपराधी भावनाओं एवं चिन्ताओं को नकारना या मुक्ति प्रदान करना[१] और मन्तव्य की प्राप्ति एवं सामग्री की सारगर्भिता को स्पष्ट करना ।

१0' Lesser, Simon / Fiction and unconscious / P. 125.

वर्णनात्मक उपन्यासों का कथानक घटना बहुल और इतिवृत्त प्रधान होता है । बहुत सी घटनाओं को एक साथ प्रस्तुत करने के कारण कथाकार कथानक में संगठन क्रम और अन्विति रखने में असफल रहता है । मुख्य कथानक के अतिरिक्त कई संलग्न छोटी-छोटी कथाएं भी चलती हैं, जिन्हें मुख्य कथानक से संपृक्त करने में प्राय: बिखर जाता है । लेखक का उद्देश्य भाववस्तु को सूक्ष्मता अथवा गहराई के साथ प्रस्तुत करना नहीं होता, बल्कि उसे अधिक से अधिक व्यापक परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करता है । अधिक विस्तृत कथा-वर्णन के कारण समाज की विभिन्न समस्याओं का रूपायन अवश्य होता है । यहां भी वह सूक्ष्मता और गहनता के बजाय व्यापकता पर दृष्टि रखता है । इस व्यापक चित्रण में वह समस्याओं को विभिन्न आयामों और कोणों में देखता है । साथ ही उसके समाधान को प्रस्तुत करने के लिए तत्पर रहता है । इसलिए स्वभावत: उसमें आदर्शों-आस्थाओं का मुखौटा लग जाता है । लम्बे-लम्बे भाषण देकर उद्देश्य उजागर करने में कृति की अपनी स्वाभाविकता एवं सचाई खोकर कृत्रिम और बोझिल बना देता है ।

वर्णनात्मक शिल्प-विधान में विस्तृत कथानक की भांति पात्र भी बहुल होते हैं । उनका चयन समाज के विभिन्न क्षेत्रों से किया जाता है । इस विधि में लेखक पात्र का केवल वर्णन या चित्रण भर कर देता है, उनके विश्लेषण करने का जोखिम नहीं उठाता । उनकी आकृति, प्रकृति, वेश-भूषा के बाह्य वर्णन के साथ केवल हल्के-फुल्के अन्तर्द्वन्द्व का चित्रण करता है । सूक्ष्म आन्तरिक विश्लेषण तो विश्लेषणात्मक शिल्प-विधान में ही सम्भव है । जटिल पात्र यहां बहुत कम मिलेंगे, वे स्पष्ट और सपाट रूप में चित्रित किए जाते हैं । इसलिए अधिकतर वे किसी-न-किसी वर्ग-विशेष का प्रतिनिधित्व करते प्रतीत होते हैं । इस शिल्प-विधान में चरित्र-चित्रण की सबसे बड़ी कमजोरी यह होती है कि कुछेक सशक्त पात्रों के चरित्र-चित्रण को छोड़कर अधिकांश प्राय: आरोपित और हल्के होते हैं । अधिकतर छोटे-छोटे पात्रों के समूह सशक्त पात्रों को पूर्ण और सहायक रूप में मुखर करने के लिए प्रस्तुत किये जाते हैं । विश्लेषणात्मक उपन्यास में चरित्र को कई खण्डों और आयामों में प्रस्तुत किया जाता है, जब कि इस विधि में उपन्यासकार

चरित्र को एक अखंडित इकाई के रूप में देखता है । यह भी कहा जा सकता है कि इस विधान के पात्रों का भाग्य लेखक के अधीन होता है, वह जैसा चाहे उन्हें तोड़ मरोड़ सकता है ।

जीवन के व्यापक और बहुआयामी चित्रण के कारण इस विधान के उपन्यासों में वातावरण का विन्यास सघन और विस्तार के साथ किया जाता है । वातावरण विवरणात्मक,सपाट और सीधा चित्रित किया गया है,केवल कहीं-कहीं संकेतों से काम लिया जाता है । अमृतलाल नागर ने `बूंद और समुद्र' में गलियों, मुहल्लों,बाजारों की एक-एक वस्तुओं का विवरणात्मक चित्र प्रस्तुत किया है, जिससे गलियां,मुहल्ले और बाजार अपने यथातथ्य रूप में,आईने की तरह बिम्बित हो उठे हैं । पात्र अपने काल की सामाजिक,राजनीतिक,धार्मिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों में भाग लेते और उसके अनुसार प्रभावित, निर्मित होते दिखाई पड़ते हैं । इसलिए सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक परिवेश को सहज ही यहां स्थान मिल जाता है । लेखक इन परिस्थितियों का विवरण देता चलता है और कभी-कभी उसकी व्याख्या-आलोचना भी करता चलता है । मेला और पर्व, बाजार और गलियां, नदी-नाले, घाट और पंडे , सिनेमा-होटल-रेस्तरां,फिल्मी गाने,रीति रिवाज, जुलूस और पतंबाजी,उत्सव और पिकनिक,चौराहे,सड़कें,चबूतरे यहां तक कि गली में कितनी दुकानें हैं, कमरे में कौन-कौन सी चीजें हैं, दरवाजे और खिड़कियां किस ओर हैं-- आदि सब का विवरण देने तक की छूट इस विधान के उपन्यासकार को रहती है ।

वर्णनात्मक शिल्प-विधान की भाषा और संवाद सीधी सादी और स्पष्ट होती है । इसके प्रयोग में लेखक को पूर्ण स्वतन्त्रता रहती है । लेखक आवश्यकतानुसार हल्के-फुल्के बिम्ब,अन्तर्द्वन्द्व,इतिवृत्त रूप में स्वप्न, स्पष्ट प्रतीक आदि दे सकता है, लेकिन शर्त यह है कि युक्तियां सम्प्रेषण को जटिल न बनावे । वह अपनी समस्त दृष्टि प्राय: इतिवृत्त पर केन्द्रित रखता है । नगर एवं ग्राम्य पात्रों के स्वभाव,प्रकृति एवं रुचि-वैभिन्न्य के अनुरूप भाषा में विविधता रखता है । विभिन्न भाषा-भाषी पात्रों के अनुकूल भाषा में पार्थक्य या विविधता रख सकता है।

हास्य एवं व्यंग्य की भाषा में वह समाज, राजनीति एवं संस्कृति पर प्रहार कर सकता है, लम्बी वक्तृताओं द्वारा आस्थाओं एवं आदर्शों का ढोल पीट सकता है। चरित्र विकास के सन्दर्भ में वह स्मृत्यवलोकन का भी सहारा ले सकता है,लेकिन इसका उपयोग वह वहीं तक कर सकता है कि जिससे पात्र के संस्कार,वातावरण एवं परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में चरित्र का यथार्थ प्रस्तुत किया जा सके। यथावसर गीतों, कविताओं आदि के उद्धरण का भी उपयोग कर सकता है। सारांश में, इस विधान के अन्तर्गत लेखक को सम्पूर्ण स्वतन्त्रता रहती है, इसलिए उसमें बिखराव की ही सम्भावना अधिक देखी गई है।

विशिष्ट उपन्यासों का अध्ययन

१- `जहाज का पंछी` (१९५५)[१]

इलाचन्द्र जोशी का औपन्यासिक शिल्प दो आयामों में विकसित हुआ है। उनकी प्रारम्भिक रचनायें लज्जा,घृणामयी,सन्यासी, पर्दे की रानी, जिप्सी,निर्वासित आदि व्यक्ति के मानसिक संसार का अनुसंधान करती हैं। इन उपन्यासों को प्राय: सभी आलोचकों ने मनोविश्लेषणात्मक या मनोवैज्ञानिक समस्याओं को प्रस्तुत करने वाला कहा है। इनकी भाववस्तु का केन्द्रबिन्दु व्यक्ति होता है,किन्तु परवर्ती रचनाओं--मुक्तिपथ, सुबह के भूले, जहाज का पंछी, ऋतुचक्र में समाज को केन्द्र मानकर उसके विस्तृत फलक पर बिखरी हुई,छटपटाती हुई मानवीयता से साक्षात्कार किया गया है। `जहाज का पंछी` इस बदलती हुई नवीन दृष्टिका उत्कृष्ट साक्ष्य प्रस्तुत करता है। आलोचकों ने जोशी जी के इस शिल्प-परिवर्तन की ओर यत्र-तत्र संकेत किया है। रणवीर रांगा का कथन है-- `मुक्तिपथ` से उनकी उपन्यास-कला ने एक स्वस्थ मोड़ लिया है। यहां से प्रयोग करना शुरू किया है।[२] प्रकाशचन्द्र गुप्त ने भी इस परिवर्तन की ओर ध्यान आकृष्ट

---

१ इलाचन्द्र जोशी : `जहाज का पंछी`--राजकमल प्रकाशन,दिल्ली,प्र०सं०,१९५५।

२ सुषमा प्रियदर्शिनी (सम्पादक) : `हिन्दी उपन्यास`,पृ०१८०।

करने का प्रयत्न किया है, --' ऐतिहासिक दृष्टि से प्रेमचन्द और पन्त का प्रगतिशील साहित्यिक आन्दोलन में प्रवेश जितने महत्व का था, लगभग उतने ही महत्व का 'जहाज का पंछी' का प्रकाशन है।[१]' अत: यह स्पष्ट हो जाता है कि 'जहाज का पंछी' में जोशी का पूर्व परिचित शिल्प देखने को नहीं मिलता। इसका कथ्य और शिल्प दोनों ही नवीन परिवर्तन का सूचना देता है। डा० सत्यपाल चुघ ने इस उपन्यास में उद्देश्य तत्व को प्रधानता देखते हुए इसे उद्देश्य प्रधान रचना स्वीकार किया है।[२] पर वास्तव में उद्देश्य तत्व की प्रधानता के बजाय इसका आकर्षण नवीन कथा-विन्यास में है। कथा की वर्णनात्मकता और उसमें भी नाटकीयता के तेवर सर्वत्र देखा जा सकता है। इसलिए प्रबन्ध-लेखक ने इसे वर्णनात्मक शिल्प-विधान की रचना स्वीकार करने का साहस किया है। डा० शिवनारायण श्रीवास्तव के भी इसी बात की ओर संकेत करते हैं--' इस उपन्यास का प्रमुख आकर्षण उसकी सरस वर्णन-रीति तथा कथानक की मनोरमता है।[३]'

उपन्यास का शीर्षक सांकेतिक और उसके शिल्प को व्यंजित करने की सूचना देता है। वह उपन्यास के कथानक और कथानायक की परिस्थितिगत विवशता को व्यंजित करता है। कथानायक कलकत्ता महानगरी के विशाल फलक पर रोटी की तलाश में इधर उधर भटकता है, किन्तु कहीं उसको सन्तुष्टि नहीं प्राप्त होती है। उपन्यास के आवरणपृष्ठ पर कहा गया है--' जहाज का पंछी एक ऐसे मध्यवर्गीय नवयुवक के परिस्थिति प्रताड़ित जीवन की कहानी है जो कलकत्ता के विषमताजनित सामाजिक घेरे में फंसकर इधर-उधर भटकने को विवश हो जाता है, किन्तु उसकी बौद्धिक चेतना उसे रह रहकर नित नूतन पथ को अपनाने को प्रेरित करती है। ऐसा कौन-सा काम है, जो उसने अपने अंतस् की संतुष्टि के लिए न

---

१ आलोचना, २८, पृ०६१

२ सत्यपाल चुघ : 'प्रेमचंदोत्तर उपन्यासों की शिल्प-विधि', पृ०४७४

३ शिवनारायण श्रीवास्तव : 'हिन्दी उपन्यास', पृ०३०६ ।

अपनाया हो । जीवन की उदात्तता का पक्षपाती होते हुए भी वह जहाज के पंछी के समान इत-उत भटककर फिर अपने उसी उद्दिष्ट पथ का राही बन जाता है, जिसे अपनाने की साध वह अपने अंतर्मन में संजोये हुए था ।[1] इस प्रकार उपन्यास का शीर्षक सांकेतिक,सुनियोजित और उद्देश्यपूर्ण है । कथानायक के स्वभाव,उसका परिस्थितिजन्य संघर्ष तथा कथा के द्रुत परिवर्तन एवं मोड़ की पूर्व सूचनाएं वह अपने शीर्षक से दे देता है ।

उपन्यास के कथानक में घटनाओं की भरमार तथा उसके जल्दी जल्दी बदलने की प्रवृत्ति सर्वत्र पाई जाती है । कथाकार जैसे सामाजिक विद्रूपताओं तथा तज्जन्य परिस्थितियों में तड़पती हुई मानवीय आत्माओं का द्रष्टा तथा भोक्ता दोनों हो । यद्यपि लेखक ने एक से एक परिस्थितियों का ताना-बाना बुनकर तथा कल्पना का मिश्रण करके पर्याप्त आकर्षक एवं रुचि बनाये रखने का प्रयत्न किया है । तथापि घटनाएं इतनी अधिक हैं कि उनका समुचित नियोजन नहीं हो पाता है । कला की दृष्टि से कथानक में कहीं भी कसाव नहीं देखा जा सकता । कई स्थलों पर कथानायक तथा अन्य पात्रों के भावनागत संवेगों और भाषणों के रूपायन के कारण भी कथानक बिखर गया है और पाठकों के लिए उबाऊ भी । यहां लगता है कि लेखक कथा नहीं कह रहा है । रणवीर रांग्रा हमारी बात इस प्रकार से व्यक्त करते हैं --`....... कहीं का ईंट कहीं का रोड़ा जोड़कर उपन्यासकार ने असंख्य पात्रों के इतिवृत्तों(केस हिस्ट्री) के सहारे उपन्यास भर में इतनी घटाएं बिखेर दी हैं कि पाठक बेचारा चकरा जाता है । प्रत्येक घटना और व्यक्त पात्र की प्रतिक्रिया के आरम्भ,विकास और निष्पत्ति में इतना साम्य है, निष्कर्षों की इतनी भरमार है कि पाठक बहुधा ऊब जाता है ।`[2]

कथानक की गति और विकास कथानायक पर पड़ने वाली परिस्थितियों और उनके वर्णन-विस्तार के बीच होता है । नायक विवश होकर जीवन की परिस्थितियों के मार के कारण कलकत्ता महानगरी के नरक में, गन्दगी

----

१ उपन्यास के आवरण पृष्ठ से

२ सुषमा प्रियदर्शिनी : `हिन्दी उपन्यास`,पृ०१८१

को भी गन्दा करने वाली धूरे में, सभ्य संसार के फैशन का रंगीना आवरण के भीतर मानव जगत के मर्म में छिपे हुए कोढ़ केन्द्र में[1] अर्थात् एक गला में शरण लेता है। भोजन अथवा पेट की तलाश में नायक के भटकने और सिर छिपाने की जगह ढूढने में कथानक का सारा सूत्र विभिन्न परिस्थितियों के बीच परिवर्तित और विकसित होता है। आद्यन्त वर्णनात्मक विवरणों और घटनाओं को बार-बार नवीन स्थिति में साक्षात्कृत होता हुआ देखा जा सकता है। कालेज स्क्वायर के बेंच पर बैठे हुए समवयस्क लड़के का बटुआ गिर जाने पर नायक उसे उठाकर देता है। लेकिन गिरहकट समझकर वे उसे पुलिस के हवाले कर देते हैं। पुलिस वाला एक धक्का देकर उसे छोड़ देता है[2]। और वह बेहोश हो जाता है। चेतना आने पर वह अपने-आपको एक अस्पताल में पाता है। यहाँ उसे कुछ समय के लिए ही सही निवास और पेट की समस्या का निदान मिल जाता है और जिस दिन उसे यह ज्ञात होता है कि उसे अस्पताल से छुट्टी मिलनी है, 'पेट दर्द' का विवशताजन्य अभिनय करता है। लेकिन अभिनय का आवरण फाश हो जाने पर उसे बलात् बाहर कर दिया जाता है। कथानक का विवरणात्मक विस्तार नाटकीय मुद्राओं के बीच गति और विकास पाता है। डाक्टर द्वारा दिए गए दस रुपये में से वह एक पुस्तक 'कानफेशन्स आफ ए ठग' खरीदता है, जो बाद में चलकर नाटकीयता का आधार बनती है। फटेहाल और निराश्रित नायक नौकरी की तलाश में अनेक स्थानों पर असफल होता है। स्थानीय एम०एल०ए० खगेन्द्र मोहन भादुड़ी के यहां पेट की क्षुधा शान्त न कर पाने के कारण बेहोश हो जाता है। भटकते हुए वह घाट पर पहुंचता है, जिज्ञासावश एक जहाज में प्रवेशता है और एक प्रेमी युगल को देखकर नाटकीय ढंग से ज्योतिषी का मुद्रा धारण कर लेता है। अनुमान और कल्पना के सहारे उनसे पचास रुपये भी प्राप्त करता है। लेकिन एक केबिन की साज-सज्जा का निरीक्षण करते समय केबिन का मालिक उसे पुलिस के हवाले कर देता है। जेल से छूटने के बाद अप्रत्याशित रूप से उसे एक पहलवान की लड़की को

----

१ 'जहाज का पंछी', पृ०६।

२ वही, पृ०१७

यह
हिन्दी पढ़ाने की नौकरी मिल जाती है । कथानक सूत्र की यह भूमि नायक को एक निराले वातावरण में लाती है । पौष्टिक भोजन पाकर व व्यायाम के द्वारा उसकी ठठरियों में मांस चढ़ जाता है और कुछ समयोपरान्त जब उसके अहं को चोट लगती है तब वहां से अवकाश लेकर एक बार फिर मुक्त संसार में विचरण करता है । कलकत्ता शहर की गलियों,सड़कों में बेकार भटकते हुए इस बार खगेन्द्र मोहन के यहां रसोइये की नौकरी मिलती है, कई महीने के बाद एक साहित्यिक गोष्ठी में अपनी प्रगतिवादी विचारधारा को व्यक्त करने के कारण कम्युनिस्ट करार दिया जाता है और नौकरी से अलग कर दिया जाता है । उपन्यास के अन्त तक एक भावुक स्त्री के यहां मेहमान की भांति रह लेने के बाद फिर अपनी नियति की डोर में बंधा हुआ `फ्री वर्ल्ड` का सहारा लेता है । इस प्रकार उपन्यास के कथानक में घटनाओं का जाल और उनका विचित्र और अप्रत्याशित परिवर्तन, साथ ही व नाटकीय संवेदना की निरन्तर अनुभूति सर्वत्र देखी जा सकती है ।

उपन्यास का कथानक संगठन की दृष्टि से बिखरा हुआ है । डा० देवराज उपाध्याय का कथन है --`(इसमें) भिन्न भिन्न स्वतंत्र जैसी कथाओं का जमघट है । यदि इन्हें पृथक् रूप में भी देखा जाय तो भी कोई विशेष हानि नहीं है । ये घटनायें एक प्रधान नायक के जीवन में ही घटती हैं,अत: इसी सूत्र के सहारे उपन्यास में जाकर बंधी सी ज्ञात होती है ।[१]` धर्मवीर भारती कृत `सूरज का सातवां घोड़ा` भिन्न-भिन्न कहानियां असम्पृक्त या आश्रित होती हुई भी समाज की विद्रूपताओं का व्यापक रूप से चित्रण करती हैं । इसप्रकार भावसूत्र के सहारे वे एक-सी दिखायी देती हैं । कथा नैरेटर माणिक मुल्ला प्रत्येक कहानियों के सूत्र को जोड़ने का प्रयत्न करता है । एक कहानी का अंत दूसरी कहानी के प्रारम्भ और विषयवस्तु की सूचना भी देते हैं । इन युक्तियों से कथानक को बिखरने नहीं दिया गया है,लेकिन `जहाज का पंछी` में कथानक को संगठित करने का कोई भी प्रयत्न दिखाई नहीं देता । इसके अतिरिक्त कथा में कई ऐसे अनावश्यक प्रसंग लाए दिए गए हैं,जिनका उपन्यास में कहीं

----

१ हिन्दी साहित्य कोश ,पृ०१५४ ।

भी सम्बन्ध दृष्टिगोचर नहीं होता और न ही वे स्वाभाविक बन पड़े हैं । घाट पर मुल्ला जी से मिलने का प्रसंग, एक ईसाई महिला का आप बीती सुनाने का प्रसंग, सी०आई०डी० का एकान्त में नायक से पैसा छीनने का प्रसंग आदि अस्वाभाविक प्रतीत होते हैं । लीला के यहां रसोइये की नौकरी पाने के बाद धीरे-धीरे विशेष अतिथि और विचित्र प्रेमी बन जाने की स्थिति भी स्वाभाविक नहीं जान पड़ती । स्थान स्थान पर पात्रों के लम्बे कथन या भाषण भी पाठकीय संवेदना को बाधित करते हैं और कथानक सुनियोजन में बाधा पहुंचाते हैं । लम्बे भाषणों में लेखक के व्यक्तिगत विचारों के प्रक्षेपण की रुचि का आभास मिलता है । कथानायक के भाषणों से इतर पात्र प्रभावित होते हैं । (जैसे, अस्पताल में भाषण देने पर डाक्टर का प्रभावित होना, खगेन्द्र मोहन के यहां गोष्ठी में उपस्थित लोगों का प्रभावित होना) इस युक्ति के द्वारा जैसे लेखक अपने विचारों को पाठकों तक संप्रेषित करना चाहता हो तथा पाठकों को प्रभावित करने के लिए विवश करना चाहता हो । लेकिन पाठक प्रभावित होने के बजाय ऊब का अनुभव अधिक करते हैं, क्योंकि ये कृत्रिमता ही प्रकट करते हैं । एक उदाहरण पर्याप्त होगा --' .... पर ऊपर से सफेद दिखाई देने वाली तुम लोगों की करतूतों के भीतर जो सड़न पैदा हो गई है, उसे कब तक छिपाये रख सकोगे ? संगमरमरी या संगमरमरनुमा पत्थरों से चमकती हुई इस आलीशान इमारत के भीतर पीड़ित मानवता की सेवा का जो नाटक तुम लोग रचाए हुए हो, उसके भीतर से उठने वाली असहाय और उपेक्षित मानवता की पुकार को लाख चेष्टा करने पर भी अधिक समय तक दबा न सकोगे । उसका एक-एक पत्थर एक दिन बोल उठेगा, एक एक ईंट उसकी ढोंग की कहानी को चिल्ला चिल्लाकर दुहरायेगी । तुम और तुम्हारे ही जैसे स्वाधिकार प्रमत्त दूसरे व्यक्ति मेमने की खाल ओढ़े हुए नर पिशाच हैं --' फ़िल्दी ब्रूटस ', ' इनह्यूमन रैबिज... '[१]।

उपन्यास में आए हुए भावुकतापूर्ण स्थल भी कला की दृष्टि से कथानक को शिथिल करते हैं । एक-दो उदाहरण देखा जा सकता है--

----

१ जहाज का पंछी, पृ०४४-४५

(१) मैं देख रहा था कि उसके कपाल पर - सिर के नीचे से लेकर भौंहों तक--
झुर्रियों का घना और काली रेखाएं धीरे-धीरे उभर उठी थीं । प्रारम्भ में
उन रेखाओं के केवल क्षीण और अस्पष्ट चिन्ह मुझे दिखाई दिये थे । मैंने
इस बात का तनिक भी प्रत्याशा नहीं की थी कि अपने पड़ोसी से साधारण
परिचयात्मक प्रश्न करने पर उस तरह आतंक उत्पन्न करने वाली और मर्म-
व्यथा जगाने वाली हौलनाक घटना की स्मृति उभर उठेगी ।[१]

(२) जाओ, पर कभी कोई मुसीबत आये तब अपने इस बूढ़े बाबा को न भूलना ।
सीधे यहां चले आना । जाओ, तुम्हारी जिन्दगी के ऊबड़-खाबड़ और बीहड़
रास्ते में कांटों के साथ ही फूल भी खिलते रहें, यही दुआ यह बुड्ढा तुम्हें
दे सकता है । जाओ, खुदा हाफिज । कहकर उन्होंने एकबार कसकर मुझे
छाती से लगाया । उनकी दोनों आंखों के झरने अविराम बह रहे थे और
दाढ़ी भीगती चली जा रही थी ।[२]

उपन्यास के ये भावुकतापूर्ण स्थल संवेदना उत्पन्न तो करते हैं, लेकिन फिल्म के भावुक दृश्यों से अधिक अर्थवत्ता नहीं रखते ।

जोशी जी ने `जहाज का पंछी` के कथानक में पूर्ववृत्तों और अन्तर्द्वन्द्वों का भी उपयोग किया है । ये पूर्ववृत्त कथानायक से सीधे सम्पृक्त न होकर अन्य इतर पात्रों से सम्बद्ध हैं । ये अपने अपने पूर्ववृत्त नायक को सुनाकर पाठकों के सामने प्रकट करते हैं । इस युक्ति के द्वारा लेखक ने कथानक के सूत्र में अन्विति लाने का प्रयास किया है, लेकिन वे ठीक से जुड़ते हुए प्रतीत नहीं होते । करीम बाबा का पूर्ववृत्त, प्यारे धोबी का पूर्ववृत्त , वेश्याघर की वेश्याओं का पूर्ववृत्त मुख्यकथा से असम्पृक्त से लगते हैं ।

`जहाज का पंछी` का कथानायक व्यापक रूप से फैली हुई समाज की बहुविध विकृतियों के अन्दर भोगे हुए अनुभव को सम्प्रेषित करता है । इन अनुभवों को संजोने के लिए लेखक ने एक शिक्षित संवेदनशील किन्तु निराश्रित निर्धन युवक नायक को उसकी आवास-आजीविका की खोज के लिए भटकाने--

---

१ `जहाज का पंछी`, पृ० २७

२ वही, पृ० १६२

फलतः विभिन्न प्रकार की विकट विकृत जीवन स्थितियों के क्रूर यथार्थ के सम्पर्क में लाने तज्जनित कटु अनुभवों के अर्जन, उसकी जागरूक प्रतिक्रियाओं के अभिव्यंजन तथा उसके द्वारा प्रभावित पात्रों की चेतना को प्रत्यक्षतः या परोक्षतः आंदोलित करने से हुई है[१]। इसे 'फ्री वर्ल्ड' में विचरण करने वाले निर्द्वन्द्व कथानायक का अनुभव गाथा कहा जा सकता है। वह आवास और रोटी की तलाश में कलकत्ता महानगरी का भ्रमण करता है। और एक आश्रय को छोड़कर दूसरे आश्रय की तलाश में मुक्त रूप से भटकता फिरता है। किन्तु कभी भी उसे सन्तोष नहीं मिलता। जहां कहीं भी उसके अंतर को पीड़ा पहुंची है, वह उस स्थान को छोड़ने के लिए विवश हो गया है। अपनी प्रवृत्ति के अनुरूप उसे कहीं भी उचित साथ नहीं मिल पाता। कथानक में नायक ने दो प्रकार से अनुभव एकत्र किए हैं-- (क) एक तो स्वयं भोगकर (ख) दूसरे, विभिन्न पात्रों के मुख से उनके पूर्ववृत्तों को सुनकर। प्रथम रूप में, उसके अनुभव अधिकतर आज की विकट सामाजिक विद्रूपताओं से सम्बन्धित हैं। पुलिस के हथकंडे, सी०आई०डी० के शर्मनाक अत्याचार, क्रूर परिस्थितियों में पड़े हुए बेकार नवयुवक को गिरहकट समझना, राजनीतिक देवता के पुतले के रूप में खगेन्द्र मोहन भादुड़ी का रूखा एवं कटु व्यवहार अस्पताल का विकृत रूप, सामाजिक संवेदनशीलता का ह्रास इस रूप के प्रमुख अनुभव कहे जा सकते हैं। इन परिस्थितियों में नायक की विद्रोहपूर्ण भावनाएं फुंकार मारने लगती हैं और वह अप्रत्याशित रूप से कभी पुलिस, कभी डाक्टर, कभी जज इत्यादि के सामने अपने भाषणों को थोपता है। दूसरे रूप में, नायक को कई पात्र अपने जीवन गाथा के पूर्ववृत्त सुनाते हैं, जिससे तत्कालीन सामाजिक-सांस्कृतिक विकृतियां उजागर होती हैं। ये विकृतियां समाज की क्रूर विडम्बनाओं के कारण निर्मित हुई हैं। कई पात्र इन सामाजिक विषमताओं तथा आर्थिक परिस्थितियों के कारण ग्रन्थियों के शिकार भी हो गए हैं।

----

१ सत्यपाल चुघ : 'प्रेमचंदोत्तर उपन्यासों की शिल्प-विधि', पृ०७४-७५।

इस प्रकार व्यापक रूप से सामाजिक विद्रूपता को उजागर करने के लिएउपन्यासकार ने अनेकानेक अनुभवों का प्रक्षेपण किया है और इस बीच समाज के बहु-विध पात्रउपन्यास के कैनवस में उभर कर आये हैं । साहित्यकार,राजनेता, सुधारक, डाक्टर,पुलिस, धोबी,नारी विद्यार्थी,कैदी भिखारी,नर्तकियां अथवा वेश्याएं गुण्डे एवं मानसिक रोगी आदि विविध पात्र समाज की बहुआयामी परिस्थितियों से साक्षात्कार करते हैं । इस सम्बन्ध में डा० सत्यपाल चुघ का कथन सही प्रतीत होता है --`....... अतएव ऐसी स्थिति में यदि यह कहा जाये कि वह (नायक) ऊपर से बेकारी का लेबल लगाकर मानो भेष बदलकर लोगों की दशा जानने के लिए या दुखड़े सुनने की मजबूरी से घूम रहा है तो इसमें कोई अत्युक्ति नहीं होगी[1] ।` लेखक नायक को समाज की व्यापक समस्याओं को दिखाने के लिए ही इधर-उधर भटका रहा है,क्योंकि उसे आश्रय और रोटी की अगर चिन्ता होती तो बार-बार वह क्यों आश्रय को छोड़ने के लिए विवश होता । करीम चाचा के यहां सभी सुविधाएं होने पर भी वह वहां से चले जाने तथा लीला के यहां सम्पूर्ण सुविधाओं को भोगते हुए भी बिना बताये चले जाने की स्थिति-- यह सिद्ध करती है कि वह समाज के भिन्न-भिन्न अनुभव प्राप्त करने के लिए ही भटक रहा है । रोटी और आवास के लिए भटकना तो उसका मात्र एक बहाना है ।

उपन्यास का चरित्र-चित्रण भी कथानक की भांति शिथिल है । पात्रों की इतनी अधिक भरमार है कि लेखक प्रत्येक पात्रों के चरित्रांकन में सजग नहीं रह पाता । केवल गिने-चुने पात्र हैं,जिनका चरित्र आकर्षक बन सका है । करीम चाचा, लीला, बेला और स्वयं नायक के चरित्र को आकर्षक एवं सशक्त कहा जा सकता है । विभिन्न पात्रों के चरित्र-चित्रण में वर्णनात्मकता और वस्तुपरकता का आश्रय लिया गया है । अंतरंग और बहिरंग चित्रांकन पद्धति दोनों का ही उपयोग हुआ है । पात्रों की अधिकता के कारण स्वाभाविक रूप से चरित्र की विविधता का व्यापन हुआ है । लेखक का लक्ष्य पात्रों के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण पर नहीं,बल्कि समाज की बाह्य विषमता को एवं विकृतियों का

---

१ सत्यपाल चुघ : `प्रेमचंदोत्तर हिन्दी उपन्यासों की शिल्प-विधि`,पृ०३१२

दिग्दर्शन कराना है । लेकिन समाज के सूक्ष्म पर्यवेक्षण करने के कारण पात्रांकन को मनोवैज्ञानिक पद्धति का यत्किंचित सहारा ले लिया ~~गया~~ गया है । बहुविध पात्र अपने चरित्रांकन के द्वारा नायक का चरित्र-प्रकाशन नहीं करते, बल्कि समाज के अंग होकर एक-एक समस्याओं के प्रतिनिधि बनते हैं । ऐसा लगता है कि जैसे एक-एक करके प्रत्येक पात्र उपन्यास के रंगमंच पर आते हैं और अभिनय दिखा कर विलुप्त हो जाते हैं ।

(नामहीन) कथानायक पूरे उपन्यास में छाया हुआ है । किन्तु फिर भी वह एक स्थिर पात्र है । उसमें गतिशीलता कहीं भी नहीं दिखाई देती । एक परिस्थिति में अपने स्वभाव से अपने व्यक्तित्व से जब जब उसका मेल नहीं बैठता, जब उसका अंतरंग घुटने लगता है तो दूसरा अनुभव प्राप्त करने के लिए 'फ्रीवर्ल्ड' में विचरण करने लगता है । इसप्रकार उसका चरित्र-विकास नहीं होता बल्कि चरित्रोद्घाटन होता हुआ दृष्टिगोचर होता है । उसमें दृढ़ता, मस्तीपन, एकदम रिक्त होने पर भी आत्मतुष्टि, अनुभूतिशीलता तथा समाज को बदल डालने की जिजीविषा प्रारम्भ से ही मिलती है । इसी व्यक्तित्व के आधार पर वह किसी के सामने झुकता नहीं । उसके चरित्रांकन में अस्वाभाविकता भी देखी जा सकती है । दमित वासना की शिकार बेला के ~~आ~~ आत्मसमर्पण को तथा प्रबल कामेच्छा से प्रेरित लीला के निश्छल प्यार को वह स्वीकार नहीं कर पाता, उन्हें ठुकराकर वह आगे बढ़ जाता है । मनुष्य की जन्मजात प्रवृत्ति 'सेक्स' के प्रति जैसे उसका मोह हो न हो । यह औपन्यासिक चरित्र को स्वाभाविक बनाने के बजाय कृत्रिम कर देता है । लगता है नायक अपनी ओर से कुछ नहीं करता बल्कि समाज के विभिन्न पात्रों से साक्षात्कार कर उनके चरित्रों का उद्घाटन करता है । वह विभिन्न पात्रों के साथ दिन बिताकर उनके चरित्र के तेवर को प्रकाशित करने में सहायक है । कहीं-कहीं वह अन्य इतर पात्रों से प्रभावित होता हुआ भी देखा जा सकता है । करीम चाचा, स्वामी जी तथा मजीद के प्रसंग में यह बातें देखी जा सकती हैं । करीम चाचा का चरित्र आकर्षक है । उनके चरित्र का प्रकाशन दिए गए पूर्व वृत्त से होता है ।

यौवन के दिनों में वे एक वेश्या से प्रेम करते थे लेकिन आर्थिक विवशताओं के कारण उससे विवाह नहीं कर पाये और जीवन भर उसी वेश्या रामकली के नाम पर कुंआरे रह जाते हैं। क्रूर सामाजिक विद्रूपताओं के संघातों का अनुभव किए हुए उनमें चारित्रिक दृढ़ता और सजावलासर्वत्र दिखाई देती है।

बेला का चरित्र प्रभावशाली तथा स्वाभाविक है। स्वच्छन्द प्रकृति की होने के कारण वह संस्कार जनित युवक से विवाह हो जाने पर वैवाहिक सम्बन्ध मानने से इनकार कर देती है और पुन: किसी अन्य जगह विवाह न होने पर कामग्रंथि का शिकार हो जाती है। नायक से सम्पर्क होने पर उसके प्रति आकर्षित होना उसके चरित्र का स्वाभाविक आयाम है। लेकिन नायक उसके समर्पण को स्वीकार नहीं कर सका है। यहां ऐसा लगता है कि नायक लेखक की कठपुतली बनकर रह गया है। लीला एक आभिजात्य महिला होने पर भी रूप के अनाकर्षण के कारण कुंठित रहती है। नायक से सम्पर्क होने पर वह निश्छल समर्पण देती है और यहां भी लेखक का उद्देश्य व्यापक रूप से हावी रहता है। इसीलिए लीला का चरित्र व्यापक नहीं हो पाता। उसके अतिरिक्त जुलेखा, सुजाता, आदि वेश्याओं का चरित्र विकास बहुत सीमित मात्रा में अवकाश पा सका है। खगेन्द्र मोहन भादुड़ी का चरित्रांकन व्यंग्यात्मक है। ये तथाकथित उच्च वर्ग के खोखलेपन एवं संवेदन-हीनता को चरितार्थ करते हैं। समाज के ठेकेदार किस प्रकार शोषण करते हैं -- ये उसी के उदाहरण हैं।

उपन्यास में जोशी जी ने यद्यपि 'सन्यासी' और 'प्रेत और छाया' की भांति पात्रों का मनोविश्लेषण प्रस्तुत नहीं किया है, तथापि लेखक की प्रकृति के अनुरूप यत्र-तत्र चरित्र-विश्लेषण की मनोवैज्ञानिक पद्धतियों का भी उपयोग हुआ है। नायक के अन्तर्द्वन्द्व उपन्यास में कई स्थल पर आये हैं। प्रतिपल के ज्वलंत यथार्थ के सम्पर्क में आने पर, पग-पग में घोर कष्ट और कठोर परिस्थितियों के बीच में पटके जाने पर उसके अंतर में एक विद्रोह की भावना जागृत होती है और उसका अन्तर्द्वन्द्व उजागर होने लगता है। बेला और लीला के सम्पर्क में उसका अन्तर्द्वन्द्व अन्तर की पीड़ा के कारण

दिखाई देता है । अस्पताल के पलंग पर पड़े हुए उसके अन्तर्मन का उदाहरण द्रष्टव्य है, "जो भी हो, मैं कहना चाहता हूं कि मेरे भीतर के वे अग्निकण जो विकट से विकट परिस्थितियों में भी पूर्णतया नहीं बुझ पाये थे, अस्पताल में न जाने किस रहस्यमय पंखे की हवा लगने से और अधिक सुलग उठे और मेरे अधमरे अंतर को नये जीवन की गर्मी और नया प्रकाश देने लगे । मैं मानता हूं कि मेरे मन का रुख इस तरह आमूल बदलने और मेरे भीतर नये जीवन और नयी आशाओं की सतरंगी किरणों के सहसा इस तरह आ जाने के लिए रोग-शोक-पीड़ा और कराह से भरा अस्पताली वातावरण किसी भी हालत में अनुकूल नहीं था ! पर मैं कैसे समझाऊं कि जीवन की इन्हीं विपरीत परिस्थितियों में मेरे भीतर जीवन को नये रूप से जानने-समझने और उसमें रस लेने की प्रवृत्ति जोर मारने लगी ।"[1]

नायक में समाज की कटु परिस्थितियों के झेलने के कारण उसके प्रति विद्रोहजनित कुंठा निर्मित हो जाती है,इसीलिए वह समाज के ठेकेदारों के सामने जब शान बघार कर बाहर निकलता है, उस समय उसकी विद्रोहजनित कुंठा अट्टहास्य का रूप ले लेती है । सेठ जी के यहां आश्रय न मिलने पर विक्षुब्ध होकर व्यंग्य और विद्रोहपूर्ण आचरण करता है, "मैं तनिक भी न घबराकर, 'अच्छा सेठ जी, नमस्ते, जाता हूं ।' कहकर परम प्रेमपूर्वक मुस्कुराता हुआ शान से बाहर चला आया । फटे चप्पल पांवों में डालकर 'कानफेशन्स आफ ए ठग' हाथ में लेकर आत्माभिमान के साथ चलता हुआ जब मैं बाहर सड़क पर पहुंचा तब एक बार फिर हंसी का वह दौर आरम्भ हुआ, जो अस्पताल में मेरी बेइज्जती का कारण बना था। पहले मैं अपने प्रश्न पर सोच-सोच कर मुस्कुराया । फिर, कुछ देर तक दबी हुई हंसी हंसता रहा । अन्त में सेठ जी की क्रुद्ध मूर्ति याद करते हुए मैं बीच सड़क पर सुस्पष्ट अट्टहास कर उठा ।"[2] इस प्रकार जहां कहीं भी उसके अहं को चोट पहुंची है, वह अपने अहं की तुष्टि के लिए या तो मुक्त अट्टहास करता है या अपने भाषणों से प्रतिपक्षी को पराजित करने की कोशिश करता है । 'कानफेशन्स आफ ए ठग'

---

१ 'जहाज का पंछी',पृ०१२

२ वही, पृ० ४२-४३

कुरोदते समय उसका अहं स्पष्ट रूप से उभरा हुआ दिखाई देता है[1]। अशिक्षित बेला स्वच्छन्द प्रकृति की होने के कारण गली का सड़ांध भरे वातावरण से पीड़ित होती है। दूसरे, अनमेल विवाह उसको कुंठित बना देता है। वह नायक से कहती है--`साली हवा खाकर रहना पड़े तो भी अच्छा, पर इस गली में, इस मकान में और इस मछ कमरे में अब मैं किसी भी हालत में नहीं रह सकती। यहां की अंधेरी दीवारें मुझे निगल लेना चाहती हैं। यहां की बदबू घुटन पैदा करती है, यहां के आदमी भूत-प्रेत से लगते हैं। भुवेश मुझे ले चलो कहीं भी ले चलो। यहां से मुझे किसी तरह उबारो। बोलो, ले चलोगे[2]।`
लीला के चरित्र-विश्लेषण में लेखक ने कुरूपता की हीनता ग्रन्थि दिखाया है। इसी ग्रन्थि के कारण जब नायक लीला का पुरुषोचित सम्मान करता है तो वह पर्याप्त रूप से नायक के प्रति आकर्षित हो जाती है, यहां तक अपना सम्पूर्ण समर्पण देने को प्रस्तुत हो जाती है। लीला का यह कथन--`केवल रह-रहकर एकमात्र आकांक्षा मुझे धर दबाती है कि आपको अपने आंचल की ओट में छिपाकर आपकी सेवा करती रहूं।` उसकी दमित वासना तथा हीनता ग्रन्थि का सूचक है। रांची के अस्पताल की अधिकांश रोगिणियां या तो दमित काम भाव के कारण या दाम्पत्य जीवन का सुख प्राप्त न होने के कारण मानसिक सन्तुलन खो बैठी हैं और पुरुष रोगी आर्थिक कारणों से विक्षिप्त होने को विवश हुए हैं।

एक स्थान पर कथानायक के स्वप्न में स्वप्न विश्लेषण प्रणाली का उपयोग हुआ है, जिनमें फ्रायड की सेकेण्डरी एलेबोरेशन, वर्क आफ डिस्प्लेसमेंट तथा कण्डेन्सेशन मेकेनिज्म स्वप्न प्रकार की क्रिया देखी जा सकती है। लीला के चरित्र-विश्लेषण[3] में शब्द सहस्मृति परीक्षा `वर्ड एसोसियेट टेस्ट` का भी उपयोग हुआ। जब कथानायक पंत जी की कविता --`जल .... केवल जल..... गंगा यमुना में आंसू जल। मोती के से आंसू।` कहता है, उसे सुनकर

----

१ `जहाज का पंछी`, पृ०३८

२ वही, पृ०२४५

३ वही, पृ०३६३-६५

अचानक लीला के नेत्रों से आंसू ढुलक पड़ते हैं । वह कहता है-- '.....आपने ज्यों ही कहा 'गंगा यमुना में आंसू जल' त्योंही मेरी आंखें गीली हो गईं और बायीं आंख में आंसू उमड़ आये । जब कभी मैं पंत जी की यह गीत जानकर 'गंगा यमुना में आंसू जल' यह पंक्ति सुनती हूं तब जाने क्यों मेरे भीतर से भावों का उच्छ्वास जोरों से उमड़ने लगता है और मेरी आंखों से उसी समय आंसू निकल आते हैं ।'[1] नायक पूरा गीत गाकर उसके हृदय के भाव को व्यक्त कराना चाहता है, आंसू निकाल निकाल कर जैसे इस पद्धति के द्वारा वह उपचार करने का प्रयत्न कर रहा हो । तब तो आज से मैं यही गाना रोज गाऊंगा ।'

उपन्यास में संवादों एवं भाषा का संगठन उसकी विषयवस्तु के अनुकूल निर्मित हुआ है, लेकिन स्थान-स्थान पर लम्बे-लम्बे भाषण तथा संवादों का विस्तृत होनाकला की दृष्टि से स्वस्थ नहीं कहा जा सकता । वह केवल लेखक के विचार-तत्त्व को प्रदर्शित करने में सहायक है । पात्रों के स्वभाव, रुचि एवं संस्कार के अनुरूप संवादों एवं भाषिक रचाव का ताना-बाना बुना गया है । सगेन्द्र मोहन भादुड़ी यथास्थान बंगाली शब्दों एवं उच्चारण का प्रयोग करते हैं, नायक सुसंस्कृत होने के कारण अधिकांश प्रतिष्ठित शब्दावली का प्रयोग करता है, मि० ब्राउन अंग्रेजी संस्कारों एवं स्वभाव के अनुसार अंग्रेजी के वाक्य बोलते हैं । पुलिस वाले अपने वातावरण के अनुकूल गालियों वाली भाषा का प्रयोग करते हैं। बेला,लीला तथा करीम चाचा अपने स्वभावानुसार भावुक एवं संवेदनशील संवाद तथा भाषा का प्रयोग करते हैं । लीला के प्रसंग में हास्यपूर्ण स्थल एवं रंजक प्रसंग हास्य शैली को प्रकट करते हैं । उनके संवादों में दाम्पत्य जीवन की झलक बखूबी देखी जा सकती है । समाज की विकृतियों का चित्रण करते हुए लेखक विद्रोही एवं तीखी भाषा का प्रयोग करता है । कहीं-कहीं काव्यात्मक भाषा भी देखने को मिल जाती है[2] । इस प्रकार इस सम्पूर्ण विवेचन के द्वारा कहा जा सकता है कि

----

१ 'जहाज का पंछी',पृ०३३७

२ वही,पृ० ३३८

'जहाज का पंछी' में पर्याप्त आकर्षण होते हुए भी अनेक त्रुटियों के कारण (जिनका उल्लेख पिछले पृष्ठों में किया जा चुका है) कला और सुगठित शिल्प की दृष्टि से स्वस्थ और पर्याप्त सफल नहीं हो पाया है । लेखक का विचार तत्व ही पूरे उपन्यास में छाया प्रतीत होता है ।

'बूंद और समुद्र' (१९५६)[१]

'बूंद और समुद्र' अमृतलाल नागर का वृहदाकार उपन्यास है जिसमें उन्होंने व्यष्टि और समष्टि के समन्वय का प्रयास किया है । वे स्वयं भूमिका में लिखते हैं-- 'इस उपन्यास में मैंने अपना और आपका-- अपने देश के मध्यवर्गीय नागरिक समाज का गुण-दोष भरा चित्र ज्यों का त्यों आंकने का यथामति, यथासाध्य प्रयत्न किया है, अपने और आपके चरित्रों से ही इन पात्रों को गढ़ा है[२]।' वीरेन्द्रनाथ मिश्र के शब्दों में ' मानव के व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन का सम्पूर्ण सजीव चित्र...... । ऐसी आदर्श लक्ष्य को दृष्टि में रखते हुए प्रस्तुत औपन्यासिक रचना का सृजन भी अमृतलाल नागर द्वारा किया गया है[३]।' डा० सत्यपाल चुघ का कथन है 'यहां बूंद व्यष्टि का प्रतीक है और समुद्र समष्टि का और इन दोनों के समन्वय की चिरन्तन समस्या ही इस उपन्यास का विषय है[४]।' डा० प्रेम भटनागर कहते हैं--' नागर समाज की प्राचीन दकियानूसी विचारणाओं, अन्धविश्वासों के प्रति विद्रोही स्वर उभार कर नये के स्वस्थ सुलकर और प्राचीन के मंगलमय भावों और विचारों का समन्वयात्मक विकास चाहते हैं ।' इस प्रकार प्राय: सभी आलोचकों ने एक स्वर यह स्वीकार किया है कि उपन्यास की मूल समस्या सामाजिक जीवन में व्यष्टि और समष्टि का समन्वय है । किन्तु यदि उपन्यास को

---

१ अमृतलाल नागर : 'बूंद और समुद्र',प्र०सं०,१९५६
२ वही, 'पाठकों से' से उद्धृत
३ वीरेन्द्रनाथ मिश्र : 'आधुनिक साहित्य : विविध परिदृश्य ',पृ०१७४
४ सत्यपाल चुघ : 'प्रेमचंदोत्तर उपन्यासों की शिल्प विधि',पृ०५०१

सूक्ष्म और गहरे रूप में आंका जाय, तो एक तथ्य और उजागर होकर सामने आता है । यह कि, उपन्यास की मूल समस्या सांस्कृतिक है । समाज, व्यष्टि और समष्टि के समन्वय का प्रतिपादन भी सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य में रखकर किया गया है। परम्परा और रूढ़ियों में जकड़े चरित्र और उनके विरोध में आधुनिकता का स्वर, कला, साहित्य और धर्म का चित्रण और विवेचना सामाजिक होते हुए भी सांस्कृतिक है । वस्तुत: सामाजिक समस्याएं भी संस्कृति के अन्तर्गत समाहित हैं ।

डा० सत्यपाल चुघ ने इसमें प्रकारान्तर से व्यापक सामाजिक चित्रण को सोद्देश्य घोषित करते हुए इसे उद्देश्य-प्रधान शिल्प-विधि का उपन्यास स्वीकार किया है[1] । पर वे यह भूल गये हैं कि प्रत्येक क्लासिक उपन्यास में उद्देश्य तत्व की प्रधानता तो होती ही है, किन्तु उद्देश्य शिल्प विधान का कोई महत्वपूर्ण तत्व नहीं है । इस दृष्टि से यदि देखा जाय तो शिल्प विधान की दृष्टि से यह वर्णनात्मक शिल्प-विधि का उपन्यास अधिक स्पष्टता से दीख पड़ता है । कथानक, दृश्य चित्र या फोटोग्रैफिक विन्यास, चरित्र आदि सभी वर्णनात्मक ढंग पर उपस्थित किए गये हैं । कथाकार सीधे सादे वर्णन करता चला जाता है, उसके सम्प्रेषण में किसी प्रकार उलझाव नहीं दिखाई देता । अस्तु, शोधार्थी ने इस उपन्यास को वर्णनात्मक शिल्प विधान के अन्तर्गत रखा है । डा० प्रेम भटनागर[2] ने शीर्षक के आधार पर इसे प्रतीकात्मक उपन्यास स्वीकार किया है । शीर्षक का प्रतीकात्मक होना ही उपन्यास को प्रतीकात्मक शिल्प-विधि की रचना नहीं बना देता । केवल प्रतीकात्मक शीर्षक के आधार पर तो हिन्दी के बहुत से उपन्यास प्रतीकात्मक शिल्प विधान के हो जायेंगे । वस्तुत: उक्त कृति में सपाट और सीधे वर्णन की प्रवृत्ति आद्यन्त देखी जा सकती है, इस आधार पर वर्णनात्मक शिल्प-विधान की ही रचना ठहरती है ।

उपन्यास का शीर्षक प्रतीकात्मक है और अपने कथ्य के अनुरूप प्रतिपाद्यबोधक है । बूंद व्यष्टि का प्रतीक है और समुद्र समष्टि, और इन दोनों

----

१ सत्यपाल चुघ : 'प्रेमचंदोत्तर उपन्यासों की शिल्प-विधि', पृ०५०१

२ प्रेम भटनागर : 'हिन्दी उपन्यास शिल्प विधि : बदलते परिप्रेक्ष्य', पृ०२६४

के समन्वय के द्वारा सांस्कृतिक वातावरण को ग्रहण करने का प्रयास हुआ है । `(लखनऊ का चौक) एक बूंद की तरह है,जिसमें समुद्र की तरह विशाल भारतीय जीवन के दर्शन होते शहर के विभिन्न स्तरों का जीवन कैसा है, इसका पता तो उपन्यास से लगता ही है, गांवों में भी जनता के संस्कार कैसे हैं, इसका परिचय बहुत कुछ मिल जाता है । उपन्यास के नाम की यही सार्थकता है । एक मुहल्ले के चित्र में लेखक ने भारतीय समाज के बहुत से रूपों के दर्शन करा दिये हैं । वैसे तो भारतीय समाज हिन्द महासागर है और उसका चित्रण करने के लिए यह समुद्र भी छोटा है[1] ।`बाबा जी कहते हैं --` हाथ साथे रहो बेटा,मेरो देवा । हर बूंद का महत्व है,क्योंकि वही तो अनंत सागर है, एक बूंद भी व्यर्थ क्यों जाय ? उसका सदुपयोग करो[2] ।` सज्जन उपन्यास के अंत में कहता है --`मनुष्य का आत्मविश्वास जगना चाहिए,उसके जीवन में आस्था जगनी चाहिए । मनुष्य को दूसरे के सुख-दु:ख में अपना सुख-दु:ख मानना चाहिए । विचारों में भेद हो सकता है विचारों के भेद से स्वस्थ द्वन्द्व होता है और उससे उत्तरोत्तर उनका समन्वयात्मक विकास भी । पर शर्त यह है कि सुख-दु:ख में व्यक्ति का व्यक्ति से अटूट सम्बन्ध बना रहे -- जैसे बूंद से बूंद जुड़ी रहती है--लहरों से लहरें । लहरों से समुद्र बनता है-- इस तरह बूंद में समुद्र समाया है[3] ।` भारतीय समाज एक विराट समुद्र है,जिसमें अनगिनत व्यक्तियों एवं वर्गों के सम्मिलित विश्वासों, आस्थाओं एवं दर्दों की अनगिनत बूंदें बिखर पड़ी हैं । कथाकार ने सज्जन,महिपाल, कर्नल, बाबा राम जी, वर्मा, शंकर,ताई,वनकन्या, कल्याणी जैसी महत्वपूर्ण बूंदों का निर्माण करके उन्हें जीवन समुद्र में डुबकी लगाते हुए दिखाया है । राजनीतिक दांवपेंच, छल-छद्म,प्रचार-षड्यन्त्र, सामाजिक रहन-सहन,परम्पराएं एवं रूढ़ियां,वैयक्तिक प्रेम, पारिवारिक द्वेष,मनुष्य की स्वाभाविक अनुभूतियां, धार्मिक विश्वास, सांस्कृतिक चेतना, प्रदर्शिनियां एवं समारोह, कला एवं साहित्य इत्यादि समुद्र की लहरें हैं,जिन्हें प्रत्येक बूंद पकड़ने एवं उसमें डूब जाने का, उससे एकाकार हो जाने का उपक्रम करता है ।

---

१ रामविलास शर्मा : `आस्था और सौन्दर्य`,पृ०१३४

२ `बूंद और समुद्र`,पृ०३८८

३ वही, पृ०६०६

उपन्यास का कथानक संरचना की दृष्टि से शिथिल और बिखरा हुआ है। उसमें शृंखलाबद्ध या संगठित वस्तुविन्यास का प्राय: अभाव है। इसका कारण स्पष्ट है, क्योंकि लेखक का आग्रह कथा कहना नहीं है, वरन् विराट् समुद्र की अनगिनत बूंदों का चित्र प्रस्तुत करना है। और ये बूंदें एक होने का प्रयास करके भी सर्वथा बिखरी हुई हैं। कथाकार उपन्यास की कहानी को लखनऊ के चौक की एक गली से उठाता है और चौक क्षेत्र के इन्हीं गली-मुहल्लों में केन्द्रित करने का प्रयास करता है। इन मुहल्लों से इतर पात्रों को भी किसी प्रकार इनसे जोड़ने की कोशिश की गई है, लेकिन इस प्रयास में वे सफल नहीं हो पाये हैं। डा० रघुवंश के शब्दों में --"अन्य परिस्थितियाँ और पात्र भी किसी न किसी रूप में इस गली-मुहल्ले के जीवन से जुड़ते हैं। इनसे लखनऊ के नागरिक जीवन का कोई व्यापक स्वरूप सामने नहीं उभरता, कर्नल की दुकान, सिनेमाघर, हजरतगंज का रास्ता, सज्जन की कोठी, शीला का बंगला, नागाराम का आश्रम राजा साहब की गोविन्दकुटी का जलसा, कपूर तथा रॉयल होटल, व और गोमती नदी के दृश्य चित्र या तो नागरिक जीवन के एक स्तर का प्रतिनिधित्व करते हैं अथवा नगर-जीवन की किंचित् झाँकी प्रस्तुत करते हैं। ऐसा लगता है कि इन कुछ विशिष्ट दृश्यों के माध्यम से लेखक लखनऊ शहर को पहचनवा देना चाहता है। शायद इसीलिए दो स्थलों पर वहाँ के लेखकों और पत्रकारों को भी उसने प्रस्तुत किया है। परन्तु उपन्यास की सर्जन कल्पना में गली-मुहल्ले के जीवन के साथ जीवन के ये बिखरे चित्र एकरस नहीं हो सके हैं। उनकी सार्थकता इस रूप में स्वीकार की जा सकती है कि इनके माध्यम से व्यक्ति-चरित्रों को सामाजिक परिवेश के साथ जोड़ा गया है।"[१] उपन्यास में शृंखलाबद्ध कथानक के स्थान पर विभिन्न दृश्यचित्रों एवं प्रसंगों की भरमार है। सुविधा की दृष्टि से कथानक के दो भाग किये जा सकते हैं-- (क) लखनऊ के मुहल्ला चौक और उसकी गलियों की कथा (ख) चौकेतर समाज की कथा अथवा दूसरे शब्दों में नागरी समाज

----

१ 'माध्यम', मई, १९६५, पृ०१०५

की कथा । पहले प्रकार की कथा में विशेषकर परम्परागत सामाजिक नैतिक रुढ़ियों से ग्रस्त पात्रों की कहानी है, दूसरी में आभिजात्य,संस्कार युक्त और तथाकथित नये आधुनिक समाज का तेवर सन्निहित है । एक दूसरे प्रकार से भी कथानक का विभाजन किया जा सकता है--(क) समूह कथाएं, (ख) वैयक्तिक कथाएं । समूह-कथाएं मुख्यरूप से दो हैं, पहले का प्रतिनिधि पात्र है सज्जन और दूसरी का ताई। एक नागरी सभ्यता और संस्कृति की छटपटाहट को व्यक्त करता है तो दूसरा पारम्परिक रुढ़ियों एवं संस्कारों में बंधा होकर भी मानवीय अनुभूतियों से ओतप्रोत होकर संघर्षरत है । वैयक्तिक कथाओं की संख्या उपन्यास में भरी पड़ी हैं ।

कथाकार ने नागरी कथानक और मुहल्ला चौक के कथानक को जोड़ने का प्रयास किया है । इसका आधार है, सज्जन और वनकन्या । इन दोनों पात्रों के पारस्परिक सम्बन्ध के द्वारा प्रभावों का आदान-प्रदान कराया है,किन्तु यदि वनकन्या के स्थान पर ताई को इसका आधार बनाया गया होता तो शायद यह प्रयास अधिक सफल हो सकता था । क्योंकि तब विरोधाभास की स्थिति में एक स्वस्थ दृष्टिकोण की स्थापना की जा सकती थी । सज्जन और वनकन्या का तो मानसिक स्तर समान है । दोनों ही आधुनिक नवीन सभ्यता एवं संस्कृति को उजागर एवं स्थापन के लिए संघर्षरत है । परवर्ती कथानक में अवश्य ताई को आधुनिक समाज का स्पर्श मिला है और वह उससे किंचित प्रभावित भी होती है । जैसा कि पहले संकेतित किया गया है कि लेखक चौकेतर समाज को भी चौक के गली-मुहल्लों से सम्बन्धित एवं केन्द्रित करने का प्रयास करता है ।

सज्जन अपनी चित्रकला तथा जीवन के यथार्थ को 'स्केच' करने के लिए मुहल्ला जीवन या सामान्य जन-जीवन का अध्ययन करने के लिए अपनी हवेली छोड़कर ताई की एक कोठरी किराये पर लेकर रहता है । 'ऐसी मामूली कोठरी के ऐसे भव्य किरायेदार को लेकर मुहल्लेवालों में तरह-तरह की चर्चायें होना स्वाभाविक था । उस मुहल्ले में कुछ ऐसे लोग भी थे, जो सज्जन को उसकी प्रसिद्धि के कारण जानते थे ।'[१] उन लोगों ने सज्जन के महान उद्देश्य का प्रचार

----

१ 'बूंद और समुद्र',पृ०६

पूरे मुहल्ले में किया । लेकिन कुछ लोगों ने सज्जन को सर्वथा एक नई तस्वीर के रूप में प्रस्तुत किया, जिसकी कल्पना तक वह नहीं कर सकता था । उनके अनुसार मुहल्ले की बहू-बेटियों को तस्वीर बनाने का लालच देकर फुसलाना ही चित्रकार और उसके मित्रों का उद्देश्य है । कलाकार लाजिमी तौर पर चरित्रहीन होता है, यह तर्क कुछ लोगों के दिल में घर सा कर गया[१] । लेकिन सज्जन मुहल्ले वालों का मन जानने के लिए प्राय: संघर्षशील रहता है । वनकन्या चौक के एक मध्यवर्गीय दुषित परिवार की उपज है और अपनी मामी पर पिता द्वारा अन्याय-अत्याचार का प्रतिशोध लेने के लिए सज्जन से सहायता पाने के लिए आती है । कन्या के ओजस्वी व्यक्तित्व और सौन्दर्य से सज्जन सहज ही आकर्षित हो जाता है । सज्जन और उसके मित्र महिपाल और कर्नल पूरी तौर पर उसे सहायता देते हैं, किन्तु इससे उन्हें जानकीसरन, सालिगराम और राजा द्वारिकादास के विरोधों का सामना भी करना पड़ता है । क्योंकि वनकन्या का सम्बन्ध कम्युनिस्ट पार्टी से था और जानकीसरन, सालिगराम आदि कांग्रेस के जाने माने नेता थे । वे राजनीतिक दांव पेंचों के द्वारा ववववव वनकन्या और सज्जन तथा उनके मित्रों को परास्त करने की कोशिश करते हैं । कन्या अपने पिता के सहयोग से एक जोरदार लेख हवाई जहाज के द्वारा बंटवाती है, जिसका पर्याप्त प्रभाव जनता पर पड़ता है । इस पराजय के बाद सालिगराम और उनकी पार्टी एक दूसरी गोट से उन्हें हराने का प्रयत्न करते हैं । वे एक चित्रकला प्रदर्शिनी का आयोजन करते हैं, जिसमें सज्जन और जाने माने चित्रकारों को ळव सामान्य जनता में प्रदर्शित करने की योजना थी । किन्तु यह प्रदर्शिनी चुनाव का एक तिकड़म बनकर गई । इससे कन्या और सज्जन को निराशा होती है, लेकिन फिर भी वे संघर्ष के पथ पर निरन्तर संलग्न रहते हैं ।

सज्जन और कन्या बाबाराम जी के प्रभाव और प्रेरणा से सामाजिक कार्यों में संलग्न हो जाते हैं । इन सामाजिक कार्यों में भी सज्जन और वनकन्या को कांग्रेस के नेताओं की प्रत्यक्ष-प्रच्छन्न विरोधी गोटों का सामना

----

१ 'बूंद और समुद्र', पृ०६

करना पड़ता है । सज्जन और वनकन्या के विवाह सूत्र में बंधजाने पर, उनके सामाजिक कार्यों में और म ा तेजा आता है और उपन्यास के अन्त तक राजा साहब के बेटे का धमकियों को चुनौती के रूप में स्वीकार करना पड़ता है । वह मध्यवर्गीय परिवारों को ऋण के भार से मुक्त करने के लि सहकारी बैंक की स्थापना करता है,जिसका विरोध महाजन और नेता लाला जानकीसरन करते हैं । क्योंकि इससे उन्हें आर्थिक क्षति उठाने की सम्भावना थी । महिला सेवा मण्डल में हो रहे स्त्रियों पर गुप्त अत्याचारों का पर्दाफाश बड़ी बुद्धिमानी से करते हैं, इससे चारों ओर उन्हें प्रशंसा मिलती है । और अंतत: उन्हें अपने उद्देश्य में विजय ही प्राप्त होती है । ताई पहले तो सज्जन और कन्या को आदर की दृष्टि से नहीं देखती थी,किन्तु धीरे-धीरे उनके सेवा-प्यार ने उसे अपना बना लिया । सज्जन की अनुपस्थिति में मुहल्ले वाले जब सज्जन की कोठरी में उसके चित्रों की चिंदियाँ बना रहे थे, ताई अपना अपना प्रचण्ड रूप दिखा कर विरोधी भीड़ पर विजय प्राप्त करती है ।

चौक मुहल्ले की कथा में सज्जन कर्नल,महिपाल आदि इस प्रकार छाये हुए हैं कि इस कथानक में स्थानीय पात्र पात्र बिलकुल असहाय से लगते हैं । वे कहानी के विकास में बहुत कम योग देते हैं पाते हैं । ताई और वनकन्या अवश्य ही इस कहानी के विकास में सहायक हैं । सच तो यह है कि ताई और वनकन्या के अभाव में यह कथानक एकदम असमर्थ हो जाता । इतने पर भी उन्हें सज्जन,कर्नल,महिपाल और शाला इत्यादि से सम्बद्ध होना पड़ा है और उनके सहप्रयास से ही चौक मुहल्ले की कथा उजागर होती है ।

सम्पूर्ण कथानक बहुत धीमी गति से ,आराम से विकसित होता है । यह व्यवस्थित न होकर बिखरा हुआ है । इसका कारण यह है कि कथाकार मुहल्ला जीवन की कहानी में काफी रम गया है और वर्णनात्मक शिल्प के द्वारा वह वहां की प्रत्येक छोटी छोटी वस्तुओं को भी कैनवस पर उतार देना चाहता है । लेकिन आश्चर्य है कि इतने पर भी वह मुहल्ला जीवन की कथा को कोई स्वस्थ स्वरूप प्रदान नहीं कर पाया है । दूसरे, उपन्यास में पात्रों के आत्मचिंतन और आत्मविश्लेषण तथा सांस्कृतिक संवेदना को उजागर करने के कारण छोटे-छोटे

कथा उपकथाओं की भरमार है । कहीं-कहीं पात्र अपने चेतना प्रवाह में बहते बहते इतने दूर निकल गये हैं कि कथानक कुछ पृष्ठों तक रुकना पड़ गया है ।[1] जब कभी एक पात्र नगर के एक स्थान से दूसरे स्थान तक जाता है तो लेखक मार्ग का पूरा वर्णन करता जाता है और मार्ग के विभिन्न स्थलों को देखकर पात्र के मन में जो विचार उठते हैं, उनका भी परिचय देता जाता है ।[1] इसके अतिरिक्त कथानक निर्माण में प्रयुक्त किए गए कुछ अन्य साधन भी कथा की अन्विति में बाधक हैं । पात्रों द्वारा सुनाये गये लघु दृष्टान्त तथा किस्से कहानियां तो उपन्यास में बिखरे पड़े हैं । जैसे --

(१) उद्दालक ऋषिपुत्र श्वेतकेतु की कथा ।[2]
(२) विभिन्न देशों के चार कुत्तों का किस्सा ।[3]
(३) नग्नवेषी महादेव की कथा ।[4]
(४) राजकुमार और परी की कहानी ।[5]
(५) सिद्ध बाबा के भ्रष्टाचार की कहानी ।[6]
(६) ब्रह्मचारी ऋष्य शृंग की कथा ।[7]
(७) कामदेव और ब शुर्यक मकुक की कथा ।[8]
(८) गुरु शिष्य का किस्सा ।[9]
(९) विधाता की बेटी की कहानी ।[10]
(१०) हिंजड़ों के वोट डालने की कहानी ।[11]
(११) राजा जनक और महात्मा का किस्सा ।[12]
(१२) देवताओं के अवतार अंग्रेजों के दुम की कहानी ।[13]
(१३) विलायत जाने वाले युवक और बिरादरी का किस्सा ।[14]

---

१ सत्यपाल चुघ : 'प्रेमचंदोत्तर उपन्यासों की शिल्प विधि', पृ०५२७
२ 'बूंद और समुद्र', पृ०६६
३ वही, पृ०१२
४ वही, पृ०२४२-४३
५ वही, पृ०२४२-४३
६ वही, पृ०२८१-८२
७ वही, पृ०३४०
८ वही, पृ०३४०
९- वही, पृ०४२६
१०- वही, पृ०४२६
११ वही, पृ०४५२
१२ वही, पृ०४८१
१३ वही, पृ०५४५
१४ वही, पृ०५४६

(१४) विलायत जाने वाले शिवनारायण दर तथा धर्म ईसाई पंडित का किस्सा[1] ।

(१५) मुण्डमुण्ड पुत्र और उनके पिता की कहानी[2] ।

(१६) पिता का पुत्र के हाथों अंग्रेजी जूता खाने की कथा[3] ।

(१७) मुहम्मद और गुड़ खाने वाले बालक का किस्सा[4] ।

महिपाल अपने उपन्यास का कुछ लिखित अंश[5] सुनाता है[6] । वह रेडियो से अपने चार पृष्ठों की कहानी भी प्रसारित करता है । कुछ पात्रों के रेखाचित्र भी स्केच किये गये हैं[7] । एक स्थान पर लोक नाट्य की झांकी मिलती है । लोकगीतों[8], सिनेमा गीतों[9], कविताओं[10], श्लोकों[11],बालगीतों[12] और शेरों[13] के भी उद्धरण दिये गये हैं । रेडियो समाचार[14] तथा चुनाव कि सरगर्म खबरें भी सुनाई गई हैं[15] । ये सभी उपकरण वर्णनात्मक ढंग पर ही जुटाये गये हैं और उपन्यास में सांस्कृतिक संवेदना को निखारते हैं, लेकिन ये व्यंजक स्थल होते हुए भी उपन्यास के कथानक की अन्विति को बहुत हद तक विकर्षित ही करते हैं । इससे बीच-बीच में कथा रुकती और उलझती हुई -सी प्रतीत होती है ।

उपन्यास में पात्रों की अपनी-अपनी वैयक्तिक कथाएं भी सन्निहित हैं । जिसमें सबसे रोचक,आकर्षक उपन्यास में पात्रों की अपनी वैयक्तिक कथाएं भी सन्निहित हैं, जिसमें सबसे रोचक और आकर्षक कथा महिपाल की है।

---

१ `बूंद और समुद्र`,पृ०५४६

२ वही,पृ० ५४७

३ वही, पृ०५४७

४ वही,५५५

५ वही, पृ०३१-३२

६ वही, पृ० १४२-१४६

७ वही,पृ०३६-४८ आठवां परिच्छेद

८ वही, पृ०२७६-८०

९ वही,पृ०४३३-३५,४३८,४४०,४४३

१० वही, पृ०५८,८१,१६५

१२ वही, पृ०१६१,१६६,२५८,२६६,२७५, २८३-८४,३०४,३३२,४२६-२७,

१३ वही, पृ० २३४,२६६

१४ वही, पृ०५६८

१५ वही, पृ०१८८,३३३

१६ वही, पृ०४५२ ।

महिपाल की कथा को महिपाल-कल्याणी-शाला त्रयी कथा भी कह सकते हैं । इण्टर की परीक्षा पास करने के उपरान्त महिपाल अपनी नवोढ़ा पत्नी और माई को लेकर काम की तलाश में लखनऊ चला आता है । संयोगवश `युवा` के सम्पादकीय विभाग में उसे चालीस रूपये माहवार की जगह मिल जाती है । यहाँ उसको अपने साहित्यिक व्यक्तित्व के विकास का पर्याप्त अवसर मिलता है । समय अपेक्षाकृत अच्छा था । पत्र-पत्रिकाएं कम होने पर भी नया लेखक यदि दमदार होता था तो शीघ्र ही प्रसिद्धि के पथ पर बढ़ जाता था । बड़े साहित्यिक सदा छोटों को बढ़ावा देते थे । महिपाल की कलम[1] में जोर था, मन में उठने की लगन थी, इसलिए वह धीरे-धीरे आगे बढ़ने लगा । बाद में रूपरतन की `नवचेतना` में सम्पादक का पद मिल जाने पर तो वह और भी अधिक विकास पाता है । इन दिनों महिपाल ने खूब उन्नति की । सरकार की ज्यादतियों के साथ[2] साथ पूंजीपतियों की पोल खोलने में उसकी कलम बड़े जोर के साथ चलती थी । लेकिन जब रूपरतन कांग्रेस के टिकट पर एम०एल०ए० बन गया, पार्लियामेण्ट्री सेक्रेटरी भी हो गया, उसके बाद वह `नवचेतना` की रीति नीति को बदलने की कोशिश करने लगा । उसने कार्यालय की छोटी-छोटी बातों में अड़ंगे लगाने प्रारम्भ कर दिया, जिससे क्षुब्ध होकर महिपाल `नवचेतना` से इस्तीफा दे देता है । इसके बाद उसे एक कठिन परिस्थिति से गुजरना पड़ता है। अपने परिवार के भरण-पोषण के लिए जी तोड़कर मेहनत करना पड़ता है, लेकिन फिर भी पर्याप्त नहीं कमा पाता था । माई जयपाल जब इंगलैण्ड से लौटकर डाक्टर बन जाता है और पत्नी के इशारे पर बदला बदला लगने लगता है, महिपाल के १९४२ के आन्दोलन में जेल जाने के बाद अलग रहने लगा, जेल से लौटने के बाद उसकी सारी आस्थाएं ताश के महल की तरह भरभरा कर गिर पड़ीं ।

अपनी उखड़ी, थकी हुई जिन्दगी में संघर्ष करता हुआ, छटपटाता हुआ वह कुंठित हो जाता है । संस्कारों और रूढ़ियों से लदी हुई

---

१ `बूंद और समुद्र`, पृ०१९१-१९२

२ वही, पृ० १९३

पत्नी कल्याणी, एकनिष्ठ होते हुए भी, महिपाल के घायल अहंकार को बल नहीं दे पाती है। डा० शीला स्विंग उसकी थकी-हारी जिन्दगी में दो प्याले नशे की तरह है। वह जब कभी जिंदगी में थका हुआ, त्रस्त व्यस्त और मानसिक संघर्ष की स्थिति में रहता है, शीला के यहां जाकर विश्राम और मुक्ति का अनुभव करता है। शीला के साथ प्रेम सम्बन्ध में वह दोहरी स्थिति जीता है, एक ओर शीला उसके लिए जरूरत हो चली थी, दूसरी ओर उसके मन में चोर भी बना रहता है। वह बार-बार निश्चय करता है कि वह एकनिष्ठ बनने की कोशिश करेगा, किन्तु शीला के सामने एकदम परास्त और असहाय अनुभवकरता है। वह देखता है कि पैसे की होड़ में दुनिया बहुत आगे बढ़ चुकी है, और वह जहां का तहां है। उसके मन में यह अतृप्ति अचेतन में पड़ी रहती है। मामा के यहां डकैती पड़ने के समय उसके हाथ नौरत्न का हार लगता है और मन डावांडोल कर लेता है। हार बेचकर वह अपनी जिन्दगी को बदल डालता है। एक ओर, जब उसके बचपन के अभिजात्य संस्कार प्रबल हो उठते हैं, दूसरी ओर अभावों का जीवन कुंठित होकर सुविधाओं के लिए ललक उठता है। लेकिन सेठ रूपरतन के द्वारा चोरी की पोल खोल देने पर वह एकदम आसमान से गिर पड़ता है। अपमान से बचने के लिए वह अन्त में आत्महत्या कर लेता है। इस प्रकार लेखक ने महिपाल के व्यक्तित्व में विरोधाभास और संघर्षशील आदमी का चित्र उकेरा है।

महिपाल के अतिरिक्त कर्नल, ताई, शीला-स्विंग, बाबाराम जी, कनकन्या आदि अनेकों व्यक्ति जीवन की कथाएं भरी पड़ी हैं, जिसके माध्यम से लेखक सामाजिक सम्बन्धों के विविध आयामों को प्रस्तुत करना चाहता है और उसके परिप्रेक्ष्य में सांस्कृतिक मूल्यों का सम्प्रेषण होता है। व्यक्ति जीवन की कथाएं एक और महत्वपूर्ण कार्य करती हैं। समाज और व्यक्ति-कथाओं के स्वर भिन्न-भिन्न रूप लेकर, परस्पर तनाव, टकराहट और संघर्ष की व्यंजना करते हैं और अपनी साफ अलग स्थिति भी। '...... गली, मुहल्ले के जीवन के रूप में उसने (लेखक ने) अपने व्यापक सामाजिक यथार्थ को देखा-पहचाना है --उसका

सारा आलोड़न-विलोड़न किसी गति तथा क्रिया की सम्भावना से रहित निष्क्रिय जड़ता का रूप है । इसी कारण सम्भवत: इस समाज से ही उत्पन्न और व्यक्तित्व ग्रहण करने वाले चरित्र महिपाल, सज्जन, कर्नल, बाबाराम और वनकन्या के व्यक्तित्व व्यापक सामाजिक जीवन से अलग प्रस्तुत किए गए हैं । जिससे समाज से इनकी प्रतिक्रिया हो सके, तनाव और संघर्ष के माध्यम से समाज में गतिशीलता लाई जा सके । ये सभी पात्र समाज से अपने पारिवारिक जीवन और इतिहास से सम्बद्ध रहे हैं और अपने व्यक्तित्व को पा सके हैं ।[1]

वर्णनात्मक चरित्र-चित्रण में पात्र प्राय: बहुल और विविध होते हैं । 'बूंदऔर समुद्र' में भी पात्रों की संख्या अधिक है । पुरुष पात्रों में जमींदार, चित्रकार, साहित्यकार, केमिस्ट, समाज सेवी, महाजन, प्रकाशक, राजनीतिक नेता, मंत्री, क्लर्क, साधु, पहलवान, गुण्डे, पुजारी, कीर्तनिया, हलवाई, बढ़ई, मसाला फरोश, सुनार, दलाल, अध्यापक, कवि, गीतकार, अभिनेता, कप्तान, दरोगा, आदि सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन की विभिन्न स्थितियों को मूर्त करते हैं । स्त्री पात्रों में विधवा नारियां, कुंठित नारियां, रूढ़ियों एवं परम्पराओं में बंधी नारियां, सोसाइटी वेश्याएं, बहुपुरुषगामी, कुटनी और निन्दा कुशल नारियां, समाज-सेवा के नाम पर व्यभिचार का अड्डा चलाने वाली नारियां, आधुनिकता और प्राचीनता के मिश्रण का प्रतिरूप आदि विभिन्न नारी स्थितियों को प्रस्तुत किये गये हैं ।

प्रकार की दृष्टि से उपन्यास के प्राय: अधिकांश पात्र गतिशील हैं, किन्तु कुछेक स्थिर भी नियोजित किये गये हैं । ये पात्र जैसे पहले से ही निर्मित हैं, उनका परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तन नहीं होता । बाबा राम जी, कल्याणी और कर्नल ऐसे ही पात्र हैं । कल्याणी में रूढ़िवादी और पारम्परिक प्रवृत्ति इतनी प्रबल है कि विषम से विषम परिस्थितियों में भी अपने संस्कारों से जुड़ी रहती है । महिपाल के आधुनिक विचार, नवीन

---

१ माध्यम, मई, १९६५, पृ०१०६

विद्रोह मूलक भावदृष्टियां उसे किंचित भी प्रभावित नहीं करते, बल्कि महिपाल को स्वयं उसकी प्रकृति से समझौता करना पड़ता है । कर्नल अपने व्यक्तित्व में समझौता वादी है । महिपाल-कल्याणी के परिस्थितिजन्य तनाव को कम करने के लिए, खत्म करने के लिए, अपने सारे अहंकार से निरपेक्ष होकर, समझौता कराता है । महिपाल-शीला के सम्बन्धों को लेकर तथा वनकन्या की क्रूर परिस्थितियों को देखकर एकदम मानवीय हो उठता है । अपनी हार्दिक मानवीयता के कारण उसका चरित्र अधिक कृत्रिम बन गया है । अपने मानवीय संस्पर्श के साथ यदि वह समाज के जीवन का अभिन्न अंग होता तो रचना के स्तर पर अधिक सजीव, गतिशील और आकर्षक हो सकता था । समाज के जीवन से अपनी व्यक्तित्व-चेतना के कारण पड़ गये चरित्रों से सम्बद्ध होकर कर्नल का व्यक्तित्व समाज और उनके बीच में अपनी संवेदना तथा विश्वसनीय स्थिति के बावजूद उपन्यास की रचना की आंतरिक संगति में आदर्श चरित्र के रूप में खप नहीं पाया है।[1] कर्नल की भांति बाबाराम जी का चरित्र भी मानवीय भावभूमि पर निर्मित है । उनकी सत्य के प्रति आस्था किसी भी परिस्थिति में विचलित नहीं होती । आदर्श की धुरी पर उनका चरित्रोद्घाटन होता है । वे अपने आश्रम के द्वारा सेवा, कर्म और त्याग के जिन भावों की स्थापना करते हैं, वह जीवन्त मानवीय व्यक्तित्व के रूप में संघटित होता है, यहां तक कि वे कुरूपता में भी मानवीय सौन्दर्य का दर्शन करते हैं । पर वास्तव में कर्नल की भांति उनका व्यक्तित्व भी आज के आधुनिक संदर्भ में विश्वसनीय प्रतीत नहीं होता । उनका चरित्र यथार्थ की अपेक्षा आध्यात्मिक और रहस्यमय अधिक लगता है । इस प्रकार कला की दृष्टि से कर्नल और बाबाराम जी दोनों का स्थिर चरित्र कृत्रिम और अस्वाभाविक है । कुछ छोटे चरित्रों का व्यक्तित्व भी -- शालिगराम, लाला मुकुन्दीमल, लाले बलाल, शास्त्री जी, गुलाबचन्द्र, राधेश्याम, तारा, छोटी, नंदी इत्यादि प्रायः स्थिर रूप में चित्रित हैं ।

---

१ माध्यम, १९६५, पृ०१०६

इसके अतिरिक्त अधिकांश प्रमुख पात्रों की योजना गतिशील व्यक्तित्वों के रूप में की गई है । सज्जन,महिपाल,ताई,वनकन्या,और शीला आदि का चरित्र परिस्थितियों के अनुसार निर्मित ,विकसित और परिवर्तित होता है । सज्जन उपन्यास की समस्याओं की टार्च है । लेखक सज्जन के टार्च को लेकर गली-मुहल्ले के चित्रों पर रोशनी डालता है । सज्जन उपन्यास का नायक है ।जिसके इर्द-गिर्द समस्त कथासूत्र घूमते हैं । गली-मुहल्ले के जीवन से घुलने और उनके जीवन का अध्ययन करने के लिए वह आया था, किन्तु अपने सामाजिक स्तर,शिक्षा तथा सुरुचि के कारण वह इस समाज से घुल नहीं पाता । दूसरे चरित्र उसके व्यक्तित्व पर पर्याप्त प्रभाव डालते हैं । अपने आभिजात्य संस्कारों के कारण वह सामाजिक जीवन से संसक्ति का अनुभव नहीं करता, प्रारम्भ में वह उसकी रुचि का विषयमात्र है[1] । लेकिन ज्यों-ज्यों वह उस गली-मोहल्ले के जीवन में संसक्ति का अनुभव करता है, त्यों-त्यों उसका व्यक्तित्व परिवर्तित होने लगता है । धीरे-धीरे उस समाज के विभिन्न पात्रों और स्थितियों के सम्पर्क उसको संवेदित करते हैं । वनकन्या अपने ओजस्वी व्यक्तित्व और निश्छल आचरण से उसको शीघ्रता से प्रभावित कर लेती है । बाबाराम जी अपने निराले व्यक्तित्व से उसपर एक आध्यात्मिक प्रभाव डालते हैं । इन सबसे प्रेरित होकर वह अपने जीवन को एक नई दिशा की ओर उन्मुख करता है । सारे विरोधों के बावजूद वह अपने सेवा-पथ से विचलित नहीं होता । अपने भोगी व्यक्तित्व को छोड़कर योगी व्यक्तित्व का आवरण धारण करता है । इस प्रकार उसने विभिन्न प्रभावों को ग्रहण करके एक स्वस्थ दृष्टि को विकसित करने का प्रयास किया है । लेकिन लेखक उसकी चरित्र नियोजना में कहीं-कहीं निर्बल भी हो गया है । वनकन्या के साथ प्रणय प्रसंग में जानबूझकर ब्रजभूमि की यात्रा कराई गई है । राधा-कृष्ण सम्बन्ध की भावना की स्थापना करते हुए नितान्त वैयक्तिक आधार प्रदान किया है और नारी-पुरुष के सम्बन्धों को पौराणिक और

---

१ माध्यम,१९६५,पृ० १०७ ।

आध्यात्मिक प्रतीक देकर उसके प्रेम को व्यापक अभिव्यक्ति देने की चेष्टा की गई है, जिनका औपन्यासिक कथा-योजना और दृष्टि से कहीं भी संयोग या संगति नहीं मिल पाता । यह वैयक्तिक प्रेम-सम्बन्ध और सामाजिक जीवन के यथार्थ का अंतराल इतना अधिक हो गया है कि लेखक ब्रज यात्रा लौटने के बाद सज्जन के व्यवहार और आचरण की असंगतियों के लिए समुचित तर्कसंगत परिस्थितियों की उद्भावना करने में असमर्थ हो गया है । सज्जन के व्यक्तित्व में एकाएक इतने सारे परिवर्तन आ जाना भी कला की दृष्टि से अस्वाभाविक और असंगत जान पड़ता है । इन असंगतियों से छुटकारा पाने और उसे कथा-योजना के अनुकूल रखने के लिए कर्नल के साधारण किन्तु विशिष्ट और बाबाराम जी के आध्यात्मिक प्रभाव का सहारा लेना पड़ता ह पड़ा है ।

ताई गली-मोहल्ले के मनुष्य की जिन्दगी का पर्याय है या उसकी केन्द्रीय अभिव्यक्ति है । वह समाज के प्रति निरन्तर आस्थावान और मानवीय बनी रहती है, ऊपर से दिखने वाली अनास्थाएं तो क्षणिक हैं,जो परिस्थितियों द्वारा अनायास निर्मित हो गई हैं,क्योंकि अवसर पड़ने पर उसका आस्थावादी और मानवीय व्यक्तित्व मुखर हो उठता है । बात-बात में लोगों पर टोने-टोटके का ब्रह्मास्त्र छोड़ना, गली से निकलते हुए किसी से छू जाने पर हजार-हजार गालियां देना, पुरुषों के प्रति घृणा और हिंसा की भावना रखना-- आदि उसके चरित्र के क्षणिक और अस्थायी आयाम हैं । वास्तव में उसके हृदय में अपार करुणा, ममता और वात्सल्य भरा है । `घृणामयी ताई' का निर्माण तो समाज की परिस्थितियों के अनुसार निर्मित हुआ है तो उसका वास्तव नहीं है । मां-बाप के जल्दी मर जाने से दादा-दादी के अनुचित लाड़-प्यार में पालित ,किन्तु उनके भी मर जाने पर विपरीत अभिभावकों के व्यवहार से कुंठित, विवाहोपरान्त लड़की को जन्म देने के कारण सास से तिरस्कृत,लड़की को बचाने के लिए सारे घर से शत्रुता मोल लेने पर भी उसके चल बसने से वात्सल्यहीन दु:खित, रईस पति से परित्यक्त, तथा सामान्य समाज के सताने से तंग होकर ताई घृणा और हिंसा की प्रतिमूर्ति बन जाती है । लेकिन बिल्ली के नवजात

बच्चों को पालते हुए वह अपने मातृ-हृदय की सारी करुणा उड़ेल देती है । तारा को प्रजनन चारु सुनकर यंत्रवत् सेवा करती है । सज्जन के थोड़े से उपकार के बदले में कोठरी पर आक्रमण करने वालों के प्रति साक्षात् दुर्गा बन जाती है । वनकन्या से घृणा करने के बावजूद उसके सेवा प्यार से प्रभावित होकर बहू स्वीकारती है। ये मानवीय कार्य उसके चरित्र का मूल बिन्दु है । इस प्रकार मानवता के प्रति आस्था जितनी उसमें है, उतनी और किसी भी पात्र में नहीं । अपने विरोधाभास में वह सबसे आकर्षक,जीवन्त और यथार्थ लगती है ।

वनकन्या के चरित्र का व्यक्तित्व भी परिस्थितियों के अनुसार निर्मित और परिवर्तित होता है । उसके चरित्र के मूल में प्रारम्भ से ही वैयक्तिक दृढ़ता,सत्य और न्याय के प्रति आस्था केन्द्रित है । वास्तव में समाज और पुरुष जाति के प्रति वह विद्रोही नहीं है, परिवार की नैतिक विकृतियों और सामाजिक अन्याय-- जैसी परिस्थितियों ने उसके व्यक्तित्व को विद्रोही बनाया है । अपने पिता के द्वारा माक्ज पर किए गए अनैतिक अत्याचार और फलस्वरूप उसकी दारुण ट्रेजिडी जिसकी प्रतिक्रिया स्वरूप वह पुरुष जाति के प्रति घृणा करने लगती है तथा समाज के प्रति विद्रोही बन जाती है । लेकिन उसका यह विद्रोह कहीं भी उग्र अथवा सघन रूप धारण नहीं कर सका है । यदि विद्रोह ही उसके व्यक्तित्व का एकमात्र आधार होता है तो उसकी सारी क्रान्तिकारिता सज्जन के साथ प्रणय-प्रसंग में परिणति को क्यों प्राप्त करती । उसने देखा कि राजनीतिक दल और उसकी क्रान्ति सब खोखली है, केवल अपनी स्वार्थान्धता में प्रतिबद्ध है,इसलिए उसका इन सब से विश्वास उठ गया । जब अपने विद्रोही व्यक्तित्व के लिए कोई अवलम्ब नहीं मिल रहा था, तथाकथित समाज से प्रतिक्रियास्वरूप उसने सज्जन का प्रणय और सम्बल प्राप्त किया । इस रूप में उसका चरित्र स्वाभाविक बन गया है । विद्रोह उसका खोल था, जो एक पुष्ट और दृढ़ आधार प्राप्त करने के बाद उतर गया । क्योंकि समाज के प्रति जितनी आस्था और मानवीयता सज्जन में है, वह वनकन्या नहीं प्राप्त कर सकी । सज्जन के तीन लाख दान करने पर उसके पूर्व वह इस धन के प्रति मोहित होती है ।लेकिन कालान्तर में उसका यह मोह तिरोहित हो जाता है और अन्त में 'मानवता के दर्शन'

करने की साधना में 'कर्मरत' होने की सूचना दी गई है।[1]

चरित्र-चित्रण में लेखक ने बाह्य और अंत: दोनों प्रणालियों का उपयोग किया है, लेकिन वर्णनात्मक शिल्प-विधान का उपन्यास होने के नाते बाह्य चित्रण अधिक व्यक्त हो सका है। अर्थात् पात्रों का शील प्रकाशन परोक्ष ढंग से न होकर प्रत्यक्ष ढंग पर हुआ है। पात्र अपनी ओर से कम बोलते हैं, लेखक अपनी ओर से उनका ब्यौरा प्रस्तुत करता चलता है। महिपाल, वनकन्या, शीला-सिंह, ताई आदि की पूर्व जिन्दगी का वर्णन लेखक अपनी ओर से करता है, साथ ही उनके परिवर्तन एवं विकास की सूचना भी देता जाता है। जब पात्र एक स्थान से दूसरे स्थान जाते हैं, उस समय मार्ग में पड़ने वाली दुकानों, बबाजारों, व्यक्तियों का या अध्याय प्रारम्भ करते हुए उसविशेष स्थान का जहां घटनायें विकसित होंगी, पूरा विवरण होता है। पात्रों के व्यक्तित्व का उद्घाटन करने के लिए उनकी मुद्राओं,[2] आंगिक चेष्टाओं,[3] आकृतियों,[4] वेश-भूषा आदि का वर्णन[5] और यथावसर उनके परिवर्तन की सूचना लेखक पूरे उपन्यास में देता रहता है।[6] एक ही परिस्थिति में विभिन्न पात्रों की मुद्राएं अथवा चेष्टाएं उस पात्र के व्यक्तित्व को अभिव्यक्त देती हैं। गली के चबूतरे पर मुहल्ले वालों की मजलिस जुटी है। वनकन्या के पर्दे को लेकर विभिन्न पात्र सज्जन के प्रति विभिन्न प्रतिक्रिया विभिन्न मुद्राओं में व्यक्त करते हैं --' लाले कौतूहल भरी नजरों से, बाबू गुलाबचन्द शिष्टता की मूर्ति बनकर और बाबू छेदालाल पैनी कनखियों से उसे देखने लगे।'[7]

---

१ बूंद और समुद्र, पृ०९-१०, ३९-४०, ७४ आदि।

२ वही, पृ० ७४,७५,७७,२१३,२५३ आदि।

३ वही, पृ० १०४-५, १४६-४७,१६६ आदि।

४ वही, पृ०३९-४०, ५३-५६ आदि

५ वही,पृ०४०,५७ आदि।

६ वही,पृ०४६५-४६६ आदि

७ वही,पृ० ४३।

पात्रों के रूप-सौन्दर्य का भी लेखक ने यथावसर चित्र प्रस्तुत किया है । तात्पर्य यह है कि बाह्य चरित्र-चित्रण की अधिकांश विशेषताएं उपन्यास में उपलब्ध हैं ।

'बूंद और समुद्र' में अंत: चरित्र-चित्रण की अंतर्द्वन्द्व, पूर्ववृत्त, चेतन प्रवाह और स्वप्न विश्लेषण की प्रणालियों का भी उपयोग हुआ है । 'लेखक ने ताई, महिपाल, सज्जन, शीलास्विंग, बड़ी, पगली तथा बाबाराम ऐसे पूर्वेतिहास दें कि उनके चरित्र की वर्तमान स्थिति के कारणों तथा भावी विकास की सम्भावनाओं का अनुमान किया जा सकता है ।'[1] अधिकांश पूर्ववृत्त लेखक द्वारा कथित हैं । ताई की घृणा-हिंसा का आधार उसके पूर्ववृत्त में खोजा जा सकता है। महिपाल के चरित्र में आभिजात्य और आदर्शवादिता का जो विरोधाभास दिखाई देता है, वह उसके पूर्व जीवन के संस्कारों का परिणाम है । एक ओर वह अपने पिता के सिद्धान्तवादी साहित्यिक व्यक्तित्व को संजोता है, दूसरी ओर उसके ननिहाल के सामन्ती वातावरण ने विलासिता का व्यक्तित्व प्रदान किया है । परिस्थितियों के अनुसार ये दोनों संस्कार उसपर हावी होते हैं । लेकिन अन्त तक न तो वह आभिजात्य विलासी बन पाता है और न आदर्श सिद्धान्तवादी हो । शीलास्विंग, अवरुद्ध एवं दमित बड़ी तथा पगली आदि के चरित्र भी उनकी अतृप्ति, अभाव एवं दमित कामेच्छाओं के परिणाम हैं ।

मनोविज्ञान की अंतर्द्वन्द्व प्रणाली का उपयोग पात्रों के मानसिक ऊहापोह और भावनात्मक मंथन को अभिव्यक्ति देने के लिए हुआ है । ये अंतर्द्वन्द्व कभी-कभी अंतर्विवाद के साथ मिलकर भी प्रयुक्त हुए हैं । इससे पात्र अपनी अस्थिरता और अनिश्चयता को मथकर निर्णय लेने का प्रयत्न करते हैं । उदाहरण के लिए, ' महिपाल सोचने लगा कि रात तो अब बीत हो चली, परन्तु दिन कहाँ और कैसे कटेगा ? भटकता हुआ आखिर वह जायगा कहाँ तक ? क्या भटकना ही उसके जीवन का मिशन हो जायगा ? यह विचार क्या अपने-आप में कायरतापूर्ण नहीं ? ये ज्ञान-चिन्तन जो कुछ वह करता है क्या महज समय बिताने के लिए या शौक के रूप

----

१ सत्यपाल चुघ : 'प्रेमचंदोत्तर उपन्यासों की शिल्प-विधि', पृ० ५२६

में करता है ? क्या उसका कोई सामाजिक मूल्य नहीं ? क्या उसका पिता होकर बच्चों के प्रति कोई उसका नैतिक कर्तव्य नहीं ? महज मुंह छिपाते रहना आखिर संभव हा कैसे हो सकता है ? उसे मुसीबत का डटकर मुकाबला करना चाहिए ।[१]

पात्रों को चेतन-प्रवाह में भी दौड़ाया गया है, विशेषकर महिपाल और सज्जन की अस्थिर मन:स्थिति को स्पष्ट करने के लिए इससे बाहरी चरित्र के साथ-साथ मन का आन्तरिक भावनाएं और व्यक्त आचरण की अचेतन प्रेरणाएं भी खुलती जाती हैं । ये चेतन प्रवाह भी वर्णनात्मक शिल्पविधान के अनुरूप हा ढाले गये हैं, क्योंकि पाठक पात्रों के चेतन प्रवाह से सीधे सम्पर्क स्थापित नहीं करते । लेखक स्वयं उनका वर्णन करता है । स्वप्न-विश्लेषण एवं उद्धरण प्रणाली के द्वारा भी पात्रों का चरित्रोद्घाटन हुआ है । महिपाल, सज्जन और वनकन्या के स्वप्न उनके नैराश्य मन:स्थिति, जीवन की ऊब और ऊहापोह को द्योतित करते हैं । उनके अचेतन को उजागर करने के लिए भी इस पद्धति का उपयोग किया गया है । यह ध्यातव्य रहे कि यहां भी लेखक ने वर्णनात्मक शिल्पविधान की रचना के अनुकूल स्वप्न को विश्लेषित करने का काम पाठकों को नहीं सौंपा है, बल्कि उनके विश्लेषण का संकेत स्वयं देता है । उदाहरणार्थ, महिपाल स्वप्न देखता है कि वह एक बहुत घिनौनी, फटे-चीथड़े, टूटे मिट्टी के बर्तन, मवाद से सने हुए रूई के फाहे और पट्टियों से भरी हुई एक तंगगली से गुजर रहा है । चलते-चलते वह थक जाता है । उसकी इच्छा होती है कि वह इससे बाहर निकल जाय । लेकिन निकल नहीं पाया । पुन: सपने का दृश्य बदलता है, वह एक नदी के किनारे पहुंच जाता है, आदमियों से भरी हुई एक नाव जा रही थी । वे सब उसे बुला रहे थे । नावकिनारे आ गई और वह उसपर बैठ गया । इसमें शीला, कल्याणी, कर्नल, ममेरा भाई तथा और भी लोग थे । फिर बीच धार में नाव जाकर उतर गई । सब लोग तैरने लगे । हरे हरे पानी की तह में बहुत से कंगूरे, मीनारें और खण्डहर चमक रहे थे । वे खण्डहर उसे खींचने लगे । वह अपने साथ बहुतों को खींच

---

१ 'बूंद और समुद्र', पृ०२३६

ले गया , लेकिन थोड़ी देर के बाद सब तो उसका दृष्टि से ओझल हो गए,उसने अपने को नदी के नीचे खण्डहरों में जकड़ा हुआ पाया । बहुत छुटा,बहुत तड़पा, मगर छूट नहीं सका ।[1] ' महिपाल के इस स्वप्न को सुनकर कर्नल मनोविश्लेषकों की भांति प्रतिक्रिया देता है --' तुम्हारा किसी प्रकार का फ्रेस्टेशन है महिपाल ये गंदगी और खण्डहर सब फ्रेस्ट्रेशन के ही तो प्रतीक होते हैं । इन्हें एनालाइज कर लो । मौत का सवाल ही कहां उठता है[2] ।' वास्तव में, कर्नल का यह विश्लेषण लेखक का ही विश्लेषण है, जिसे वह पाठकों के सामने स्पष्ट करना चाहता है । महिपाल के अतिरिक्त अन्य पात्रों के स्वप्न भी प्रतीकों के रूप में रखे गये हैं ।उद्ध पद्धति के द्वारा भी चरित्रोद्‌घाटन करने का प्रयास किया गया है । लोकगीत,गीत कविता,शेर-शायरी और लघु कथाएं सब पात्रों के अनुकूल प्रस्तुत किए गए हैं । ये उद्धरण अज्ञेय के उपन्यासों की याद दिलाते हैं,लेकिन उनके उपन्यासों में अंग्रेजी आ की कविताएं बलात् ठूंसी गई लगती हैं । 'बूंद और समुद्र' में इसके विपरीत स्वाभा गति के साथ प्रयुक्त होसकी हैं । सज्जन जिस रोमैण्टिक मन:स्थिति में वनकन्या के सामने शृंगारिक कवित्त गाता फिरता है, इससे उसकी तात्कालिक मन:स्थिति की मस्ती मुखर होती है, लेकिन जब उसे महिपाल का कहा हुआ '--

> 'ताम गांठ कौपीन में किन भाजी बिन लौन ।
> तुलसी मन संतोष जो इन्द्र बापुरो कौन ।।[3]

दोहा याद आता है । उस समय उसका मन आत्मग्लानि से पीड़ित हो उठता है क्योंकि यहां उसकी मां के संस्कार प्रबल हो उठते हैं । इसी प्रकार महिपाल चोरी करने के बाद आत्मग्लानि की अवस्था में कहता है--' मो सम कौन कुटिल खल क और अबब कभी अपनी आदर्श आस्था को अभिव्यक्ति देता है--

---

१ 'बूंद और समुद्र',पृ०५५३-५४

२ वही, पृ०५५४

३ वही, पृ० २७५

४ वही, पृ० ४४६

५

जानापि धर्मं न च मे प्रवृत्ति: ।
जानाम्य धर्मं न च मे निवृत्ति: ।[1]

विवाह इत्यादि के अवसर पर प्रयुक्त उद्धरण उस समय की अलमस्त मन:स्थिति तथा सांस्कृतिक चेतना की अभिव्यक्ति देते हैं । सारांश में उद्धरण प्रणाली के द्वारा नागर जी बड़ी वास्तविकता और कुशलता से पात्रों की मनोदशाओं की व्यंजना के साथ उनका चरित्र प्रकाशन भी कर सके हैं ।[2]

'बूंद और समुद्र' में वातावरण का विन्यास अत्यन्त सघन रूप में चित्रित है । वातावरण की अनुभूति चित्र व्यंजना के माध्यम से नहीं, बल्कि वर्णन के माध्यम से व्यक्त होती है । कथानक का काल १९५३ के कुछ पहले और १९५१ के बाद की परिस्थितियों का है । स्थान की दृष्टि से कथा का विस्तार केवल लखनऊ के चौक क्षेत्र की गलियों,मुहल्लों तक सीमित है । वह एक विशेष क्षेत्र की सभ्यता और संस्कृति को दिखाकर शायद, उसकी सम्पूर्ण भारत की सभ्यता एवं संस्कृति से देना चाहता है । वह लिखता भी है -- 'उपन्यास के क्षेत्र के रूप में मैंने लखनऊ और इसमें खास तौर पर चौक को उठाया है । यह इसलिए किया कि नागरिक सभ्यता की परम्परा दिखाने में, बोली बानी का रस घोलने में, मुझे सबसे अधिक सुभीता यही हो सकता था ।'[3] इतर प्रसंग केवल थोड़ा-सा है, जब वनकन्या और सज्जन को मथुरा की भूमि में घुमाया गया है । नागरी सभ्यता एवं संस्कृति की परम्परा की अभिव्यक्ति के लिए लखनऊ जैसे क्षेत्र को ही चुना जा सकता है । इस नगर के व्यक्तित्व को उजागर करने तथा वहां के वातावरण को सजीव करने के लिए जिन साधनों को अपनाया है, उसका संकेत उसने स्वयं दिया है --' एक तरफ जहां शहर का 'असलीपन' दरसाने के लिए मैंने यहां के अनेक नये-पुराने नागरिकों,अखबारों,

---

१ 'बूंद और समुद्र',पृ०२९६

२ सत्यपाल चुघ :'प्रेमचंदोत्तर उपन्यासों की शिल्प-विधि',पृ०५४२

३ 'पाठकों से' से ।

संस्थाओं और स्थलों के वर्णन किए हैं, यही नहीं बल्कि क्याक्षेत्र के काल में नगर में होने वाली बहुत-सी घटनाओं का जिक्र किया है, वहां भी सारा चित्रण कल्पना से गुंथकर बेलौस है ।[1] प्रत्येक परिच्छेद के प्रारम्भ में किये जाने वाले वर्णन का वातावरण पहले ही लेखक कर देता है ।--`दोपहर का धूप क्तों पर जाड़े के दरबार लगाये चारों ओर पसर रही है । औरतों का सीना-पिरोना चल रहा है,गेहूं फटके जारहे हैं, दालें बीनी जा रही हैं, साग बनाये जा रहे हैं, कहीं आराम भी हो रहा है । स्कूल न जाने वाले बच्चों का हुड़दंग मचा है, पतंगें भी उड़ रही हैं । कहीं कोई पेंशनयाफ़्ता आज्ञाकारी कमासुत संतानों की तरह रक्षा और निश्चिन्तता देने वाले घाम की सराहता हुआ बुढ़ापे के शरीर पर चढ़े हुए ऊन और रुई के गिलाफ बेलौफ उतार कर हाथों से घुटने सहलाते हुए अपनी गठिया खोल रहा है, देर से रोटी खाने वाले घरों की क्तों पर अब भी कोई-काई सिर पर लोटे उड़ेलते हुए हरगंगे कह रहे हैं । जागती दुनिया के फटखट-फनफन-धमधम करते, चढ़ते-उतरते क्रोध-ममता-शोक-गंभीरता और हंसी मजाक से भरे हुए सतरंगे स्वर गूंज में सिमट गये हैं -- गूंज अणु अणु में व्याप रहा है ।[2]` इस उदाहरण में चौक की एक गली के प्रात: का वातावरण दृश्य-चित्र के रूप में उकेरा गया है ।

सज्जन गली मुहल्ले के वास्तविक और सघन चित्रों को देखने के लिए वहीं एक कमरा लेकर रहता है । मुख्य पात्रों सज्जन,ताई,वनकन्या,महिपाल, बाबाराम जी आदि के माध्यम से ही वातावरण एवं देश-काल की अभिव्यक्ति दी गई है । गोमती नदी के किनारे लेखक ने `शाम-ए-अवध` के वातावरण को सघन करने के लिए अलमस्तों की भीड़ जुटाई है भांग-बूटी के साहित्यिक आयोजन हुए हैं-- भांग-बूटी पर कविताएं और शृंगारिक कवित्त चले हैं । चौक के चौराहे में या पीपल के चबूतरे -- जिसका ब्यौरेवार वर्णन किया गया है-- पर बैठे,और आने जाने वाले लोगों की मजलिसें कराई गई हैं,जिससे लखनऊ के विभिन्न स्तर के लोगों की बोली बाणी की विविधता ही सामने नहीं आई, उससे उस समूह चरित्र का प्रकाशन भी

---

१ `पाठकों से ` से ।

२ `बूंद और समुद्र`,पृ०१३

हो गया है,जो नगर-मोहल्ले में घटने वाली हर बात पर अपनी प्रतिक्रियाएं व्यक्त करता है[1]।अमां,`अबे`,`उस्ताद` ,`यार`,`गुरू`आदि के सम्बोधन लखनवी रंग को व्यक्त करते हैं।

लखनऊ के सामाजिक वातावरण के साथ ही लेखक ने राजनीतिक और आध्यात्मिक वातावरण भी पर्याप्त रूप से चित्रित किया है। वनकन्या की मावज के साथ किए गए अत्याचार की घटना को लेकर सभी राजनीतिक पार्टियों की सच्चाइयां सामने आती हैं। कांग्रेसी सालिगराम,जनसंघी लाला मुकुन्दीलाल एवं बाबू छेदालाल ,सोशलिस्ट राधेश्याम एवं कम्युनिस्ट आदि सब अपने-अपने स्वार्थ की पूर्ति में तल्लीन हैं। वनकन्या कम्युनिस्टपार्टी से आस्था इसलिए त्याग देती है, क्योंकि उसने वहां का नंगा रूप देख लिया है। सज्जन के चित्रों की प्रदर्शिनी को लेकर बाबू सागिलराम,राजनीति का गंदा और टुच्चा खेल दिखाते हैं। इसके अतिरिक्त चुनाव के दिनों में लोगों की चेतना,प्रतिक्रियाएं, पोस्टरबाजी,हुल्लड़बाजी,कूटनीति आदि सभी को उपन्यास में स्थान दिया गया है। ताई एक ओर रूढ़ियों और परम्पराओं से जकड़ी मान्यताओं की सांस्कृतिक परम्परा को दर्शाती है, दूसरी ओर कर्नल ,सज्जन,महिपाल आधुनिक विचारों की दुनिया को उजागर करते हैं। महिपाल मन्दिरों, त्योहारों आदि सांस्कृतिक चिन्हों को लेकर चिन्तन करता है, व्याख्या करता है और इस प्रकार वह आध्यात्मिक सांस्कृतिक इतिहास आलोचना प्रस्तुत करता है। एक स्थान पर उत्सव का प्रसंग देकर लोकगीतों,लोकधुनों,एवं लोक परम्पराओं का चित्र भी दिया गया है। यहां बदलते युग की झांकी भी मिल जाती है। कहीं समाचारपत्रों के विवरण और कहीं पात्रों को रेडियो के समाचार सुनाकर तथा कहीं अपनी लेखनी से--किन्तु सर्वत्र संक्षेप में -- देशीय तथा अंतर्देशीय स्थिति की जानकारी दी गई है। समग्ररूप में उपन्यास में देशकाल,चित्रण का सघन चित्र और अधिकाधिक आग्रह--अस्तु कथानक की गति मन्द--स्थानीय विशेषताएं, आधुनिक एवं पारम्परिक चेतना,दृश्यचित्र तथा विभिन्न पात्र अपनी विशिष्टताओं के द्वारा एक समग्र समाज या देश के वातावरण को यथार्थ रूप में देते हैं।

---

१ सत्यपाल चुघ :`प्रेमचंदोत्तर उपन्यासों की शिल्प-विधि`,पृ०५४४

'बूंद और समुद्र की संवाद-योजना की अपनी विशिष्टता है । पात्रों के संवाद या वार्तालाप विभिन्न पात्रों के चरित्र का प्रकाशन करते हैं, दूसरी ओर उपन्यास के कथानक के विकास को गति प्रदान करते हैं । मानवीय चरित्र की बहुत सी ऐसी बातें जो लेखक स्वयं उपस्थित नहीं कर पाता,पात्र स्वयं अपने वार्तालाप में उन गहराइयों को प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप में स्पष्ट कर जाते हैं । पाठक उन वार्तालापों के सहारे पात्रों के साथ नैकट्य स्थापित करता है । उपन्यास में चूंकि पात्र बहुसंख्य और विविध हैं, इसलिए उनके अनुरूप वार्तालाप या संवाद के रूप भी विविध हैं । प्रत्येक पात्र अपनी बोली-वाणी के द्वारा पाठकों के सब सामने सहजता से पहचाने जा सकते हैं । संवादों के विविध रूप कहीं हास्य-व्यंग्य जो हंसाते भी हैं,तिलमिलाते भी,शृंगारिक प्रसंग में सहायक उक्तियां और मार्मिक कथन , तो कहीं वाग्वैदग्ध्यपूर्ण एवं प्रत्युत्पन्नमतिपूर्वक कथन पात्रों की चारित्रिक व्यंजना प्रस्तुत करते हैं । बहुविध पात्र अपनी निजी वाणी या भाषा के द्वारा पृथकता की पहचान कराते हैं, जो इस उपन्यास के संवाद-योजना की अपनी विशिष्टता है । डा० रामविलास शर्मा का कथन है-- 'अमृतलाल नागर द्वारा किया हुआ एक मुहल्ले का 'लिंग्विस्टिक सर्वे' भाषा-विज्ञान की सामग्री का अद्भुत पिटारा है । अभी तक क किसी भी देशी-विदेशी भाषा में एक नगर की इतनी बोली-ठोलियों का निदर्शन करने वाला उपन्यास मेरे देखने में नहीं आया । इन शैलियों में भाषा और समाज का इतिहास बोलता है । इसके अतिरिक्त कला की दृष्टि से व्यक्ति का कम से कम पचास फीसदी उसकी शैली से प्रकट होता है ।'[1] इस संदर्भ में उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं । ताई हाथरस की रहने वाली होने के कारण हाथरसी ब्रज प्रभावित भाषा का उदाहरण प्रस्तुत करती है--' हाय-हाय ! कहसे चिल्लामें हैं निगोड़े डाकू जैसे । सत्यानास हो जाय मरों का । बारा बारा बजे नहायेंगे --अघोरी ! ये मझुली मासपीटे की बहुएं निगोड़ी आंखों के आगे ही मामुस गंध जइसी लड़ी हैं । मरे कहीं भी दो घड़ी चुप करके बैठने नहीं देते । ऊंह ! अरे,जइसा-जइसा ये सब लोग भैरे

---

१ 'आलोचना' अंक २०,पृ०८३

ऊपर जुलुम ढागे हैंगे, कलपामे हैंगे, वैसा इनका सात पोढ़ियों के आगे गावेगाइ । इनके तन-मन में कोड़े पड़ेंगे । मरों को कफ़कफन तलक नहीं जुड़ेगा ।.... फिर आई-- फिर आई कलमुहो । अरे तेरे तन-तन में कोड़े....[1] महिपाल को भाषा में प्रबल अहं और परिनिष्ठित आभिजात्य हिन्दो का रूप 'आत्महत्या का आवेश आंसुओं को शक्ति लेकर हो बढ़ता है सज्जन । भला किसो को इस तरह मरने को नौबत हो क्यों आये ? इंसान का औलाद को धरती पर पहलो सांसइ लेते ही इस नृशंसता से दम घोंटकर मारा जाय । ये सबर हम और आप देखेंगे । सुनेंगे और बर्दाश्त करेंगे ।[2] कांस्टेबिल को अर्द्धशिक्षित अंग्रेजो हिन्दो-अवधो मिश्रित भाषा 'कोतवालो को वैहलेस कर दिया हुजूर । मिरजाजी अटेण्ड कर रहे थे हुजूर, तौन उन्होंने मिसेज दिया कि अस्पताल को गाड़ी भिजवाते हैं हुजूर ।[3] घुमक्कड़ साधु को हिन्दी '-... वो विचार में पड़ गया, फिर कहा कि अच्छा जाओ, तुमने हमरो जथार्थ वर्णन करिके सुंदर काम किया है, हम तुम्हें बचाय लेंगे, बाको हत्यारे को हम नौकर नहीं रखेंगे ।... तो कहने का तात्पर्य येह है रामजो कि मुढ़ता में मनुष्य पहले अपनो गलतियों से अनुभव पाता है, परन्तु बाद में यदि सतर्क हुई के चेष्टा करै तो सद अनुभव ग्रहण करने को सक्ती संचय करता है ।[4] तात्पर्य यह कि प्रत्येक पात्रों के संवाद या वार्तालाप में उनका निजोपन सर्वत्र देखा जा सकता है, संवाद और भाषा को यह विशिष्टता उपन्यास को काफी समर्थ बना देतो है ।

वार्तालाप को पात्रानुकूलता शब्द-चयन तक हो सोमित नहीं, ये पात्रों को मन:स्थिति, परिस्थिति, शिक्षा-संस्कृति तथा तदनुकूल शैलो तक विस्तृत है-- शब्दों को प्राकृत जन-संस्करण या लोकोच्चरित रूप, अधूरे टूटे शब्दों--वाक्यांशों को आवृत्ति, लिखने के बजाय बोलने के सुविधाजनक क्रमानुकूल

---

१ 'बूंद और समुद्र', पृ०४

२ वही, पृ०६३

३ वही, पृ०५४

४ वही, पृ०२५५

वाक्य-विन्यास, यति-गति सूचक अन्तराल चिन्ह, साभिप्राय मौन आदि इस शैली के उपकरण हैं। ये शैली कहीं द्रुत, कहीं क्षिप्र, कहीं मन्द्र और कहीं मात्र कुछ स्फुट शब्दों के क्रिया विहीन वाक्यों से निर्मित हैं।[1] महिपाल के संवादों में उसके अवचेतन में स्थित अतृप्त इच्छायें एवं अहंभाव प्राय: तिलमिलाते हुए व्यंग्य के रूप में देखे जा सकते हैं। बाबाराम जी और कर्नल अहं मुक्त, सीधे सादे और स्पष्ट वार्तालाप प्रस्तुत करते हैं। चित्रा और शीला के संवादों में हृदय का अंतर्वेदना, आभिजात्य रोमान्स और हास्य के सम्मिलित रूप देखे जा सकते हैं।

'बूंद और समुद्र' की भाषिक उपलब्धि नि:संदेह महत्वपूर्ण है। भाषा के विविध रूप, विभिन्न पात्रों के अनुरूप उजागर हुए हैं। प्रत्येक पात्र अपनी विशिष्ट बोली भंगिमा लेकर उपस्थित हुए हैं। उपन्यास के सम्पूर्ण भाषा-समुद्र में प्रत्येक पात्रों की अपनी-अपनी बोलियां लहरों के रूप में योग देकर एकाकार दिखाई देती है। दृश्य चित्रों के प्रकाशन में भाषा का चित्रात्मक या बिम्बात्मक रूप भी मुखर हुआ है,[2] कहीं-कहीं भाषा को प्रतीक रूप में रखने का भी प्रयत्न किया गया है।[3] लेकिन सहज और प्रकृत भाषा रूप देने का ही अधिकाधिक प्रयास किया गया है, क्योंकि एक विशिष्ट मुहल्ले को उजागर करना था, इससे अंग्रेजी, अवधी, उर्दू आदि के प्रचलित रूप उसमें बिखरे ही गए हैं। प्रयुक्त भाषा से इन शब्दों को निकालना मुश्किल दिखाई देता है। उद्धरण शैली का प्रयोग करते समय भाषा लय उत्पन्न करती हुई हल्के-फुल्के अनुगुंज उत्पन्न करने में समर्थ है। यहां भाषा का काव्य रूप भी देखा जा सकता है। आध्यात्मिक चिन्तन के समय भी पात्र स्पष्ट और सीधे वाक्य बोलते हैं, उसमें किसी प्रकार का उलझाव नहीं देखा जा सकता। लेकिन कहीं-कहीं लम्बे-लम्बे चिन्तन या पात्रों के विचारों को प्रस्तुत करते समय लम्बी-लम्बी व्याख्याएं दी गई हैं, वहां भाषा कृत्रिम और भाषण सी लगने लगती है। केवल इसी स्थान पर पाठकीय संवेदना क्षरित हुई देखी गई है।

---

१ डा० सत्यपाल चुघ : 'प्रेमचंदोत्तर उपन्यासों की शिल्प-विधि', पृ०५४६।

२ 'बूंद और समुद्र', पृ०१,४,६,२५४, २३७, ३६७ आदि।

३ वही, पृ०१४,३६६ आदि

सारांश में भाषा को अधिकाधिक वर्णनात्मक रखने का प्रयत्न किया गया है । डा० रघुवंश को शिकायत है--" प्रस्तुत उपन्यास में अलग-अलग स्तरों के अनुकूल भाषा का निर्वाह तो मिलता है, पर सम्पूर्ण योजना की असफलता के समान व्यापक रूप से भाषा का कोई समर्थ संरचनात्मक रूप नहीं उभर पाता । सांस्कृतिक चर्चाओं और ऊहापोहों तथा बाबाराम,कर्नल और ताई के भाषा-प्रयोग के बाह्य रूप के अन्तराल में इसका स्पष्ट प्रमाण देखा जा सकता है । भाषा के बाह्य रूप से वातावरण तथा चारित्रिक विशिष्टताओं को व्यक्त करने का प्रयास लेखक को तात्कालिक सफलता के बावजूद उसकी कलात्मक दृष्टि की कमजोरी ही मानी जायगी [१] ।"

`अंधेरे बन्द कमरे` (१९६१)[२]

`अंधेरे बन्द कमरे` मोहन राकेश का प्रथम वृहदाकार उपन्यास है । इसमें आधुनिकता के नाम पर तनाव,घुटन,जीने के अस्तित्व की पीड़ा, मनुष्य की खोखली जिन्दगी,नारी-पुरुष के बदलते रिश्ते, दिल्ली के `काफी हाउस` से लेकर लन्दन तक के सामयिक वातावरण, राजनीतिक दांवपेंच, सांस्कृतिक संवेदना आदि को तेवर के साथ व्यक्त करने की कोशिश की गई है । दूसरी ओरकस्साबपुरा की बदबूदार और कीड़ों से बदतर जिन्दगी को भी उकेरने का प्रयास हुआ है-- और इस बहुआयामी भाववस्तु के अनुरूपशिल्पविधान का बंधान भी बांधा गया है । वस्तु `अंधेरे बंद कमरे` पिछले दो दशक की एक महत्वपूर्ण, प्रथम उपन्यास होने के बावजूद, कथाकृति बन जाती है । शिल्प विधान की दृष्टि से लेखक ने इस उपन्यास में कई युक्तियों का प्रयोग करना चाहा है, लेकिन ये प्रयोग प्रभावशाली नहीं बन पाये हैं और कुल मिलाकर उपन्यास वर्णनात्मक शिल्प विधान से आगे नहीं बढ़ पाया है ।

उपन्यास का शीर्षक कथावस्तु के अनुरूप है । लेखक ने आधुनिकता के लिबास में लिपटी हुई हरबंश और नीलिमा के अंधेरे बंद जिन्दगी, ~~xxxx~~

---

१ `माध्यम`,मई १९६५,पृ०११०

२ मोहनराकेश : `अंधेरे बन्द कमरे`,राजकमल प्रकाशन,नई दिल्ली,१९६१

सभ्यता एवं संस्कृति की नंगी तलवार, राजनीतिक कुहम और पत्रकारिता के अंधेरे बंद कोनों की छानबीन की है। करसाबपुरा का गन्दी बस्ती में रहने वाले लोगों के अंधेरे भटकते हुए जीवन को भी गहराई से स्पर्श किया गया है। इस प्रकार शीर्षक प्रतीकात्मक ढंग पर उपन्यास की भाववस्तु को व्यंजित करने में सफल है। डा० सुरेश सिन्हा के शब्दों में--' इस उपन्यास में स्वतन्त्रता के पश्चात् देश में बड़ी सांस्कृतिक गतिविधियों और राजनीतिक दाव-पेंचों के साथ पारिवारिक जीवन के अंधेरे बंद कोनों का मोहन राकेश ने बड़ी कुशलता से पर्दाफाश किया है.... '[1]।

उपन्यास की कथा चार खंडों में कही गई है। इन चार खण्डों में मुख्य रूप से हरबंस-नीलिमा की कथा को मुखर किया है, लेकिन सम्पूर्ण कथा का नैरेटर पत्रकार मधुसूदन है। मोहन राकेश उपन्यास की भूमिका में लिखते हैं ... ' और जहां तक परिचय का सवाल है, मैं सोचकर नहीं तय कर पा रहा हूं कि इसे क्या कहूं; आज की जिन्दगी का रेखाचित्र ? पत्रकार मधुसूदन की आत्मकथा ? हरबंश और नीलिमा के अन्तर्द्वन्द्व की कहानी ?.... सच मैं नहीं तय कर पा रहा हूं। पढ़कर आप जो निश्चय करें, वह ठीक होगा ... '[2]। यानी लेखक एक साथ -- दिल्ली के वातावरण को, मधुसूदन का आत्मकथा को और हरबंस -नीलिमा के पारिवारिक तनाव की कहानी को-- व्यक्त करना चाहा है। और किसी को प्रधानता देने की हड़बड़ी में उपन्यास का सम्पूर्ण कथानक गड्डमड्ड और शिथिल हो गया है। जहां तक पत्रकार मधुसूदन की आत्म-कथा का सवाल है--नीलिमा-हरबंस और उसके परिवार का कहानी उसके पत्रकार जिन्दगी के अन्दर अंट नहीं पाता, क्योंकि हरबंस-नीलिमा की कहानी को इतना विस्तार दे दिया गया है कि वह मधुसूदन की आत्मकथा से ज़्यादा ऊपर दिखाई देने लगता है। अगर यह कहा जाय कि उपन्यास मुख्यरूप से हरबंस-नीलिमा के

१नेमिचन्द जैन : अंधेरे `अधूरे साक्षात्कार`, पृ०१३२

२`अंधेरे बंद कमरे` की भूमिका से ।

अंतर्द्वन्द्व को व्यक्त करता है तो मधुसूदन के पत्रकार जीवन-कथा को जबरदस्ती ठूंसा हुआ कहा जायगा ।

उपन्यास के सम्पूर्ण कथा-वर्णन में पत्रकारिता या रिपोर्टिंग शिल्प का उपयोग किया गया है । इसके लिए पत्रकार मधुसूदन को माध्यम बनाया गया है । सूदन वह खिड़की है, जिसके माध्यम से हम उपन्यास में वर्णित मनुष्यों की जिन्दगी को फांक सकते हैं । लेकिन कथा का यह विधान अधिक सफल हो सकता था, यदि रचनाकार पत्रकारमधुसूदन की जिन्दगी का वर्णन न करता या फिर उसे मुख्य कथा से ठीक ढंग पर बैठा पाता । पूरा उपन्यास पढ़ने लेने के बाद यही लगता है कि हरबंस-नीलिमा की जिन्दगी और दिल्ली की दुनिया को प्रस्तुत करने के बजाय नैरेटर अपनी जिन्दगी का बयान करने लगा है और उसकी यह जिन्दगी इतनी अलग और ढुलमुल है कि मुख्यकथा में उसकी सम्पृक्ति नहीं हो पाती । इस बात को नेमिचन्द्र जैन भी स्वीकार करते हैं --'वास्तव में इस उपन्यास में दो अलग-अलग विषयवस्तुओं को जोड़ने और एक साथ रखने का प्रयास है : पत्रकार मधुसूदन की निजी आत्मोपलब्धि का संघर्ष और कलाकार बनने का स्वप्न देखने वाली एक स्त्री और उसके पति के बीच कशमकश । और इन दोनों का जोड़ ठीक नहीं बैठा है, वह न केवल अलग दिखाई पड़ता है और उससे पूरे उपन्यास की अन्विति नष्ट हुई है, बल्कि उसने उपन्यास के सबसे प्रमुख और महत्वपूर्ण सूत्र -- नीलिमा और हरबंस के बीच द्वन्द्व की तीव्रता को भी हल्का कर दिया है ।'[1] इन दो कथाओं में भी कई छोटे-छोटे चित्र हैं,जिनका सम्बन्ध न तो मधुसूदन की जिन्दगी से है और न ही हरबंस-नीलिमा के कथा-प्रसंग से-- जैसे कस्साबपुरा में य हवाबतअली और उनकी टूटी हवेली में रहने वाले तथा उस गली के निम्नवर्गीय व जीवन का चित्र, पालिटिकल सेक्रेटरी का कथा चित्र,पत्रकारों, लेखकों और कलाकारों का अड्डा काफीहाउस का वर्णन । ये प्रसंग काफी लम्बे और विस्तारपूर्ण हैं । ये अपने-आप में रोचक हो सकते हैं, लेखक के विस्तृत अनुभव की जानकारी दे सकते हैं, लेकिन उपन्यास की कलात्मकता में अतिरिक्त और ठूंसे हुए लगते हैं । लगता है लेखक को जिन्दगी में नई दिल्ली का परिवेश

---

१ नेमिचन्द्र जैन : 'अधूरे साक्षात्कार',पृ०१२७

और निम्नवर्ग की अनुभूति इस कदर उलझा हुई है कि वह उन सब को एक ही कृति में चित्रित कर देना चाहता है । इस कारण कथा का सम्पूर्ण ढांचा बिखर कर लुंज पुंज हो गया है ।

उपन्यास का कथानक घुमावदार है और जानबूझकर उसे उलझाकर प्रस्तुत किया गया है, जिससे रहस्य का अनुभूति बराबर बनी रहे । पहले खण्ड में, पत्रकार मधुसूदन नौ साल बाद फिर दिल्ली आता है तो अचानक कनाट प्लेस में उसको हरबंस से भेंट हो जाती है और वह उसे काफी हाउस चलने का आग्रह करता है । कुछ टालमटोल के बाद मधुसूदन उसके साथ चला जाता है, पर 'जनपथ के कारीडार में उसके साथ चलते हुए' मधुसूदन को नौ वर्ष पहले का अपना दिल्ली का जीवन, हरबंस से परिचय और उससे सम्बन्धित घटनाओं की याद आ जाती है । इसके बाद उपन्यास के पहले खण्ड का बाकी हिस्सा उन्हीं प्रसंगों को लेकर है.... ।[1] यानी उपन्यास का लगभग आधा हिस्सा मधुसूदन के फ्लैश बैक के रूप में लिखा गया है । नौ साल पहले जब वह दिल्ली के 'ऐरावती' में काम करता था, वहां की हल्की-सी झांकी । यह मधुसूदन की जिन्दगी का मात्र एक चित्र है, इसके सिवा इस प्रसंग का कोई महत्व नहीं है । कम्मावपुरा की बस्ती का चित्र--इबादतअली और लड़की खुरशीद की कहानी, ठकुराइन और निम्मो की कथा झांकी । इस चित्र में दिल्ली जैसे आधुनिक फैशनेबुल शहर की निम्नवर्गीय बस्ती का रोचक वर्णन है । नीलिमा केवल एक बार यहां आती है और 'हट्स हारिबिल' कहकर चौंकती और मुंह सिकोड़ती है ।बस्ती की हवेली में कई परिवार कीड़ों की भांति रहते हैं, जिसका मालिक इबादतअली वा वीरान जिन्दगी के साथ अपनी युवा लड़की खुरशीद के साथ ऊपरी मंजिल पर रहता है । निम्न मध्यवर्गीय हिन्दू मुसलमानों की इस गरीब बस्ती में झगड़े-फसाद और शोक-मातम के साथ ही राग रंग की बातें भी समय-समय पर होती रहती हैं और साथ ही रहस्य और रोमांच की चर्चायें भी चलती रहती हैं ।[2]

---

१ नेमिचन्द्र जैन : 'अधूरे साक्षात्कार', पृ०१२७-२८

२ 'माध्यम', फरवरी, १९६५, पृ०७०

मधुसूदन इस बदबूदार गन्दी गली में विवशतावश रहता है,लेकिन उसका यायावर और आभिजात्य संस्कारयुक्त मन मुक्ति के लिए छटपटाता रहता है । इसीलिए `इरावती` में नौकरी मिलने के बाद से वह नई दिल्ली की तड़क-भड़क और आभिजात्य की दुनियां में अपने को व्यस्त रखता है ।हरबंस के माध्यम से उसका परिचय नीलिमा और शुक्ला-सरोज से होता है और इस परिचय के बाद उसका अधिकांश वक्त इन्हीं लोगों के साथ कटता है । प्रथम परिचय से ही सुदन शुक्ला की ओर आकर्षित होते हुए संकेतित किया गया है, पर अपने इस आकर्षण के सम्बन्ध में उसे कभी मुखर होते नहीं देखा गया । इस बारे में वह कभी पहल करते भी नहीं दिखाया गया । खण्ड के अंतिम पृष्ठों में अवश्य नीलिमा से प्राप्त सुरजीत और शुक्ला की बढ़ती हुई घनिष्ठता की सूचना से उत्तेजित होते दिखाया गया है । लेकिन अब भी वह कुछ करता नहीं,बल्कि परेशान होकर दिल्ली से बाहर चला जाता है । स्पष्ट ही मधुसूदन का यह सारा भावावेश निष्क्रिय प्रकार का है और यह निष्क्रियता भी किसी प्रकार से स्थितियों, घटनाओं और भावों के बीच तीव्र संघात द्वारा स्थापित नहीं, विशुद्ध अकर्मण्यता द्वारा स्थापित है...[1] ।

उपन्यास का कथानक अप्रत्यक्ष ढंग से पाठकों के सामने उपस्थित होता है, क्योंकि कथा का समस्त ताना-बाना मधुसूदन के हाथों में ही केन्द्रित रहता है । वह उपन्यास में निष्क्रिय रहते हुए भी कथा के अधिकांश भाग को घेरे रहता है। हरबंस और नीलिमा कथा सूत्र अपने आप नहीं खुलते, न लेखक अपनी ओर से खोलता है,बल्कि इसके लिए भी मधुसूदन का सहारा लेना पड़ता है । हरबंस-नीलिमा दोनों अपनी स्थितियों,घटनाओं के सम्बन्ध में सुदन को सूचना देते जाते हैं और इस प्रक्रिया से कथा सूत्र पाठकों तक सम्प्रेषित होता चलता है । स्पष्ट ही वर्णनात्मक शिल्प-विधान का यह उलझा हुआ तरीका है । यहां तक कि हरबंस और नीलिमा अपने भविष्य का निश्चय भी उसको सामने रखकर और पूछकर करते हैं, हालांकि इस बारे में कोई निर्णय न देकर केवल मौन रहता है । कथा शिल्प के इस विधान में ऐसा करना आवश्यक था ,क्योंकि इस माध्यम से वे अपने-आपको खोल सकेंगे । एक प्रकार

----

१ नेमिचन्द्र जैन : `अधूरे साक्षात्कार`,पृ०१२८

से हरबंस नीलिमा और दूसरे पात्र मधुसूदन के हाथ की कठपुतली हैं ।

कथा के इस विधान में संवादों का स्थान महत्वपूर्ण हो गया है । पात्रों के परस्पर संवाद से कथासूत्र खुलते हैं और अधिकांश संवादों के बीच में हरबंस की उपस्थिति रहती है । हरबंस अपने भविष्य के निश्चय के बारे में सूदन को सूचना देता है--'एक बात है जो मैं तुम्हीं को बता रहा हूं । बहुत जल्दी ही मैं यहां से बाहर चला जाऊंगा ।'

'मतलब दिल्ली छोड़कर और कहीं नौकरी कर लोगे ?'[१]
नीलिमा अपने निश्चय के सम्बन्ध में सूदन से कहती है--'मैं आज तुम्हारे पास इसीलिए गई थी कि मैं एक उलझन में हूं और फैसला नहीं कर पा रही हूं कि मुझे क्या करना चाहिए । ... ' । 'हरबंस ने मुझे लिखा है कि मैं वहां चली जाऊं, मगर मैं तय नहीं कर पा रही कि मुझे जाना चाहिए या नहीं... ।'[२]

नीलिमा हरबंस द्वारा भेजी गई चिट्ठियों को मधुसूदन के सामने रखती है और सूदन ज्यों का त्यों उन पत्रों को सामने रख देता है । नीलिमा स्वयं इन पत्रों को पढ़ती है । इस प्रकार यहां कथानक में पत्र शिल्प का भी उपयोग किया गया है । इन पत्रों के माध्यम से सिर्फ हरबंस की लंदन यात्रा और नीलिमा से दूर होकर उसकी भावुक मन:स्थिति का पता लगता है । ये अधिकांश लम्बे, विस्तृत और संख्या में ज्यादा हैं, इससे कथा आकर्षण बाधित ही हुआ है । हरबंस की भावुक मन:स्थिति की सूचना दो-एक पत्रों से ही हो सकती थी ।

इस कथाकृति में कथानक शिल्प के अप्रत्यक्ष विधान के इस्तेमाल के सम्बन्ध में लेखक की कमजोरी स्पष्ट है और इस सम्बन्ध में कई आलोचक सहमत

----

१ 'अंधेरे बंद कमरे', पृ०६८

२ वही, पृ०१३३ ।

भी हैं । राही मासूम रज़ा लिखते हैं--'इस कहानी का सबसे बड़ा ऐब यही है कि इसे मधुसूदन सुना रहा है और इसपर जिद कर रहा है कि वह भी एक पात्र है । नतीजा यह होता है कि यह नैरेटर कहानी के पात्रों को हटाकर आधी जगह घेर कर बैठ जाता है । और इसकी वजह से कहानी के पात्रों यानी हरबंस नीलिमा, शुक्ला, सुरजीत और अरूण को फैलने की जगह नहीं मिलती और यह लोग ठुंसे ठुंसे से दिखाई देते हैं । यह कहानी यदि हरबंस ने फर्स्ट परसन में सुनाई होती तो शायद इससे अच्छी बनी होती । क्योंकि तब हम कस्साबपुरा और बस्ती हरफूल और पत्रिकाओं के दफतर और दिल्ली के गली-कूचे में मारे मारे फिरने से बच गये होते । और जो पन्ने ठकुराइन, इबादतवली, सुरशोद, पहलवान और बत्रा वगैरह के बयान में जाया हुए हैं, उन्हें हरबंस और नीलिमा के लिए इस्तेमाल किया जा सकता था । मधुसूदन ही की वजह से इस कहानी में बेशुमार छोटे-बड़े फ्लैशबैक आये हैं जिनकी वजह से कहानी बार-बार झोल खाने लगती है और रूक जाती है । मधुसूदन की ही वजह से लगभग सारी कहानी बातचीत में सुनाई गई है । हरबंस और नीलिमा के दिल में झांकने की और सूरत ही क्या हो सकती थी । यदि कोई ऐसा आदमी फर्स्ट परसन में कहानी सुनायेगा जो कहानी का पात्र नहीं है तो बातचीत से जान बचाने की कोई शक्ल ही नहीं है, क्योंकि वह हरबंस नहीं है । उसे क्या मालूम कि हरबंस पर क्या गुजरी । वह नीलिमा नहीं है । उसे क्या मालूम कि नीलिमा किस तूफान में फंसी हुई है । इसलिए वह मजबूर है कि फिर-फिर कर हरबंस और नीलिमा से बातचीत करे.... ।'[१]

पहले खण्ड में मधुसूदन की आत्मकथा से अधिक हरबंस-नीलिमा के सम्बन्धों की जानकारी दी गई है । उसे पूरे उपन्यास में अजीब सा उलझा हुआ और अधूरा दिखाया गया है । वह क्या चाहता है, उसका क्या

----

१ ललित शुक्ल : 'दिशाओं का परिवेश', पृ०६०-६१

विजन है जिसके लिए वह छटपटाता रहता है,अन्त तक समझ में नहीं आता । एक हल्का-सा संकेत मिलता है कि वह साहित्यकार बनना चाहता है और अपने बिखरे हुए विचार फाइलों में बन्द भी कर रखा है । एक कालेज में वह अध्यापन भी करता है, लेकिन वहां भी सन्तुष्ट नहीं है । नीलिमा से गहरी सम्पृक्ति होते हुए भी छोटी-छोटी बातों को लेकर बहस करता रहता है ।

हरबंस की पत्नी महत्वाकांक्षिणी नीलिमा की कहानी सबसे रोचक है । हरबंस के ही दिलचस्पी जगाने पर वह पेंटिंग करता है,लेकिन खास रुचि न होने के कारण इसके प्रति मोह स्खलित होता गया । हरबंस की ही प्रेरणा से बाद में वह नृत्य का अभ्यास करने लगी,लेकिन राप्यू हाउस के प्रदर्शन के बाद से हरबंस क उसको नृत्यकला से भी उकता जाता है । नृत्य को अपने व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति का माध्यम बनाने का प्रयास किसी भी संवेदनशील आत्मसजग तथा सौन्दर्य-बोध और नैतिक दायित्व युक्त स्त्री के लिए अनिवार्य संघर्ष का स्रोत है--अन्य कलात्मक विधाओं में इतनी अधिक विस्फोटक संभावनाएं नहीं होतीं....[1] हरबंस का क्षोभ और उकताहट जो बराबर बनी रहती है, उसको स्पष्ट तो नहीं किया गया है,पर सूचनात्मक ढंग पर इंगित कर दिया गया है । वस्तुत: हरबंस-नीलिमा का तनाव किसी भी अवस्था में बहुत गहराई पर उजागर नहीं होता, एक साधारण-सी बात को जैसे खींचतान कर अत्यन्त महत्वपूर्ण बनाने की जबरदस्ती कोशिश की गई है । शुरू से अन्त तक इन दोनों के संघर्ष का ग्राफ एक ही धरातल पर नितान्त समतलीय है रहता है,उसमें अधिक उत्तेजक उतार-चढ़ाव आता ही नहीं[2] । वे बार-बार अत्यन्त सतही बातों को लेकर एक ही भंगिमा और एक ही भाषा में झगड़ा करते हैं । प्राय: वे एक दूसरे को कुछ न समझने और संवेदनहीनता का आरोप लगाते हैं और परस्पर चुप रहने, न बोलने, बकवास न करने और चले जाने के लिए चीखते हैं । केवल विदेश में होने

---

१ नेमिचन्द्र जैन : 'अधूरे साक्षात्कार',पृ०१२६

२ वही,पृ०१३०

वाला घटनाओं में कुछ विविधता है, वह भी परिवेश और परिस्थितियों के कारण। पर वहां भी संघर्ष की अभिव्यक्ति उसी प्रकार की स्थिति और शब्दावली में होती है, और पुनरावृत्ति के प्रभाव को ही पुष्ट करती है। इसी कारण इस संघर्ष का कोई गहरा केन्द्र नहीं उभरता, यद्यपि भंगिमा निरन्तर यही बना रहता है। विशेषकर हरबंस तो हरबार कुछ ऐसा भाव दिखाता है, जैसे वह कितने बड़े नैतिक मानसिक और आध्यात्मिक अंत:संघर्ष से पीड़ित है।[1]

हरबंस अपना थीसिस पूरी करने के लिए लन्दन चला जाता है पर वास्तव में वह नीलिमा और उसके परिचितों के व्यवहार से क्षुब्ध होकर गया था। किन्तु एक सप्ताह भी नहीं बीते थे कि वह नीलिमा के बिना आकुलता से भर उठता है और तुरन्त चले आने का भावुकतापूर्ण आग्रह करता है। वस्तुत: हरबंस और नीलिमा दोनों एक-दूसरे के बिना नहीं रह सकते, पर एक साथ रहने पर उनके व्यक्तित्व का मेल नहीं बैठता पाता। क्योंकि हरबंस संस्कारों में बंधा है, जब कि नीलिमा एकदम मुक्त। भावुक और संवेदनशील पत्रों को पढ़कर उसकी बेचैनी महसूसकर वह लन्दन हरबंस के पास जाती है, किन्तु वहां पहुंचकर फिर उसी भाषा में, उसी आयाम में एक दूसरे से तंग होने लगते हैं। यहां की आर्थिक परिस्थितियां तनाव को और भी मुखरित करती हैं। नीलिमा जैसी महत्वा-कांक्षिणी युवती के लिए `बेबी सिटर' बनकर गुजारा करना अत्यधिक पीड़ा पहुंचाता है। इसीलिए उमादत्त ट्रुप के साथ नृत्य प्रदर्शन के लिए काम मिल जाने पर हरबंस के मना करने के बावजूद चली जाती है। विदेशों में कई सफल प्रदर्शन के बाद ट्रुप तो वापस लौट आता है, लेकिन नीलिमा एक बर्मी `बेचारा' कलाकार के साथ कुछ दिनों के लिए पेरिस रुक जाती है। उसके साथ बिताये गये दिनों एवं निश्छल सम्बन्धों के बारे में जब वह हरबंस को बताती है, उस समय से दोनों के तनाव का संघर्ष और भी तीव्र हो जाता है। द्वन्द्व को इस स्थिति को और भी जीवन्त किया जा सकता था, लेकिन लेखक जैसे जानबूझकर उस स्थिति से

---

१ नेमिचन्द्र जैन :`अधूरे साक्षात्कार',पृ०१३०

बचने का प्रयत्न करता है । तनाव का तीव्र उद्वेलन नहीं दिखा सका है ।

भारत लौटने के पश्चात् नीलिमा की नृत्य संबंधी महत्त्वाकांक्षा और भी बढ़ती है और 'कला निकेत' की सहायता से नृत्य प्रदर्शन की योजना बनाती है । सारे प्रयत्नों एवं तैयारियों के बावजूद प्रदर्शन लगभग असफल रहता है और इस निराशाजनक व असफलता का सारा दोष नीलिमा हरबंस के ऊपर आरोपित करती है । कुछ ही दिनों में अपनी साख के कारण नीलिमा हरबंस को छोड़कर अलग रहने लगती है । यद्यपि दोनों यह समझते हैं कि उनके हित में यह अच्छा ही हुआ, किन्तु दोनों अलग रहकर पुन: बैचेन रहते हैं । हरबंस छटपटाता हुआ बंद कमरे में छटपटाता हुआ शराब पीता है और नाटकीय ढंग से पर एक ही दिन में नीलिमा वापस लौट आती है । 'सामने रसोईघर में मिट्टी के तेल का स्टोव जल रहा था और उसके ऊपर भुकी हुई सी नीलिमा खड़ी थी ।.....'[1] बाद में वह कहती है -- '.... मैं आना नहीं चाहती थी, मगर मैंने फिर सोचा कि ... सोचा नहीं, मुझे लगा कि .... शायद अब यही ठीक है ।'[2] इस प्रकार वर्षों तक फैशन की दुनिया के छोटे-छोटे और हास्यास्पद कारणों से दोनों पति-पत्नी के बीच बुरी तरह खटपट होते रहने के बाद, अन्त में दोनों का मिलन हो जाता है और उसके बाद नानी वाली कहानी की तरह शायद दोनों सुख से रहने लगते हैं । यह है नीलिमा और हरबंस, दोनों के रहस्यमय चरित्र की अद्भुत चकमानी परिणति[3] ।

इस प्रकार उपन्यास के अन्तिम तीन खण्डों में हरबंस-नीलिमा के सम्बन्धों को ही विस्तार मिला है, किन्तु साथ साथ कुछ छोटी कथाएं भी चलती हैं-- कस्साबपुरा के ठेठ ठकुराइन की उजड़ने की कथा पालिटिकल सेक्रेटरी का कथासूत्र तथा मार्मिक प्रसंग मधुसूदन-सुषमा श्रीवास्तव की कहानी ।

----

१ 'अंधेरे बंद कमरे', पृ०५३२

२ वही, पृ० ५३३

३ 'माध्यम', फरवरी, १९६५, पृ०७३

ठकुराइन अपना सब कुछ खोकर करनालपुरा की गंदी गलियों के सम्बन्ध में निकले लेख के बारे में पूछने के लिए सूदन के पास करौलबाग आती है । इधर-उधर की बातचीत के बाद सूदन के विवाह का संदर्भ भी उठाती है। और जब वह अपनी रुचि सादा-सादी लड़की के विषय में बताता है उस समय अप्रत्याशित ढंग से वह अपनी लड़की निम्मी की ओर इशारा करती है । लेकिन चौंककर यहां वह इस बात को लगभग अनसुना सा कर देता है ।

उपन्यास के अन्त में मधुसूदन दिल्ली की खाक छानने के बाद सुषमा श्रीवास्तव से ऊब जाने के बाद ठकुराइन की अनाथ लड़की निम्मी को प्रेमोपहार देने के लिए टैक्सी में चल पड़ता है : ` मैंने एक लम्बी सांस ली और मन में कुछ हल्का महसूस करता हुआ सीट पर थोड़ा और नीचे को खिसक गया ।`[1] उपन्यास की यह अन्तिम परिणति भी फिल्मी और अनावश्यक नाटकीय-सी लगती है । डा० सुरेश सिन्हा के शब्दों में--`मधुसूदन के प्रसंग में सुषमा का प्रसंग जितना रोचक है, उसका अंत अत्यन्त नाटकीय और आरोपित है । जिसप्रकार एक सस्ते फिल्मी लटके का सहारा लेकर उसके रहस्य का पर्दाफाश कराकर निम्मी के पास मधुसूदन को भेजकर `जैसे उसके दिन फिरे वैसे ही सभी गरीब लड़कियों के दिन फिरे` की मुद्रा में लेखक यह प्रसंग समाप्त कर देता है,वह नितान्त सतही और अविश्वसनीय लगता है ।`[2]

उपन्यास के पात्रों का चरित्रांकन भी कथानक की भांति उलझा हुआ,अस्पष्ट और शिथिल है । कोई भी पात्र ऐसा नहीं है,जिससे उपलब्धि की कुछ आशा की जा सके । कहने के लिए उपन्यास में पात्रों की संख्या तो अधिक है, लेकिन मुख्यरूप से मधुसूदन-हरबंस-नीलिमा ही पूरी कथा में छाये रहते हैं । फिर भी इनका चरित्र कला की दृष्टि से उत्कृष्ट नहीं बन पाया है ।`.....प्राय: सारे उपन्यास की प्रमुख घटनाओं -- या नायक-नायिका की प्रतिदिन की मानसिक प्रतिक्रियाओं के चित्र पाठक के आगे परोक्षरूप में उभारे जाते हैं-- उन्हें प्रत्यक्ष में देखने,सुनने,कल्पना करने और समझने का कोई अवसर

---

१ `अंधेरे बंद कमरे`,पृ०५३६

२ सुरेश सिन्हा : `हिन्दी उपन्यास`,पृ०३५२

ही बहुत नैरेटर नहीं देता । हरबंस नैरेटर को नीलिमा और उसके परिवेश के सम्बन्ध में जो कुछ बताता है, वह ज्यों का त्यों लिपिबद्ध कर देता है और स्पष्ट ही वह यह आशा करता है कि पाठक हरबंस का रंगी हुई पूर्वाग्रही आंखों से नीलिमा का सही चित्र अपने मन में उतार लेगा और नीलिमा निजी आंखों में प्रतिबिम्बित हरबंस का जो रूप चित्रित करता है, पाठक को उसी के नायक के सच्चे रूप का कल्पना कर के सन्तुष्ट(अर्थात् असन्तुष्ट) रह जाना पड़ता है । क्योंकि नैरेटर यद्यपि हरबंस और नीलिमा दोनों के निकट सम्पर्क में रहता है, तथापि वह अपनी तथाकथित 'तटस्थ' दृष्टि से उनमें से किसी के भी चरित्र का यथार्थ प्रस्फुटन करना पसंद नहीं करता । वह केवल अलग-अलग शीशों में झलकते हुए उनके विभिन्न प्रतिबिम्बों को प्रक्षिप्त करता हुआ चलता है ।फल यह देखने में आता है कि दोनों में से एक का भी व्यक्तित्व सुस्पष्ट,सजीव और मूर्तरूप में पाठक के आगे प्रस्फुटित नहीं हो पाता । दोनों जैसे पुआल के बने स्प्रिंगदार पुतले हों, जिन्हें ऊपर से मनमाने ढंग से सजाकर लेखक(या नैरेटर) इच्छानुसार नचाता चलता है ।[१]"

हरबंस के चरित्र को कथाकार ने प्रारम्भ से ही रहस्यपूर्ण बनाये रखा है । उससे बराबर यह प्रतीत होता है कि वह कोई महत्वपूर्ण और गहरे 'विजन' की तलाश में,किन्तु उसका विजन क्या है ? अन्त तक स्पष्ट नहीं होता । चूंकि पात्रों की चरित्राभिव्यक्ति अप्रत्यक्ष विधि से की गई है, इसलिए हरबंस के व्यक्तित्व के सूत्र को नीलिमा संकेतित करती है और नीलिमा के व्यक्तित्व को हरबंस तथा दूसरे पात्र खोलते हैं । हरबंस के व्यक्तित्व का सूत्र नीलिमा को भेजे गये पत्रों में भी देखा जा सकता है । आधुनिक भारत में बहुत सारे ऐसे व्यक्ति मिलजायेंगे जो करना बहुत कुछ चाहते हैं, बहुत ऊपर उठने की आकांक्षा रखते हैं, एक अस्पष्ट रूमानी आदर्शवादिता से आक्रान्त रहते हैं, लेकिन वह आकांक्षा-आदर्श क्या रहता है, उन्हें स्वयं ज्ञात नहीं रहता

---

१ 'माध्यम',फरवरी,१९६५,पृ०७५

और जिन्दगी भर आश्चर्य भरी निराशा और असफलता में घुटते और छटपटाते हैं। हरबंस का चरित्र भी कुछ इसी प्रकार का है । उसमें अहं और अधिकार भावना भी प्रबल है । यह अधिकार भावना नीलिमा से अधिक शुक्ला के सम्बन्ध में देखा जा सकता है । लंदन चले जाने पर जब बिना बताये शुक्ला सुरजीत से विवाह कर लेती है, उसके बाद से हरबंस शुक्ला की सूरत भी देखना नहीं चाहता । वह कहता है-- 'मगर फिर भी मुझे सबसे ज्यादा शिकायत इस लड़की से है कि इसने मेरे लौटकर आने का इन्तजार क्यों नहीं किया ।'[१] उसके चरित्र का सबसे आकर्षक पक्ष नीलिमा के सम्बन्धों को लेकर है । किसी समय उसने अपनी जान पर खेलकर नीलिमा का जीवन बचाया था और विवाह हो जाने के बाद थोड़े समय में ही दोनों में तनाव की स्थिति निरन्तर बनी रहती है । इसका कारण केवल यही था कि दोनों के व्यक्तित्व के बीच अन्तराल था । विडम्बना यह है कि दोनों साथ रहते हुए एक दूसरे से कटे कटे और असन्तुष्ट रहते हैं और मुक्त होना चाहिए,लेकिन अलग हो जाने पर एक दूसरे के बिना बेचैन और व्याकुल हो उठते हैं । हरबंस पत्र में लिखता है--' तुम्हारे साथ और तुम्हारे बिना दोनों ही तरह जिन्दगी मुझे असम्भव प्रतीत होती है ।'[२] कुलमिलाकर हरबंस का चरित्र अधूरा,शिथिल और लिजलिजा प्रतीत होता है ।

हरबंस के विपरीत नीलिमा का पात्रांकन आकर्षक और रोचक है । वह एक ओर आधुनिक फैशनेबिल समाज और आभिजात्य के प्रति आकर्षित है और उसी में जीने की कोशिश करती है, दूसरी ओर परम्परा और अपने संस्कारों से भी छुटकारा[३] नहीं पाती । वह परम्परा और आधुनिकता दोनों के खिंचाव में जीती है । एक बार कै[परिश्रम]से वह उससे ऊब जाती है । 'फार्मेलिटी' उसके व्यक्तित्व का अंग नहीं । जो मन में आया खुले दिल से

---

१ 'अंधेरे बंद कमरे',पृ०२०३

२ वही,पृ०१६२

३ नेमिचन्द जैन : 'अधूरे साक्षात्कार',पृ०१३१

कह डालती है । हरबंस से इसीलिए चिढ़ता है कि वह अपने को इतना अधिक छिपाता क्यों है ? कस्साबपुरा की गन्दी बस्ती में पहलीबार प्रविष्ट होने पर उसकी आभिजात्य मनोवृत्ति जाग उठती है । वह कहती है,--"मैंने समझा था कि कस्साबपुरा कोई अच्छी खासी बस्ती होगा ।.... ऐसी जगह इन्सान रह ही कैसे सकता है[1]।"वह आत्मोपलब्धि के लिए संघर्ष में लगी है, बेचैन है, रास्ता नहीं पाती और छटपटाता रहती है ....[2]।" शुक्ला कहती है," उन्हें जिन्दगी में जो कुछ मिला है, उसकी वे परवाह नहीं करतीं और जो कुछ नहीं मिला, उसी के पीछे भटकती हैं ।.... वे जिन्दगी भर एक मृगतृष्णा के पीछे भटकती रहेंगी और इसी तरह छटपटाती रहेंगी[3] ।"

उपन्यास में मधुसूदन के चरित्र को लेखक ने सबसे अधिक महत्वपूर्ण बनाने की कोशिश की है और इसके लिए उसने 'नैरेटर' का बिल्ला भी लगाया । लेकिन उपन्यास का दुर्भाग्य कहा जाय कि वह पूरी कथाकृति में एकदम कमजोर और महत्वहीन व पात्र बना रहता है । उसका उपन्यास के कथानक में इसके सिवा कोई हैसियत ही नहीं कि वही हरबंस और नीलिमा के अंधेरे बंद दिलों की कहानी सुना रहा है । रात के खत्म होते ही जब कहानी खत्म हो जाती है तो कथाकार मधुसूदन चला जाता है[4]।"न्यु हैराल्ड" के पत्रकार के रूपमें उसकी गिनती वरिष्ठ और अनुभवी पत्रकारों की तरह की जाती है । वह उपन्यास के प्रत्येक पात्रों के बीच रहता है, उन सब का विवरण देता है, लेकिन अपने क्रिया-कलाप में निष्क्रिय बना रहता है । बहुत बाद में दिखाया जाता है कि वह स्वतंत्र जीवन व्यतीत करने वाला पत्रकार सुषमा श्रीवास्तव के प्रति आकर्षित है । परिणय सूत्र में बंधने की तैयारी भी होती है,लेकिन अत्यन्त साधारण और सतही बात को लेकर सम्बन्ध टूट जाता है ।

----

१ 'अंधेरे बंद कमरे' ,पृ०१२६

२ नेमिचन्द्र जैन : 'अधूरे साक्षात्कार' ,पृ०१३१

३ 'अंधेरे बंद कमरे',पृ०४०३

४ ललित शुक्ल : 'दिशाओं का परिवेश' ,पृ०६० ।

सच बात तो यह है कि यदि वह उपन्यास में न होता तो भी कोई अंतर नहीं पड़ सकता था, बल्कि उसका कलात्मक सौन्दर्य और भी बढ़ जाता ।

सुषमा, शुक्ला और ठकुराइन का चरित्रांकन सीमित होते हुए भी दिलचस्प और हृदय में गुदगुदी पैदा करने वाले हैं । सुषमा सर्वथा आत्मसजग, आत्मनिष्ठ आधुनिक स्त्री है, वह स्पष्ट जानती है कि वह क्या चाहती है और उसे पाने के लिए सचेष्ट प्रयत्न करती है चाहे फिर उसमें सफल नहीं होती[1] । सुदन लिखता है--' लोग कहते हैं कि सुषमा 'होम ब्रेकर' है । मगर मैं जानता हूं कि वह घर तोड़ना नहीं, घर बनाना चाहती है । अपने लिए घर बनाने और उसमें रहने को कितनी चाह है, यह बात उसके शब्दों से ही नहीं , सारे हाव-भाव से प्रकट होती थी । मैं यह भी जानता हूं कि वह मेरे ऊपर जो इतना निर्भर करने लगी है, उसके पीछे भी मूल भावना यही है ।[2] वह महत्वाकांक्षिणी और स्पष्टवादिनी है तथा पुरुषों के शासन से मुक्त रहने के लिए आर्थिक स्वतन्त्रता प्राप्त करती है । वह आधुनिक दुनिया की भयंकरता से ऊब कर अन्त में घर बसाने के लिए छटपटाती है, यह स्वाभाविक है । वह सुदन से कहती है--'... और अपने लिए एक छोटा-सा घर बनाकर रहना चाहती हूं जहां से मुझे जिन्दगी की दीवारें इस तरह हिलती नजर न आयें । मैं अपने आस पास छोटे-छोटे सुख के साधन जुटा कर और सब कुछ भूल जाना चाहती हूं । मेरे अन्दर बहुत महत्वाकांक्षा रही है, मगर अब मुझे उस महत्वाकांक्षा से भी डर लगता है । मैं उन्नति करना चाहती हूं, उतनी ही जितनी कि कोई भी कर सकता है, मगर उससे पहले मैं अपने लिए सुख चाहती हूं, जहां मैं एक छोटा-सा बाग लगा सकूं और एक एक पौधे को सींचकर बड़ा कर सकूं, उसकी हर नयी पत्ती देखकर खुश हो सकूं और किसी से कह सकूं कि देखो आज इस पौधे में एक नयी पत्ती निकली है ।[3]

---

१ नेमिचन्द्र जैन : 'अधूरे साक्षात्कार', पृ०१३१

२ 'अंधेरे बंद कमरे', पृ०४४४

३ वही, पृ०४६३

ठकुराइन अपने छोटे दायरे में भी सजीव एवं आकर्षक है । तंगी एवं फटेहाली में जिन्दगी गुजारते हुए भी विशाल हृदय लिए है । उसने अरविंद और मधुसूदन को निश्छल प्यार दिया है, जो एक सगी भाभी दे सकती है । दोनों के खाये बिना वह मुंह में एक ग्रास भी नहीं डाल सकती और आवश्यकता पड़ने पर आर्थिक सहायता भी कर देती है । पर ऐसे मानवीय पात्र को लेखक शीघ्र ही दूध की मक्खी की तरह अलग फेंक देता है-- अत्यन्त उपेक्षा से । शायद इस कारण कि नयी दिल्ली के फैशनेबुल पुतलों और पुतलियों की झूठी चमक-दमक और उधार ली हुई तड़क-भड़क के आगे उस देहाती महिला के संवेदनात्मक अंत: व्यक्तित्व का तनिक भी महत्व सूदन के लिए शेष नहीं रह जाता ।[1]

इसके अतिरिक्त कई एक छोटे-छोटे अत्यन्त महत्वहीन पात्र हैं,जिनकी उपन्यास में आवश्यकता नहीं थी,लेकिन नैरेटर अपनी आत्मकथा में उन सबको छोड़ भी नहीं पाता । इबादत अली और उसकी लड़की खुरशीद, बत्रा ,जीवन भार्गव,भास्कर,पालिटिकल सेक्रेटरी,बर्मी कलाकार ऊ-बा-नू और चित्रकार,पत्रकार,कलाकार इत्यादि केवल जानकारी भर देते हैं । ये अखबार की छोटी छोटी घटनाओं जैसे हैं,जिन पर कोई भी पाठक ध्यान नहीं दे पाता ।

कथा शिल्प के अपरोक्ष विधान के प्रस्तुतीकरण के कारण उपन्यास में संवादों का महत्वपूर्ण स्थान है । लगभग पूरी कहानी संवादों के माध्यम से अभिव्यक्त की गई है । इस सम्बन्ध में एक महत्वपूर्ण बात यह है कि अधिकतर संवादों के बीच नैरेटर वर्तमान रहता है,क्योंकि प्रत्येक पात्र अपनी कहानी नैरेटर को सुनाते हैं । खूबी यह है कि नैरेटर इतना होते हुए भी अपनी ओर बहुत कम बोलता है । केवल `हूं`,`हां` कहकर सूत्र को आगे बढ़ाता चलता है । जहां आवश्यकता पड़ती है, नपा तुला वाक्य बोल देता है ।

इससे तो इन्कार नहीं किया जा सकता कि उपन्यास के संवाद बहुत सुथरे और कहानी के कुतूहल को बराबर बनाये रखते हैं । सूत्र जहां

---

१ `माध्यम`,फरवरी,१९६५,पृ०७६

कहीं रुकने की आते हैं,वहां पात्र 'तो ?' कहकर कहानी खोलने और बढ़ाने की कोशिश करते हैं,जैसे--

'तो ?' हरबंस ने धुएं के उस तरफ से मुझे देखते हुए कहा ।

'तो ?' मैंने धुएं के इस तरफ से उसे देखते हुए कहा ।

'तुम्हें जिससे मिलना था, वह तो अभी तक आया नहीं ।'

'हां, अभी तो नहीं आया ।'

'तो चलें ?'

'नहीं, थोड़ी देर और इन्तजार कर लेते हैं ।'[1]

पात्रों में तनाव की स्थिति में (लगभग हरबंस और नीलिमा के सम्बन्ध में ही) 'जुबरही ।' 'तुम जबान बन्द करो ।' आदि कथन कहानी में सम्बन्धों के तनाव को बढ़ाते हैं, उत्तेजना पैदा करते हैं । साथ ही हरबंस नीलिमा को चिढ़ाने के लिए बीच-बीच में अधिकतर 'हा-हा' कहता है--

'तुम हर समय अजीब बातें करते हो ।'

'हा-हा ।'

'मुझे ये बातें पसंद नहीं हैं ।'

'हां- हा ।'

अब यह 'हा- हो' ,'हा-हा' क्या किये जा रहे हो ?' यहां संवाद विस्तार नहीं ले पाते और आवश्यकतानुसार 'फिट' दिखाई पड़ते हैं ।संक्षेप में, उपन्यास के संवाद कहानी में कुतूहल को बनाये रखने,अर्थगर्भित, सीमित और नपे तुले हैं,जो कथाकृति में निखार बनाये रखने में सफल हैं ।

यही बात भाषा के सम्बन्ध में कही जा सकती है । उपन्यास की भाषा में लेखक का कहानीकार व्यक्तित्व पूरे उपन्यास में उभरा हुआ दिखाई देता है । वह आधुनिक मानव सम्बन्धों के तनाव औरघुटन की स्थिति को जीवन्त भाषा में बांधने का सफल प्रयास करता है । लेकिन इस

----

१ 'अंधेरे बंद कमरे',पृ०१८१

संदर्भ के लेखक की कुछ कमजोरियां भी उजागर प्रतीत होती हैं । उपन्यास में जो भटकती हुई मन:स्थिति, अस्थिर व्यक्तित्व,लक्ष्यहीनता तथा आदर्शहीनता को व्यक्त करने की चेष्टा की गई है,वह लगभग एक ही ढर्रे में, एक ही भाषा में, एक ही स्थिति में दुहराते रहने से ऊब होने लगती है और भाषिक ढांचा या औपन्यासिक भाषा कुछ बिखरा बिखरा-सा लगने लगता है । इसके अतिरिक्त दो एक स्थलों पर मधुसूदन की आत्मकथा में वर्णन का विस्तार आ गया है । लेखक ने दिल्ली के काफी हाउस तथा उसके बनने-बिगड़ने के इतिहास की रिपोर्टिंग को आवश्यकता से अधिक बढ़ाकर प्रस्तुत किया जिसमें पाठक[1] स्वाभाविक रूप से 'बोर' का अनुभव करता है । एक कुशल कथाकार की भांति लेखक ने एक साथ कई शैलियों का प्रयोग किया है,लेकिन कोई भी शैली स्वस्थ रूप में विकसित नहीं दिखाई देती । लगता है, कई शैलियां मिलकर मिश्रित शैली विधान का रूप ले लेती है । वर्णनात्मक,मनोवैज्ञानिक,नाटकीय,रिपोर्ताज,पत्र, फ्लैशबैक आदि कई शैली शिल्प प्रयुक्त हुए हैं, लेकिन 'नदी के द्वीप' की भांति उसमें समन्विति और एकान्विति नहीं आ पायी है ।

लेखक उपन्यास में दिल्ली के काफी हाउस से लेकर लन्दन और पैरिस तक की सैर कराता है । लेकिन घूम-घुमाकर कहानी दिल्ली तक ही सीमित दिखाई देती है, पेरिस और लन्दन का सन्दर्भ केवल कामचलाऊ ढंग पर सुना दिया गया है,वहां केवल हरबंस नीलिमा के तनाव,नृत्य प्रदर्शनों का ही वर्णन है,जिससे विदेश का वातावरण तो एकदम उभर नहीं पाता । निर्मल वर्मा ने 'वे दिन' में हल्के फुल्के बिम्बों के द्वारा विदेशी वातावरण को जिसप्रकार जीवन्त बनाया,उसका चतुर्थांश में यहां लेखक प्रस्तुत नहीं कर सका है । दिल्ली के भी जिस वातावरण को लेखक प्रस्तुत करना चाह रहा है, वह पूरी तरह से सफल नहीं हो पाया है । वह वातावरण जो रोजमर्रा की पीड़ा है, उसे ही लेखक उतार पाया है । प्रारम्भ में आभास ऐसा अवश्य मिलता है कि लेखक आधुनिक समाज

---

१ 'अंधेरे बंद कमरे',पृ०३३६-३६७

और संस्कृति की दुनिया को सघन रूपसे उतार सकेगा, लेकिन पूरा उपन्यास पढ़ लेने के बाद निराशा ही हाथ लगती है । कस्साबपुरा के निम्नवर्ग का वातावरण वेश्यागली का संकेत रूपमें वर्णन अवश्य ही आकर्षक और जीवन्त बन सका है । जिसकी लेखक से आशा नहीं की जा सकती थी ।

इतना सब होते हुए अन्त में यह कहा जा सकता है कि शिल्प सम्बन्धी बहुत असफलताओं, बिखराव और कमजोरियों के बावजूद उपन्यास में आधुनिक परिवार का जो चित्र उपस्थित किया है, वह आज का यथार्थ है और उसे एक सफल कथाकार की भांति लेखक ने वर्णनात्मक शिल्प-विधान के द्वारा अन्य शैलियों को मिलाते हुए, कई पात्रों को रिपोर्टिंग ढंग पर प्रस्तुत करने के प्रयास में, नया रूप विन्यास दे दिया है । इलाचन्द जोशी के शब्द उपन्यास के शिल्पविधान का सारांश व्यक्त करते हैं--'इसलिए यदि हम आधुनिकता का चश्मा चढ़ाकर, आधुनिकतम साहित्यालोचक की दृष्टि से ही इस आधुनिक उपन्यास को पढ़ें तो सारा परिप्रेक्ष्य ही बदल जाता है । तब हम पाते हैं कि इसमें पुरानी कला का थोड़ा बहुत पुट रहते हुए भी अधिकांशत: एक बिल्कुल ही नये रूप विन्यास को अपनाया गया है, जो आज के जीवन के चित्रण के लिए सम्भवत: विशेष अनुकूल पड़ता है[१] ।'

यह पथ बंधु था (१९६२)[२]

'प्रथम फाल्गुन', 'नदी यशस्वी है', 'धूमकेतु: एक श्रुति' और 'दो एकान्त' आदि उपन्यासों से हटकर नरेश मेहता का 'यह पथ बंधु था' अपनी सार्थकता के नये परिप्रेक्ष्य की खोज करता है । इसमें बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध के सामाजिक जीवन के मूल्यों एवं मान्यताओं में साधारणजनों का संवेदनशील और

---

१ 'माध्यम', फरवरी, १९६५, पृ०७८

२ नरेश मेहता : 'यह पथ बंधु था', हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर, गिरगांव, बम्बई प्र०सं०, १९६२ ।

आत्मीयतापूर्ण चित्र उकेरा गया है, जो अनुभूतियों में गुंथा भी है और तीखा भी, यातनाओं को उजागर भी करता है, लेकिन संयत रूप में। 'इतिहास क्रूरों तथा महापुरुषों का होता है, जब कि हमारी संस्कृति में ऐसे अनेक साधारण जन होते हैं, जो व्यक्ति भी नहीं बन पाते, केवल संख्या होते हैं, लेकिन हम जानते हैं कि ये असफल असामान्य जन इतिहास न हों, महापुरुष न हों, किन्तु मनुष्य होते हैं।[१]' उपन्यास की सामान्य जनों की मानुष गाथा इतनी संवेदनशीलता और सचाइयों से व्यक्त की गई है कि यह साधारण न रहकर विशिष्ट बन गया है, ये पात्र साधारण ही हैं और समाज में ऐसे अनेक पात्र बिखरे पड़े हैं, जिन्हें हमें याद तक नहीं रहती, किन्तु उपन्यास के ये साधारण जन इस खूबी से चित्रित एवं नियोजित हैं कि आसानी से भुलाये नहीं जा सकते। पात्रांकन की यही विशिष्टता इस उपन्यास को ऊंचा उठाने के लिए पर्याप्त है।

श्रीधर अपने कस्बे में एक सरकारी स्कूल में अध्यापक है। वह अपने राज्य का इतिहास लिखता है, जिसकी काफी प्रशंसा होती है; लेकिन राज्य के शासकों को पर्याप्त सम्मान न देने का उस पर आरोप लगाया जाता है और उसमें आवश्यक संशोधन करने के लिए कहा जाता है। श्रीधर अपने आत्मसम्मान को तोड़ नहीं पाता और विवश होकर त्यागपत्र दे देता है। वह कस्बा छोड़कर इन्दौर और काशी के जनसंकुल और कोलाहलमय दुनियां में कई वर्षों तक जूझता रहा, फिर भी साधारण का साधारण ही रहा। नदी की तरह यात्रा करता हुआ बहता रहा, लेकिन कुछ भी न प्राप्त करते हुए अन्त में अत्यन्त निराश, थका हुआ, टूटा हुआ अपने परम पद की ओर वापस आता है। काशी छोड़ते हुए उन्हें वैसा ही लगता है, जैसे समाप्त होती हुई नदी सम्पूर्ण प्राणमना होकर धावित होती है, अपनी यात्रा को हमेशा के लिए सौंप देने को। जिस पथ पर चलने के लिए उन्होंने अपना घर छोड़ा था, वह उनका अपना नहीं था।' वे अन्तिम रूप से

---

१ 'यह पथ बंधु था' की भूमिका से।

समझ गये थे कि उनकी कोई सामाजिक उपयोगिता नहीं है । वे जिस पथ पर भी बढ़ते हैं वहां थोड़ी दूर चलने पर ही दो मार्ग फूटने लगते हैं[१] । उनका पथ अपना घर था, नितान्त साधारण होकर जीने का, इसलिए उनको लौटना ही पड़ा । यही पथ तक उनका बंधु था --

> ए पथरे ग्रामे प्रवेश हुअइ बधु
> चिलरि बुकुर ममता मुखर मधु
> पुब पुब नाता-नातुणी रे रचि
> मशाणि ए पथे फेरे ।
> आशिबा जनर साथी ए पथ
> फेरिबा जनर बंधु ।

इस प्रकार चरित्र-चित्रण और कथानक उपन्यास के नाम को सार्थक करता है । दूसरे शब्दों में, उपन्यास का नामकरण चरित्रांकन और कथात्मकता के अनुकूल है और लेखक के उद्देश्य को सम्पूर्णतः स्पष्ट भी करता है । सारांश में, उपन्यास के नाम का चयन सोद्देश्य और वस्तु तथा शिल्प के अनुरूप किया गया है ।

उपन्यास का कथानक लम्बा और विस्तृत होते हुए भी सुगठित और कसा हुआ है । पूरे कथानक को चार खण्डों में विभाजित किया गया है । पहले खण्ड में कथा का सूत्र(सूत्र-पथ) है,जिसके द्वारा टूटी और बिखरी हुई कथा को जोड़ने का प्रयास किया गया है,क्योंकि कथा क्षेत्र एक स्थान पर न होने केकारण वह बहुत कुछ बिखर जाता । उज्जैन के पास एक काल्पनिक कस्बे में श्रीधर-परिवार की मुख्यरूप से गाथा कही गई है, लेकिन जब श्रीधर भागकर इंदौर और फिर बनारस जाता है, तो प्रायः पूर्वकथानक अर्थात् कस्बे की कथा से उसका सूत्र असम्पृक्त सा प्रतीत होता है । इस बिखराव से बचने के लिए लेखक श्रीधर को पुनः कस्बे की ओर वापस भेजता है साथ ही सूत्रपथ में बनारस से `शंखनाद` की प्रति भेजकर अलग बिखती कथा को जोड़ता है ।`शंखनाद` में प्रति सप्ताह कस्बे की खबरें छपने लगी हैं, इसके माध्यम से यहां के लोगों में चेतना और हलचल आने

---

१ `यह पथ बंधु था`,पृ०५८८

लगता है । वैसे सम्पूर्ण कथावस्तु मुख्यत: श्रीधर की कथा होने के कारण आद्यन्त जुड़ी हुई और सिलसिलेवार लगता है । 'पूर्वपथ' में देवीसिंह ठाकिया श्रीधर के लिखे हुए पत्र को खोलकर पढ़ता है । उसे सहसा विश्वास नहीं होता कि उसके 'गुरु जी' श्रीधर बाबू ? जो बिना कुछ कहे-सुने एक दिन अनायास चले गये थे, कल आ रहे हैं ।..... और उसके सामने आज से पच्चीस वर्ष पूर्व 'गुरु जी' मूर्त हो उठे[1] । और अन्त में शेष पथ देकर बीच के पच्चीस वर्षों की कथा को जोड़ देने से उसमें और भी समन्विति और कसाव का सौन्दर्य लक्षित होता है । शेषपथ में बीच के छूटे हुए कथानक को पूर्वपथ और उत्तरपथ से जोड़कर अन्तिम परिणति दी गई है । इस युक्ति के प्रयोग से उपन्यास का कथाविधान पुराना और वर्णनात्मक होकर भी नया सा दिखाई पड़ता है । नेमिचन्द्र जैन के शब्दों में--'किन्तु उसके शिल्प की विशिष्टता उसकी सरलता में है, किसी तीखी प्रयोगात्मकता में नहीं । उसके वर्णनों में कथा के सम्बन्ध सूत्रों में प्रवाह है,निरन्तरता है और बीच-बीच में तीव्र सघनता भी[2] ।'

सामन्तवाद की छाया से प्रभावित कस्बा जहाँ सब कुछ रुका हुआ सा हुआ, ठिठका हुआ सा है, जहाँ एक छोटी सी घटना बड़ी घटना का रूप ले लेती है, पूजा और ब्राह्मणी संस्कारों से ग्रस्त श्रीनाथ ठाकुर कीर्तनिया के परिवार के क्रमश: टूटने और सघन मानवीय करुणा, मूक रिसती हुई यातना, बिखर-बिखर कर घिसटते हुए चलते रहने की कथा है, लेकिन यह कथा मुख्यरूप से श्रीधर के वृत्त पर घूमते रहने से उसी की कथा बन गई है । श्रीधर ही कथा का केन्द्रबिन्दु, भोक्ता और परिणति तक पहुंचाने वाला है ।

कथाभूमि की दृष्टि से उपन्यास की कथा को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है । पूर्व पथ में कस्बे की कथा और उत्तर पथ में इंदौर तथा बनारस की कथा लेकिन बीच-बीच में कस्बे की कथा को भी लेखक नहीं भूलता और कथा सूत्रों के साथ उसको सम्पृक्त करता चलता है । शेष पथ में पुन: वह कस्बे की ओर लौट आता है ।

---

१ 'यह पथ बंधु था',पृ०१६

२ 'माध्यम',अगस्त,१९६४,पृ०८८

उपन्यास की कथा आद्यन्त श्रीधर के जीवन की यात्रा और संघर्ष तथा उसके परिवार की क्रमशः टूटते जाने की कथा है । प्रथम खण्ड का कथानक क्षेत्र कस्बा ही है,जिसमें श्रीधर परिवार के अलावा गाडगिल हेडमास्टर, नारायण बाबू,पेमेन मजुमदार, बाला साहब और उनकी पुत्री इन्दु हैं ।श्रीधर बाबू सीधे सादे इन्सान, यहां तक कि दुनियादारी से एकदम विरक्त और उसी प्रकार पत्नी सरो भी सब कुछ सह लेने वाली पृथ्वी की धैर्य की भांति । बड़े भाई श्रीमोहन ने सिरश्तेदार बनकर रिश्वत के पैसों से अच्छी पूंजी जमा कर ली और अलग मकान बनवाना चाहते हैं । छोटा भाई श्री वल्लभ घोड़ा डाक्टर बनकर पहले से ही अलग है । और इस टूटते हुए परिवार के बीच श्रीधर तीन बच्चों और पत्नी का बोझ लिए हुए नौकरी से त्यागपत्र दे देता है । सरो सारा दिन घर का काम करते-करते थककर चूर हो जाती है, किन्तु फिर भी कुछ कहती नहीं । जेठानी बैठे-बैठे हुक्म चलाती हैं, परिवार के मुखिया श्रीनाथ ठाकुर सब कुछ देखते हुए भी विष्णु सहस्र नाम का पाठ करते हुए चुप हो जाते हैं ।

नारायण बाबू और पेमेन बाबू की अपनी कोई कथा नहीं है, वे केवल श्रीधर की कथा में सहायक रूप से आये हैं । कथा-सूत्र के इस खण्ड में 'शेखर : एक जीवनी' की भांति छोटे-छोटे फ्लैशबैकों की युक्ति का भी उपयोग किया गया है । ये श्रीधर व्यक्तित्व के निर्माण एवं चरित्रोद्घाटन में सहायक हैं। इन्दु और श्रीधर के बचपन के सुकुमार चित्र पूर्वावलोकन के आधार पर प्रस्तुत किए गए हैं । इन्दु श्रीधर से दस वर्ष बड़ी है और अपना समस्त निश्छल प्रेम-दुलार श्रीधर को देती है । यद्यपि उसके मूल में उसकी अतृप्त कामेच्छायें ही क्रियाशील रहती हैं,लेकिन एकाध स्थल को छोड़कर लेखक उसका स्पष्ट उद्घाटन नहीं करता । यह उसकी विशिष्टता है । बालक श्रीधर पर इन्दु की आभिजात्यता और सरलता, कलाप्रियता और स्वतन्त्रता आदि अन्तर्विरोधी व्यक्तित्व का गहरा प्रभाव पड़ता है । इन्दु श्रीधर को सिखाती तो बहुत कुछ है,लेकिन उस कच्ची उम्र को स्वप्नशील अधिक बना देती है पाती है । किसी ठोस-मजबूत दिशा की ओर नहीं ले जा पाती । इन्दु वह शक्ति नहीं दे पाती,जिससे बाद में श्रीधर कुछ कर पाता, बल्कि वह आजीवन निष्क्रिय,परावलम्बी और निःस्व बना रहा ।

यही कारण है कि वह अपने टूटते हुए परिवार को बचा नहीं पाता और एकदम नि:संग बना रहता है ।

उत्तरपथ में थोड़ी सी उज्जैन की कथा और फिर इंदौर और बनारस की कथा संयोजित की गई है । श्रीधर एक रात चुपचापघर त्याग देते हैं, यह भी नहीं सोचते कि उनके चलेजाने के बाद क्या होगा । एकदम निस्पृह भाव से रात भर चलकर उज्जैन चले आये । दिन भर भटककर कई जगह अपमानित होकर उसी रात इस भय से कि नारायण बाबू अवश्य उसे ढूढने आये होंगे-- गाड़ी से इंदौर चले आते हैं । कथा का विस्तार यहां से प्रारम्भ होता है । कथानक की एकान्विति में यह कथा बिखराव उत्पन्न कर सकती थी, किन्तु श्रीधर से जुड़ी रहने के कारण,इसमें बिखराव नहीं प्रतीत होता । इंदौर की कथा में किशन के सम्पर्क का पर्याप्त प्रभाव उसपर पड़ता है । इस कथासूत्र में कई लोग हैं, जिनसे वह न्यूनाधिक रूप प्रभावित होता रहता है । स्वदेशी आन्दोलन और राजनीति में आतंकवादी कार्यकर्ताओं के सम्पर्क में आने पर भी उसमें कोई तीव्र बेचैनी उत्पन्न नहीं होती । वह अपनी ओर से कोई सक्रिय कदम नहीं उठाता, जैसे अन्यमनस्क भाव से सब कुछ होता चला जाता है । सबेरे चार बजे उठकर घूमने जाना, दिन में काम की तलाश करना,पुस्तकालय में बैठकर पढ़ना, रात्रि पाठशाला में मजदूरों को पढ़ाना, और काफी रात गये घर पहुंचना । यही उसका नित्य कर्म था । बीच-बीच में पुस्तकें साहब के स्वदेशी आन्दोलन में भाग लेना, भाषण सुनना, कांग्रेसी दफ्तर के एकाध कार्य देखना, लेकिन यह ध्यातव्य रहे कि उन्होंने कोई ऐसा कार्य नहीं किया, जिससे साधारण से ऊपर उठ सकें । उनका अपना सहयोग नहीं के बराबर कहा जायेगा ।

नारायण बाबू के भय से कुछ दिनों के पश्चात् श्रीधर को इंदौर छोड़कर बनारस चले जाना पड़ा । इंदौर में तो वे किशन पर आश्रित थे, जीविका के लिए कुछ भटकना नहीं पड़ता था, लेकिन अजनबी शहर काशी में उन्हें एड़ी चोटी का पसीना एक करना पड़ा । शास्त्री जी की सहायता से एक स्थानीय प्रकाशक के यहां `प्रूफ रीडिंग` का काम करते निर्लिप्त भाव से

छः महीने बिता दिया, जैसे किसी बात के प्रति उन्हें जिज्ञासा नहीं, इच्छा नहीं। अपने आप जो हो जाय, तो हो जाय, अपनी ओर से प्रयास करने की प्रवृत्ति नहीं। धीरे-धीरे वे पंडित शिवनाथ त्रिपाठी 'कविराज', बाबू जगन्नाथदास रत्नाकर, शास्त्री, राय विभूतिकृष्ण, महामहोपाध्याय पंडित अयोध्यानाथ बाजपेयी आदि साहित्यकारों के दरबार में उपस्थित होने लगे। 'हिन्दी हितकारिणी' में सहायक बनकर और कठोर परिश्रम के पश्चात् प्रवेशांक निकाला और उसे भारतेन्दु के बाद की दूसरी क्रान्तिकारी पत्रिका का सम्बोधन मिला। लेकिन यहां भी श्रीधर केवल निमित्त मात्र बनकर रह गया। इस बार उन्होंने कांग्रेसी आंदोलनों में भाग लेना भी प्रारम्भ कर दिया। यहां उनमें हल्का तनाव भी देखा जा सकता है। कभी क्रान्तिकारियों की तरफ झुकते प्रतीत होते, तो कभी गांधी जी का स्वदेशी आन्दोलन उन्हें उचित जान पड़ता, लेकिन वे कुछ निर्णय नहीं कर पाते थे।

स्वदेशी आन्दोलन में भाग लेते हुए उन्हें अंग्रेजों के दमनचक्र का शिकार होकर जेल जाना पड़ा। अब धीरे-धीरे उन्हें यह अनुभव होता जा रहा था कि कांग्रेस में आगे बढ़ने के लिए व्यक्ति की सामाजिक स्थिति अच्छी होनी चाहिए। जेल से निकलने के बाद उन्हें लोगों के मुखौटे साफ नजर आ रहे थे। धन और ऐश्वर्य से युक्त लोगों के हाथ में आन्दोलन की बागडोर थी जो स्वार्थ लोलुपता के कारण आन्दोलन और आजादी की लड़ाई में भाग ले रहे थे। जिस उत्साह और कर्मठता को लेकर उन्होंने कुछ क्रान्तिकारी कार्य करने का व्रत लिया था, उसके आगे अपने ही दिखते लोग बाधा बन रहे थे। उन्हें लगने लगा कि धीरे-धीरे परिस्थितियों से घिरने लगे हैं और व्यक्ति अलग होते ह जा रहे हैं। रामखेलावन बाबू की सहायता से 'शंखनाद' साप्ताहिक निकाला, ओजस्वी और निर्भीक सम्पादकीय के कारण उसकी लोकप्रियता दिन-प्रति दिन बढ़ने लगी। लेकिन सकलदीपनारायण सिंह के राजनीतिक गोटों का बार बार सामना करना पड़ रहा था और अन्त में पराजित भी होना पड़ा। 'शंखनाद' के प्रेस में ताला लग गया और पराजित, आहत, विवश होकर अपने कस्बे की ओर वापस आना पड़ा। इस प्रसंग को लेखक ने नाटकीय मुद्रा में उपस्थित करना

जाता है । अप्रासंगिक रूप से, कई वर्षों के बाद इंदु दीदी से मुलाकात होती है और वह श्रीधर को अपने सोनामाटी की ओर लौट जाने को कहती है । श्रीधर उससे इन्कार कैसे कर सकता था । नेमिचन्द्र जैन के शब्दों में -- `... अपने व्यक्तित्व की अव्यवहारिकता और निष्क्रियता और राजनीतिक तथा साहित्यिक जीवन की क्षुद्र दलबन्दियों के कारण वह किसी तीव्र महत्वाकांक्षा अथवा आन्तरिक प्रेरणा के अभाव में न तो कुछ कर ही पाता है, न कुछ बन पाता है । अन्त में पचीस वर्ष बाद असफल, पराजित, टूटा हुआ अपने घर लौट आता है ।`[1]

इन पच्चीस वर्षों के लम्बे समय में श्रीधर का सम्बन्ध अपने कस्बे से असम्पृक्त रहता है । इससे मूलकथा में बिखराव का आभास होता है, जैसे इंदौर और बनारस की कथा कस्बे की कथा से अलग प्रतीत होती है, लेकिन इस बिखराव से बचने के लिए लेखक बीच-बीच में कस्बे की कथा क को उभार कर उसमें नैरन्तर्य लाने का प्रयास करता है । ऐसा प्रतीत होता है, जैसे लेखक कस्बे की कथा को भूल जाता है । और याद आने पर उसे जीवित रखने का प्रयास करता है । घर लौटने के पहले श्रीधर को नहीं मालूम था कि इस बीच उसके माता-पिता मूक पीड़ा और परिवार के बिखरने के आघात को सहन न कर पाने से दिवंगत हो चुके हैं, भरा पूरा परिवार एक एक करके टूट गया है, बिखर कर तात-विदात हो गया है । शेष रह गई है सिर्फ मृत्यु की छाया और चुप साधे हुए पीड़ा, कातरता और दयनीयता । परिवार के बिखरने में कोई तनाव या विस्फोट नहीं उभरा, जैसे पूर्व नियोजित सा अपने आप को हो गया हो । जैसे इसे होना ही था ।

घर वापस आकर देखता है, जिस अनबूझे और अनसोचे संकल्प को पाने के लिए उसने लम्बी यात्रा किया था, उसमें कुछ भी नहीं प्राप्त कर सका । घर का बंटवारा हो चुका है । सरी सबसे अधिक `मार` और `सटने`

----

१ `माध्यम`, अगस्त १९६४, पृ०८१

की पीड़ा सहते सहते यक्ष्मा का शिकार हो जाती है और मौत को जैसे श्रीधर के आने की प्रतीक्षा थी । गुणवंता अपने सास-श्वसुर के अत्याचार के कारण पंगु और परित्यक्त होकर घर में है । श्रीधर अब भी वैसे ही अकेला, उतना ही साधारण, उतनाच ही विवश है । उसके जीवन को नयी दिशा का प्रारम्भ एक राज्य का इतिहास लिखने के कारण हुआ था, अब वह ब मानवका इतिहास लिखने का संकल्प करता है[१] । यहीं पर उपन्यासका अन्त हो जाता है।

श्रीधर से सम्बद्ध कथा के अतिरिक्त दो-एक और भी महत्वपूर्ण कथा-प्रसंग हैं, जिनका मूलकथा से कोई सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता । वे बंगाली रोमानी स्पर्श भले ही छोड़ जाते हों । बिशन और कमल का प्रेम प्रसंग और मालिनी कीभावुक कथा । क्रान्तिकारी आन्दोलनों के सिलसिले में बिशन का कमल से सम्बन्ध, बढ़कर प्रेम में परिवर्तित हो जाता है । आधुनिकता के कलेवर दोनों का विवाह लेखक कराता है लेकिन कुछ ही समय बाद उसे फांसी की सजा हो जाती है । मालिनी वेश्या की घिनौनी जिन्दगी बिताते हुए एक दिन आत्महत्या के प्रयास में बिशन के हाथों बच जाती है । यहां से लेखक ने बंगाली `दीदीवाद` को बार बार दुहराया है । वह पुरुषों की गन्धौरी यंत्रणा का शिकार होकर कई रोगों से जूझती है । लेखक ने जान बूझकर उसके ऊपर आदर्श का मुलम्मा चढ़ाया है । लेखक की रूमानी दृष्टि के कारण वह ~~कि~~ बिशन और श्रीधर के प्रति आधन्त ~~अत्यन्त~~ आत्मीय यहां तक कि समर्पित रहती है । विकृत काम भावना कहीं भी उभरती नहीं दिखाई देती । मालिनी की कथा रोमानीभावुकतापूर्ण प्रसंग से आगे नहीं बढ़ पाई है । इसके अतिरिक्त भी कुछ काल्पनिक प्रसंग मूलकथा को कमजोर बनाते हैं, क्योंकि ये अतिरिक्त और ऊपर से थोपे हुए लगते हैं । मराठा सरदार बाला साहब के अतीत का चित्र न केवल काल्पनिक बल्कि अतिरिक्त और अनावश्यक भीहै। ब मालिनीशरतचंद्रकी ही छाया है, जो दिलचस्प होकर भी न केवल अनावश्यक

१`माध्यम`, अगस्त १९६४, पृ०८१

आदर्शीकृत है, बल्कि मूलकथा सूत्र और भावसूत्र के साथ उसकी कोई अनिवार्य संगति नहीं है। उसे लेखक ने केवल मोहवश ही उपन्यास में रख छोड़ा है। इंदु का वृद्ध सामंत से विवाह, विशन और कमल का अवास्तव प्रेम, किशन का मालिनी से विवाह का प्रस्ताव आदि ऐसे कितने प्रसंग इस उपन्यास में हैं, जो लेखक के अतीत के प्रति, किसी भावुकतापूर्ण स्थिति, भावना या प्रतिक्रिया के प्रति, रोमैण्टिक मोह को अधिक सूचित करते हैं, गहन जीवनदृष्टि या कलात्मक सार्थकता को कम। उपन्यास में कई स्थल हैं जहां लेखक यथार्थ में निर्ममतापूर्ण गहरा नहीं उतर पाता और सतह के रंगीन आकर्षक रूप उसे मुग्ध रखते हैं..'[१]।

कथानक में लेखक ने कुछ नाटकीय प्रसंगों एवं पूर्ववृत्तात्मक प्रणाली को छोड़कर सीधे सीधे वर्णनात्मक शिल्प-विधान का सहारा लिया है। संक्षेप में, 'यह पथ बंधु था' के कथानक में लेखक की रूमानी दृष्टि के कारण अनावश्यक प्रसंगों के मोह के कारण कई स्थलों पर बिखरने-बिगड़ने के बावजूद अन्त तक भली प्रकार से एकान्विति लाने का प्रयास हुआ है।

चरित्र-चित्रण की दृष्टि से पात्रों की संख्या वर्णनात्मक शिल्प के अनुरूप, बहुल है। लेकिन महत्वपूर्णपात्र, जिनके आधार पर कथा का ताना-बाना बुना गया है, गिने चुने हैं। केन्द्रीय पात्र श्रीधर पुंसत्वहीन, विपन्न, असफल, लघु और जीवन में एकदम पराजित और टूटते जाने वाला नायक है। पूरे उपन्यास में वह निरा साधारण है, इतना साधारण कि अपनी स्वाभाविकता खोकर असाधारण-सा दिखने लगता है। नैतिकता और आदर्श सब सम्पन्न और समर्थ लोगों के लिए होते हैं। साधनहीनों के लिए वह कायरता और विवशता कही जा सकती है। इसलिए आदर्श, नैतिकता और आस्था कर्म के नहीं, विवशता के प्रतीक बन गये हैं। श्रीधर के चरित्र की ट्रेजिडी यही है कि वह त्याग, परिश्रम, ईमानदारी, लगन और संकल्पनिष्ठा को लेकर कर्मक्षेत्र में कुछ उपलब्ध करने के लिए प्रयाण करते हैं, जूझते भी हैं।

---

१ 'माध्यम', अगस्त १६४, पृ०८४-८५।

लेकिन हताश हत, पराजित,टूटकर फिर अपनी जगह पर लौट रह आते हैं। क्योंकि उसमें कहीं भी विस्फोट या उत्तेजना नहीं है । वे जरा भी बाधा आने पर[1] बौखलाकर,क्षुब्ध होकर, दुःखी हो जाते हैं और फलस्वरूप चुप हो जाते हैं ।

उपन्यास

उपन्यास में श्रीधर के व्यक्तित्व को उसके आंतरिक गठन और उसकी परिणति को उसके परिवेश के विभिन्न पक्षों की पृष्ठभूमि में रखकर देखा गया है, मनोविश्लेषण या समाजविज्ञान के स्तर पर नहीं, गतिमान मानवीय स्तर पर[2] ।पहले तो परिवार और कस्बाई परिप्रेक्ष्य में उनका चरित्र गंभीर एवं आदर्शनिष्ठ व्यक्ति के रूप में निर्मित हुआ है । धर्मनिष्ठ,निष्ठावान एवं कुलीन परिवार जिसका सम्पूर्ण प्रतिबिम्ब श्रीधर में स्थापित है । पिता विपन्न अवस्थामें भी ईमानदारी,सच्चाई और संयम के साथ परिवार को चलाते हैं । आक्रोश या व्यावहारिक बुद्धि का न्यूनांश भी उनमें नहीं है । उनकी दृष्टि में जो कुछ भी होता है, सब ईश्वर केअनुसार । इसलिए परिवार के टूटते जाने पर वे क्षुब्ध नहीं होते, सचाई के लिए लड़ते नहीं, न ही प्रतिक्रिया व्यक्त करते हैं । बल्कि ॐ सहस्रनाम का पाठ करते हुए चुप हो जाते हैं । माता भी उसी प्रकार की हैं, हल्का-फुल्का आक्रोश जो व्यक्त भी हो पाया है, वह सशक्त न होकर एक हल्की गूंज मात्र उत्पन्न करता है । सरो अपने पति की ही भांति पति परायण, समर्पण,शालीन,संयम,आस्था,निष्ठा,सहनशीलता एवं उदारता से ओतप्रोत है । श्रीधर का चरित्र इन्हीं व्यक्तित्वों के प्रभाव में निर्मित हुआ है ।

परिवार के बाहर वे उसी परिवेश से जुड़ते हैं जहां उनके व्यक्तित्व से मिलान हुआ है । विपरीत परिस्थितियों में तो वे एक निमित्त या साधनमात्र रह जाते हैं । उनकी अपनी निजता का योगदान चुका

---

१ `यह पथ बंधु था`,पृ०४६४

२ `माध्यम`,अगस्त ,१६६४,पृ०८१

हुआ लगता है । पेमेन, नारायण बाबू, गाडगिल हेडमास्टर आदि चरित्र उनमें परिवर्तन लाने के बजाय कुछ समय व्यतीत करने हेतु आते हैं । ये कस्बाई चरित्र न तो स्वयं आदर्श एवं निष्ठावान हैं । अबोध श्रीधर पर इंदु अपनी आभिजात्यता और सरलता, स्वतन्त्रता और उदारता का गहरा प्रभाव छोड़ जाती है । अध्ययनशीलताऔर संकल्प ही जिन्दगी में सब कुछ नहीं है, जब तक उसके प्रति तीव्रता या आक्रोश का भाव न हो । वह सचाई के लिए लड़ नहीं पाता, बल्कि प्रतिक्रिया स्वरूप जीवन को दूसरी ओर मोड़ लेता है । यह उसके चारित्रिक बुनावट की सबसे बड़ी कमजोरी है । इंदु का श्रीधर से गहरा स्नेह है, पर उसके भाव में अतृप्त लालसा और बड़ी बहन की दुलारपूर्वक ममता दोनों का बड़ा अनोखा मिश्रण है । युवती इंदु का सम्पर्क बालक श्रीधर को स्वप्नशील तो बना जाता है पर उसे किसी प्रकार की शक्ति नहीं देता, किसी प्रकार की गहरी संकल्पमूलक तीव्रता उसके भीतर नहीं जगा पाता । श्रीधर के व्यक्तित्व के निर्माण में उसकी आजीवन निष्क्रियता, परावलम्बिता और आत्मसत्वहीनता में उसके किशोर जीवन के इन प्रभावों का गहरा योग है, जिसे सूक्ष्मता से लेखक उपन्यास के प्रारम्भ में ही दिखाया है[१]।

कस्बा छोड़कर जब वह एक संकल्प (जो स्पष्ट नहीं है) लेकर कर्मक्षेत्र के जीवन-यात्रा में उतरता है । वहाँ उसके चरित्र की निष्क्रियता और आदर्शवादिता हर क्षेत्र में पीछे ढकेलती प्रतीत होती है । आकांक्षा होते हुए भी उसमें आत्मविश्वास की कमी है, इसलिए सहज ही विभिन्न परिस्थितियों में विभिन्न लोग उसे अपना अस्त्र अथवा साधन बना लेते हैं । क्रान्तिकारियों से सम्पर्क सहज न होकर अनायास हुआ है, क्योंकि इसके प्रति उसकी आस्था नहीं है। इससे उसको यातना भी सहनी पड़ती है लेकिन फिर भी उसमें आक्रोश या विस्फोट का भाव नहीं पैदा होता । कांग्रेसी आन्दोलन और साहित्यक्षेत्र में उसकी रुचि तो है, आकांक्षा भी है, लेकिन इस ओर वह तीव्र उद्यत नहीं होता,

---

१ 'माध्यम', अगस्त १९६४, पृ०८२

अनायास जुड़ता है । जैसे मोह में लोग अपने को जोड़ लेते हैं । कुछ एक चरित्रों से जहाँ वह प्रभावित दिखता है, उनके अनुसार स्वयं में परिवर्तन नहीं लाता, केवल श्रद्धा और भक्ति ही उत्पन्न कर पाता है । कर्म क्षेत्र में यह भक्ति निष्क्रियता को ही जन्म देती है ।

उपन्यास में श्रीधर के चरित्र से एक उपलब्धि अवश्य हुई है कि व्यक्ति और परिवेश के संघात से मानवीय मूल्य उजागर हो सके हैं । एक ओर साहित्यिक आन्दोलन, साहित्य और पत्रकारिता की दुनिया और उसकी क्षुद्रता, खेमावाद और प्रतिस्पर्धा से जुड़ता है, वहाँ श्रीधर जैसे साधारण, अव्यक्ति और निरीह लोगों की व्यर्थता और नगण्यता उभरती है । ऐसे लोग इस दुनिया से न जुड़े तो ही अच्छा है । दूसरी ओर श्रीधर के सन्दर्भ में बदलते हुए मानवीय मूल्यों, सम्बन्धों, राजनीतिक, सामाजिक, साहित्यिक संस्थाओं और आन्दोलनों और व्यक्तियों की अमानुषिकता और निस्संगता भी उतनी ही तीव्रता से उभरती है[1] ।

श्रीधर के चरित्र में भावना या प्रेमका प्रस्फुटन नहीं हो पाया है । यद्यपि लेखक ने उसके लिए अवकाश दिया था । सरो, मालिनी और रत्ना के तीनों के सम्बन्ध उसके भाव को तीव्र कर सकते थे, लेकिन ऐसा कुछ भी नहीं हो सका है । यहाँ तक कि पत्नी सरो या सरस्वती के प्रति भी वे सहज और विदेह बने रहे । अपनी ओर से कुछ भी नहीं दे पाये-- न भावना न संसार। मालिनी तो दीदी बनी उसे दुलारती ही रही, भाव को नहीं जगा पाई । रत्ना के साथ हल्की मोहकभावना और मधुरता फूटती अवश्य है । श्रीधर की ओर से कोई पहल न देखकर रत्ना इसकी विवशता समझ लेती है और विश्वास पूर्ण समर्पण भाव से 'तुमि आमार शामी' कहकर चली जाती है। इतना सब कुछ होते हुए भी उसमें भावुकता की हल्की गूंज ही उत्पन्न हो पाती है, उद्वेलन के बजाय करुणा और चौंकने का भाव ही उत्पन्न

---

1 'माध्यम', अगस्त 1964, पृ०82

हो पाता है,क्योंकि वे कभी यह नहीं समझ पाये कि कहीं उनका भी महत्त्व हो सकता है । श्रीधर के व्यक्तित्व में निष्क्रियता और आवेग को कभी उपन्यास में इस हद तक चित्रित है कि वह आरोपित और कृत्रिम सा दिखने लगता है ।

श्रीधर तथा अन्य पात्रों की तुलना में (सरस्वती) सती का चरित्र अधिक सशक्त है । मालिनी,रत्ना आदि की तरह उसके पात्रांकन में लेखक ने भावुकता से काम नहीं लिया है । उसके सम्पूर्ण चरित्र में एक करुणा और यातना की छाया छटकी रहती है । इसलिए सर्वप्रथम और अधिक से अधिक पाठकों की सहानुभूति प्राप्त करती है । वह अपनी आस्थाओं और आदर्शों के लिए जिन्दगी भर पीड़ा सहते-सहते संघर्ष करती है और अन्त में इस संघर्ष की वेदी पर बलि दे देती है । यह उसका पराजय बोध नहीं बल्कि विजय की यात्रा थी । कीर्तनिया जी के उस बड़े परिवार कीसीमा में बंधी सती दिन भर खटती है, अकल्पनीय त्रास पाती है, सीमाहीन अगाधसमुद्र की भांति जीवन की तीखीपीड़ा को अपने भीतर समाये रखती है, लेकिन धैर्य की उस सीमा पर खड़ी रहतीहै, जहां तक सामान्य नारी नहीं पहुंच सकती । आक्रोश का एकबिन्दु भी उससे नहीं टपक पाता । कभी-कभी यह शक होने लगता है कि इतनी पीड़ा और करुणा पाते हुए भी क्या कोई नारी चुप रह सकती है? लेखक ने सहज ही उसे 'देवी' रूप प्रदान कर दिया है । पति के बिना बताये हुए घर त्याग देने पर वह सोचती है कि उनकी कोई विवशता रही होगी । पच्चीस वर्ष बाद लौटने पर उसका सम्पूर्ण सुख लौट आता है । मानों बहुत दिनों बाद पृथ्वी स्नानित हुई हो, लेकिन जैसे उन्हीं के आने की प्रतीक्षा थी, बोझा ढोते-ढोते थक गई, और उन्हें सौंप कर चली जाती है ।

श्रीधर और सती के अतिरिक्त अन्य कई छोटे छोटे चरित्र हैं जोप्रभावित तो करते हैं,लेकिन उनके सृजन में लेखक ने या तो कृत्रिमता या भावुकता से काम लिया है । किशन,मालिनी,रत्ना और कमल ऐसे हीपात्र हैं । किशन अपनी मस्ती,निर्भीकता,रहस्यमयता,व्यावहारिकता और भावुकता से पाठकों को प्रभावित तो करता है, लेकिन अन्तिम रूप से उसका चरित्र आरोपित

ही लगता है। उसने जीवन की वास्तविकताओं को भोगा है, इसलिए इससे उसे नफरत है । इसपर दिन रात पान की पीक थूका करता है । लेकिन नफरत कोप्रतिक्रिया किसी ठोस कार्य की ओर संलग्न नहीं करता । जिन क्रान्तिकारिता के पीछे वह पागल बना फिरता था , उसके लिए कोई ठोस उपलब्धि प्रदान नहीं कर पाता । मालिनी को मुक्ति देकर उसे दीदी बना लेना और विवाह प्रस्ताव करके मुंह न दिखाना, सब उसके चरित्र की कमजोरी और अस्वाभाविकता को ही अधिक घोतित करता है । कमल से अचानक विवाह कर लेना उसकी रोमनी भावुकता का ही परिचायक है ।

इंदु और मालिनी के चरित्रांकन में बंगाली दीदीवाद और भावुकता का प्रभाव देखा जा सकता है । इंदु अपनी दमित कामभावना के कारण श्रीधर से प्रेम करती है, दुलारती है और पालतू कुत्ते की भांति अपने साथ लिए रहती है लेकिन अपनी चारित्रिक उपलब्धि कुछ भी नहीं दे पाती । मालिनी का वेश्या के रूप में पुण्यभाव,जीवन से वितृष्णा,आध्यात्मिकता अकारण और आरोपित लगता है । रत्ना श्रीधर को समर्पण देकर या एक सतृष्णा नैकट्य देकर दूर हो जाती है ।`तुमि आमार शामी` कहकर फांसी पर चढ़ जाती है । श्रीधर को हल्का झटका लगता है, लेकिन यह सतही रोमानियत भावों का उद्वेलन उपस्थित नहीं करता । इसके अतिरिक्त गुणवन्ती,कान्ता, सुशीला,गाडगिलहेडमास्टर,पैमैन मजुमदार,नारायण बाबू,कश्यप,सुखोकर, सकलदीप नारायण सिंह, पुस्तके वकील, रामसेठावन,शास्त्री जी तथा अन्य कई छोटे-छोटे चरित्र उपन्यास की वातावरण को उजागर करते हैं, श्रीधर के चरित्र विकास और महायात्रा में सहायक बनते हैं, लेकिन अपने चरित्र का कोई स्पष्ट चित्र नहीं दे पाते ।

नरेश मेहता अपने प्राय: सभी उपन्यासों में वातावरण को सघन रूप से उजागर करने में सफल रहे हैं । कस्बाई जीवन का चित्रण करते समय उन्होंने मालवा के चित्रों को आंचलिक रूप देना चाहा है, लेकिन इसमें बहुत हद तक कम सफल नहीं हो पाये हैं । शायद आंचलिक जीवन को सप्रयास चित्रित

करने का उनकी दृष्टि भी नहीं रहा है । फिर भी मालवा के छोटे से कस्बे की संवेदना उन्होंने अ उभारी है । एक छोटी-सी बात जहां बड़ी घटना का रूप ले लेती है,श्रीधर के चले जाने पर यह खबर कई रंग रूप ले लेती है,श्रीधर के चले जाने पर यह खबर कई रंग रूपलेकर लोगों का चर्चा का विषय बनता है । वातावरण विन्यास में लेखक ने काव्य भाषा का भी उपयोग किया है --

"..... दूर सूर्यास्त का पीलापन चारों ओर जैसे लुटा पड़ता थे था । जंगल से लौटते समय पशुओं के रंभाने की आवाज,किले की ऊंची-ऊंची पत्थरों वाली काली दीवारों से प्रतिध्वनित होकर जब लौटती उसमें एक अजीब सी रहस्यात्मकता तब और भी आ जाती थी जब सांझ का पीलापन जल में झरने लगता । उस ऐकान्तिक सूर्यास्त को,पालियों का शब्द तथा नदी का पत्थरों पर टकराना एक ऐसी दूरागत झिम्झनी बना देते थे कि अलौकिक । हल-बक्खर कन्धे पर उठाये जब हाली-मवाली कच्चे रास्तों से पक्की सड़क पर जाते तो 'रामराम माराज' कहकर या तो पास से निकल जाते या फिर रास्ते की धूल को पोंछने के लिए नदी में धंस जाते ।[1]" किसी के घर से रामायण पाठ की आती ध्वनि,पूजा पाठ-कीर्तन के स्वर, धर्मोपदेश, पीसते हुए चक्की की घर्र-घर्र आवाज आदि लयों की गंध उपन्यास में कहीं कहीं हल्के से रूपायित की गई है । संयुक्त परिवार के विघटन और उससे उत्पन्न अनास्था, श्रीधर के पारिवारिक वातावरण में तेवर के साथ उपलब्ध है । कस्बे का प्रत्येक परिवार अपनी टूटी हुई और टूटती हु जाती हुई जिन्दगी की करुणा को भोगता है । इंदौर बम्बई और बनारस के व्यस्त जीवन और भीड़ में सामान्य आदमी की निरर्थकता और अर्थहीनता श्रीधर जैसे चरित्रों के माध्यम से व्यक्त हुई है । तत्कालीन परिवेश जिसमें अंग्रेजों की दमनकारी नीतियां,क्रान्तिकारी आन्दोलन,कांग्रेसी अहिंसामूलक विद्रोह और आजादी की लड़ाई संलग्न स्वार्थशक्तियां अपने काल के सत्य को उजागर करती हैं । साहित्यिक दुनियां में दलबन्दियां,नारेबन्दियां,प्रचारात्मकता तथा राजनीतिक

---

१ 'यह पथ बंधु था',पृ०२६

अस्त्रों का प्रयोग बनारस के साहित्यिक वातावरण को मुखर करता है । इसके अतिरिक्त बनारस की मस्ती के हल्के-फुल्के चित्र भी उपन्यास में चित्रित हो सके हैं ।

श्रीधर का आदर्श तो विवेकानन्द की तरह विशाल पृथ्वी पर भटकना ही था । उसे यह अहसास हो गया था कि जिस युद्ध में वह सिपाही बनकर लड़ रहा है, विजय प्राप्त होने पर वह श्रेयाधिकारी नहीं होगा, उसका अपना कोई हिस्सा नहीं होगा । हिस्सेदार होंगे पुस्तकें वकील और जमींदार कुलदीप नारायण सिंह । अंग्रेजों ने आजादी का समझौता भारतीय जनता से नहीं, भारतीय पूंजीवाद से किया । आजादी उन व्यक्तियों के भय से नहीं मिली जो आजादी के लिए लड़ रहे थे, बल्कि उन व्यक्तियों के भय से नहीं मिली जो आजादी के लिए लड़ रहे थे, बल्कि उन व्यक्तियों के भय से मिली जो आजादी के लिए नहीं लड़ रहे थे । न लड़ने वाला यह विराट समूह यदि उठ खड़ा होता तो अंग्रेजों को अपमानजनक वापसी होती । उन्होंने आजादी और इसका श्रेय उन्हें दिया, जिनसे वह भयभीत नहीं थे[1] । इस प्रकार की विचारणाओं को उपन्यास के वातावरण द्वारा स्पष्ट करने का प्रयास हुआ है ।

उपन्यास के कथाविन्यास और चरित्र विकास में संवाद और भाषा का महत्वपूर्ण स्थान होता है । नरेश मेहता ने `यह पथ बंधु था` उपन्यास की सम्पूर्ण अभिव्यक्ति और वर्णन अधिकतर संवादों के द्वारा किया है । ये संवाद जटिल न होकर सरल और वर्णनात्मक हैं । वे एक ओर कथासूत्रों को जोड़ने और विकसित करने का कार्य करते हैं, दूसरी ओर पात्रों की चारित्रिक व्यंजना में सहायक हैं । `बूंद और समुद्र` के संवादों में जो तीखापन, आकर्षण और वैविध्य मिलता है, वह रूप इस उपन्यास में नहीं चित्रित हो सका है, जैसा कि सशक्त वर्णनात्मक उपन्यास से अपेक्षा की जाती है । कहीं

---

१ ललित शुक्ल : `दिशाओं का परिवेश`, पृ०८४-८५ ।

कहीं संवाद इतने व्यंजनात्मक हो गये हैं कि चरित्र में हठात् एक साथ कई प्रतिक्रिया उठती है। बड़े बड़े लम्बे भाषणों से उपन्यास अवश्य ही (एकाध स्थलों को छोड़कर) मुक्त है। इसमें प्राय: संक्षिप्त वार्तालाप ही चित्रित हैं --

-- तुम मुझे पकड़ लोगे ?

-- नहीं।

-- तब ?

-- जोर जोर से चिल्लाऊंगा।

-- तुम अपनी दीदी को रोकोगे नहीं।

-- क्यों नहीं रोकूंगा ?

-- कैसे ही ?

-- नहीं, एक बार कहूंगा कि दीदी यहां से गप्पू पहलवान ही कूद सकता है, जो नदी में गंठा लगाता है। तुम यहां से कूदोगी तो मर जाओगी।[1]

`डूबते मस्तूल` के बाद `यह पथ बंधु था` की ही भाषा साफ सुथरी, सक्षम और वर्णनात्मक होते हुए भी सौन्दर्य की अभिव्यक्ति में समर्थ है। विशेषकर उस सन्दर्भ में जहां चौंकाने वाले गद्य-प्रयोगों की भरमार और तीखेपन का युग चल रहा है। वहां नरेश की भाषा परम्परित और सीधी सादी वर्णनात्मकता में भी आकर्षण, मार्मिकता, तीव्रता और सघनता उत्पन्न करनेमें सफल है। यह स्पष्ट करता है कि प्रयोगों के आग्रह से मुक्त सहज भाषा की कृति भी सशक्त और वजनदार हो सकती है। `यह पथ बंधु था` की भाषा में एक विशेष प्रकार का स्वरूप और सौष्ठव है। पूरी शैली में एक प्रकार के पुरानेपन की गूंज सी है जो कथा के काल और विषय के अनुरूप और अनुकूल होने के कारण अच्छी लगती है। हल्के-फुल्के बिम्बों केद्वारा, प्रतीकों और उपमाओं केद्वारा भाषा में सौन्दर्य और निखार लाने का प्रयत्न हुआ है जो गद्य से अधिक काव्यात्मक संवेदना उत्पन्न करता है। हालांकि यह प्रवृत्ति उपन्यास के गठन को बाधित ही करती है, लेकिन नरेश मेहता

---

१ `यह पथ बंधु था`, पृ०११०

का कवि-व्यक्तित्व इस कमजोरी से किसी भी उपन्यास में मुक्त नहीं हो पाया है । एकाध उदाहरण द्रष्टव्य हैं--

(क)..... रविवार का दिन जैसे एक शेव बढ़ा मुख हो । सब होता है, फिर भी जैसे कुछ नहीं होता । और जाड़ों का रवि-वासर तो पिकनिक के टिफिन कैरियर सा बस होता है[1] ।

(ख) उनकी आँखें अजीब तृष्णा से तृप्त लबालब भरी भीलों सी हो आयी थीं[2] ।

इसके बावजूद उपन्यास की भाषा में कुछ कमजोरियाँ भी हैं । क्रिया पदों सम्बन्धी कृत्रिमता और बराबकता तो है ही, शिथिल वाक्यांश और अशुद्ध तथा अनुपयुक्त प्रयोग भी बहुत हैं । पात्रानुकूल भाषा की विविधता के रूप में संगठन नहीं है, क्योंकि कुछ मराठी पात्र बीच-बीच में मराठी बोलने लगते हैं, बंगाली बंगला बोलने लगते हैं, और बनारसी पात्र भोजपुरी मिश्रित हिन्दी, तो सारे मालवी पात्रों को मालवी बोलना चाहिए था । इस प्रकार भाषागत प्रयोगों में संगति का अभाव है ।

अन्त में, कुल मिलाकर, कहा जा सकता है कि 'यह पथ बंधु था' कुछ बंगाली प्रभाव की कमजोरी को छोड़कर परम्परित उपन्यास विधान का सशक्त और व्यापक तथा आकर्षक रूप प्रस्तुत करता है । निःसंदेह यह बड़े सहज भाव से सामाजिक और साहित्यिक अभिव्यक्ति के एक लम्बे युग को स्थापित करता है और अनायास अपने भीतर परम्परा और समकालीनता के बीच एक नई समन्विति, एक नये संतुलन की खोज करता है[3] ।

-0-

---

१ 'यह पथ बंधु था', पृ०२०६

२ वही, पृ०१२१

३ 'माध्यम', अगस्त, १९६४, पृ०८८ ।

चतुर्थ अध्याय

-०-

मनोविश्लेषणात्मक शिल्प-विधान

मनोविश्लेषणात्मक शिल्प-विधान में उपन्यासकार मनुष्य के बाहरी जीवन की अपेक्षा अंतर्जगत की गुत्थियों को सुलझाता है। उसकी दृष्टि में मनुष्य की बाह्य परिस्थितियां उतनी महत्वपूर्ण नहीं होतीं, जितना कि मानसिक जगत। उसका आन्तरिक यथार्थ बाहरी यथार्थ से ज़्यादा वजनदार है। इस विधान के उपन्यासों के मनुष्य अपने अव्यक्त एवं उलझे हुए मानसिक संसार में भटकते हुए देखे जाते हैं, लेखक उस उलझती हुई दुनिया का प्रकाशन करता है। और उसके इर्द-गिर्द ही अपनी कथा का सम्पूर्ण ढांचा खड़ा करता है। व्यक्ति समाज से लड़ता हुआ नहीं देखा जाता और न सामाजिक यथार्थ के अनुरूप उसमें बदलाव आता है, बल्कि अपने से अपनी ही आन्तरिक दुनिया में लड़ता हुआ देखा जाता है। इस प्रकार के उपन्यासों का आधार है मनोविज्ञान और दर्शनशास्त्र। मनुष्य के अंतर्मन के परस्पर विरोधी विचारों, घूर्णन,प्रतिघूर्णन, संघर्ष, तनाव,कुंठा,संत्रास, चिंता, आशंका आदि को अभिव्यक्ति मिलती है। बाह्य यथार्थ के तेवर को प्रस्तुत करने वाले उपन्यास जितनी विशाल संख्या में पाठकों को आकर्षित कर सकते हैं, उतने मनोविश्लेषणात्मक उपन्यास नहीं। फिर भी पश्चिमी और हिन्दी उपन्यासों की दुनिया में इन उपन्यासों का एक पूरा काल देखा जा सकता है।

जेम्स ज्वायस, डी०एच० लारेन्स, ई०एफ०फार्स्टर, वर्जिनिया वुल्फ, डोरोथी रिचर्डसन, इलाचन्द्र जोशी, जैनेन्द्र, राजकमल चौधरी, डा० देवराज, अज्ञेय, प्रभाकर माचवे आदि इस विधि के प्रसिद्ध रचनाकार हैं।

इस विधान के उपन्यासों के कथा के केन्द्र में, घटना या सामाजिक समस्या न होकर वैयक्तिक अन्तश्चेतना में वर्तमान कोई ग्रन्थि होती है, जिसका सम्बन्ध अधिकतर हीनता या कामग्रन्थि से होता है, जो व्यक्ति विशेष के जीवन में विपर्यस्तता ला देती है और उनसे असामाजिक अवांछित कार्य कराती है, जिसके कारण[1] व्यक्ति का व्यवहार जटिल, विचित्र और अकल्पनीय लगता है।

मनोविश्लेषणवादी शिल्प-विधान के उपन्यासों का कथानक सूक्ष्म, व्यंजनाप्रधान तथा आंतरिक संसार को अभिव्यक्त करने वाला होता है-- ऐसा संसार जो जटिल, सूक्ष्म और उलझा हुआ हो। सूक्ष्म कथानक भी किसी नियोजित या संगठनक्रम में नहीं, प्रत्युत विशृंखलित होता है। इन उपन्यासों का लेखक एकदम स्वतन्त्र होता है, वह कथा को चाहे अंत से प्रारम्भ करे या बीच से, क्योंकि उसके लिए घटनाएं तो उपलक्षण मात्र होती हैं। वह पात्रों का विश्लेषण करते हुए किसी भी प्रसंग में बहकता है, पुन: उस प्रसंग को छोड़कर पीछे या दूसरे मोड़० में तल्लीन हो सकता है, यानी, वह कथा की क्रमोच्छेदक पद्धति का सहारा लेता है। व्यक्ति के मानसिक संसार में इतनी रेखाएं, इतनी विशाल सूक्ष्म परतें होती हैं कि उनका जटिल एवं बेमेल होना स्वाभाविक है। लेखक इन परतों के प्रकाशन में उत्सुकता, रोचकता और अंतर्वर्ती एकता पर बराबर ध्यान रखता है, उसकी दृष्टि मनोवैज्ञानिक विश्लेषक की भांति होती है।

----

१ प्रेम भटनागर : 'हिन्दी उपन्यास शिल्प : बदलते परिप्रेक्ष्य', पृ०४७

एक उपन्यास में एक साथ कई व्यक्ति पात्रों के मानसिक संसार की अभिव्यक्ति और विश्लेषण जटिल है, लेकिन कलाकार प्राय: सीमित पात्रों का व्यक्तित्व उपस्थित करता है। वह व्यक्ति की सम्पूर्णता की नहीं, उसके क्षणों की, उसके खंडित जीवन की मानसिक दुनिया का अनुसंधान करता है। वह विविध घटनाओं का नहीं, बल्कि मनुष्य की दमित वासनाओं-कामेच्छाओं, मानसिक अन्तर्द्वन्द्वों, स्वप्नों, सुप्त अचेतन प्रसंगों-स्थितियों, कुंठाओं, ग्रन्थियों का निरूपण करता है। स्थूल घटनाएं तथा संयोग चमत्कार नहीं, मार्मिक अंतर्द्वन्द्व, भाव-व्यवस्था, मार्मिक विश्लेषण तथा पात्रों के चरित्र-विकास की मनोवैज्ञानिक विविध संभावनाएं ही ऐसे उपन्यासों की रोचकता का मुख्य आधार होता है। घटनाओं की अपेक्षा यहां घटनाभासों या स्थितियों तथा जीवन के साधारण एवं व्यंजक गतिलेशों का प्राधान्य रहता है।[१]

उपन्यासकार साधारण एवं वर्गीय पात्रों के स्थान पर असाधारण एवं रहस्यमय व्यक्ति पात्रों का चयन करता है। व्यक्ति पात्रों के माध्यम से सामाजिक विकृतियों की खोज की जाती है। इस रूप में उसकी सामाजिक महत्ता भी बढ़ जाती है। व्यक्ति के अचेतन में दबी अतृप्तियां ही सामाजिक विकृतियों का कारण हैं, यही स्पष्ट करना उसका ध्येय होता है। उसको अचेतन वृत्तियों अथवा संस्कारों का दमन कर देने से वह विद्रोही, विस्फोटक अथवा जड़ बन सकता है। इसलिए मनोविश्लेषणवादी उपन्यास लेखक उन अचेतन वृत्तियों का दमन नहीं करता, उनके प्रकाशन के लिए पूरा पूरा अवसर देता है, उनके उन्नयन के द्वारा वैयक्तिक एवं सामाजिक कल्याण दिखाता है। इस विधान के अधिकतर पात्र मानसिक रोगी के रूप में आते हैं, किन्तु धीरे धीरे लेखक उनकी मानसिक परतों का प्रकाशन करके और उनका विश्लेषण करके उन्हें स्वस्थ एवं संगत बनाता है और इस प्रकार पाठक अन्त में उन्हें भले बने मनुष्य के रूप में देखते हैं। यानी लेखक मनोविश्लेषकों की भांति मनोवैज्ञानिक समस्याओं

---

१ सत्यपाल चुघ : 'प्रेमचन्दोत्तर उपन्यासों की शिल्प-विधि', पृ०२०६

की व्याख्या एवं निराकरण प्रस्तुत करता है ।

मनोविश्लेषणात्मक उपन्यासों के पात्रों के सुलझे हुए व्यक्त सामाजिक स्वरूप एवं उलझे हुए अव्यक्त वैयक्तिक स्वरूप में विरोध एवं वैषम्य स्पष्ट होता है । वे इसी विरोध विषमता के कारण वह कार्य नहीं कर पाते, जो उन्हें अभीष्ट होता है और बहुधा वह कर बैठते हैं, जो अनिश्चित ही नहीं, कल्पनातीत भी होता है । मनोवैज्ञानिक शब्दावली में ये पात्रों के चेतन प्रयत्नों तथा अचेतन प्रेरकों के वैषम्य की विडम्बना है, जो इनके जीवन को ही अशांत नहीं रखती, समाज के लिए घातक भी सिद्ध हो सकता है । क्योंकि इस अचेतन में हमारी वे समग्र-- विशेषतः बाल्यावस्था की-- इच्छा लालसायें परिसुप्त रहती हैं जो सामाजिक अस्वीकृति एवं अमान्यता के कारण अपरितुष्ट रह जाती हैं[1]। मनोविश्लेषणात्मक उपन्यास का लेखक इन दबी हुई लालसाओं का प्रकाशन करता है,क्योंकि उसका बाहरी संसार अन्दर से ही संचालित एवं परिवर्तित होता है ।

पात्रों के विश्लेषण एवं उसके अनुसार कथा-विधान में लेखक अनेक साधनों एवं विधियों का उपयोग करता है । वह अस्पष्ट एवं उलझे हुए संसार को बिम्बों के माध्यम से व्यक्त करता है । अचेतन एवं सुप्त इच्छाओं को स्वप्न प्रणाली के सहारे, छोटे-छोटे एवं अनगिनत भावों को सांकेतिक रूप में, मानसिक दुनिया को उदात्तीकरण,युक्तीकरण एवं स्थाना-न्तरण युक्ति के द्वारा अभिव्यक्ति प्रदान करता है । स्मृत्यवलोकन, चेतन प्रवाह, पूर्वदीप्ति, शब्दसहस्मृति परीक्षा, सम्मोहन,अन्तर्विवाद,अन्तर्द्वन्द्व आदि प्रणालियों द्वारा अचेतन संसार को अनावृत्त करता है । लेखक स्वयं अपनी ओर से इन विधियों के सहारे पात्रों के चरित्र का विश्लेषण प्रस्तुत नहीं करता,बल्कि पात्र स्वयं आत्मविश्लेषण के द्वारा -- इन विधियों के

----

१ सत्यपाल चुघ : 'प्रेमचन्दोत्तर उपन्यासों की शिल्प-विधि',पृ०२०४

परिप्रेक्ष्य में-- अपने चरित्र को प्रकाशित एवं व्याख्यायित करते हैं । सूक्ष्म संसार का अनुसन्धान होने के कारण इन उपन्यासों के संवाद और भाषिक संरचना व्यंजनापरक,सूक्ष्म, संश्लिष्ट एवं काव्यात्मक होता है । उनका उरेहण बौद्धिक क्षमता के साथ होता है ।

विशिष्ट उपन्यासों का अध्ययन

नदी के द्वीप (१९५१)[१]

'शेखर : एक जीवनी' के प्रकाशन के साथ ही सर्वथा नवीन साहित्यिक स्तर की उपलब्धि का भाव उपस्थित हुआ है और पाठक-समालोचक यह स्वीकारते हैं कि इसके माध्यम से अज्ञेय के कलाकार ने समूचे साहित्यिक वातावरण को एक नये आलोड़न से स्पन्दित कर दिया । अज्ञेय मूलत: मनोविश्लेषणात्मक उपन्यास-लेखक हैं । अपनी रचनाओं में उन्होंने व्यक्ति के मानस का संवेदना के स्तर पर साक्षात्कार किया है । जोशी और जैनेन्द्र की भांति मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त उन पर हावी नहीं हुए हैं, बल्कि आधुनिक संवेदनाओं को समकालीन सन्दर्भों के अनुकूल व्यक्तिवादी स्तर पर उभारने के लिए उन्होंने मनोवैज्ञानिक सामग्रियों का उपयोग किया है । उनका उपन्यास साहित्य इस बात का साक्षी है कि क्रमश: उनकी औपन्यासिक रचनाएं मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों की बौद्धिकता से हल्की होती गई हैं[२] ।

'नदी के द्वीप' को कतिपय आलोचकों ने शिल्प-प्रधान रचना के रूप में स्वीकृति दी है । डा० सत्यपाल चुघ कहते हैं--'नदी के द्वीप'

---

१ सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय' : 'नदी के द्वीप',प्र०सं०१९५१ प्रगति प्रकाशन,नई दिल्ली ।

२ ओमप्रभाकर : 'अज्ञेय का कथा-साहित्य',पृ०४२

में अभिव्यंजनापक्ष अपनी आकर्षक परिष्कृति के साथ विशेष प्रबल हो गया है, अतएव इस उपन्यास की शिल्पप्रधानता के सम्बन्ध में आलोचकों में मतैक्य रहा है । यही नहीं, तकनीक की दृष्टि से भी हिन्दी के उपन्यासों की श्रेणी में 'अद्वितीय' भी कह दिया गया है । या इस दृष्टि से इसमें चरम सीमा मानी गई है ।[१] डा० विनयमोहन शर्मा का भी कथन है, --' इसमें सन्देह नहीं कि स्वाधीनता कालीन उपन्यासों में'नदी के द्वीप' का शिल्प विवादास्पद होने परभी नूतन है । उसकी अपनी भाषा शृंगार है; नास्ति दर्शन है ।[२]' किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि नदी के द्वीप में लेखक ने अपने शिल्प के माध्यम से व्यक्तिवादी जीवन दर्शन को प्रस्तुत किया है । शायद इसीलिए उपन्यास की कथा बहुत छोटी है और कथा के रूप में उसकी उपलब्धि नहीं के बराबर है, लेकिन पात्रों के द्वारा उनके मानस के बारीक आयामों का अनुसंधान किया गया है। पूरे उपन्यास में पात्रों की मानसिक चेतना और संघर्ष का आभास बराबर बना रहता है और मनोविश्लेषण का वातावरण सम्प्रेषित होता है । सभी पात्र कामजनित आकर्षण में एक दूसरे से बद्ध होते हुए मानसिक यातना या मानसिक पीड़ा से ग्रस्त दिखते हैं । वस्तुत: जोशी की भांति पात्रों में मानसिक कुंठा और ग्रन्थियों के विश्लेषण का अवकाश यहां नहीं है,बल्कि मानसिक गुत्थियों के सम्प्रेषण में लेखक ने सर्वथा एक नई विधि से काम लिया है,जो अपने समकालीन और आधुनिक दृष्टिबोध के अधिक निकट है । 'नदी के द्वीप' में अज्ञेय ने मनुष्य के आन्तरिक संसार के तनाव,आकर्षण और विकर्षण,पलायन और विद्रोह, वासना और समर्पण द्वन्द्व के स्तर पर प्रस्तुत करने का प्रयास किया है । इस प्रकार उपन्यास में मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त हावी तो नहीं है, लेकिन मनोविश्लेषण का वातावरण अभिव्यंजना के स्तर पर बराबर स्थायी

---

१ सत्यपाल चुघ : 'प्रेमचन्दोत्तर उपन्यासों की शिल्प-विधि',पृ०६३
२ विनयमोहन शर्मा : 'साहित्य : शोध-समीक्षा',पृ०१४०

रहता है । इसलिए उपन्यास का शिल्प नवीन एवं प्रयोगधर्मी होते हुए भी सहज रूप से मनोविश्लेषणात्मक कोटि में रखा जा सकता है ।[1] इस बात का समर्थन कई आलोचक करते भी हैं । ओम प्रभाकर स्वीकारते हैं --'अज्ञेय का मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण प्रमुखत: फ्रायड से प्रभावित है ।.....'नदी के द्वीप' में मुख्यत: यौन भाव(सेक्स) एवं अहं इन्हीं दो मनोवृत्तियों तथा इनसे उद्भूत कुंठा,जटिलता, क्षुब्धता, पलायन,आत्मवंचना, अराजकता आदि मन:स्थितियों का विश्लेषण-विवेचन है ।'[2] उपन्यास का स्रष्टा भी अपनी कृति को मनोविश्लेषणात्मक मानता है । उसके शब्दों में --' तो मेरी रुचि व्यक्ति में बनी रही है और है : 'नदी के द्वीप' व्यक्ति चरित्र का ही उपन्यास है ।........शेखर की तरह वह परिस्थितियों में विकसित होते हुए एक व्यक्ति का और उस चित्र के निमित्त उन परिस्थितियों की आलोचना भी नहीं है । वह व्यक्ति चरित्र का-- चरित्र के उद्घाटन का उपन्यास है ।'[3]

उपन्यास का शीर्षक रूपकात्मक है और यह रूपक व्यक्ति-परकता या पात्रों की अंतर्मुखी संवेदना को उजागर करता है । इसे लेखक ने कई स्थानों पर विश्लेषित एवं व्यंजित करने का प्रयास किया है । एक-दो उदाहरण पर्याप्त होंगे --

(१) 'कितना बड़ा है जीवन; कितना विस्तृत, कितना गहरा, कितना प्रवहमान; और उसमें व्यक्ति की ये छोटी छोटी इकाइयाँ-- प्रवाह से अलग जो कोई अस्तित्व नहीं रखतीं, कोई अर्थ नहीं रखतीं,फिर भी सम्पूर्ण हैं,स्वायत्त हैं, अद्वितीय हैं और स्वत: प्रमाण हैं,क्योंकि अन्ततोगत्वा आत्मानुशासित हैं, अपने आगे उत्तरदायी हैं...'[4]

---

१ (क) द्रष्टव्य--नगेन्द्र : 'विचार और विश्लेषण' पृ०६३

(ख) ,, --नंदकुमार राय : 'अज्ञेय के उपन्यास : कथ्य और शिल्प',पृ०३६

२ ओम प्रभाकर : 'अज्ञेय का कथा साहित्य',पृ०३१-४३

३ अज्ञेय : 'आत्मनेपद',पृ०७२

४ 'नदी के द्वीप',पृ०४४२

(२) "मैंने एक बार तुमसे कहा था, हम जीवन की नदी के अलग-अलग द्वीप हैं
-- ऐसे द्वीप स्थिर नहीं होते, नदी निरन्तर उनका भाग्य गढ़ती
चलती है,द्वीप अलग-अलग होकर भी निरन्तर घुलते और पुन: बनते
रहते हैं-- नया घोल, नये अणुओं का मिश्रण, नई तलछट,एक स्थान
से मिटकर दूसरे स्थान पर जमते हुए नये द्वीप...."[१]।

इस प्रकार उपन्यास का शीर्षक प्रतीकात्मक, विषयानुकूल तथा प्रतिपाद्यबोधक है। नदी की व्यंजना यहाँ जीवन के रूप में तथा द्वीप की मनुष्य की एक इकाई के रूप में ली गई है। जैसा कि उद्धरणों से स्पष्ट है,द्वीप के रूप में मनुष्य एकान्तिक, स्वायत्त,सामाजिक भाव से अलग अपने आप में जीता है। वह नदी के अन्य द्वीपों से मिलता तो है, लेकिन अपनी पृथक सत्ता बनाये रखता है और सच तो यह है कि नितान्त स्वायत्त होकर इसी पृथकत्व में जीता, उठता और गिरता है।

'नदी के द्वीप' में कुल मिलाकर चार पात्र हैं।भुवन, रेखा,चंद्रमाधव और गौरा और इनमें भी मुख्य दो हैं --भुवन और रेखा और यदि हम कह लें कि भुवन ही इसका सबसे प्रमुख पात्र है तो अत्युक्ति नहीं होगी[२]। इन पात्रों का 'शेखर एक जीवनी' के पात्रों की भांति चारित्रिक विकास नहीं, बल्कि उद्घाटन होता है। शेखर विभिन्न परिस्थितियों में अपने चरित्र का विकास करता है जब कि 'नदी के द्वीप' में व्यक्ति आरम्भ से ही सुगठित चरित्र लेकर आते हैं और अलग अलग संवेदनाओं को प्रस्तुत करते हैं। वे विभिन्न स्थितियों में स्थितियों में निर्मित या विकसित नहीं होते,बल्कि प्रकाशित या उद्घाटित होते हैं। इस प्रकार, यह उपन्यास चारित्रिक विकास का नहीं, चारित्रिक संवेदनाओं का उपन्यास है। स्वयं लेखक स्वीकारता है--' आप चाहें

----

१ 'नदी के द्वीप',पृ०४१८

२ ओम प्रभाकर : 'अज्ञेय का कथा साहित्य',पृ०५८ तथा अज्ञेय : 'आत्मनेपद' पृ०७२।

तो यह भी कह सकते हैं कि नदी के द्वीप चार संवेदनाओं का अध्ययन है। उसमें जो विकास है, वह चरित्र का नहीं, संवेदना का ही है।[1]

रेखा 'नदी के द्वीप' की सबसे महत्वपूर्ण सृष्टि है। वह हमारे समाज के अमानवीय नीति विधान के विरुद्ध लाते किन्तु ऊपर से शांत विद्रोह की मूर्ति है। उसका विद्रोह किसी तीव्र रोष अथवा किसी सामाजिक कार्य में अथवा किसी भी प्रकार की क्रिया में नहीं प्रकट होता। वह मूलतः आवेग के स्तर पर[2] भावजगत के स्तर पर ही प्रकट होता है जो अपने आप में एक नई बात है। उसकी चारित्रिक बुनावट में सपाटता का संदेह होता है,पर वास्तव में ऐसा नहीं है। उसमें पर्याप्त परिवर्तन अथवा उतार-चढ़ाव देखा जा सकता है। सामाजिक विधान के अनुसार वह हेमेन्द्र से विवाह करती है और कुछ वर्षों तक उसके साथ रहती भी है, लेकिन स्वीकार नहीं कर पाती,क्योंकि उसका हृदय बंध नहीं पाता। वह एक भाव द्रवण एवं संवेदनशील नारी है,अपने व्यक्तित्व के अनुरूप अपने भाव संवेदना भुवन को समर्पित करती है। बिना विवाह किये, अमानवीय सामाजिक विधान का तिरस्कार करके, अपना सब कुछ दे डालती है। उसके व्यक्तित्व में कोई वर्जना नहीं,कोई बंधन नहीं। वह यह नहीं स्वीकार कर पाती कि सामाजिक कौल पढ़कर ही हम एक दूसरे से बंधते हैं। हमारा जहां जो बाह्य,जहां व्यक्तित्व का मिलान हुआ बंध जायेंगे। भुवन और रेखा की भावनात्मक सम्पृक्ति हुई और हमेशा के लिए-सामाजिक नियमों के अनुकूल नहीं,एकदम नये रूप में। वह कहती है--'पर भुवन,तुम समाज की दृष्टि से देखते हो : वह दृष्टि गलत नहीं है, अप्रासंगिक भी नहीं है,पर निर्णायक भी वह नहीं है। व्यक्ति को दबाकर इस मामले का जो निर्णय होगा गलत होगा--घृण्य होगा, असह्य होगा।.....मेरे कर्म का-- सामाजिक व्यवहार का नियमन समाज करे, ठीक है, मेरे अंतरंग जीवन का-- नहीं। वह

---

१ ओम प्रभाकर : 'अज्ञेय का कथा साहित्य',पृ०७२-७३

२ नेमिचन्द्र जैन : 'अधूरे साक्षात्कार',पृ०२६

मेरा है । मेरा यानी हर व्यक्ति का निजी ।[१] असमानताएँ सामाजिक विधान का तिरस्कार करने के कारण ही वह सबसे अधिक समाज में अंतर्निहित पात्र है ।

रेखा भुवन और चंद्रमाधव की भांति कहीं भी क्षुद्र नहीं दिखती । वह हरदम साफ आईने की तरह झलकती है । उसके व्यक्तित्व की गरिमा बराबर ध्यान में बनी रहती है । भुवन के प्रति सहज भाव से आकर्षित होकर समर्पण देती है, लेकिन उसका प्रतिदान नहीं मांगती । उसके भविष्य को बांधना नहीं चाहती । विवाह के प्रश्न पर कहती है, "....नहीं, भुवन नहीं.... पर -- वह असंभव है । मैंने तुमसे प्यार मांगा था, तुम्हारा भविष्य भी नहीं मांगा था, न मैं वह लूंगी ।[२] अंत में रमेशचन्द्र से शादी कर लेने के बाद भी वह भुवन को ही चाहती है, क्योंकि 'फुलफिलमेण्ट' नहीं मिला है । भुवन की मर्यादा की रक्षा के लिए, असह्य पीड़ा सहकर गर्भपात कराती है और कहती है," भूली नहीं, भुवन । पर-- तुम्हें-- लज्जा नहीं देना चाहती थी, तुम्हारा सिर झुके, यह नहीं चाहती थी -- किसी के आगे नहीं, और उस- राक्षस के आगे ...[३] "अपने प्रेमी के लिए हंसते हंसते जान-लेवा पीड़ा सह लेना-- उसके व्यक्तित्व का उज्ज्वल और महत्त्वपूर्ण पक्ष है । वह प्रणय की भूखी है, लेकिन दान नहीं है, दान लेते समय कभी लाचार नहीं होती । उसमें गहरा आत्मविश्वास है और अपनी चेतना के सहारे चलती है । किसी के बनाये रास्ते का अनुगमन करना, किसी के पथनिर्देश में आगे बढ़ना उसके व्यक्तित्व का अंग नहीं है । आधुनिक नारी के व्यक्तित्व के इतने विविध-पक्ष, इतनी गहराई और सूक्ष्मता के साथ अपने आगे प्रत्यक्ष कर सकना और

----

१ 'नदी के द्वीप', पृ० २७८

२ वही, पृ० २७७

३ वही, पृ० ३०२

फिर उसे शब्दबद्ध कर सकना अपने आप में एक बड़ी साहित्यिक उपलब्धि है । अज्ञेय ने सचमुच उसे बड़ी सूक्ष्मता और तन्मयता के साथ अंकित किया है[1] । उपन्यास के अन्य पात्र रेखा के व्यक्तित्व के सामने निर्बल और प्राणहीन दिखाई देते हैं -- गौरा में सबलता का आभास होता पड़ता है लेकिन जहां वह भुवन को पा लेती है, वहां उसका परिणति सा दिखाई देने लगता है,जब कि रेखा रमेशचन्द्र से विवाहित होकर भी अविजेय रहती है । यहां तक कि उपन्यास का मुख्य पात्र भुवन भी रेखा की तुलना में सशक्त नहीं हो पाया है-- यद्यपि लेखक के मन में उसके चरित्र को प्रखर और शक्तिशाली बनाने की था । इसके उल्टा वह रेखा के व्यक्तित्व को प्रस्फुटित और प्रतिफलित करने के लिए निमित्त मात्र रह जाता है । आलोचकों ने `नदी के द्वीप` को `शेखर : एक जीवनी` का तीसरा भाग स्वीकार किया है[2] । इस दृष्टि से भुवन को शेखर का ही रूप मानना पड़ेगा । सम्भवत: लेखक प्रकारान्तर से उसे आदर्शोन्मुख, परिपुष्ट एवं शक्तिशाली व्यक्तित्व मानकर चलता है और आशा रखता है कि जो भी उसके सम्पर्क में आएगा उसकी प्रतिभा और महान व्यक्तित्व से प्रभावित हुए बिना नहीं रहेगा । गौरा प्रारम्भ से अन्त तक शिष्या नहीं,प्रभावित प्रेमिका दिखाई देती है । रेखा जहां अपनी भावनात्मक संवेदना के कारण भुवन को समर्पण देती है, वहां लेखक ने जबरदस्ती रेखा को आकर्षित कराया है,क्योंकि भुवन अपनी भावना के प्रति हमेशा ईमानदार नहीं रहा न गौरा के प्रति न ही रेखा के प्रति । इसलिए भुवन का व्यक्तित्व आरोपित और अनावश्यक अतिरंजित सा लगता है । पाठक भुवन को शेखर की तरह नहीं देख पाता,क्योंकि वह शेखर की भांति विभिन्न परिस्थितियों के बीच परिवर्तित या विकसित नहीं होता । उसमें एक प्रकार से स्वयं लेखक का आत्मप्रक्षेपण है । उसको लेखक जैसे स्वयं जानता है या उसको महानता में जैसे स्वयं उसे विश्वास है, वैसे ही पाठक को भी होगा, यह भ्रम ही शायद उसे भुवन को

----

१ नेमिचन्द्र जैन : `अधूरे साक्षात्कार`,पृ०२६

२ द्रष्टव्य-- ओमप्रभाकर : `अज्ञेय का कथा साहित्य`पृ०५७,रामस्वरूप चतुर्वेदी : हिन्दी नवलेखन ,पृ०६६, अज्ञेय : आत्मनेपद ,पृ०८७, नन्दकुमार राय : अज्ञेय के उपन्यास : कथ्य और विश्लेषण,पृ०५२-५३,इंद्रनाथ मदान: `आज का हिन्दी- उपन्यास, पृ०५१

फिर उसे शब्दबद्ध कर सकना अपने आप में एक बड़ी साहित्यिक उपलब्धि है ।[1] अज्ञेय ने सचमुच उसे बड़ी सूक्ष्मता और तन्मयता के साथ अंकित किया है । उपन्यास के अन्य पात्र रेखा के व्यक्तित्व के सामने निर्बल और प्राणहीन दिखाई देते हैं -- गौरा में सबलता का आभास दीख पड़ता है लेकिन जहां वह भुवन को पा लेती है, वहां उसकी परिणति सी दिखाई देने लगती है,जब कि रेखा रमेशचन्द्र से विवाहित होकर भी अमिताय रहती है । यहां तक कि उपन्यास का मुख्य पात्र भुवन भी रेखा की तुलना में सशक्त नहीं हो पाया है-- यद्यपि लेखक के मन में उसके चरित्र को प्रखर और शक्तिशाली बनाने की था । उसके उल्टा वह रेखा के व्यक्तित्व को प्रस्फुटित और प्रतिफलित करने के लिए निमित्त मात्र रह जाता है । आलोचकों ने `नदी के द्वीप` को `शेखर : एक जीवनी` का तीसरा भाग स्वीकार किया है ।[2] इस दृष्टि से भुवन को शेखर का ही रूप मानना पड़ेगा । सम्भवत: लेखक प्रकारान्तर से उसे आदर्शीकृत, परिपुष्ट एवं शक्तिशाली व्यक्तित्व मानकर चलता है और आशा रखता है कि जो भी उसके सम्पर्क में आएगा उसकी प्रतिभा और महान व्यक्तित्व से प्रभावित हुए बिना नहीं रहेगा । गौरा प्रारम्भ से अन्त तक शिष्या नहीं,प्रभावित प्रेमिका दिखाई देती है । रेखा जहां अपनी भावनात्मक संवेदना के कारण भुवन को समर्पण देती है, वहां लेखक ने जबरदस्ती रेखा को आकर्षित कराया है,क्योंकि भुवन अपनी भावना के प्रति हमेशा ईमानदार नहीं रहा न गौरा के प्रति न ही रेखा के प्रति । इसलिए भुवन का व्यक्तित्व आरोपित और अनावश्यक अतिरंजित सा लगता है । पाठक भुवन को शेखर की तरह नहीं देख पाता,क्योंकि वह शेखर की भांति विभिन्न परिस्थितियों के बीच परिवर्तित या विकसित नहीं होता । उसमें एक प्रकार से स्वयं लेखक का आत्मप्रक्षेपण है । उसको लेखक जैसे स्वयं जानता है या उसकी महानता में जैसे स्वयं उसे विश्वास है, वैसे ही पाठक को भी होगा, यह भ्रम ही शायद उसे भुवन को

----

१ नेमिचन्द्र जैन : `अधूरे साक्षात्कार`,पृ०२६

२ द्रष्टव्य-- ओमप्रभाकर : `अज्ञेय का कथा साहित्य`पृ०५७,रामस्वरूप चतुर्वेदी : हिन्दी नवलेखन ,पृ०६६, अज्ञेय : आत्मनेपद ,पृ०८७, नंदकुमार राय : अज्ञेय के उपन्यास : कथ्य और विश्लेषण,पृ०५२-५३,इंद्रनाथ मदान: आज का हिन्दी- उपन्यास,पृ०५१

अपनी सम्पूर्ण सहज मानवता में साकार नहीं होने देता[1]।

पूरे उपन्यास में लेखक का यही मनोभाव रहता है कि भुवन एक उच्च वैज्ञानिक एवं गम्भीर विद्वान है। मानवीय अनुभूति के दर्शन उसमें अत्यन्त विरल हैं, नारी सामीप्य से दूर ही रहने की कोशिश करता है, लेकिन रेखा की समीपता में न जाने किस ओर से ढेर सारी संवेदनशीलता उमड़ पड़ती है। उसके व्यक्तित्व की यह संवेदनशीलता समग्र दृष्टि से अस्वाभाविक ही कही जा सकती है। उसके चरित्र का यह पक्ष आरोपित और इच्छित जान पड़ता है। ऐसा लगता है कि दो अलग-अलग ऐसे व्यक्ति मिला दिये गये हों जो किसी गहरे आंतरिक क्षण में भी एक नहीं होते[2]। कश्मीर में दो बार अत्यधिक संवेदनशील होता है -- एक बार, नौकुछिया और तुलियन में जहां उसने रेखा के शरीर का भोग किया-- दूसरी बार, रेखा के गर्भवती होने पर उसकी आरोपित सेवा भावना में। लेकिन व्यक्तित्व का यह पक्ष बाकी भुवन से कहीं भी सम्पृक्त दिखाई नहीं देता। रेखा की भावनात्मक सम्पृक्ति उसके जीवन से निकली हुई है, जब कि भुवन के लिए यह आकस्मिक और अप्रत्याशित है। बाकी जीवन में भुवन बहुत ही साधारण बल्कि विशेष प्रभाव भी मन पर नहीं छोड़ता। इसी कारण गौरा की प्रकारान्तर से भक्ति एवं समर्पण और प्यार को पाने के लिए प्रतीक्षारत रहना लेखक का इच्छित एवं कृत्रिम भाव है।

गौरा का चरित्र रेखा की तुलना में उच्च और आधुनिक नहीं है। रेखा जहां परम्परित सामाजिक विधान से विद्रोह करके भुवन को मुक्त भावनात्मक एवं शारीरिक समर्पण करती है, वहां गौरा भुवन को पहले से जानती हुई भी अपने हृदय की बात नहीं कह पाती। अपने परिवार की

----

१ नेमिचन्द जैन : 'अधूरे साक्षात्कार', पृ०२७

२ वही, पृ०२७

इच्छा के अनुकूल विवाह न करके गामित विद्रोह का भाव झलकता तो है, किन्तु रेखा की तुलना में यह विद्रोह इतना ऊंचा और गरिमामय नहीं बन सका है । इसमें साधारण नारी की तरह ईर्ष्या नहीं है, सब कुछ जानते हुए भी रेखा से खुले दिल मिलती है, और प्रेम करती है । लेखक ने ईर्ष्या का प्रदर्शन दोनों नारी पात्रों में नहीं दिखाया है, क्योंकि उसका प्रयास असाधारण चरित्रों की खोज करना है । पूरे उपन्यास में वह सपाट-सी दिखती है । भुवन के प्रति निरन्तर पूजाभाव एवं असाधारण समर्पण आरोपित लगता है । उसकी भाव-प्रवणता उसके जीवन से नि:सृत न होकर लेखक द्वारा लादी गई लगती है । सच तो यह है कि लेखक ने गौरा में समस्त सद्गुणों एवं हर प्रकार की सुन्दरता का आरोप करके उसे भोंडा एवं असुन्दर ही बनाया है । यही कारण है कि गौरा का कोई प्रभाव ही मन पर नहीं पड़ता । रेखा की तुलना में तो वह बच्ची भी नहीं, बेहद बचकानी लगती है[१]।

चन्द्रमाधव उपन्यास का सबसे निर्बल पात्र है । लगता है लेखक के मन में उसके प्रति कोई भी सहानुभूति नहीं थी । उसे लगभग 'खलनायक' के रूप में परिकल्पित किया जा सकता है । उसका व्यक्तित्व विकृतियों एवं ग्रन्थियों का पुतला है । रेखा के सामने प्रणय प्रस्ताव करता है, लेकिन सफलता नहीं पाता और विक्षिप्त होता है । रेखा के प्रेमी भुवन से ईर्ष्या रखता है, क्योंकि उसके माध्यम से ही रेखा का परिचय भुवन से हुआ था । पत्नी के साथ 'एडजस्ट' नहीं कर पाता । प्रेम की असफलता पाने पर कम्युनिज़्म का मुखौटा ओढ़ लेता है । ये सब विकृतियों के ही चित्र दिखाई देते हैं । लेकिन इस बात को भी ध्यान में रखना होगा कि अज्ञेय की दृष्टि गौरा और चंद्रमाधव के पात्रांकन की प्रति-चरित्र दिखाने की रही है । इस कारण गौरा और चंद्रमाधव के चरित्र को हम स्वाभाविक भी मान सकते हैं । गौरा जहां अपने प्रेमी को न पाने पर विचलित या विक्षिप्त नहीं होती न ही ईर्ष्या जागृत होती है, जबकि

---

१ नेमिचन्द्र जैन : 'अधूरे साक्षात्कार', पृ०२६

चन्द्रमाधव आत्महनन की भावना से ग्रस्त होता है । कम्युनिज़्म का खोल पहनना, उसकी अतृप्ति की प्रतिक्रिया है । अज्ञेय लिखते हैं--'चन्द्रमाधव और गौरा स्वतंत्र व्यक्ति भी हैं और भुवन तथा रेखा के प्रतिचित्र भी । चारों एक ही समाज या वर्ग के प्राणी हैं । पर चन्द्रमाधव का चरित्र-विकास विकृति का ऐसी ग्रन्थियों से गुंथीला हो गया है कि उसका विवेक भी उसे कुपथ पर ले जाय और उसकी सदोन्मुखता आत्मप्रवंचना के कारण है । इसी में वह भुवन का प्रति-भू है । दूसरी और गौरा तथा रेखा भी प्रत्यवस्थित किये गये हैं । त्याग की स्वस्थ भावना एक को दृष्टि देती है तो दूसरी में एक प्रकार के आत्महनन का कारण बनती है.... '[1] ।

'नदी के द्वीप' में मूलरूप से यौन भावना एवं अहं इन्हीं दो मनोवृत्तियों की अभिव्यक्ति हुई है और यह अभिव्यक्ति फ्रायड के मनोविज्ञान से मिलती जुलती है । अतृप्त कामेच्छाओं एवं अहं के कारण ही चंद्रमाधव एवं भुवन जैसे पात्रों में कुंठा, पलायन, दुग्धता, आत्महनन एवं अराजकता जैसी मन:स्थितियां दिखाई देती हैं ।भुवन एक बुद्धिसम्पन्न वैज्ञानिक-अध्यापक है,किन्तु इससे अधिक वह कुंठित प्रेमी है । रेखा के प्रति आकर्षण उसकी यौन-भावना के कारण है और पूरी तरह से उसे न पाने के कारण तथा अपने भावीपुत्र के गर्भपात हो जाने के कारण वह ग्रन्थि से ग्रस्त हो जाता है । इसी ग्रन्थि के कारण वह गौरा से दूर दूर भागता है, वैज्ञानिक अनुसन्धान तो उसका खोल और अहं की प्रतिक्रिया है । गौरा से विवाह करने के पश्चात् ही ग्रन्थिमुक्त होता है । रेखा चाहे जितनी भी भावना सम्पन्न एवं संवेदनशील रही हो, लेकिन वह भी अहं भावना से मुक्त नहीं हो सकी है । अहं के कारण ही वह अपने वैधानिक पति हेमचन्द्र से अलग रहकर यायावरी जीवन बिताती है और भुवन के साथ बिना किसी वर्जना के संभोग करती है । सम्पूर्ण शरीर समर्पण के पश्चात् भी भुवन के विवाह प्रस्ताव को ठुकरा देती है, हो सकता है यह अस्वीकृति अपने वैवाहिक जीवन की कटु अनुभूति के कारण रही हो, पर सच तो यह है कि

----

१ अज्ञेय : 'आत्मनेपद',पृ०७४

उसका प्रबल अहं ही बंधने नहीं देता । वह कहता है,--' हां भुवन । तुम्हें क्लेश पहुंचाना नहीं चाहता था, अविश्वास मैंने नहीं किया । पर-- वह असम्भव है[1]। मैंने तुमसे प्यार मांगा था, तुम्हारा भविष्य नहीं मांगा था ..... '। अहं से अधिक वह यौन पीड़ित नारी है । पति के होते हुए भी भुवन के साथ अपने यौन को 'फुलफिल' करती है और अन्त में रमेशचन्द्र के साथ विवाह में भी 'सैक्स प्लेजर' ही कार्य करता है । गौरा भुवन की शिष्या तो नाममात्र की है, वास्तव में भुवन के प्रति आकर्षण में अतृप्त वासना ही प्रेरक रहती है । चन्द्रमाधव तो स्पष्टरूप से कामपीड़ित चरित्र है । अतृप्त कामेच्छाओं के कारण ही आपन्न ईर्ष्या की मन:स्थिति में वह पीड़ित रहता है ।

अज्ञेय ने 'नदी के द्वीप' में हेनरी जेम्स का 'प्वाइण्ट आव व्यू' तकनीक या सीमित दृष्टिकोण वाली खण्ड कथा-पद्धति का उपयोग किया है । इस शिल्प विधान के निर्वाह के लिए उपन्यास के अध्याय शीर्षक पात्रों के नाम पर हैं,जिसमें प्रत्येक पात्र अपने दृष्टिकोण के अनुसार अपनी जीवन गाथा कहते हैं तथा दूसरे पात्रों का अध्ययन भी करते चलते हैं । बीच-बीच में दो बार 'अंतराल' शीर्षक देकर कथासूत्र को एकत्रित करने तथा बिखरते हुए कथानक को नियोजित करने का प्रयास हुआ है । मानों यहां पृथक्-पृथक् पात्रों का आत्मगत(सब्जेक्टिव) मत न होकर एक पांचवें, इन सबसे तटस्थ पात्र (लेखक) का मत व्यंजना हुई है[2]। 'उपसंहार' में कथानक का सारांश और परिणति दी गई है । 'शेखर : एक जीवनी' में कथानक का विकास मुख्यत: नायक की स्मृतियों और मन:स्थितियों पर आधारित है और यथावसर बहुत से प्रसंग विशृंखलित और अधूरे रह गये हैं, जिससे प्रभाव की समता यहां स्खलित-सी दिखाई देती है,किन्तु 'नदी के द्वीप' में कथा के

---

१ 'नदी के द्वीप',पृ०२७७

२ सत्यपाल चुघ : 'अज्ञेय के उपन्यासों की शिल्प विधि',पृ०१०२

समस्त कुछ पूर्ण सुनियोजित और प्रभावाभिव्यंजक हैं ।

'नदी के द्वीप' के कथानक तथा चरित्र-विश्लेषण की विशिष्टता इस बात में है कि उसमें विभिन्न प्रकार की मनोवैज्ञानिक शिल्प-युक्तियों का कुशलतापूर्वक संगुम्फन किया गया है ।प्रत्यवलोकन,अंतर्द्वन्द्व, काल विपर्यय,रिपोर्ताज़, डायरी, पत्र,कवि-चित्र,उद्धरण, प्रतीक, स्वप्न,शब्द सहस्मृति, मुक्त आसंग,अन्तर्विवाद(इंटीरियर मोनोलाग) आदि शिल्प प्रविधियों का एक साथ कुशल उपयोग आश्चर्यजनक प्रतीत होता है ।

'शेखर : एक जीवनी' में जहां शेखर अपने सम्पूर्ण जीवन को ही प्रत्यवलोकन के माध्यम से व्यक्त करता है, वहां 'नदी के द्वीप' में चार-पांच स्थल ही ऐसे हैं, जहां पात्र अपने अतीत जीवन के खण्डचित्रों का स्मरण करते हैं । एक प्रत्यवलोकन आरम्भ में ही भुवन का है,'भुवन ने भीतर प्रवेश करके दरवाजा बन्द कर लिया है और एक खाट पर सिमट कर बैठ गया है उसके विस्मय की जड़ता कुछ कम हुई तो उसकी स्मृति धीरे-धीरे पिछले कुछ घण्टों की दृश्यावली के पन्ने पलटने लगी ।'[1] इस प्रत्यवलोकन के दो उद्देश्य देखे जा सकते हैं-- पहला,उपन्यास का नाटकीय चमत्कार से पूर्ण उत्सुकता उद्बोधक आरम्भ करना, दूसरे, एक मनोवैज्ञानिक उपन्यास के अनुकूल पात्र की मानसिकता के अंग के रूप में, उसके आत्मसीमित दृष्टिकोण से घटनाओं का ऐसा विश्लिष्ट प्रस्तुतीकरण कि उसका मनोवैज्ञानिक चरित्र चित्र भी सामने आ जाए । स्पष्ट ही यह 'शेखर : एक जीवनी' के नायक के प्रत्यवलोकन से भिन्न उद्देश्य लिए हुए हैं,जहां उसके अपने जीवन की कार्य-कारण परम्परा के सूत्रों को सुलझाने का प्रयत्न किया गया है ।[2] एक दूसरा संक्षिप्त प्रत्यवलोकन रेखा का है । एक विशेष स्थानपर साहचर्य स्मृति पद्धति के आधारपर हेमेन्द्र के सम्बन्धों की विषमता तथा चरम दूषित मनोवृत्तियों से पीड़ित होती है । वह भुवन को अपने जीवन के सम्बन्ध में बताती है अर्थात् उस आन्दोलित मन:स्थिति

---

१ 'नदी के द्वीप',पृ०४

२ सत्यपाल चुघ : 'अज्ञेय के उपन्यासों का शिल्प विधि',पृ०२२०

में अपने पूर्व के कटु जीवन का स्मृत्यवलोकन करता है । इस स्थल को डा० देवराज उपाध्याय ने चलचित्र को 'कट बैक' पद्धति कहा है,[2] जिसके प्रयोग से उपन्यास में अंतर्दृष्टि (इन साइड वियु) की स्थापना हुई है[2] । इसके अतिरिक्त भी दो तीन स्थलों में स्मृत्यवलोकन प्रणाली का आश्रय लिया गया है । इस प्रकार उपन्यास में प्रत्यवलोकन प्रणाली का सीमित किन्तु कलात्मक उपयोग हुआ है ।

उपन्यास में कथानक की काल विपर्यय पद्धति कौ-एक स्थलों पर प्रयुक्त हुई है । इस पद्धति के द्वारा कथाकार कथा में नाटकीय स्थिति का निर्माण करता है । उदाहरण के लिए तुलियन के पहलगांव लौटते समय लेखक भुवन और रेखा के नीचे उतरने की बात कहता है । यहां तक कि पहलगांव दीखने लगता है । रेखा के कहने पर भुवन आगे न बढ़कर कुछ मुड़ भी जाता है । तब लेखक कथाक्रम को पलट कर तुलियन से चलने के अवसर पर रेखा और भुवन में हुई बातों को देने लगता है । कुछ महत्वपूर्ण बातों की[3] ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट करना ही लेखक का लक्ष्य प्रतीत होता है ।

पत्र टेकनीक सुनियोजित ढंग से 'अंतराल' खण्ड में तथा अन्य स्थलों पर पर्याप्त कलात्मक तथा विशद् रूप से उपयोग हुआ है । इस विधि के माध्यम से लेखक ने पात्रों के आन्तरिक मनोभावों का उद्घाटन किया है । इसके अतिरिक्त कथानक के विकास में भी उस विधि का पर्याप्त योग है । क्योंकि सभी पात्र एक स्थान पर एकत्रित नहीं रहते, जब वे एक एक दूसरे से दूर रहते हैं, उस समय पत्रों के माध्यम से सम्पर्क में आने का प्रयास करते हैं ।प्रथम अंतराल खण्ड में रेखा भुवन को पत्र लिखती है और कहती है कि चन्द्रमाधव उससे ईर्ष्याभाव रखता है । एक दूसरे पत्र में चन्द्रमाधव रेखा के पूर्व पति हेमेन्द्र की कथा का संकेत तथा अपनी मनोदशा की अभिव्यक्ति करता है । भुवन द्वारा लिखे गये पत्रों के माध्यम से ही गौरा अपने भविष्य का

---

१ देवराज उपाध्याय :'आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य और मनोविज्ञान',पृ०१८७

२ वही, पृ०१८८

३ सत्यपाल चुघ :'अज्ञेय के उपन्यासों की शिल्प-विधि',पृ०११२

निश्चय करता है । उपन्यास के सभी पात्र अंतर्मुखी तथा व्यक्तिवादी हैं, अतः प्रत्यक्ष रूप से खुलने में उन्हें संकोच होता है और पत्रों के द्वारा अपने सम्पूर्ण निज को प्रकट करते हैं तथा अपने अन्तर्द्वन्द्व को हल्का सा कर लेते हैं । पत्र पद्धति के उपयोग से लेखक ने मितव्ययिता, घनता, वक्रता, निपुणता, भावमयता तथा सजीवता की सिद्धि की है[१] ।

पात्र पत्रों के माध्यम से जो बात नहीं कह पाते, वह डायरी पद्धति से व्यक्त करते हैं । डायरी शिल्प के द्वारा लेखक ने पात्रों की अधिक से अधिक निजी अनुभूतियों एवं मनोरागों को व्यक्त करने का प्रयास किया है, क्योंकि डायरी में पात्र पूरी तरह से खुल जाते हैं जितने कि पत्र में नहीं खुल सकते थे । इनको पात्र कभी अपने सन्तोष के लिए, अपनी मानसिक दशा को हल्का करने के लिए, कभी दूसरे पात्र को पढ़ने के लिए तो कभी अनजाने ही प्रस्तुत करते हैं । गौरा लिखती है, --`सचमुच मेरे जीवन का सबसे बड़ा इष्ट यही है कि तुम्हें सुखी देख सकूं । मेरे स्नेह शिशु मैं तुम्हारे लिए जीती हूं, क्योंकि तुममें जीती हूं ...... + + तुमने मुझे विश्वास किया, मैं तुम्हारी बहुत कृतज्ञ हूं । मुझे लगता है, मैंने बहुत बड़ी निधि पाई है, ऐश्वर्य पाया है और तुमसे । मेरे जीवन के सारे तन्तु तुम्हारे चारों ओर लिपट गये हैं । वे बहुत सूक्ष्म हैं, तुम्हें बांधेंगे नहीं । पर तुम उन्हें छुड़ा नहीं सकोगे और सब नष्ट करके ही । उनका कोई बोझ तुम पर नहीं होगा ....`[२] । इस प्रकार यहां गौरा ने डायरी पद्धति से अपने चरित्र की व्यंजना तथा अपने हृदय की संवेदना को मुखरित किया है ।

अनेक स्थलों पर कथानक के विभिन्न प्रसंग सिनेमा के बदलते दृश्यों की तरह लगते हैं । एक दृश्य के अंत होते-होते दूसरा दृश्य आरम्भ हो जाता है, कभी-कभी किसी महत्वपूर्ण बात को अधूरा छोड़कर

---

१ सत्यपाल चुघ :`अज्ञेय के उपन्यासों की शिल्प-विधि`, पृ०१९८

२ `नदी के द्वीप`, पृ०३४५-३४६

या भूमिका देकर, दूसरे दृश्य में उसे पूरा किया जाता है । इससे नाटकीय कुतूहल की सृष्टि करके पर्याप्त रोचकता का निर्माण किया गया है । बहुत से ब्यौरों और वर्णनात्मक स्थलों से बचने का अवसर मिल गया है-- केवल महत्वपूर्ण कलात्मक स्थल ही उद्धृत किये जा सके हैं । डा० देवराज उपाध्याय के शब्दों में, --"टैकनीक में अज्ञेय की कला चल चित्र निर्माण की उस पद्धति से मेल खाती है, जिसे Close up और Slow up कहते हैं । चलचित्र में कभी मुख या अन्य किसी अवयव की आकृतियां, आकार-प्रकारों का वैविध्य-पूर्ण प्रदर्शन अधिक देर तक होता रहा है । मनुष्य की क्रियाशीलता की अभिव्यक्ति के लिए नहीं, परन्तु उसके विविध भावों के प्रकटीकरण के लिए, आन्तरिक सौन्दर्य के प्रकटीकरण के लिए, पात्रगत हमारे संस्कारों को अन्तस में मिश्री की डली की तरह घुलकर रह जाने के लिए । Slow up में गति की तीव्रता को इतनी धीमी करके दिखाई जाती है कि जो गति अपनी क्षिप्रता के कारण एक सीधी लकीर-सी बनाती दीख पड़ती है, जिसकी क्षिप्रता में क्रमश: लय हो जाता है, उसके एक एक क्रम को हम स्पष्टतया देख सकते हैं[१] ।"

उद्धरण प्रणाली का प्रयोग तो अज्ञेय अपने प्रत्येक उपन्यासों में करते हैं । अपने पक्षानुमोदन, सहज प्रतिक्रिया के लिए पात्र उद्धरण प्रस्तुत करते हैं । लेखक पात्रों की मन:स्थिति की व्यंजना, उनकी आन्तरिक अनुभूति के उद्घेलन तथा चरित्र के एक विशेष आयाम को अन्वेषित करने के लिए उद्धरण प्रणाली का आश्रय लेता है । इस प्रकार उद्धरणों की प्रयुक्ति सप्रयोजन प्रतीत होती है । तुलियन में रेखा और भुवन चन्द्रिका के वातावरण में बड़े भील के किनारे बैठे हुए पानी से खिलवाड़ करते हैं, रेखा ऐसे उल्लसित क्षणों में एकदम मुक्त एवं पूर्ण अनुभव करती है और गुनगुना उठती है -- 'Love made a Jipsee out of me'.

---

१ देवराज उपाध्याय : 'आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य और मनोविज्ञान' पृ०१८४-१८५ ।

भुवन आगे बढ़कर रेखा के ठिठुरे हुए हाथ को बाहर निकाल लेता है, फिर छोड़ता नहीं--

'Love made a Jipsee out of me'.[1]

यह गीत उद्धरण रेखा के प्रणय की आकांक्षा को उद्दीप्त करता है, फिर और भुवन को आलिंगन के लिए प्रेरित करता है --'भुवन एक ओर से आ रहा था, उसने देखा कि रेखा की आँखें बंद हैं,मानो प्रभात के सूर्य को अपना चेहरा वह सौंप रही हो । .....

उषा सखी.... कल कण्ठ स्वरा ।

..... मिलन हवे बे व ले आलोय आकाश भरा ।

चलेछे मेरे मिलन--आशा-तरी अनादि स्त्रोत बये,

कत कालेर कुसुम उठे भरि छेये ......

तोमाय आमाय --

+ + + +

'.... भुवन भी चौंक गया, वह भी चौंक कर छिटक कर खड़ी हो गई,दोनों ने स्थिर और जैसे असम्पृक्त दृष्टि से एक-दूसरे को देखा, फिर एक साथ ही दोनों ने हाथ बढ़ाकर एक दूसरे को खींच लिया, प्रगाढ़ आलिंगन में ले लिया और चूम लिया-- एक सुलगता हुआ सम्मोहन,अस्तित्व निरपेक्ष,तदाकार चुम्बन ।'[2] इसे प्रेरणामूलक उद्धरण कहा जा सकता है । उद्धरण शैली का उपयोग नर-नारी के गोपनीय सम्बन्धों के चित्रों को भी प्रस्तुत करने के लिए किया गया है-- 'सहसा भुवन ने कम्बल हटाया, मृदु किन्तु निष्कम्प हाथों से रेखा के गले के बटन खोले और चांदनी में उभर आये उसके कुचों के बीच की छाया भरी जगह को चूम लिया । फिर अवश भाव से उसकी ग्रीवा को,

---

१ 'नदी के द्वीप',पृ० १६४

२ वही, पृ०१७१

कंधों को , पलकों को, ओठों को, कुचों को.... और फिर उसे अपने निकट खींच कर ढंक लिया : सालोमन का गीत उस घिरे वातावरण में गूंजता रहा--

"I sleep, but my heart waketh, it is the voice of my beloved that Waketh, saying: Open to me, my sister, my love, my dove, my undefiled, for my head is filled with due, and locks with the drops of the night...."

\+ \+ \+ \+

क्यों भुवन के ओठ शब्दहीन हो गये हैं, स्वरहीन हो गए हैं, क्या वह गीत के ही बोल स्वरहीन हिलते ओठों से कह रहा है या कुछ और कह रहा है ?

रेखा आ आ .....

'आइ रोज अप टु ओपन माइ बिलवेड, एंड माइ हैण्ड्स ड्राप्ड विद माइ एंड फिंगर्स ....'[1]

प्रतीकात्मक शिल्पविधान का उपयोग गोपनीय भावों की अभिव्यक्ति के लिए तथा मन:स्थितियों को अप्रत्यक्ष रूप से प्रकट करने के लिए किया गया है । रेखा अपने गर्भस्थ शिशु को 'सर्जन बायलिस्ट' या 'बीनकार सर्जन' नाम देती है जो भुवन और अपनी इच्छाओं के अनुरूप है । गौरा भुवन को प्यार से 'शिशु' कहती है, क्योंकि वह शिशुवत ही व्यवहार करता है । भुवन गौरा को 'जुगनू' कहता है, क्योंकि वह तीक्ष्ण चमकने वाला व्यक्तित्व धारण करती है । दोनों के सम्बोधन से गुरु-शिष्य का सम्बन्ध भी व्यंजित होता है तथा निश्छल प्यार की अभिव्यक्ति भी । रेखा गौरा से प्रथम बार मिलती है तथा उसे अंगूठी भेंट करती है तथा बाद में उसे चूड़ियां भेजती है । इससे यह व्यंजित होता है कि वह भुवन को गौरा के हाथों सौंप रही है । एक स्थान पर भयानकता के वातावरण को अंकित करने के लिए भी इस प्रतीक प्रणाली का उपयोग हुआ है । 'रेखा कमरे में 'हैमरेज' की

---

१ 'नदी के द्वीप',पृ० १६७-१६८

विषम स्थिति में कराह रहा है और बाहर रात को वर्षा हो रही है । कमरे में रेखा की सहायता करने वाला भुवन कराह और वर्षा के स्वर को सुनता रहता है । बीच-बीच में कभी अचानक कुछ गिरने का `धप` स्वर सुनाई देता था-- पहले वह समझ नहीं सका कि यह क्या है, फिर सहसा जान गया कि पके फल ... रात के सन्नाटे में फल का चू पड़ना हैबतनाक था -- मानों एक दूत कारणहीन मृत्यु आकर किसी को ग्रस ले ....[१] । अन्यत्र भी रात में चुपचाप टपक पड़ने वाले पके फल की लोमहर्षक आवाज़ को याद कर एक गहरी उदासी ऊपर छा जाती है ।[२] यह पका फल और कुछ नहीं गर्भपात शिशु `बानकार नर्जन`-- का प्रतीक है ।

मनोविश्लेषणात्मक शिल्प विधान के अनुरूप `नदी के द्वीप` में चेतन प्रवाह (Stream of consciousness) अंतर्विवाद (Interior monologue) तथा शब्द सह स्मृति परीक्षा (Word association test) प्रणालियों का कुशल संगुफन करता है हुआ है । अन्तर मंतर में भुवन जरा रुककर सान्ध्य तारा देखकर चलने की इच्छा व्यक्त करता है । `तारा` शब्द सुनकर रेखा चौंकती है और बेहद तिक्त हो जाती है, क्योंकि उसी जगह पर तारों को देखकर पूर्वपति हेमेन्द्र ने वफा की कसमें खाई थीं । दूसरी बार तारों को देखकर वह कहती है, --` तारों से मैं नहीं डरती, भुवन जी । कभी नहीं डरी । और मैंने कहा था न, जो दु:स्वप्न कह लूंगी, उससे मुक्त हो जाऊंगी । अभी तक कह नहीं पाई थी, यही उसकी ताकत थी ।अब-- अब नहीं । आप कहिए तो तारे गिन डालूं आकाश के ।`[३] भुवन रेखा के पत्र को पाकर आन्दोलित हो उठता है और उसकी चेतना प्रवाहित होने लगती है ।` .... धीरे धीरे एक एक स्मृति उसके मन में उभरने लगी और मानों तेजाब से एक गहरी रेखा उसके चेतन पट पर कोरने लगी... आर यू

---

१ `नदी के द्वीप`, पृ०३०१-३०२

२ सत्यपाल चुघ :`अज्ञेय के उपन्यासों की शिल्प विधि`,पृ०१२४

३ `नदी के द्वीप`,पृ०१५१

रायल-- तुम हो सचमुच हो, भुवन ? .... मैं तुम्हारा हूं भुवन,मुझे लो. .. ऐसा, आओ.... + + + पगली,पगली तुम तो चांदनी में जम गई थीं। और तुम ? तुम पिघल गये थे?? अब ? `लव मेड म जिप्सी आउट आफ मी` .... लजाती हो मुझसे-- अब ? तुमसे नहीं तो और किससे लजाऊंगी...`।[1]

संवाद शिल्प में विविधता तथा रोचकता सर्वत्र देखी जा सकती है। पात्रों की मन:स्थिति तथा चारित्रिक अभिव्यंजना के लिए उपन्यास के संवाद विशेष उपयोगी हैं। एक उदाहरण द्रष्टव्य है --`उसी प्रकार मौन की दीवार को तोड़ने में असमर्थ,भुवन ने पूछा था,`गौरा, तुमने नौकरी जो कर ली-- तो क्या जीवन का मार्ग अन्तिम रूप से चुन लिया ? माता-पिता की क्या राय है ?

`हां, भुवन दा। नौकरी मैंने नहीं चुना,संगीत ही चुना है, पर आगे सीखने के लिए यह सहारा जरूरी है-- माता-पिता पर बोझ बने रहना कहां तक ठीक होता ?

भुवन उसे देखता रहा। माथे का नाड़ी स्पन्दन वैसा ही था। उसे मानो वह सुन सकता था। फिर उसने पूछाथा, गौरा विवाह क्या कभी नहीं करोगी ?

तब यह मौन थरथराकर टूट गया था। गौरा खड़ी हो गई थी। उसका मुंह तमतमा आया था। मुद्रा तनिक भी नहीं बदली थी , इससे यह स्पष्ट नहीं था कि वह तमतमाहट कैसी है, उत्तर देने से पहले भी वह क्षण भर रुकी रही थी और जब बोली थी तो सम स्वर से : `भुवन दा, मुझसे तो आप पूछते हैं, पर नौकरी तो आप भी करते हैं, आपने क्या सोचा है यह सब -- सोच चुके हैं ?`

भुवन ने कहना चाहा था,`मेरी बात दूसरी है-- पुरुष के लिए विवाह और नौकरी विरोधी कैरियर नहीं है और स्त्री के लिए साधारणतया तो होते ही हैं-- साथ नहीं चलते।` पर कह नहीं पाया

----

१ `नदी के द्वीप`,पृ० २६६

था, गौरा के मुंह की ओर देखते देखते अचानक कह गया था, 'गौरा, आज देखता हूं तुम मुझसे छोटी अब नहीं हो-- और अब मैं बराबर बराबर बात करूंगा, यों पहले भी बिल्कुल छोटी ही तो नहीं मानता था --'

गौरा एकदम बैठ गयी । उसका चेहरा शांत हो आया। बोली--'माफी चाहती हूं, भुवन दा -- आप सदैव बड़े हैं ।'[१]

चरित्र व्यंजना तथा मनःस्थिति प्रकाशन के साथ -साथ यहां नाटकीयता का आभास भी देखा जा सकता है । गतिक संवाद भावानुभूति की अवस्था में प्रयुक्त हुए हैं । इसके अतिरिक्त इण्टरमिटेण्ट, स्मृत, लिखित, अंतर्संवाद तथा एक पक्षीय वर्णनात्मक संवाद आदि विविध संवादों के रूप भी उपन्यास में देखे जा सकते हैं --

इंटरमिटेण्ट संवाद -- इस प्रकार के संवाद सतत न चलकर अंतरालों में चलते हैं । इस संवाद के लिए ही मानो लेखक ने परिस्थितियों का चयन तथा मानसिक और भौतिक दोनों प्रकार के वातावरण को उपस्थित किया है । गाड़ी में रेखा और भुवन (थोड़े समय के परिचय के कारण) लिखकर बातचीत करते हैं, क्योंकि संकोच की दीवार बनी हुई थी । गाड़ी चल देती है और संवाद अधूरा रह जाता है, अगले स्टेशन पर उस अधूरे वार्तालाप को पुनः चालू किया जाता है ।

स्मृत संवाद -- पात्रों की स्मृति में आये हुए संवाद प्रत्यवलोकन की स्थिति में देखे जा सकते हैं । रेखा और भुवन के माध्यम से इस प्रकार के संवाद प्रयुक्त हुए हैं ।

लिखित संवाद -- इस प्रकार के संवाद के लिए भी लेखक ने सानुकूल परिस्थितियों का चयन किया है । गाड़ी में अधिक भीड़ -भाड़ के कारण स्पष्ट बातचीत करना मुश्किल था, इसलिए रेखा और भुवन कागज के चिटों में

---

१ 'नदी के द्वीप', पृ०२६३ - २६४ ।

लिख-लिखकर वार्तालाप करते हैं ।

एक पक्षीय संवाद -- संवाद के दो पक्षों में से, मुख्यत: एक पक्ष सामने आता है और वह भी प्रत्यक्ष रूप में नहीं, लेखक के वर्णन से 'वकील से विदा लेकर हेमेन्द्र ने रेखा के बारे में इधर उधर जो पूछ ताछ करनी शुरू की, तो उसे बहुत सी आश्चर्यजनक बातें मालूम हुईं । 'रेखा ? 'मुस्कुराहट। रहस्य । ' जाने दीजिए-- किसी स्त्री की बुराई नहीं करना चाहिए ।' चेहरे पर दर्द का भाव । 'लेकिन आजकल की औरतें भी कुछ पूछिए मत -- हिन्दुस्तान को यूरोप बना दिया है-- बल्कि योरोप में भी ऐसा न होता । 'कहें कैसे, कहने की बात भी हो ? पर आप उसके हितैषी मालूम होते हैं....'[1] ।

अन्तर्संवाद -- यह एक प्रकार से अन्तर्विवाद का ही रूप है, अन्तर केवल यह है कि अन्तर्विवाद में जहां पात्र के स्वसंवाद में अनेकों प्रकार का उतार चढ़ाव रहता है, वहां अन्तर्संवाद में पात्र कुछ कहना चाहता है, उसे मन में दुहराता है, लेकिन संकोच या सामाजिक दायित्वों के कारण कह नहीं पाता । जैसे, 'भुवन ने कहना चाहा था --'मेरी बात दूसरी है-- पुरुष के लिए विवाह और नौकरी विरोधी कैरियर नहीं है । और स्त्री के लिए साधारणतया तो होते ही हैं-- साथ नहीं चलते--' पर कह नहीं पाया था, गौरा के मुंहकी ओर अचानक देखता रह गया था ।[2]

'नदी के द्वीप' की भाषा अपूर्व शिल्पित है, किन्तु सायास नहीं, यह मानो लेखक का सहज कलात्मक स्तर है -- उसका परिष्कृत अनुशासित, सौन्दर्यानुभूत व्यक्तित्व की विशिष्टता । इसमें स्वाभाविक परिष्कृति, अभिजात सादगी, मंजी हुई कांति तथा सुन्दर सधे वाक्यों के संतुलित प्रवाह का सम्मोहन है । प्रत्येक शब्द कटे-छटे और सुगठित हैं, वाक्य प्रभावी सार्थकता एवं लयात्मक माधुर्य से अनुप्राणित हैं । अनेक स्थलों पर एक

---

१ 'नदी के द्वीप', पृ० २८४

२ वही, पृ० २६५

हो वाक्य में समानार्थक से-- किन्तु अपना स्वतन्त्र व्यंजनाओं से युक्त --अनेक शब्द एवं इसी प्रकार के अनेक उपमान क्रमशः आकर अभाष्टार्थ को उत्तरोत्तर स्पष्ट पुष्ट करते हुए,प्रभाव को घनीभूत कर देते हैं। इसके अतिरिक्त 'नदी के द्वीप' की भाषा में उसके लेखक के कवि तथा प्रज्ञा रूप का सम्मिलित सौष्ठव मिलता है। सादृश्य की नूतन उद्भावनाएं, अमूर्त भाव विचारों का मूर्तीकरण, प्रकृति का ऐन्द्रिय विम्बों-- विशेष रूप से वर्ण विधान-- से युक्त चित्र विधान उसके कवि रूप के उपकरण हैं तथा भेदक सूक्ष्मताओं के सामान्य से लेखण में नाश तात्विकाभिन्नता वाले शब्दों का प्रयोग प्रज्ञा का[1]।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि शिल्प का अद्भुत सौष्ठव, उपन्यास की प्रयोगपरकता, मनोविज्ञान समन्वित निबन्धन और सबसे बड़ी बात- मानवीय सम्बन्धों के एकदम अछूते और नव्य संभावित आयामों का स्थापन-- मिलकर 'नदी के द्वीप' को काफी ऊंचा उठा देते हैं।

मछली मरी हुई (१९६६)[2]

राजकमल चौधरी प्रकारान्तर से विद्रोही एवं स्वतंत्र चेता रहे हैं -- व्यक्तित्व एवं रचना-बोध दोनों स्तर पर। इसलिए उनकी कृतियों में बेलाग कहने की प्रवृत्ति सर्वत्र देखी जाती है। 'मछली मरी हुई' लेखक की एकदम अछूती रचना है,जिसमें उसने सारे संस्कारों को त्याग कर परम्परा की लीक से हटकर सर्वथा एक नई अनुभूति एक नूतन विषय से साक्षात्कार किया है। आलोचकों-रचनाकारों ने इसे कभी अश्लील और कामोत्तेजक कहकर वर्जित और बदनाम करने की कोशिश की है, तो कभी असमर्थ एवं असामान्य कहकर साहित्य के स्तर से नकारने का प्रयत्न किया है--

---

१ सत्यपाल चुघ : 'अज्ञेय के उपन्यासों का शिल्प-विधि',पृ०१४१

२ राजकमल चौधरी : 'मछली मरी हुई',राजकमल प्रकाशन,दिल्ली,प्र०सं०,१९६६

इसके बावजूद नये लेखकों एवं नूतन विचार वाले साहित्यकारों के लिए यह रचना प्रेरक और वन्द्य बनी रही । सच तो यह है कि कृति अपने अछूते अनुभव को संप्रेषित करने, विषय को प्रामाणिकता एवं ईमानदारी से अभिव्यक्त करने के कारण उपन्यास के इतिहास में महत्त्वपूर्ण स्थान ले लेती है । डा० त्रिभुवन सिंह के शब्दों में -- ' परम्परित संस्कारों से थोड़ा हटकर यदि उदारतापूर्वक विचार किया जाय तो इस उपन्यास के विषय और शिल्प में कुछ ऐसा अवश्य मिलेगा, जिसका मूल्यांकन करना आवश्यक है । उपन्यास का शीर्षक ,उसका विषय-प्रतिपादन, उसकी प्रतीक शैली, उसमें प्रयुक्त आडम्बरशून्य भाषा तथा चरित्र-चित्रण एवं वैचारिकता आदि सभी विशिष्ट कोटि का है ।'[१]

लेस्बियन जीवन के सम्बन्ध में एक लम्बी भूमिका देकर लेखक ने इसे उद्देश्यपूर्ण रचना आभासित करने का प्रयत्न किया है । पर यदि समग्र दृष्टि से विचार किया जाय तो ज्ञात होगा कि लेस्बियन जीवन का चित्रण तो गौण है और लेस्बियन नारियों का मनोवैज्ञानिक या मनोविश्लेषणात्मक विश्लेषण प्रमुख या महत्त्वपूर्ण है । नायक निर्मल पद्मावत और डा० रघुवंश का पात्रांकन भी मनोविश्लेषणात्मक रखा गया है । पात्रों का चरित्र-विश्लेषण इतना अधिक प्रभावशाली है, कि वह लेखक के उद्देश्यपूर्ण कथन को हल्का कर देता है । इसलिए,हमने इस उपन्यास को मनोविश्लेषणात्मक शिल्प-विधान के अंदर रखकर विवेचन करने का दुस्साहस किया है ।

उपन्यास के शिल्प-विधान की विवेचना करने के पूर्व लेखक के उद्देश्य का स्पष्टीकरण आवश्यक है,क्योंकि उसकी गहरी सम्पृक्ति उपन्यास के वस्तुगठन और शिल्प संरचना से है । उपन्यास की रचना में दो उद्देश्य स्पष्ट हैं --(क) लेस्बिया.... अर्थात् समलैंगिक यौनाचारों में डूब गई स्त्रियों के बारे में, खासकर हिन्दी में, बहुत कम ही लिखा गया है ।'[२] इस उद्देश्य को स्पष्ट करने के लिए लेखक ने उपन्यास की भूमिका में कई उदाहरण प्रस्तुत किया है ।

----

१ डा० त्रिभुवन सिंह : 'हिन्दी उपन्यास शिल्प और प्रयोग' ,पृ०१७२

२ 'उपन्यास की भूमिका' ,पृ०६

'ये औरतें उच्छृंखल (पर्वर्शन की हद तक) यौन कार्यों की स्वाधीनता मांगती हैं।'[१] से यही ध्वनित होता है कि इन यौनाचारों का चित्रण और उसके माध्यम से नैतिकता के प्रचलित मानदण्डों का विरोध करना चाहता है। (ख) पिछली लड़ाई में, बड़ी लड़ाई के बाद, कलकत्ता शहर में नई पीढ़ी के व्यापारियों की एक जमात एक सुबह सोकर उठने के बाद, अचानक पूंजी, प्रभुत्व और उद्योग-धन्धों की बन्द तिजोरियां खोलकर, नये से नया व्यापार करने के लिए चौरंगी, डलहौजी स्क्वायर, महात्मागांधी रोड, धर्मतल्ला और पुरानी क्लाइव स्ट्रीट में, अमरीकी शैली के ऊंचे दफ्तरों में बैठ गई।'[२] इस उद्देश्य के माध्यम से लेखक युगीन परिवेश के जीवन्त चित्र उजागर करना चाहता है। यह ध्यातव्य रहे कि उपन्यासकार इन दोनों उद्देश्यों के सम्प्रेषण में समग्र दृष्टि और एकान्विति स्थापित नहीं कर सका है, ऐसा वह चाहता भी नहीं था। वह स्वयं कहता है,'..... इस[३] उपन्यास में विषय नहीं है, विषय प्रस्ताव है ..... मात्र विषय प्रस्ताव।' अर्थात् वह लेस्बियन जीवन के या युगीन परिवेश के खंड चित्र ही प्रस्तुत करना चाहता है। उसमें समग्रता का बोध उजागर नहीं कर पाता, किन्तु इससे भी इन्कार नहीं किया जा सकता कि पात्रों के चरित्र का मनोविश्लेषणात्मक विश्लेषण अपने आप में सम्पूर्ण तथा सुगठित है। हमने कहा भी है कि उपन्यास का सबसे प्रबल पक्ष उसका चरित्र-विश्लेषण है-- वह भी मनोविश्लेषणात्मक।

प्रिया, हीरा, कल्याणी और निर्मल पद्मावत सभी पात्रों के चरित्र फ्रायड के मनोवैज्ञानिक उपायों पर अवलम्बित है। 'मनोविज्ञान शास्त्री मानते हैं कि बचपन के प्रारम्भिक वर्षों का जीवन और उस काल में हमारे मन पर पड़े संस्कार जीवन भर हमें प्रेरित करते रहते हैं। यदि किसी व्यक्ति के व्यक्तित्व का सही मूल्यांकन और मनोवैज्ञानिक अध्ययन करना हो तो उसके लिए यह आवश्यक माना जाता है कि उसके बाल्यकाल की स्मृतियों

---

१ उपन्यास की भूमिका, पृ०११

२ वही, पृ० ११

का विश्लेषण हो ।.... प्राचीन स्मृतियों और बचपन की उन अचेतन में पड़ी हुई घटनाओं को उभाड़ने प्रत्ययवलोकन विश्लेषण कहा जाता है ।'[1] इस मनोवैज्ञानिक युक्ति का उपन्यास में कई स्थलों पर उपयोग हुआ है । निर्मल उत्तर बिहार के एक छोटे से गांव में पैदा हुआ था । 'पिता के मरने के बाद उसकी मां ने पैतृक मकान बेंच डाला और 'लारी' वाले ड्राइवर के साथ भाग गई । वह कुल दस साल का लड़का था । मां के भाग जाने का दुःख उसे नहीं हुआ । मकान बिक जाने की तकलीफ उसे जरूर हुई । मां को आदमी की जरूरत थी, अच्छा किया जो चली गई । लेकिन मकान क्यों ले गई ?'[2] बचपन की ये घटनायें और परिस्थितियां उसके अचेतन में गहरे रूप से बैठ जाती हैं । भोगे गये अपमान से वह विद्रोही बनता है-- विस्फोटक कार्य करके नहीं-- एक उदात्त रूप में। अमेरिका से लौटने के बाद, अपने दिमाग को व्यापारिक दुनिया में लगाता है और शीघ्र ही तीस मंजिले का 'स्काई स्क्रैपर' कल्याणी मेन्शन बनवाता है, ऐश्वर्य सुख के लिए नहीं बल्कि इसके पीछे वह भावना कार्य कर रही थी, कि उसकी मां के भाग जाने के बाद वह पैतृक मकान से अपमानित करके निकाल दिया गया था । एक प्रकार से यह अपनी मां के प्रति विद्रोह था और अपने अहं की तुष्टि भी । कल्याणी मेन्शन को बचाने के लिए वह पहली बार बेईमानी करता है, उसे प्रिया के नाम पर बेच कर बचाता है, इसलिए नहीं कि वह सिर्फ कल्याणी की स्मृति को बचाना चाहता है, अपने पास रखना चाहता है । बल्कि इसके पीछे भी, वही भावना थी कि उसकी मां लारी वाले के साथ भाग गई थी और वह अपने प्यारे कुत्ते के साथ मकान से बाहर निकाल दिया गया था सबसे ऊंची इमारत को वह किसी कीमत पर जाने नहीं देना चाहता ।

शीरी मेहता औरबाद में शीरी पद्मावत के चरित्र विश्लेषण में भी इस मनोवैज्ञानिक युक्ति का उपयोग हुआ है । 'वह तब पांच छः साल की छोटी लड़की थी , उसकी मां को बच्चा होने वाला था । उसकी

----

१ मक्खनलाल शर्मा : 'हिन्दी उपन्यास : सिद्धान्त और समीक्षा', पृ०१८७

मां बिस्तरे में छटपटा रही थी । पिता जी रहते थे । मां दर्द से बेहोश थी ।घंटों के बाद घंटे बीतते जाते थे । मां कभी-कभी शान्त हो जाती, कभी तड़पने लगती थी । तब मिडवाइफ और नर्स ने शोरी को कमरे से बाहर निकाल दिया । पिता जी बाहर चले आये । कमरा अंदर से बंद हो गया ।

अंदर मां चीखती-छटपटाती रही । फिर सब कुछ शांत हो व गया । मरा हुआ बच्चा मिडवाइफ की कारीगरी से बाहर निकाला गया । काठ की तरह सूखा हुआ, नीला पड़ा हुआ, मरा हुआ बच्चा ।

डाक्टरों को बुलवाया गया । मगर मां बच नहीं सकी । हाथ पांव फूलने लगे । सारे शरीर में सैप्टिक का जहर फैलने लगा । मां मर गई और छः साल की छोटी सी शोरा के मन में मां बनने की आकांक्षा दफ़न हो गई ।

अकेले में उसकी बड़ी० बहन ने शोरी को बताया था कि पिता जी के पास सोने से ही मां के पेट में बच्चा आ गया था । बच्चा आने के व कारण ही मां बीमार हो गई थी और मर गई थी ।

शोरी को अपने पिता से नफरत हो गई । पिता से, दुनिया के हर मर्द से । वह अपनी बड़ी बहन को प्यार करने लगी । किसी मर्द को नहीं। किसी दिन नहीं ।[१]

ऊपर की घटना ने उसके चरित्र-निर्माण के दो सूत्र दिए हैं :--

(क) मां के मरने की घटना उसकी `राग`[२] या `लिबिडो` में स्थानान्तरित हो जाती है । यह घटना भय या त्रास का रूप भी ले लेती है । उसे बराबर यह लगता है कि शायद मां बनते समय वह भी मां की तरह छटपटायेगी, दर्द से कराहेगी और मर जायेगी । मरा हुआ बच्चा देगी ।इसीलिए उसकी मां बनने की इच्छा हमेशा के लिए समाप्त हो जाती है ।

---

१ `मछली मरी हुई`, पृ०१५७

२ "Anxiety or dread" / A General introduction to Psycho-Analysis / Sygmund Freud / P. 94.

(ख) उसने मन में सोचा कि उसकी माँ के दर्द में, छटपटाहट में, मृत्यु में पिता जी का हाथ था। हर पुरुष शायद स्त्री को अपने पास सुलाकर इसीप्रकार मार डालता है। यह प्रत्यय उसके अवचेतन में स्थायी रूप से बैठ जाता है और अपने पिता से नफरत करने लगी। हर पुरुष से नफरत करने लगा। अपने पिता के प्रति भय और घृणा का स्थानान्तरण वह दुनिया के हर पुरुष से कर लेता है। उसे अपनी बड़ी बहन के के साहचर्य से सुख मिलने लगा। हर लड़की के साहचर्य से परितोष मिलने लगा। वह लेस्बियन[1] या होमोसेक्सुअल जिंदगी बिताने लगी। फ्रायड के सिद्धान्त के 'स्वरति' का उपभोग करने लगा। किशू मेहता और निर्मल पद्मावत दो-दो पुरुषों की पत्नी बनकर, अनेक पुरुषों के सम्पर्क में आने पर भी स्वरति और लेस्बियन जिन्दगी नहीं छोड़ पाती। फ्रायड भी कहता है, --' इसके विपरीत, सम्भावना यह है कि यह स्वरति विश्वव्यापी मूलदशा है, जिससे आलम्बन प्रेम बाद में पैदा होता है, और आवश्यक नहीं कि आलम्बन प्रेम पैदा हो जाने पर स्वरति खत्म ही हो जाय[2]।'

कल्याणी का चरित्र मनोवैज्ञानिक है और उपन्यास का सबसे आकर्षक अंश भी। वह अमेरिका डाक्टरी पढ़ने गयी थी, लेकिन कटी हुई पतंग की तरह न्यूयार्क, कैलिफोर्निया और लास एंजिल्स इन शहरों के कहवाघरों और नाचघरों में चक्कर काटने लगी। वह अपने देश वापस नहीं आएगी, क्योंकि वह कटी हुई पतंग हो चुकी थी। उसकी[3] आत्मा इस नई आजाद दुनिया के नये और आजाद आसमान में रम गयी थी। मुक्त यौनाचार उसके जीवन का अंग बन जाती है, इसलिए नहीं कि शरीर की भूख कभी समाप्त होने वाली नहीं थी, बल्कि इसलिए कि जीवनचर्या के लिए यही उपाय शेष रह गया था। वह पैसे के लिए युवकों से, पुरुषों से सम्पर्क करती है और बेवकूफ बनाकर धन प्राप्त

---

१ देवेन्द्रकुमार वेदालंकार (अनु०) फ्रायड : मनोविश्लेषण, पृ०३६६-६६

२ वही, पृ०३६६

करता है । अपने इस पेशे से नफरत करती है । मगर दूसरा कोई काम उसे नहीं आता था । पुरुषों को बेवकूफ बनाना और लूटना उसका मानसिक रोग बन जाता है । निर्मल शान्त स्वर में कहता है, `तुम्हें अपने देश की याद कभी नहीं आती ?..... अपना घर याद नहीं आता ? तुम यहां डाक्टरी पढ़ने आयी थी, मगर तुम खुद ही बीमार हो गई हो ।

कल्याणी चौंक गई । अचानक जैसे उसने अपनी नाक के नीचे किसी लाश को चलते-फिरते हुए देख लिया हो । घबराकर उसने निर्मल से पूछा, ` किसका देश ? किसका घर ?... मगर, मैं बीमार हूं। मैं बीमार[1] दिखती हूं क्या ?..... पहले से ज्यादा तन्दुरुस्त नहीं लगती हूं ?`

शारीरिक भूख उसकी धीरे-धीरे प्रचंड हो जाती है । अपने पेशे से उसे नफरत है, लेकिन उसकी यह विवशता थी । वह कहती है, `निर्मल तुम मेरे अपने देश के आदमी हो, अपनी जबान में बोलोगे । यहां मेरा अमरीकनों से ही नहीं, चाइनीज और अफ्रीकनों से मोवास्ता पड़ता है । सभी मुझे `व्हाइट` इंडियन लेडी` कहते हैं और मेरा उजलापन चूस डालना चाहते हैं । तुम मेरे अपने देश के हो, चूसोगे नहीं,[2] कोमल हाथों से मेरे जख्म सहलाओगे, मेरे दर्दों पर मरहम पट्टी लगाओगे ... ।`पुरुष सहवास प्राप्त करना उसकी आदत बन जाती है । यहां तक कि निर्मल के पूछने पर `सिर्फ कपड़े नहीं हैं, एक नरकंकाल भी है । कहां से उठा लाई हो ? अब तो मेडिकल में नहीं हो । इसे रखने से फायदा ? ` वह कहती है,` ओहो,[3]... फायदा क्यों नहीं? नरकंकाल ही सही, एक नर का साथ तो रहता है ।` फ्रायड के सिद्धान्त में वर्णित `स्थानान्तरण विधि` को अपने मानसिक रोग से सम्पृक्त कर लेती है । पीड़ा-सुख व देने वाली वस्तु का प्रतीक नरकंकाल को हमेशा अपने साथ रखती है।

---

१ मछली मरी हुई, पृ०६१

२ वही, पृ० ६८

३ वही, पृ०७२

निर्मल के अधूरे और असमर्थ संभोग पर तो वह एकदम पागल हो उठती है," तुम यही आदमी हो ? काले पत्थरों के पहाड़ की तरह दीखते हो । मगर, इतने से आदमी हो ? बस.... । इसी के लिए ... इतनी ही के लिए मेरे पास आये थे ?.... छि: , छि: , मुझे बताया क्यों नहीं ? पहले क्यों नहीं बता दिया ? कल्याणी बोलने लगी । बिस्तरे में लेटी हुई हाथ पांव पटकने लगी ।

निर्मल नीचे उतर आया । अपने कपड़े पहनने लगा । सिर झुकाए हुए । अपमानित । कल्याणी गरजती रही, फिर कभी इधर नहीं आना निर्मल । .... तुम आदमी नहीं हो, नरक के कीड़े हो । ... मत आना कभी ।"[१]

इतना होते हुए भी वह निर्मल से ही प्यार करती थी । इस घटना के बाद वह कई दिनों तक इंतजार करती रही थी, किन्तु निर्मल उसके पास फिर कभी नहीं गया । शरीर की अत्यधिक गर्मी और यौन रोग (अतृप्ति) के कारण वह बीमार पड़ गई और यह बीमारी जहर बनकर नस नस में फैल जाती है । डा० रघुवंश उसे बचाते हैं और मनोरोग को हमेशा के लिए दूर करने के लिए उससे विवाह कर लेते हैं । कल्याणी यह विवाह केवल निर्मल को पाने के लिए करती है, सिर्फ तब तक की सुरक्षा के लिए, लेकिन प्रिया को जन्म देने के बाद वह मर जाती है । डा० रघुवंश पत्र में लिखते हैं-- "मैं यह बात समझ भी रहा था । मैं जानता था कि कल्याणी जैसी स्त्री ही प्यार कर सकती है । गृहस्थ स्त्रियां प्यार नहीं कर सकतीं। प्यार कर सकती हैं सिर्फ आवारा औरतें । जिन्हें किसी चीज की परवाह नहीं है । जो सामाजिक मर्यादाएं नहीं मानतीं । नैतिक नियंत्रण नहीं मानतीं । धर्म नहीं मानतीं हैं । ऐसी औरतें कदम-कदम पर देह बेचती चलती हैं, मगर मन नहीं बेचतीं । पत्नी बनकर भी नहीं । वेश्या बनकर भी नहीं ।"[२] डा० रघुवंश का

---

१ मछली मरी हुई, पृ०७२

२ वही, पृ० १४५

यह कथन उसके चरित्र का मूलभूत अंश है और सबसे आकर्षक पक्ष भी।

निर्मल पद्मावत स्नायुरोगी या न्यूरोटिक है। फ्रायड ने स्नायुरोग के कारणों को दो भागों में बाटा है-- (१) वंशगत प्रवृत्ति, (२) वंशगत के शुरू में अर्जित पुर्व प्रवृत्ति। और उसके बाद वह एक रेखाचित्र देता है--

निर्मल पद्मावत के चरित्र का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण फ्रायड के इस सिद्धांत के आधार पर किया जा सकता है।

<u>रागबद्धता से उत्पन्न पुर्व प्रवृत्ति</u>

(क) <u>यौन रचना - पैतृक अनुभव</u>

यौन रचना अथवा पैतृक अनुभव के कारक के रूप में उपन्यासकार ने कृति में बहुत कम सूत्र दिये हैं, फिर भी कुछ प्रत्यय निकाले जा सकते हैं। पिता के मरने के बाद उसकी मां लारी वाले ड्राइवर के साथ भाग गई थी। इस सूत्र के सहारे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि उसकी यौन संरचना में पैतृक संस्कार और अनुभव विद्यमान थे। उसकी मां की यौन शक्ति पिता की अपेक्षा अधिक तीव्र रही होगी, इसीलिए तो वह लारी वाले ड्राइवर के साथ भाग गई थी। क्योंकि पुरुष के बिना वह नहीं रह सकती थी। उसमें

---

१ देवेन्द्रकुमार वेदालंकार (अनु०) : 'फ्रायड : मनोविश्लेषण', पृ० २२-२३

पुत्र के प्रति वात्सल्य नहीं था, क्योंकि उसने पैतृक मकान बेच दिया था, छोड़ते हुए किंचित मोह उत्पन्न नहीं हुआ था । पिता अपेक्षाकृत कमजोर रहे होंगे । दोनों के विरोधाभास संस्कार निर्मल में देखा जा सकता है । माता के संस्कार के रूप में उसमें यौन शक्ति प्रबल थी, किन्तु पिता के संस्कार में वह जल्दी गर्म नहीं हो पाता था । बाद की घटनाओं में यह प्रत्यय क्रियाशील देखा जा सकता है ।

(ख) शैशवीय अनुभव

बचपन में निर्मल के मानसिक संसार में यह प्रत्यय निर्मित हुआ-- आखिर उसकी मां लारी वाले के साथ क्यों भागी ? और मकान बेचने की उसको क्या जरूरत थी ? उसने यह विचारणा बनायी होगी कि अपने यौन सुख के कारण मां मकान बेचकर एक पुरुष के साथ, असहाय छोड़कर चली गई। इसीलिए यौन सम्बन्ध से उसको घृणा हो जाती है । उसे नारी के ऐसे रूप से नफरत हो गई.... जब वह सम्भोग करती है । इस संस्कार के कारण वह कल्याणी को पूरा नहीं कर पाया... ठंडा पड़ गया था । उस समय नारी के उस रूप का ख्याल आया होगा जो रति क्रिया में तीव्र रूप से संलग्न रहती है । कल्याणी का स्थानान्तरण उसने अपनी मां के साथ किया होगा । मां ने पैतृक मकान बेच डाला था और वह निरवलम्ब निकाल दिया गया था, इस कारण बाद में तीस मंजिला 'स्काई स्क्रैपर' कल्याणी मैन्शन बनवाता है ।

आकस्मिक (उपघातज) अनुभव

फ्रायड कहता है, --' मैं कहना चाहता हूं कि यहां शैशवीय अनुभवों की और बाद वाले अनुभवों की तीव्रता और रोगजनक अनुभवों में एक पूरक सम्बन्ध मौजूद है.... '[1] अर्थात् निर्मल के न्यूरोटिक बनने में शैशवीय और आकस्मिक दोनों ही कारकों का परस्पर सम्बन्ध होना चाहिए, किन्तु 'मछली मरी हुई' में आकस्मिक अनुभव को प्रधान कारक-- निर्मल के

---

१ देवेन्द्रकुमार वेदालंकार (अनु०): फ्रायड : मनोविश्लेषण, पृ०३२४

मनोविकार के लिए -- बनाने का प्रयत्न किया है।निर्मल के आकस्मिक अनुभवों में फ्रायडीय मनोविज्ञान की दो प्रधान युक्तियां -- भय और स्थानान्तरण कार्य करती हैं।

कल्याणी के साथ सम्भोग करते समय वह देखता है-- 'साड़ियों,पेटीकोटों और स्कर्टों की कतारों के पीछे, आलमारी की दीवार से लगा एक नरकंकाल झूल रहा है।[1]' और भयसे थरथरा उठता है। कल्याणी अपने साथ नरकंकाल रखती है,क्योंकि हर समय उसे एक नर का सहवास चाहिए। स्थानान्तरण विधि के अनुसार नरकंकाल के रूप का स्थानान्तरण वह अपने साथ करता है। कल्याणी राक्षसी है। पुरुषों के साथ सम्भोग करके उनका खून चूस जाती है,शेष रह जाते हैं, सिर्फ हड्डियों के ढांचे-- नरकंकाल। 'वह डर को भूलने की कोशिश करता है। अपने आप पर नाराज होता है। दूसरों से बदला लेना चाहता है। अपनी नाराजगी और डर का बदला ....[2]।' उसके जीवन का आकस्मिक अनुभव जिन्दगी भर प्रबल रहता है --जब तक कि ग्रन्थियुक्त नहीं हो जाता। प्रत्येक नारी को कल्याणी का रूप समझ कर खूंखार हो उठता है और निर्दय बदला लेने की कोशिश करता है और बहुत कोशिश करने के बाद भी सफल नहीं हो पाता। बर्फ के के टुकड़े की तरह ठण्डा हो जाता है।

शीरी मेहता को कल्याणी समझता है--' निर्मल पद्माक्त ने निगाहें ऊपर उठाईं, तो सामने कल्याणी खड़ी थी। अपरिचित फूलों की वही परिचित सुगन्धि। अनजान गीतों की वही पहचानी लय। अजनबी आंखों की वही हमदर्द चमक। और कल्याणी.... शीरी मेहतालाल रेशम की साड़ी पहने थी, देवी प्रतिमा की तरह दीख रही थी। गले में नकली हीरों का वही हार ...[3]।'

----

१ 'मछली मरी हुई',पृ० ७२

२ वही, पृ० ७२

३ वही, पृ० ९९-१००

निर्मल पद्मावत शोरी ऐशादा कर लेता है --
कल्याणी से बदला लेने के लिए, लेकिन संभोग के समय वही झुलसा हुआ नरकंकाल दिखाई देता है, कल्याणी की आकृति सामने आ जाती है और बहुत रौंदने पर भी ठण्डा हो जाता है। 'निर्मल ने दोनों हाथों का ताकत लगाकर शोरी को अपनी ओर सीधा कर लिया... उसकी आंखें बंद हैं। उसका कलेजा बंद है। बंद देह जलती है। लाल होंठ जलते हैं। शोरी गर्म भट्ठी की तरह जलती है. ... लेकिन पता नहीं क्यों, ठीक इसी वक्त निर्मल पद्मावत को याद आया कि नीचे चित लेटी हुई और शोरी नहीं है ..... कल्याणी है। संग्रीला होटल की कल्याणी बोलती हुई, पागल होकर कह रही है कि.... ।'[१] कल्याणी के याद आते ही वह मर जाता है। हर बार ऐसा ही होता है।

फ्रायड के मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से निर्मल पीड़कलोष या सैडिस्ट (Sadist) किस्म का चरित्र है। ऐसे अजीब सैडिस्ट लोग पीड़ा पहुंचाकर परितुष्टि हासिल करते हैं, जिनकी सारी अनुराग भावना का एक ही उद्देश्य होता है, कि अपने आलम्बन को पीड़ा या कष्ट पहुंचाया जाय। यह भावना हल्के रूप में दूसरे को अपमानित करने की प्रवृत्ति के रूप में दिखाई देती है, और उग्र रूप में सख्त शारीरिक चोट पहुंचाने का रूप ग्रहण करती है।[२] वह कल्याणी से बदला लेने के लिए कई नारियों के साथ बलात्कार करता है और बाद में प्रिया के साथ तो एकदम नृशंस हो जाता है। 'बलात्कार के समय निर्मल ड्राजर से रम की बोतल निकाल कर बार बार पीता है और बार बार बोलता है, प्रिया, तुम्हें निर्मल पद्मावत की ताकत का पता नहीं है।'[३] यह कथन अवचेतन में पड़े कल्याणी के उस कथन के प्रतिकार के रूप में दिखाई देता है, जब उसने कहा था -- 'बस, इसी ताकत पर दुनिया जीतने चले थे... ?बस, इसी के लिए ....इतने ही के लिए मेरे पास आए थे।'[४] इतना ही नहीं वह यही नकली

----

१ मछली मरी हुई, पृ० ११५

२ देवेन्द्रकुमार वेदालंकार(अनु०) :फ्रायड : मनोविश्लेषण', पृ०२७१

३ मछली मरी हुई, पृ०१४१

हीरों का हार प्रिया को पहनाकर बलात्कार करता है, जिसे कल्याणी ने अपमानित कर वापस कर दिया था और कहा था, --"अपना यह नेकलेस भी लेते जाओ ।.... कभी शादी करना, तो अपनी बीबी को पहनाओगे ।"[१] इस प्रकार प्रिया को सम्पूर्ण कल्याणी बनाकर नृशंस बदला लेता है ।

उपचार

जिस प्रकार मनोवैज्ञानिकों ने ग्रन्थि या मानसिक कुंठा अथवा न्यूरोसिस का उपचार बताया है,उसी प्रकार कथाकार राजकमल ने निर्मल के मनोविकार को दूर करने के उपचार की सामग्री प्रस्तुत की है । कई नारियों से सम्भोग प्रयास में वह सफल नहीं हो पाता,किन्तु प्रिया पूर्ण कल्याणी बनकर उसके सामने आई, निर्मल उसके साथ खूंखार बलात्कार करता है, एक नहीं कई बार । सम्भोग सफलता के बाद उसे यह बोध होता है कि उसने अपने अपमान का बदला ले लिया है । वह नार्मल हो जाता है, स्वस्थ हो जाता है । डा० रघुवंश का यह कथन किसी मनोचिकित्सक का कथन प्रतीत होता है,"और इस जंगलीपन का शिकार हुई कल्याणी की बेटी प्रिया । पर शिकार बनकर भी प्रिया ने वह काम कर दिया, जो कल्याणी करना चाहती थी । मैंने खून से लथपथ प्रिया का शरीर देखा था । तुमने उसके साथ बलात्कार किया था। एक बार नहीं कई बार । कल्याणी ने जो शक्ति छीन ली थी,प्रिया ने उसे वापस लौटा दिया । यह एक अच्छी बात हुई ।"[२]

स्वस्थ होने के पश्चात निर्मल पहली बार शीरी को पूर्ण संतुष्टि प्रदान करता है । शीरी पूर्ण संतुष्ट होकर स्वस्थ हो जाती है । उसकी होमोसेक्सुअलटी दूर हो जाती है । इस प्रकार लेखक ने अन्त में दोनों को मानसिक कुंठाएं दूर कर स्वस्थ होते दिखाया है ।

मनोवैज्ञानिक चरित्रांकन के अतिरिक्त कुछ अन्य सूत्र भी निर्मल के चरित्र में देखा जा सकता है । लेखक ने उसमें विरोधी गुणों का

---

१ 'मछली मरी हुई', पृ०७४

२ वही, पृ०१४७

व्यक्तित्व दिखाया है--'इन आंखों में पद्मावत का बुद्धिमत्ता,ईमानदारी, सादगी,आभिजात्य और कुटिलता,मक्खन की नरमी और पत्थर का कड़ापन, सारा कुछ स्पष्ट है। स्पष्ट और भी अप्रकट। वह पारदर्शी शीशा भी है और इस्पात की मोटी दीवार भी। इसलिए दूर से जानने वाले उसका आदर करते हैं, उससे नफरत करते हैं और मन ही मन डरते हैं।'[1] कल्याणी के प्रति बदला लेने की भावना रखते हुए सम्पूर्ण प्यार उसी से करता है,इसलिए उसकी मृत्यु के बाद उसकी स्मृति में कल्याणीमेन्शन बनवाता है, निर्मल इंडस्ट्रीज का दिवाला निकल जाने से कल्याणी मेन्शन को हर कोशिश से बचाता है। विशु मेहता के द्वारा कल्याणी का अपमान करने पर,आभिजात्य लोगों के बीच उसे उठाकर पटक देता है। उसमें ऊंचे किस्म का दिमाग है, उसी के बल पर वह कलकत्ता जैसे शहर के करोड़पतियों को कतार में आसानी से खड़ा होता है। अपने जीवन में ढेर सारा जीवन का कड़ुआपन अनुभूत किया है, इसलिए असफल होने पर पलायन नहीं करता,संघर्ष करता है और अवसर की खोज में लगा रहता है। वह न घूस लेता है न देता है फलस्वरूप इतनी बड़ी इण्डस्ट्री का थोड़े से समय में दिवाला निकल जाता है।

डा० रघुवंश, प्रिया,विशु मेहता और प्रभासचन्द्र नियोगी गौण पात्र हैं।उपन्यासकार को लेखमा इन चरित्रों के निर्माण में अधिक अवकाश नहीं ले पाई है। रघुवंश का चरित्र तो जानबूझकर ठूंसा गया लगता है,जब कि उन्हें मुखर करने के लिए उपन्यास में काफी सूत्र मौजूद थे। प्रिया के साथभी पूरी तरह से न्याय नहीं हो पाया है। वह कल्याणी के चरित्र का उत्तरांश आभासित होती है, लेकिन निर्मल की मनोग्रस्तता दूर करने के अतिरिक्त और आगे नहीं बढ़ पाती, न लेखक ने उसके लिए प्रयत्न हीकिया है।

उपन्यास का सौन्दर्य उसके सुसंगठित वस्तु विन्यास में भी है। यद्यपि कथासूत्रों में बिखराव की सम्भावना कई स्थलों पर दिखाई

---

१ मछली मरी हुई, पृ० १८

देती है और कहीं-कहीं वर्णन अस्वाभाविक भी लगता है, लेकिन इससे इनकार नहीं किया जा सकता कि लेखक ने घटनाओं को इस प्रकार पिरोया है कि कुतूहल की संवेदना बराबर बनी रहती है। डा० त्रिभुवन सिंह के शब्दों में-- "उपन्यासकार ने भारतवर्ष से लेकर अमेरिका तक की सैर की है और पात्रों की दो पीढ़ियों को चर्चा का विषय बनाया है। ऐसी स्थिति में कथा में बिखराव और अस्वाभाविकता आ जाना स्वाभाविक है। उपन्यास की प्रकृति 'शिथिल वस्तु' की ही थी, किन्तु अपने प्रस्तुतीकरण की विशिष्ट शैली के कारण यह उपन्यास 'सुसंगठित कथावस्तु' का एक सुन्दर नमूना पेश करता है। कथा की व्याप्ति तो अत्यन्त सीमित है, पर उसमें अनेक प्रसंगों को इस ढंग और क्रम से जोड़ा गया है कि जिससे एकाधिक कथा-प्रसंगों का निर्माण भी हो गया है और पाठकों की उत्सुकता को अन्त तक बनाये रखने के लिए में उपन्यासकार को पूर्ण सफलता भी मिली है। उपन्यासकार यह कार्य सुन्दर कथावस्तु के निर्माण के माध्यम से ही कर पाता है।"[1]

कथा का आरम्भ बिना किसी भूमिका और वातावरण चित्रण के, आकस्मिक रूप से होता है। लगातार घंटी बजती रहती है, डा० रघुवंश का ध्यान टूटता है और उनकी एकलौती अठारह वर्षीय पुत्री 'प्रिया' दरवाजा खोलने के लिए आगे बढ़ती है। यथावसर प्रसंग निकाल कर बीच बीच में घटनाओं को उपन्यास में इस प्रकार जोड़ा गया है कि पीछे की घटनाएं सामने आती जाती हैं और आरम्भ से पूर्व की छूटी कथा चलने लगती है। कथा-शृंखला में आये व्यवधान के कारण जो अस्पष्टता और रहस्यमयता उत्पन्न होती है, उसे स्पष्ट करने के निमित्त बीच बीच में उपन्यासकार सूचनाएं देता रहता है[2]। दरवाजे की घंटी बजाने वाले निर्मल पद्मावत और डा० रघुवंश तथा प्रिया के संबंध में उठने वाले कुतूहल को शान्त करने के लिए उनका संक्षिप्त परिचय देता है। प्रिया का परिचय होते हुए बड़ी आसानी और आकस्मिक रूप से कथानायिका

---

१ त्रिभुवन सिंह : 'हिन्दी उपन्यास-शिल्प और प्रयोग', पृ० २७२

२ वही, पृ० २७२

कल्याणी का प्रवेश कराता है । वैसे 'कल्याणी मेन्शन' के द्वारा भी लेखक बार-बार उसकी याद दिलाता है, इस प्रकार कल्याणी प्रारम्भ से अंत तक जीवित प्रतीत होती है । कल्याणी के चरित्र की भावात्मकता के लिए यह युक्ति बड़ी सफल कही जा सकती है ।

प्रिया दरवाजा खोलते ही निर्मल की भयंकर आकृति देखकर डर जाती है । लेखक लगे हाथ निर्मल के विषय में सूचनाओं और प्रश्नों को भी प्रस्तुत कर देता है । 'आज से ग्यारह साल पहले निर्मल पद्मावत पहली बार इस शहर में आया था । एशिया का सबसे अजीबोगरीब और अजनबी शहर कलकत्ता । उस दिन पद्मावत उस शहर में खुद अजनबी था । अजनबी और अपने अजनबीपन में खोया हुआ । वह कौन था ? और इस शहर में किससे क्या चाहता था ? उसे यहां किसने बुलाया ?[1] इन प्रश्नों के उत्तर देने तथा पूर्वांश के सूत्रों को खोलने के लिए अगला प्रकरण आ जाता है। इस प्रकार कुतूहल निर्मित होता रहता है और सूत्र पर सूत्र खुलते जाते हैं ।

दूसरे प्रकरण का प्रारम्भ कल्याणी की मृत्यु सूचना से होता है, तथा पहले प्रकरण में छूटे हुए अंश-- निर्मल के जीवन का पूर्वांश तथा प्रिया का बाल्य जीवन -- को जोड़ता है। डा० रघुवंश की मुलाकात निर्मल से शराबघर में होती है । पात्र धीरे-धीरे परस्पर नजदीक आकर एक दूसरे की कथा उजागर करते हैं । निर्मल कहता है--'दो साल पहले एक ब्रेन आपरेशन के सिलसिले में आपकी तसवीर 'टाइम्स' अखबार में छपी थी ।तब मैं न्यूयार्क में ही था । आ की जानता हूं.... आज सुबह कलकत्ता आया हूं मैं । थोड़ी देर पहले शाम के अखबारों में मिसेज रघुवंश की न्यूज... और ओबिट्टरी पढ़ी है । अभी यहां हूं, तो आपको इस टेबुल पर ... ।'[2] अगला सूत्र तीसरे प्रकरण से खुलता है जब निर्मल और रघुवंश प्रथम मुलाकात से

---

१ मछली मरी हुई ,पृ०१४

२ वही,पृ०२४

अलग होते हैं । दरवाजे पर रुककर निर्मल ने कुल तीन बातें कही थीं --
(१) वह आज ही इस शहर में आया है और अब वह यहीं रहना चाहता है,
(२) अपने देश में `न्यूरो सर्जरी` का विकास नहीं हुआ है और कल्याणी

सर्जरी की इसी विवशता का शिकार बनी है और ,(३) वह वायदा
तो नहीं करता ह,क्योंकि अभी उसके पास हजार, पांच हजार रुपये भी
नहीं हैं..... लेकिन... लेकिन, वह कोशिश करेगा[1] । यहीं ज्ञात होता
है कि निर्मल कल्याणी का प्रेमी रह चुका है । इस प्रकरण में लेखक ने अपने
ज्ञान का परिचय देते हुए प्रसंग से अलग कई विवरण प्रस्तुत करता है,
जिनकी कथा से कोई सम्पृक्ति नहीं दिखती ।

प्रभातचन्द्र नियोगी का परिचय देकर कथा का अगला
सूत्र खोला जाता है । निर्मल नियोगी से मिलता है और कहता है, --`मैं
आपके साथ बिजनेस करना चाहता हूं । मेरे पास पूंजी नहीं है,फिर भी ।
आप मुझे.... मदद नहीं कीजिए, मेरे साथ व्यापार का समझौता
कीजिए ।... मुझे आपके बैंक से तीस हजार रुपयों का कर्ज चाहिए । दो
महीने के अन्दर मैं सूद सहित[2] सारे रुपये वापस कर दूंगा ।ये रुपये मुझे एक
सप्ताह के अन्दर ही चाहिए ।` लेखक बड़ी चतुराई से निर्मल के दिमाग का
परिचय देता है, जिससे प्रभावित होकर नियोगी उसे कलकत्ता में बसाने का
निर्णय लेता है ।` इस प्रकार उपन्यास कथा का क्रमिक विकास न होकर
एक ऐसे ढंग से उसका विकास होता है कि बराबर रहस्यों का सिलसिला
बढ़ता ही जाता है और पाठक परिणाम तक पहुंचने के लिए बेचैन हो उठता है[3] ।`

अगले प्रकरण में लेखक `प्रिंसेस स्ट्रीट` पर बना तीस
मंजिला स्काई स्क्रैपर` कल्याणी मेन्शन का परिचय देता है, जिसके माध्यम से
कल्याणी की कथा का सूत्र खुलता है । कल्याणी न्यूयार्क डाक्टरी शिक्षा

----

१ मछली मरी हुई,पृ०२८

२ वही, पृ०४७

३ त्रिभुवन सिंह : `हिन्दी उपन्यास: शिल्प और प्रयोग`,पृ०१७५

प्राप्त करने जाता है, लेकिन पद नहीं पाता और 'सोसायटी गर्ल' बन जाता है। माडलिंग में तो पूरे न्यूयार्क शहर में वह सबसे आगे था। एक जलसे में निर्मल कल्याणी को देखता है और फिर उसे भूल नहीं पाता। संग्रीला होटल में अचानक मुलाकात भी करता है, कल्याणी उसे अपने फ्लैट तक ले गयी थी। अपनी आदत के मुताबिक जब उसके पैरो झुक जाते हैं,तो निर्मल को याद करती है। अपने फ्लैट में वह आमंत्रित करती है। निर्मल अपनी सारी पूंजी-- बारह सौ डालर -- उसे दे देता है। सम्भोग के पूर्व जब निर्मल अपने वस्त्र उतार कर टांगने की कोशिश कर रहा था, कमरे में एक नरकंकाल झूलता हुआ देखता है और भयभीत हो जाता है। इसके बाद वह सम्भोग में सफल नहीं हो पाता। कल्याणी अधूरे संभोग पर निर्मल को अपमानित करती है और कभी न आने के लिए कहती है। इसके पश्चात् वह गंभीर रूप से बीमार हो जाती है, डा० रघुवंश,इस बीमारी को हमेशा के लिए खत्म करने के लिए उससे शादी कर लेते हैं। इस प्रकार उपन्यास के छ: खण्ड या प्रकरण समाप्त होते - होते कल्याणी का परिचय मिल जाता है और निर्मल की पिछली कहानी सामने आ जाती है तथा पाठक उपन्यास के ठीक मध्य में पहुंचकर कथा को सिलसिलेवार देखता है।[1]

लेखक अब उपन्यास की कथा को पीछे छूट गये आरम्भिक अंश कक से जोड़ने का प्रयत्न करता है। प्रारम्भिक अंशों में कहा गया था कि प्रिया काफी बनाने चली गई थी। इसके बाद क्या हुआ ? आदि को आधार पर छोड़कर दूसरा प्रसंग वर्णन होने लगता है। सातवें प्रकरण में स्पष्ट होता है कि प्रिया काफी बनाकर वापस लौटती है। डा० रघुवंश कहते हैं,--' यू आर दि लकी मैन, निर्मल। तुम खुश किस्मत हो।

---

१ त्रिभुवन सिंह :'हिन्दी उपन्यास: शिल्प और प्रयोग',पृ०२७६

प्रिया ने अपने हाथ से तुम्हारे लिए काफी बनायी है-- वैसे यह लड़की किसी की परवाह नहीं करती । मेरी भी नहीं । मां इसकी बचपन में ही चली गई ।"[1] इस प्रकार कथाकार कौशलपूर्ण युक्ति से कथा को मध्य से प्रारम्भ करके क्रमोच्छेदक विधि से आगे-पीछे का विवरण और प्रसंग देता चलता है और अंत तक सम्पूर्ण कथा पूर्णत: अनावृत होकर व्यवस्थित रूप धारण करता है ।

निर्मल अपने जन्म दिन पर प्रिया को डा०रघुवंश के साथ निमंत्रित करता है । यहां प्रिया की भेंट शीरी से होती है,जो पहले मिसेज मेहता थी और अब मिसेज निर्मल पद्मावत हो चुकी है । शीरी होमोसेक्सुअल थी । प्रिया से दोस्ती करके उसे भी लेस्बियन बना देती है । शीरी निर्मल की कमजोरी प्रिया को बताती है । एक दिन वह निर्मलसे कहती है--"पसन्दगी का सवाल नहीं है । एक औरत की जिन्दगी का सवाल है । आप उसे एक सन्तान नहीं दे सकते,तो उसके पास जाते क्यों हैं ? एक ही बार उसे मार क्यों नहीं डालते ?"[2] निर्मल अनुभव करता है कि यह प्रिया की आवाज नहीं है, कल्याणी की आवाज है । कल्याणी से बदला लेने के लिए उसका बलात्कार करता है । वह बेहोश हो जाती है । बेहोशी और खून से लथपथ उसे डा० रघुवंश केफ्लैट में पहुंचा देता है । रघुवंश जानते थे कि एकदिन निर्मल ऐसा ही करेगा । निर्मल ताकतवर आदमी है । वह प्रिया को छोड़ेगा नहीं । एक सप्ताह बाद प्रिया अच्छी हो जाताहै ।

बलात्कार की घटना के बाद निर्मल स्वस्थ हो जाता है और अपनी पत्नी शीरी से पूर्ण संतुष्टि प्रदान करता है । शीरी पूर्ण नारी बन जाती है ।लेकिन इस बीच उसका सम्पूर्ण उद्योग चौपट हो जाता है। आधुनिक तौर तरीकों को न मानने के कारण निर्मल इण्डस्ट्रीज को बचा नहीं पाता । लेकिन 'कल्याणी मेन्शन' को किसी भी कीमत पर बचाता है । इस प्रकार सत्रह खण्डों[3] अथवा प्रकरणों में समाप्त यह उपन्यास अन्त तक रहस्यमय बना रहता है ।

आकर्षक चरित्र और सुसंगठित कथानक के अतिरिक्त 'मछली मरी हुई' में लेखक ने समकालीन परिवेश के चित्र भी उजागर किया है। समकालीन वातावरण अभिव्यंजना के स्तर पर नहीं बल्कि सपाट और सीधे ढंग पर अभिव्यक्ति पा सका है । इसकी सम्पूर्ति उपन्यास के कथानक अथवा पात्रों के संघर्ष से न होकर, खंड खंड अप्रासंगिक रूप से चित्रित हुई है । कलकत्ता महानगर के माध्यम से आधुनिक सभ्यता के नकाब को पर्दाफाश करता है ।' यहां सबसे बड़ी ताकत शेयर बाजार है । बाजार में बगल में सुनहरे कंगूरों वाले मन्दिर, गन्दी ,बस्तियां और हवाबन्द,रोशनीबन्द ऊंची बिल्डिंगें हैं । और यहां सबसे कमजोर हैं स्त्रियां, जो 'खानगी वेश्या अथवा मध्यकुलीन पत्नियां होकर एक जैसी जिन्दगी बिताती हैं, गर्भवती होने और फिर से गर्भवती होने और फिर से गर्भवती होने की जिन्दगी । वह इसजिन्दगी से अजनबी है ।[1]' भारतीय परिवेश का चित्रण करने के साथ-साथ कथाकार विदेश के वातावरण को भी प्रस्तुत करता है । न्यूयार्क जैसे विश्वविख्यात दुनिया के सबसे बड़े शहर में औरत केवल भोग की वस्तु है, इसलिए यहां यदि कल्याणी बाजार बन जाती है, तो अस्वभाविक नहीं है । इसके अतिरिक्त औद्योगीकरण से उत्पन्न विरूपताओं और उससे सम्बद्ध दुनिया की गति को भी लेखक ने स्पर्श किया है । निर्मल दुनिया की रफ़्तार के साथ नहीं चलता इसलिए सब कुछ खो बैठता है ।

संवादों का उपयोग कथा के रहस्यों और उसके सूत्रों को खोलने के लिए बड़ी कुशलता के साथ किया गया है । अध्यायों या प्रकरणों के अन्त में प्राय: पात्रों के वार्तालाप को अधूरा छोड़ दिया जाता है, और बाद के प्रकरणों में उसके रहस्य को खोला जाता है । संवाद योजना की यह युक्ति बड़ी समर्थ और आकर्षक बन सकी है । प्रथम प्रकरण में प्रिया

---

१ मछली मरी हुई,पृ० ३१

कहता है, --" आप लोग बैठिये । मैं देखता हूं ,चाय-काफी,कुछ भी मिल सकती है या नहीं.... महरी तो चली गई है... ।"[1] इस संवाद का सिल-सिला सातवें प्रकरण में जोड़ा जाता है ।" यू आर दि लकी मैन , निर्मल । तुम खुशकिस्मत हो । प्रिया ने अपने हाथ से तुम्हारे लिए काफी बनाई है ।"[2] इसी प्रकार संवादों के बीच यदिकिसी नये पात्र का प्रवेश होता है तो लेखक उसका परिचय भी देता चलता है, दूसरे शब्दों में, संवाद चरित्रों के रहस्य-सूत्र को खोलने में भूमिका का कार्य करते हैं । लम्बी-चौड़ी वैचारिकता या भाषणबाजी देने का प्रयत्न भी नहीं हुआ है । छोटे,चुस्त,अभिव्यंजक और नपे तुले वाक्य-- जितने शब्दों से काम चल जाय, उतने से ही काम लेने की कोशिश की गई है ।

इसमें कोई संदेह नहीं कि लेखक ने अपनी प्रकृति के अनुकूल ज्वलन्त एवं अधुनातन भाषा का प्रयोग किया है । हर बात को बेलाग कह दिया है, चित्रण करते समय किसी बंधन की भी परवाह नहीं की है । भाषा अभिव्यंजना के स्तरों को उजागर करती है एवं उपन्यास की प्रकृति से संपृक्ति स्थापित करती है । बीच-बीच में उसका प्रतीकात्मक विन्यास सौन्दर्य को और भी मुखरित करता है । एकाध उद्धरण द्रष्टव्य हैं--

(क) और वह अपने ऊंचे और मजबूत कंधों पर विशालकाय दैत्य की तरह शव उठाये था । क्षितिज[3] के लाल, जलते हुए श्मशान की ओर अकेला चला जा रहा था ।

(ख) यही चाहती है प्रिया । प्रिया शीरी के खूबसूरत और गर्म मांसपिण्ड की गहराइयों में खो जाना चाहती है । मगर वह मछली है । उसके पास बाहें नहीं हैं,पांव नहीं है । वह तैर सकती है । डूब नहीं सकती । डूब जाना चाहती है । शीरी में, निर्मल में नहीं । निर्मल आदमी नहीं है,[4] जानवर है,खूंखार जानवर... ।

कला संवेदना और भाषा के खुले प्रयोगों ने इस कृति के शिल्प कौशल को जो दिशा दी है, वह नई पीढ़ी के लिए नई चीज है। कामित्तक मन क्रीड़ा की डायरी के जो पृष्ठ यहां उपस्थित किये गये हैं, उनमें व्यक्तिगत बोध और सहज अभिव्यक्ति का टकराओ इस राजकमल के उपन्यासकार को दौड़ में बहुत आगे कर देता है[१]।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि 'मछली मरी हुई' में एक साथ चित्रित मनोवैज्ञानिक स्तर की अछूती संवेदना, शिल्पविधान का कौशलपूर्ण नियोजन, अश्लीलता के आरोपों के बावजूद अनुभव की ईमानदारी और बेलाग अभिव्यक्ति-- उपन्यास को ऊंचा व समर्थ बनाता है।

सूरजमुखी अंधेरे के (१९७२)[२]

नई पीढ़ी के प्रमुख उपन्यास लेखिकाओं में कृष्णा सोबती का हस्ताक्षर महत्वपूर्ण है। उनके सभी उपन्यासों में औरत को नयेसिरे से नई परिभाषा में पहचानने की कोशिश की गई है। जिन्दगी की दौड़ में उसकी गति क्या है? पारम्परिक वर्जनाओं से कितनी मुक्त हुई है? -- अर्थात् उसके शरीर एवं मन की किताब को नये दर्पण में झांकने का प्रयत्न निश्चय हुआ है।

बहुचर्चित उपन्यास 'सूरज मुखी अंधेरे के' में एक असाधारण नारी का मनोवैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। रत्ती अथवा रत्तिका बहुत छोटी उम्र में ही 'हवाघर' में रेप कर दी जाती है। इस घटना के द्वारा

---

१ ललित शुक्ल : 'दिशाओं का परिवेश', पृ०४५

२ कृष्णा सोबती : 'सूरजमुखी अंधेरे के', राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्र०सं०, १९७२

वह धीरे धीरे 'ग्रन्थि' का शिकार हो जाता है । आस पास के परिवेश के लोग उसे गन्दी लड़का का विशेषण देते हैं, उसके सहपाठी एक और व्यंग्य बाण छोड़ते हैं, दूसरी ओर कामुक दृष्टि से देखते हैं । हर क्षण का स्थिति को वह उस घटना से जोड़कर देखता है,और विक्षिप्त होता है । अपनी जिन्दगी के पुल को पार करने के लिए कई दिनों केशो के घर रहता है और घाव को भरने की असफल कोशिश करता है । कभी तेज जिन पाकर तो कभी छोटे कुमु को प्यार देकर शान्ति प्राप्ति करना चाहता है, फिर भी पुल को पार नहीं कर पाती, बल्कि और भी अंधेरी सुरंगों में प्रवेशती जाता है । जिस सड़क का कोई किनारा नहीं-- रश्मी[1] वही है । वह आप ही अपनी सड़क का 'डेड एण्ड' है । आखिरी छोर है । अंधेरे में रहता हुई सूरजमुखी का फूल है ।

बचपन की घटना को लेकर यदि कोई कुछ कहता है, अनायास अप्रत्याशित कुछ भी कर[2] बैठती है । अज्जू कहता है,.... वह कहता है कि तुम अच्छी लड़की नहीं हो ।' 'किसी ने बुरा काम किया था न तुम्हारे साथ । खून निकला था न ।'

रश्मी ने कुछ सुना नहीं । फाटक से सूरजमुखी का ढेर अज्जू के मुंह पर दे मारा ।

'मारूंगी मैं तुम्हें और मारूंगी ।'

रश्मी ने अज्जू का सिर धुनक दिया ।

अज्जू ऊंचे ऊंचे रोने लगा -- मैं ही थोड़े कहता हूं । सब लड़के लड़कियां[3]... रश्मी ने घूंसों से पीटा... इधर उधर फिर जमीन पर पटक दिया ।

मानसिक कुंठा के घनीभूत होने के कारण-- वह पापा-मामा के चेहरों पर अज्जू और डिम्पी का चेहरा पढ़ती है । परिवेश के सारे लोगों को से चिढ़ती है । उसे समूची दुनिया गन्दी लगने लगती है । अपने मन

---

१ सूरजमुखी अंधेरे के ,पृ०११

२ वही,पृ०४२

३ वही, पृ०४३

के उबाल को प्लेटों पर चम्मच मार कर, मुट्ठियां भींचकर, गिलास फर्श पर पटक कर प्रदर्शित करती है । ऐसी स्थिति में अपना व्यक्तित्व भूल जाती है । वहां सिर्फ वह और वह घटना और घटना के कारण गन्दी लड़की कहने वाले लोग रह जाते हैं ।

यदि पुरुष सम्पर्क के कारण रश्मी गन्दी है, तो वह समझती है कि उसके पापा-मामा भी गन्दे हैं--`आप दोनों भी गन्दे हो । गन्दे ।`[2]

श्यामली रश्मी से कहती है--`लड़कियां ठीक कहती हैं ....तुम गन्दी लड़की हो ।` लड़की ने पांव की ठोकर से श्यामली का बैग दूर फेंक दिया ।

`हूं तो क्यों सहेली बनने आई हो ? क्यों रुमाल देने आई हो ?` `कहूंगी हजार बार कहूंगी । तुम बुरी लड़की हो । तुम्हारी चड्डी में खून लगा रहता है ।`[2]

रश्मी मानो सुन न रही हो... देख रही हो । देखते देखते दोनों हाथ श्यामली के कंधे पर जा जमे ।

`छोड़ दो रश्मी.... छोड़ो मुझे... `रश्मी के हाथ कुछ ऐसे हिले कि झटके से श्यामली औंधे मुंह जा गिरी । रश्मी ने देखा नहीं ।[3] गला फाड़-फाड़कर रोती श्यामली की आवाज तक नहीं सुनी ।

इसी प्रकार उसने पाशी को भी पीटा । नफरत की[4] तरह उसे जमीन पर पटक दिया ... बार बार पटकती गई थी ।

इस प्रकार बचपन से ही रश्मी मानसिक बीमारी की पुतली हो जाती है । वातावरण इस रोग को बढ़ाने और असाधारण नारी

----

१ सूरजमुखी अंधेरे के, पृ०४६
२ वही, पृ० ४७
३ वही, पृ०४८
४ वही, पृ० ५०-५१

बनाने में सहायता देता है। बार-बार उसका अहं प्रताड़ित होता था और विद्रोह कर उठता था। सम्पूर्ण परिवेश में वह बदबू देखने लगता है।

असद भाई साहब उसे अच्छा लड़का कहते हैं। 'रत्ती हमेशा याद रखेगा... वह एक अच्छा लड़का है। प्यारा और बहादुर।'[1]

उस रात रत्ती को ऐसे लगा कि अंधियारे में एक लौ सी लगी। सिरहाने पर, बालों में, आंखों में, और दोनों ओर के छोटे छोटे उरोजों पर।

'रत्ती हमेशा याद रखेगी-- वह एक अच्छी लड़की है। प्यारी और बहादुर ....'[2]

असद भाई साहब के प्रति उसका अपार स्नेह पल्लवित होता है, क्योंकि उन्होंने उसे अच्छी लड़की कहा है, उसके रोग को समझा है। वास्तव में लेखिका ने असद को एक चिकित्सक का रूप देने का आभास दिया है। किन्तु रोग को दूर करने के बजाय, असाधारण नारी बना देते हैं। उन्होंने रत्ती को प्यार दिया.... शादी का वादा किया और इस दुनिया से अलग हो गये। उनकी मृत्यु के बाद रत्ती को प्यार, शादी और सेक्स से नफरत हो गयी। धीरे-धीरे लोग उसे ठंडी और सख्त औरत समझने लगे। कई पुरुष उसके जीवन में आये, सब ने उसको पाने का प्रयत्न किया, किन्तु किसी ने उसके ठंडेपन को दूर करने में सफलता नहीं प्राप्त की। उसकी तीखी घृणा के आगे सब परास्त होकर रह गये। 'कौन चाहेगा तुम्हें ? तुम एक ठण्डी और मनहूस लड़की।'[3] .... यह कि पहने हुए कपड़ों के सिवाय तुम्हारे पास कोई गरमाहट नहीं।'[4] 'मुझे हमेशा शक था, तुम औरत हो भी कि नहीं।'

जगतधर, रोहित, रंजन, औमो, बाली, सुमेर, भानुराव, सुब्रामनियम, वयनाथ, मोहन, श्रीपत आदि कई पुरुषों ने उसे केवल कामुक दृष्टि से देखा, किसी ने समझने का प्रयत्न किया था। रत्ती के अहं और ग्रन्थि के आगे सब बकनाचूर होकर रह जाते हैं। और धीरे धीरे सोचने लगता है

---

१ 'सूरजमुखी अंधेरे के', पृ०५३
२ वही, पृ० ५३
३ वही, पृ० ६७
४ वही, पृ० ६३

कि वह सचमुच एक ठंडी और सख्त औरत है । `उसनी बार सोचा वह ताप कहां है, वह आग जो इस जमे हुए को पिघला सके । कभी बेलटके-बेसहमे तन में सुहानी आग उपजती और सहज भाव से बह बह जाता उन कुल किनारों का और जो सबके होते हैं । सबको मिलते हैं ।`

`लेकिन वह पथरीली अहल्या आड़ी खड़ी चट्टान की तरह, हर बार की टकराहट से न पिघलती है, न टूटती है । न छोटी होती है । न बड़ी ।`[1]

वास्तव में उसे एक ऐसे चिकित्सक की जरूरत थी, जो उसके रोग को समझ सके, उसके घाव को भर सके, उसके अंतर की गहराइयों में प्रवेश कर सके, उसे अच्छी और सुन्दर लड़की कहकर मरहम पट्टी कर सके । इस प्रयत्न में दिवाकर सफल होता है ।

जिस ग्रन्थि को लिए हुए रत्तिका भटक रही थी, उस ग्रन्थि को दिवाकर पहचानता है । वह उसकी एक एक पंक्ति को पढ़ता है । वह कहता है--`रत्तिका, यह बीमार बातें हैं । इन्हें ओढ़े रहने से फायदा । कहना चाहता हूं ... तुम बीमार नहीं हो ।`[2]

`रत्तिका, तुमने अपने इर्द गिर्द कंटीली तारें लगा रखी हैं । अन्दर खड़े खड़े बाहर वालों से कहा करती हो... सम्हलकर ... इधर मत आना । कांटे हैं कांटे ।`

रत्ती कई देर तक हंसती रही ।

`जानते हो दिवाकर, तुमने रत्ती के अंतरंग टेलीफोन का नम्बर ढूंढ निकाला है ।`[3]

दिवाकर जानता था कि यदि रत्ती के अंतरंग को, उसके मनोविकार को वह छू लेगा, तो उसे पाने में कठिनाई नहीं होगी । वह कहता है, `अपनी परिधि में आने दो रत्तिका । ऐसा कुछ नहीं चाहूंगा जो तुम न देना चाहो ।`[4] दिवाकर के पूर्व जितने भी पुरुष रत्ती के सम्पर्क में आये, सबने

---

१ `सूरजमुखी अंधेरे के`, पृ०८०

२ वही, पृ० १०१

३ वही, पृ०१०२

अहं को चोट पहुंचाकर बलपूर्वक पाने का प्रयत्न किया । 'ठंडी' और 'मनहूस' औरत कहकर 'बीमार' को और भी बढ़ावा दिया, लेकिन सफलता नहीं प्राप्त कर सके ।

दिवाकर ने रत्ती के साथ संभोग किया, एक नहीं, दो-तीन बार । भोग सुख के पश्चात् रत्ती ने अनुभव किया कि वह बीमार नहीं है, वह ठंडी औरत नहीं है । उसका ग्रन्थि 'सुधर' जाता है । वह एकदम स्वच्छ हो जाती है । 'रत्ती ने दिवाकर के पौरुष को चूम लिया और वक्ष पर सिर धर कर कहा-- पहले कभी नहीं । तुमने मेरा शाप धो दिया है दिवाकर ।'[१]

इस प्रकार पूरे उपन्यास में लेखिका ने प्रमुख पात्र रत्तिका के जीवन की विसंगतियों का चित्र प्रस्तुत करते हुए मनोवैज्ञानिक विश्लेषण दिया है । उसके रोग, रोग का कारण और निदान प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है ।

प्रश्न यह उठता है कि पूरे उपन्यास में नारी-पुरुष का जो 'सेक्स' सम्बन्ध दिखलाया गया है, क्या मात्र यही उपन्यास से आशा की जाती है । जीवन में केवल 'सेक्स' ही सब कुछ नहीं है । उससे आगे बढ़कर अनेक समस्याएं हैं, अनेक आयाम है, जिनका एक कोना भी लेखिका स्पर्श नहीं कर पाई है । रत्ती के जीवन का भी एक खंड चित्र उपस्थित हो सका है । इस प्रकार उपन्यास किसी गहरे अथवा वृहद् आयाम से साक्षात्कार करने में असफल है । रत्ती के मनोविकार के निर्माण का कोई तीखा और जीवन्त कारण भी प्रस्तुत नहीं किया जा सका है, मनोविकार को दूर करने की प्रक्रिया अवश्य ही आकर्षक एवं मनोविज्ञान सम्मत है ।

उपन्यास में कुल मिलाकर केवल रत्ती पर सारे कैनवस का ढांचा तैयार किया गया है । अन्य पात्र (जो कम नहीं हैं) रत्ती के सामने

---

१ 'सूरजमुखी अंधेरे के', पृ०११५

पराजित, असहाय एवं हतप्रभ हैं। वे थोड़े समय के लिए आते हैं और लुप्त हो जाते हैं, अपना कोई स्पष्ट चित्र नहीं दे पाते। कहना चाहिए, रत्ती का ही चरित्र -- वह भी सेक्स जीवन का लेखिका ने प्रस्तुत किया है, उसके भी जीवन का कोई जीवन्त कोण खींचा नहीं जा सका है। केवल इतना कि, बचपन की एक घटना के कारण वह मनोविकार ग्रस्त हो जाती है, फलस्वरूप जिन्दगी अंधकारमय लगने लगती है। तमाम लोग 'ठंडी' और 'सख्त' औरत कहकर नफरत करते हैं। अपने प्रबल अहं के कारण वह किसी के आगे नत नहीं होती। अपनी भागती हुई जिन्दगी से धीरे-धीरे वह इतना तंग हो जाती है कि उसे लगता है अपना सब कुछ खो बैठी है। रिक्त और खोखलेपन के सिवा उसके पास कुछ नहीं है। पुरुषों के अपमान से वह दुःखी नहीं होती, बल्कि ठोकर मार कर आगे चल देती है। उसे अंतर की किताब को पढ़ने वाले की तलाश थी। इस प्रकार उसे कमजोर पात्र नहीं कहा जा सकता।

कथानक क्रमोच्छेदक पद्धति के आधार पर विकसित किया गया है। प्रारम्भ रत्ती के मध्य जीवन से होता है और बीच में पूर्वजीवन के 'फ्लैशेज' देकर ग्रन्थि या मनोविकार निवारण में अंत कर दिया गया है। 'हवाघर' के बलात्कार वाली घटना से सम्बद्ध बाल्यावस्था के दो-एक चित्र हैं, युवावस्था के खंड खंड फ्लैश हैं, जिनका तात्कालिक महत्व न होकर रत्ती के जीवन की विसंगतियों को दर्शाने के लिए महत्वपूर्ण बन सके हैं। एकाध अनुभूत्यात्मक अंश भी हैं, जैसे असद भाई की मृत्यु के बाद रत्ती को असह्य पीड़ा तथा कुमु के प्रति निश्छल स्नेह आदि। स्वप्न प्रणाली एक-दो स्थलों पर नियोजित हैं, लेकिन उससे कोई खास उपलब्धि नहीं दिखाई देती।

उपन्यास की भाषिक संरचना अवश्य महत्वपूर्ण है। 'सूरजमुखी अंधेरे के' की भाषा समकालीन कथा साहित्य के भाषिक मुहावरों के समकक्ष है। वह सपाट न होकर अभिव्यंजनाप्रधान है। ठोस एवं जड़ भाषा के स्थान पर काव्यसुलभ संवेदनात्मक तत्व सम्प्रेषित किये गये हैं। उसमें बिम्बों, प्रतीकों एवं संकेतों से काम लिया गया है।

'सालों पुराना दिन। सालों पुरानी शाम। वही

से रघी ने खींच लिया कि किसी काली परछाईं ने झपट कर चेहरे को काला कर दिया ।

रघी ने ओठों को मरोर दे मानो अपने से वायदा किया हो कि वह रोएगी नहीं ।'[१]

वाक्यों में संकोच और संवाद छोटे तथा सांकेतिक हैं । वातावरण को उजागर करने में पूरी तरह सफल हैं । लम्बे विवरणात्मक अंश, व्यर्थ का पिष्टपेषण, आदर्श का मुखौटा कहीं नहीं देखा जा सकता । वाक्य अपने में कसे हुए एवं सुगठित हैं । जितने से काम चल जाय उतने ही शब्दों से काम चलाया गया है ।

'-- माल पर चहल पहल थी ?

-- कम ।

-- लौटती बार व तो रास्ता अकेला होगा ?

-- था ही ।

केशी काफी देर रघी को देखती रही ।

-- पहले वक्त कैसे गुजरा ?

रघी ने मानों कोई पुराना हिसाब चुकाया हो ।

-- माल पर घूमने के सिवाय और क्या किया जा सकता है ?'[२]

सम्भोग चित्र को प्रस्तुत करते समय भाषा एवं संवाद बिम्बों, संकेतों एवं प्रतीकों से काम लिया गया है, जो उस चित्र के अनुरूप प्रासंगिक है । पात्रों के हाव-भाव और चित्र स्थिति के अनुकूल शब्दों-वाक्यों का चयन सम्पूर्ण समर्थ कहा जा सकता है ।

'रघी ने अपनी सुरक्षा में जैसे अपने आस-पास खुदी

---

१ 'सूरजमुखी अंधेरे के', पृ० ६

२ वही, पृ० १४

खाई पर के सब पल्ले-पुलियां उठा लिए हों ।

दिवाकर को ढिठाई से देखती रही, फिर रुंधे गले से कहा, -- माफ़ी दो दिवाकर, मैं थकी हूं और मुझे कहीं नहीं जाना है ।

दिवाकर ने पलट कर मानो कैनवस को पिछली तरफ़ से देखा । खाली .... बेरंग .... बेरस ।

-- मेरा आना क्या इतना अप्रीतिकर हो उठा है, रत्ती । रत्ती ने सिर हिलाया और नितान्त अकेले स्वर में कहा,

-- -- नहीं, दिवाकर, यह बात नहीं । मैं तो अपने आप से जूझने लगी हूं ।

-- कुछ देर पहले तुम खुश थीं रत्ती ।

-- थी, पर अब कुछ कारगर नहीं होगा । मैं अपने को रत्ती नहीं लग रही हूं । मानो लम्बी सड़क के साथ-साथ पड़ी लावारिस ज़मीन सी... ।

रत्ती ने दोनों हाथ वक्ष पर रख लिये कि कोई भित्ति हो ।

-- मैं थकी हूं दिवाकर, मुझे आराम के लिए छोड़ दो

दिवाकर पास आये । हाथों से ऐसा हुआ कि ज़िन्दा करना हो । ओठों पर चूम लम्बे क्षण तक आंखों के पार देखते रहे । पुतलियों में अंधेरा था और कोई नमी नहीं थी ।

दिवाकर ने बांह से घेर दीवान पर लिटा दिया ।[१]

इस प्रकार 'सूरजमुखी अंधेरे के' भाषा का नव्य एवं आकर्षक रूप देकर भी किसी गहरी अंतर्दृष्टि को नहीं छू पाता । नेमिचन्द्र जैन ने 'हिन्दुस्तानी एकेडमी, प्रयाग' की परिचर्चा में, अपने पढ़े गये निबंध में

---

१ 'सूरजमुखी अंधेरे के, पृ०१०८-१०६

कहा था कि समकालीन कथा साहित्य समग्र रूप से घूम-फिर कर मात्र स्त्री-पुरुष के 'सेक्स' सम्बन्ध के इर्द-गिर्द[१] घूमता रह जाता है । मानवीय यथार्थ की गहरी अंतर्दृष्टि उसमें विरल है । इस दृष्टि से आलोच्य उपन्यास अपने समकालीन साहित्य के अनुरूप है । इसलिए, यदि लेखिका की यह कमजोरी कही जाय कि उसने जीवन की संकुचित दृष्टि का पालन किया है, तो यह दोष केवल लेखिका को न देकर पूरी समकालीन पीढ़ी को देना होगा ।

-o-

---

१ 'समकालीन कथा साहित्य : 'बहस के लिए कुछ मुद्दे', नेमिचन्द्र जैन द्वारा पढ़ा गया निबन्ध ।

पंचम अध्याय

-0-

आंचलिक शिल्प-विधान

आंचलिक शिल्प-विधान के उपन्यासों में उपन्यास के सभी उपकरणों का दृष्टिकेन्द्र या प्रकाशन ध्येय परिसीमित देश(अंचल)-विशेष हो जाता है और अन्य तत्व इसी से नियत-निर्णीत होते हैं[1]। प्राय: समालोचकों ने आंचलिकता का अर्थ स्थानीयता(लोकल कलर) से लगाया है, इस अर्थ में तो हिन्दी के अनेक उपन्यास आंचलिक हो जायेंगे। क्योंकि स्थानीय रंग प्रत्येक उपन्यास में न्यूनाधिक मात्रा में उपलब्ध रहता है, चाहे वह ग्राम्य का चित्रण कर रहा हो या नगर का। यह अवश्य है कि गांव की अपेक्षा नगरों के जीवन में विविधता अधिक होती है, लेकिन प्रत्येक नगर की अपनी अलग कुछ विशेषताएं होती हैं,उपन्यासकार नगर को घटनाभूमि का आधार बनाकर उसकी विशेषताओं को व्यंजित करता है और रचना को स्वाभाविक बनाता है। स्पष्ट है,स्थानीय रंग के आधार पर उपन्यास को आंचलिक या आंचलिक शिल्प-विधान का उपन्यास नहीं कहा जा सकता। वास्तव में आंचलिकता उसके स्थानीय रंग उभारने में नहीं बल्कि एक विशेष प्रकार के गुंफन,संयोजन या शिल्प में है। डा० सियाराम तिवारी के शब्दों --'... इस तरह आंचलिकता के शिल्पगत होने के कारण उसकी मर्यादा ग्रामीण अंचलों तक सीमित करना वांछनीय नहीं है। अगर एक ग्राम्य या वन्य अंचल पर लिखा गया शिल्पगत वैशिष्ट्य से युक्त उपन्यास आंचलिक है तो कोई कारण नहीं कि शिल्प की उसी विशेषता को अक्षुण्ण

---

१ डा० सत्यपाल चुघ :'प्रेमचन्दोत्तर उपन्यासों की शिल्प-विधि',पृ०५५६

एकर किसी नगर के एक मुहल्ले पर लिखा गया उपन्यास आंचलिक न होगा । ऐसे उपन्यास को न 'अंचल' शब्द के किसी विशिष्टार्थ के कारण और न किसी प्रकार का पारिभाषिक आपत्ति के कारण आंचलिक वर्ग से बहिष्कृत कर सकते हैं ।[1] 'बूंद और समुद्र' (अमृतलाल नागर) में लखनऊ नगर के एक मोहल्ले के चित्रण को आंचलिक स्थापत्य में उभारने के कारण आंचलिक उपन्यास कहा जा सकता है,यद्यपि उसकी कथा-भूमि का आधार नगर है । यह जरूरी नहीं कि आंचलिक उपन्यास में किसी गांव या कस्बे का ही चित्र हो ।

आंचलिक उपन्यासों में पात्र बहुविध होते हैं,वे अपनी विविधता के द्वारा चित्रित क्षेत्र के जनजीवन को सम्पूर्णता प्रदान करते हैं । उनमें कोई भी पात्र प्रमुख नहीं होता, बल्कि वह विशेष क्षेत्र ही एक प्रमुख चरित्र के रूप में उभार पाता है । अन्य पात्र तो उसको उजागर एवं प्रकाशन करने के लिए सहायक बनकर आते हैं । क्षेत्र चरित्र ही नायक की मुद्रा धारण कर लेता है । आंचलिक कथाकार किसी भी पात्र को अवकाश और तल्लीनता के साथ प्रस्तुत नहीं करता, बल्कि कहीं त्रिभुज, कहीं वृत्त और कहीं छोटे-छोटे बिन्दु के आकार द्वारा उन पात्रों का केवल चित्र मात्र देता चलता है । कुछ पात्र अपेक्षाकृत उन पात्रों का केवल देर तक टिकते हैं और थोड़ी बहुत संवेदना बिखेरते हैं, पर यह ध्यान रहे कि यह संवेदना अंतत: क्षेत्र नायक चरित्र की संवेदना बन जाती है, छोटे छोटे बिन्दुओं की भांति कुछ पात्र आते हैं और अपना अस्तित्व क्षण भर में ही समाप्त कर लेते हैं। जैसे वे उस विशेष जीवन की छोटी छोटी ऊर्मियां हों, हल्के से उभर कर क्षेत्र के जीवन सागर में विलीन हो जाती हों । वस्तुत: आंचलिक उपन्यासकार एक दिशा में संतरित होने के बजाय क्षेत्र जीवन की सभी भुजाओं पर यात्रा करता है और इसके लिए इन उपादानों का चयन इधर-उधर से कर लेता है, जो मिलकर अंचल जीवन को समग्र बनाते हैं । इस प्रकार आंचलिक जीवन के पात्र अपने 'व्यक्ति' का प्रकाशन नहीं करते, अपितु अंचल को उजागर करते हैं।

---

१ डा० सियाराम तिवारी : 'सिद्धान्त,अध्ययन और समस्याएं',पृ०११

'आंचलिक उपन्यासों में पात्र आंचलिक जीवन को पूर्ण करने के लिए आते हैं। इनके पात्रों के क्रिया कलाप नायक को फलागम तक पहुंचाने के लिए नहीं बल्कि आंचलिक जीवन के विविध पक्षों को पार्थित करने के लिए होते हैं। इसमें हर पात्र अपने भावों-अभावों के साथ उपस्थित होता है और किसी अन्य पात्र का मुखापेक्षी नहीं होता।.... जब भी कथा का आधार एक घटना होगा और उस घटना का नेता कोई व्यक्ति होगा, तब वह उपन्यास आंचलिक नहीं रह जायगा।'[1]

आंचलिक शिल्प-विधान के उपन्यासों में कथानक संगठित नहीं होता। उसमें शब्द चित्रों, दृश्य चित्रों के माध्यम से आंचलिक जीवन से साक्षात्कार कराया जाता है। अंचल के समग्र जीवन को उकेरने के लिए कथाकार कहीं मोटी रेखाएं खींचता है, कहीं पतली, कहीं अवकाशों को भरने के लिए दो चार बिन्दुओं को फाड़ देता है। अनेक पर्वों, उत्सवों, परम्पराओं, विश्वासों, व्यथा के अकारों, गीतों, संघर्षों, प्रकृति के रंगों आदि से लिपटा हुआ अंचल जीवन एक नये कलेवर में अभिव्यक्ति पाता है।[2] ये विभिन्न चित्र फिल्म के ट्रेलर की भांति आते हैं और एक स्पर्श देकर समाप्त हो जाते हैं, समस्त चित्र मिलकर अंचल जीवन को समग्र बनाते हैं। इनमें बाहर से तो बिखराव दिखाई देता है, किन्तु अंत: सूत्रता समायी रहती है। आंचलिक कथा शिल्प का यह ढंग ऐसा है कि कोई भी प्रसंग, घटना या पात्र पाठक के सामने देर तक ठहरता नहीं-- चित्रों पर चित्र आते हैं, चले जाते हैं, तमाम चित्रों की रेखायें आपस में उलझकर नये चित्र बनाती हैं लेकिन[3] इस त्वरा में कोई भी चित्र हमारे मन में गहरी लकीर नहीं बना पाता।

---

१ डा० सियाराम तिवारी : 'सिद्धान्त, अध्ययन और समस्यायें', पृ०९९-९९

२ दिशाओं का परिवेश, पृ०६०

३ वही, पृ०६१

प्रत्येक आंचलिक उपन्यास का एक चुना हुआ विशिष्ट क्षेत्र होता है, जिसकी अपनी भौगोलिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक विशेषताएं होती हैं । उनकी अपनी रूढ़ियां, परम्पराएं, रीति-रिवाज एवं जीवनयापन का विशिष्ट ढंग सुरक्षित रहता है । कथाकार उन्हीं विशेषताओं को उजागर करके उस विशिष्ट क्षेत्र को एक चरित्र एवं चित्र के रूप में उपस्थित करता है। आंचलिक कथा शिल्प में लेखक चित्रित कथा क्षेत्र के निवासियों के रहन-सहन, रीति-रिवाजों, परम्पराओं, मूल्यों, आस्थाओं, प्रथाओं, पर्वों, आदर्शों एवं मनोवैज्ञानिक विशेषताओं को इस प्रकार संगठित एवं अभिव्यक्त देता है कि वे परस्पर समान होते हुए भी दूसरे क्षेत्र के निवासियों से इतने भिन्न हों कि वह विशेष क्षेत्र दूसरे क्षेत्रों से एकदम अलग और नवीन प्रतीत होता है। कथाकार आंचलिक जीवन को जितनी अधिक पूर्णता के साथ स्थापित करता है वह उतना ही सफल आंचलिक कथाकार कहा जायेगा । आंचलिक कथा-विधान में लेखक विशेष अंचल (भूभाग) की सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, सांस्कृतिक आदि व्यवस्थाओं एवं परम्पराओं का जनजीवन पर गहरा प्रभाव डालने वाली ऐसी शक्ति के रूप में वर्णन करता है, जिसमें उसकी एक विशिष्ट जीवन-पद्धति मुखर हो उठती है...[१] ।

आंचलिक कथा शिल्प में घटनाएं बहुल होती हैं, लेकिन ये वर्णनात्मक उपन्यास की भांति घटनाएं नहीं होतीं बल्कि उनका रूप चित्रों की तरह होता है । घटनाएं चित्रों की भांति उपस्थित होती हैं, क्योंकि इनके द्वारा उपन्यास के कथानक में प्रतिक्रिया उत्पन्न होने की बहुत कम संभावना रहती है । लेखक इन चित्रों के माध्यम से एक खास क्षेत्र की परस्पर लिपटी हुई परतों, अनेक गुथे हुए रहस्यों, क्षेत्र के मानसिक संस्कारों को व्यंजना के सहारे व्यक्त करता है । इसप्रकार कहा जा सकता है कि आंचलिक कथाकार अंचल चित्र को समग्र एवं पूर्णरूप से उजागर करने के लिए अनेक युक्तियों का सहारा लेता है, जिस युक्ति से भी क्षेत्र के विविध आयाम उद्घाटित हो

---

१ बालादि विश्वामित्र : 'उपन्यास कला: एक विवेचन', पृ०७६

सकते हैं, उन सभी युक्तियों को स्वीकृत कर करता है । प्रतीक,व्यंग्य,व्यंजना, वर्णन,चित्र, पूर्वदीप्ति आदि कथा वर्णन की अनेक युक्तियाँ यहां स्थान पा लेती हैं । पर यह ध्यान रहे कि उसके स्थापत्य में मूलत: आंचलिक क्षेत्र और वातावरण को उभारना-- एक पूर्ण चरित्र के रूप में-- ही लक्ष्य होता है । रेणु `मैला आंचल` में एक साथ अनेक गुँथे हुए प्रसंगों,अनेक संश्लिष्ट मूल्यों और बोधों तथा अन्तर्विरोधों को सूक्ष्मता, सांकेतिकता एवं व्यंग्यात्मकता से उभारने में समर्थ हुए हैं[१] ।

उपन्यास में वातावरण को सघन बनाने के लिए कथ्य के अनुकूल भाषा का विन्यास लेखक के लिए अनिवार्यता ही नहीं विवशता हो जाती है । क्योंकि लेखक जो कुछ कहना चाहता है, उसे उसी विशिष्ट भाषा में ढालने पर ही रचना जीवन्त एवं सशक्त बन सकती है । इस प्रकार विभिन्न औपन्यासिक रचनाओं में भाषा का संगठन अत्यधिक अंतर के साथ समायोजित किया जाता है । आंचलिक शिल्प विधान में आंचलिक भाषा का नियोजन एक अनिवार्य शर्त है । तभी उसका कथ्य सार्थक,प्रखर प्रासंगिक एवं जीवन्त हो सकता है । यानी भाषा को अधिक से अधिक क्षेत्र विशेष से सम्बन्ध करने का प्रयास किया जाता है । आंचलिक जीवन के पात्र यदि परिनिष्ठत भाषा का प्रयोग करते दिखायें जायेंगे, तो वे अप्रासंगिक ही नहीं हास्यास्पद लगने लगेंगे । उनके वास्तव को प्रकट करने के लिए उनकी ही भाषा प्रयोग करना होगा । जिससे वे पाठकों को अपनी पहचान कराने में अधिक समर्थ हो सकते हैं । प्रत्येक आंचलिक उपन्यास में उस क्षेत्र विशेष की बोली को उजागर किया जाता है,परिनिष्ठत भाषा भी यदि प्रयोग करना है तो उसे क्षेत्र विशेष के चरित्र एवं उनकी बोली के समकक्ष बनाकर प्रयुक्त किया जाता है । कथाकार क्षेत्र विशेष के चरित्र को सम्प्रेषित करने के लिए ध्वनियों,रंगों, संकेतों, व्यंग्यों,प्रतीकों को माध्यम बना सकता है । जीवन की गति को सशक्त रूप से उभारने के लिए लय एवं ताल, संगीत के सहारे अभिव्यक्त किया जा सकता है । क्षेत्र विशेष के पात्रों के मुहावरों, जीवन के लोक प्रचलित मुहावरों एवं

----

१ `दिशाओं का परिवेश`,पृ०९१

लोकोक्तियां, गातों, कहानियों आदि को प्रायित करते हुए पाठकों को रस एवं गंध से साक्षात्कार कराया जाता है। इस सिलसिले में यहां एक कठिनाई भी उत्पन्न हो जाती है। आंचलिक शिल्प विधान में भाषा को अधिक से अधिक स्थानीय बनादेने से वह उस क्षेत्र विशेष की बोली से अपरिचित पाठकों के लिए असम्प्रेषणीय हो सकता है। यद्यपि लेखक उसकी सम्प्रेषणीयता की कठिनाई को दूर करने के लिए पादटिप्पणियों में अर्थ स्पष्ट करने का प्रयास करता है, लेकिन इस प्रक्रिया में रचना का आस्वादन उतना सक्षम एवं संवेदनशील नहीं हो पाता, जितना कि परिनिष्ठित भाषा के प्रयोग करने में हो सकता है। लेकिन हमने पहले ही कहा है कि क्षेत्र जीवन को सशक्त ढंग से उजागर करने के लिए उसकी भाषा को उसी क्षेत्र की बोली से सम्पृक्त करना होगा। यानी लेखक को दोनों धर्मों का पालन करना होगा-- क्षेत्र के जीवन को सशक्त रूप में प्रक्षेपित करना, उसे अधिक से अधिक पाठकों के लिए प्रेषणीय भी बनाना। इसलिए अच्छा यही होगा कि वह परिनिष्ठित भाषा को ही क्षेत्र विशेष के बोली के अनुरूप ढाल कर आंचलिक रचना को सार्थक बनावे, यद्यपि इसमें अधिक प्रतिभा, तल्लीनता एवं सजगता की आवश्यकता है और इससे आंचलिक रचनाएं स्थानीय पाठकों से ऊपर उठकर सर्वजनीन हो सकती हैं।

विशिष्ट उपन्यासों का अध्ययन

मैला आंचल (१९५४)[1]

फणीश्वरनाथ रेणु के अब तक कई उपन्यास प्रकाशित हो चुके हैं, 'मैला आंचल' प्रथम उपन्यास होने के बावजूद समकालीन आलोचना में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त करता है। आंचलिक शिल्प-विधान की प्रतिष्ठा,

---

१ फणीश्वरनाथ 'रेणु' : 'मैला आंचल', राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, सातवां संस्करण, १९७३।

स्थापना और विस्तार रेणु के माध्यम से होता है, उसमें भी 'मैला आंचल' में इस शिल्प की संगठित सामग्री नियोजित देखा जा सकता है। इसके पूर्व प्रकाशित नागार्जुन कृत 'बलचनमा' को हिन्दी का प्रथम आंचलिक उपन्यास माना गया है किन्तु उस शिल्प की संगठित और सायास योजना 'मैला आंचल' में देखा जा सकती है। स्वयं कथाकार अपने उपन्यास को आंचलिक कहकर प्रस्तुत करता है।[१] इसप्रकार आलोचना-जगत में आंचलिक शब्द का प्रथम प्रयोग मैला आंचल के द्वारा हुआ है।

रचनाकार कभी भी एक पेड़ के तले नहीं बैठ सकते, न ही एक ढेला के चारों ओर मंडरा सकते हैं। जब ढेर सारे लेखक शहरी जीवन के घुटन और निराशा, कुंठा और बेगानापन, कृत्रिम और एकरस वातावरण से ऊब गये तो स्वाभाविक था कि गांव के अकृत्रिम, सहज और निराकुल जीवन की ओर आकर्षित होते। नागरी जीवन में ऐसा खुला मस्त बयार कहां, कि जिसके साथ मन उन्मुक्त बह चले 'इसलिए यदि खुलेपन और सहज रस-स्रोत की खोज में लेखक देहात के जीवन की ओर मुड़े तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। .... किन्तु फणीश्वरनाथ रेणु का उपन्यास 'मैला आंचल' उसी खोज की एक कड़ी होकरभी देहाती जीवन पर लिखे गये सभी उपन्यासों से भिन्न है, और विशिष्ट भी। क्योंकि अन्य अधिकांश उपन्यासकार देहात की ओर मुड़कर भी जैसे उसे ऊपर से ही देखते रहे, या फिर देहाती जीवन की जड़ता अथवा बाहर से आरोपित संघर्षमयी परिवर्तनशीलता में उलझ गये। इस प्रकार से उन्होंने गांव के जीवन को मूलत: शहरी दृष्टि से देखा और वे देहात की समस्याओं को शहर के चौखटे में रखकर ही काटते छांटते रहते हैं। देहाती जीवन की आत्मा से उनका साक्षात्कार हो जैसे नहीं हुआ : न उसकी गहरी जिकलता से, न उसके निर्झर- जैसे फूटते सरल काव्यमय सौन्दर्य से। इसी से इन अधिकांश तथा कथित ग्रामीण उपन्यासों में जिन्दगी की कोई धड़कन नहीं महसूस होती, देहात के जीवन की अपनी गति के आभास की तो बात ही दूर की है।"[२]

---

१ 'यह है मैला आंचल' एक आंचलिक उपन्यास', उपन्यास की भूमिका से

कहने को लेखक ने 'भूमिका' में कह दिया कि 'कथानक है पूर्णिया । पूर्णिया बिहार राज्य का एक जिला है, इसके एक और नेपाल, दूसरी ओर है पाकिस्तान और पश्चिमी बंगाल । विभिन्न सीमारेखाओं से इसकी बनावट मुकम्मल हो जाती है, जब हम दक्षिण में संथाल परगना और पश्चिम में मिथिला की सीमा रेखायें खींच देते हैं । मैंने इस एक हिस्से के एक ही गांव को--पिछड़े गांव का प्रतीक मानकर -- इस उपन्यास का कथा क्षेत्र बनाया है ।' किन्तु जिस समग्रता और जिस सच्चाई-ईमानदारी, जिन सूक्ष्म अनुभवों द्वारा ग्राम्य जीवन को उरेहा है, वह केवल पूर्णिया जिले के मेरी गंज गांव की कथा नहीं रह जाती, भारत के किसी कोने के गांव में ऐसी जिन्दगी से साक्षात्कार किया जा सकता है । लेखक भी-- पिछड़े गांव का प्रतीक-- कहकर यही संकेत देना चाहता है कि यह कथा भारत के किसी भी पिछड़े गांव की कथा हो सकती है । वह गांव की जिन्दगी का सतही या आरोपित चित्र नहीं देता, बल्कि उसकी गहराइयों में बैठकर जैसे सब कुछ देखता-परखता है, इसलिए उसका चित्रण अधिक व्यापक और यथार्थ बन सका है ।

उपन्यास में दो खण्ड हैं । पहले में चौवालीस और दूसरे में बाईस दृश्य एक-के-बाद-एक निरन्तर प्रवाहित होते हैं । यहां फिल्म या कैमरे की दृश्यों जैसी टेकनीक का उपयोग हुआ है । घटना आती है, विलीन हो जाती है, फिर दूसरी घटना आती है और वह भी खत्म हो जाती है । इस प्रकार घटनाओं, भावों और मनोदशाओं का फिल्मीकरण दिखाई देता है । पार्श्व में संगीत की ध्वनि-- ताल, लय, आरोह-अवरोह के साथ-- विभिन्न लोकगीत, ढोल और मृदंग की अनुगूंज और नृत्य-- एक ओर गति का तो, तो दूसरी ओर संगीतात्मक प्रभाव की सृष्टि करते हैं । कथा संगठन में किसी घटना या कथा सूत्र को जल्दी पकड़ना मुश्किल है, क्योंकि वे आपस में बंधे नहीं लगते, किन्तु एक ही फिल्म या कैमरे से निःसृत होने के कारण बंधे भी लगते हैं । जैसे लेखक मेरीगंज की यात्रा कर रहा हो और उसकी आंखों के सामने जो कुछ भी आता है-- चाहे वे घटनाएं हों या मनःस्थितियां, पात्रों

की भंगिमाएं हों या दृश्य वाणिकाएं-- सबका हाल कहता है । आंखों देखा हाल-- रेडियो पर क्रिकेट मैच की `रनिंग कमेण्ट्री` जैसा । जो गति कमेण्ट्रेटर की आवाज में होती है, वही गति उपन्यास के पात्रों में देखी जा सकती है । बड़ी जल्दी-जल्दी वे आते हैं, डोलते हैं, बोलते हैं और गायब हो जाते हैं । उपन्यास के शिल्पविधान को `रेडियो रूपक` का शिल्प भी कहा जा सकता है । इसका विन्यास कुछ ऐसा है कि रेडियो रूपक बड़ी आसानी से तैयार किया जा सकता है ।

उपन्यास का शीर्षक प्रतीकात्मक और व्यंजनात्मक है। उसमें वर्णित कहानी केवल मेरीगंज की कहानी नहीं है बल्कि शोषितों, बुभुक्षितों, जार-बेजार और बन्ध्या भारत की धरती की कहानी है । अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिए लेखक उपन्यास के पात्र डा० प्रशान्त का सहारा लेता है । एक प्रकार से प्रशान्त उपन्यास का एक आईना या खिड़की है, जिसके माध्यम से मेरीगंज या भारत-धरती के दृश्य देखे जा सकते हैं । इस टेकनीक को श्रीलाल शुक्ल ने `राग दरबारी` में भी अपनाया है, लेकिन अन्तर यह है कि `राग दरबारी` का रंगनाथ जहां एक पात्र होते हुए भी उसमें सक्रिय भाग नहीं लेता, केवल शिवपालगंज के जीवन को देखता-परखता है, वहां `मैला आंचल` में डा० प्रशान्त एक प्रधान चरित्र है और सक्रिय रूप से भाग लेता है । रंगनाथ एक अतिथि की तरह शिवपालगंज आता है और यहां के दृश्यों को पाठकों के सामने उपस्थित कर पलायन कर जाता है । डा० प्रशान्त मेरीगंज रिसर्च करने आया था, किन्तु धीरे-धीरे उसे यहां की मिट्टी से प्यार हो जाता है । वह पलायन नहीं करता बल्कि कहता है, --`ममता मैं फिर काम करूंगा-- यहां इसी गांव में । मैं प्यार की खेती करना चाहता हूं । आंसू से भीगी हुई धरती पर प्यार के पौधे लहरायेंगे । मैं साधना करूंगा, ग्रामवासिनी भारतमाता के मैले आंचल तले । कम से कम एक गांव के कुछ प्राणियों के मुरझाये ओठों पर मुस्कुराहट लौटा सकूं, उनके हृदय में आशा और विश्वास प्रतिष्ठित कर सकूं ... ।` ममता कहती है, --` कोई रिसर्च कभी असफल नहीं होता

डाक्टर । तुमने कम से कम मिट्टी को तो पहचाना है ।.... मिट्टी और मनुष्य से मुहब्बत । छोटी बात नहीं ।'[1]

मेरीगंज में मलेरिया सेंटर खुल रहा है । डा०प्रशान्त मलेरिया और कालाअजार के सम्बन्ध में रिसर्च करेगा ।मलेरिया सेण्टर खुलता है और इसके साथ ही कथानक के ताने-बाने भी खुलते हैं । कथानक में दो प्रविधियों का सहारा लिया गया है-- एक तो सीधे वर्णनात्मक शिल्प के द्वारा, जिसमें लेखक सीधे भाग लेता है,दूसरे पात्रों के संवादों द्वारा । संवाद और वर्णन परस्पर मुखर होते हैं । कथानक के सूत्र भी उतनी तेजी से उठते गिरते हैं, लेकिन इन सूत्रों की सम्पृक्ति बहुत कम हो पाती है । सब अलग अलग दिखाई देते हैं,किन्तु आन्तरिक भावसूत्र के अनुसार एक से या एकान्वित भी लगते हैं । समुद्र में जैसे अनेक लहरें उठती हैं, गिरती हैं और अपना अलग अस्तित्व रखती है, लेकिन उनकी आन्तरिक आत्मा एक ही रहती है अर्थात वे समुद्र से अलग नहीं हैं ।

डा० शिव सुरेश सिनहा का आरोप है कि 'मैला आंचल में घटना बहुलता है,पात्रों की भरमार है और असंख्य भावचित्र हैं ।इन सब की इतनी भीड़ है कि अनेक स्थान पर कड़ियां टूट जाती हैं और बहुत श्रम करने के बाद भी उन्हें संभाल नहीं पाता है । फलत: पूरा उपन्यास प्रभाव की कोई समग्रता उपस्थित करने में असमर्थ रहता है ।'[2] 'प्रभाव की कमी' की ओर डा० सिनहा ने जोआरोप लगाया है, वास्तव में वही लेखक की विशिष्टता है । अनेक खण्डचित्र एक दूसरे से असम्बद्ध होकर जिस प्रकार प्रवाहित होते हैं, वे सब आन्तरिक रूप से गुंथे हुए हैं , इसकी चर्चा हम पीछे कर चुके हैं ।आंचलिक शिल्प में इस प्रकारकी घटना बहुलता और उनका असम्बद्ध होना अस्वाभाविक नहीं है और न ही उससे प्रभाव में कोई क्षति ही पहुंचती है ।

---

१ 'मैला आंचल', पृ०३२६

२ सुरेश सिनहा : 'हिन्दी उपन्यास',पृ०३३१

'मैला आंचल' में किसी कौशिक कथानक का उपयोग नहीं किया गया है, क्योंकि छोटे छोटे दृश्यों और घटनाओं के पुंजमात्र ही यहां नियोजित हैं । प्रथम खण्ड में स्वतंत्रतापूर्व के गांव का चित्र है, तो द्वितीय खण्ड में स्वातन्त्र्योत्तर बदलते हुए ग्राम्य जीवन के बिखराव और टूटन का चित्रण है । प्रथम खण्ड में मठ के महंत रामदास और बाद में सेवादास के थोथे आडम्बर और पापाचार, मनुष्यों का गरीबी, बेबसी और शोषण, डा० प्रशान्त का शोध और अनुसंधान, राजनीतिक चेतना-- पार्टियों का परस्पर विरोध एवं प्रचार, सांस्कृतिक चेतना-- रूढ़ियों, परम्पराओं एवं आडम्बरों के प्रति विद्रोह, पर्व त्योहार, रीति- रिवाज, नृत्य, संगीत आदि --' सामाजिक चेतना--संथालों द्वारा तहसीलदार की भूमि पर बलपूर्वक अधिकार, सांप्रदायिकता, जमींदारी प्रथा की समाप्ति आदि एक साथ विविध चित्र विभिन्न भावभंगिमाओं में प्रस्तुत है ।

द्वितीय खण्ड में रूढ़ियों (कमला डा० प्रशान्त को जिन :एक पोर : समझती हैं, जो कभी मन मोहने वाला रूप धरकर कुमारी और बेवा लड़कियों को भरमाता है), पुलिस अत्याचार, मठ के आडम्बरों का पर्दाफाश, तहसीलदार साहब की कुलाओं, ग्राम्य दंगल, डकैती, राजनीतिक पार्टियों के खोखलेपन, गांधीवाद की रिक्तता (गांधी प्रतीक बावनदास आत्महत्या कर लेता है), प्रशान्त एवं कमला के विवाह और पटना वापस जाने का निश्चय करके उपन्यास का अंत कर देना, आदि के चित्र उपस्थित हैं। इस प्रकार पूरे उपन्यास में छोटी-छोटी घटनाओं एवं खंड चित्रों को प्रस्तुत करके ग्राम्य जीवन की समग्रता और व्यापकता को सम्प्रेषित करनेका प्रयास हुआ है । इसमें कोई शक नहीं कि लेखक अपने प्रयास में पर्याप्त सफल रहा है ।

गांव में प्रमुख रूप से तीन सम्प्रदाय (टोला) हैं-- कायस्थ, राजपूत और यादव । ब्राह्मण टोली भी है, किन्तु अवसरानुकूल इन तीनों में से किसी के साथ हो जाया करती है । 'कायस्थ टोला के मुखिया विश्वनाथ प्रसाद मल्लिक, राजपारबंगा के तहसीलदार हैं । तहसीलदारी उनके

खानदान में तीन पुश्त से चला आ रहा है । .... कायस्थ टोली को गांव के अन्य जाति के लोग मालिक टोला कहते हैं । राजपूत टोली के लोग कहते हैं कैथ टोली .... ।[1] ठाकुर रामकिरपाल सिंह राजपूत के मुखिया हैं । इनके दादा महारानी चम्पावती की स्टेट के सिपाही थे ।.... काशी जाने के पहले महारानी ने रामकिरपाल सिंह के नाम अपनी बची हुई तीन सौ बीघे जमीन को लिखा पढ़ी कर दी थी ।... कायस्थ टोला के लोग राजपूत टोली को सिपहिया टोली कहते हैं ।[2] यादवों का दल नया है । उनके मुखिया खेलावन यादव को दस बरस पहले तक लोगों ने भैंस चराते देखा है ।दूध-घी की बिक्री से जमा किए हुए पैसे की बात जब चारों ओर बुरी तरह फैल गयी तो खेलावन को बड़ी चिन्ता हुई । महीनों तहसीलदार के यहां दौड़ते रहे, सर्किल मैनेजर को डाली चढ़ाई , सिपाहियों को दूध-घी पिलाया और अन्त में कमला के किनारे पचास बीघे जमीन की बन्दोबस्ती हो सकी । अब तो डेढ़ सौ बीघे की जोत है ।[3] इन तीनों सम्प्रदायों में पुश्तैनी मनमुटाव और झगड़े होते रहते हैं । गांव के अन्य जाति के लोग सुविधानुसार इन्हीं तीन दलों में बंटे हुए हैं । बात बात पर इनमें संघर्ष होता है और एक-दूसरे को नीचा दिखाने की कोशिश करते हैं । राजनीतिक दलों के कार्यक्रमों में अपना अपनी सुविधानुसार अब तथा अवसरानुकूल हिस्सा लेते हैं या विरोध करते हैं ।

'मैला आंचल' में मनुष्य जिन्दगी के विभिन्न स्तरों एवं पहलुओं को अधिकाधिक गहराई और सूक्ष्मता के साथ प्रस्तुत करने का प्रयास हुआ है । जिन्दगी की ढेर सारी समस्याएं विभिन्न दृष्टिबिन्दुओं से दिखाया गयी हैं, कि जिससे जीवन एक साथ कई आयामों में उजागर होता है । विशिष्टता इस बात में है कि जो भी समस्याएं यहां उभारी गई हैं,

---

१ 'मैला आंचल',पृ०१६

२ वही, पृ०१६

३ वही, पृ०१६

वे मेरीगंज को ही नहीं पूरे राष्ट्र के संदर्भ से सम्पृक्त हैं । साम्प्रदायिकता, वर्ग संघर्ष, अस्पृश्यता, भूख और बेकारी जैसी सामाजिक समस्याओं में पूरा गांव जल रहा है । डा० प्रशान्त ममता को पत्र लिखता है--'तुम जो भाषा बोलती हो, उसे ये नहीं समझ सकते । तुम इनकी भाषा नहीं समझ सकती। तुम जो खाती हो, ये नहीं खा सकते ।तुम जो पहनती हो, ये नहीं पहन सकते। तुम जैसे सोती हो, बैठती हो,बोलती हो, वे वैसा कुछ नहीं कर सकते ।फिर तुम इन्हें आदमी कैसे कहती हो ।'[1] इन्सान को जानवर से बदतर जिन्दगी, भूख से तड़पती हुई आत्माओं और छटपटाती हुई मानवता के चित्रों को तीव्र संवेदनात्मक स्तर पर उभारा गया है-- उसके प्रस्तुतीकरण में कवित्व और संगीतमय विन्यास अतिरिक्त प्रभाव उत्पन्न करता है । शहरी पात्र ममता की सहानुभूति ग्राम्य जीवन से इसलिए है कि वह इसके माध्यम से भारतीय इन्सान की जिन्दगी देखता है । वह लिखता है--' बुशशर्ट का युग है। पांच साल पहले बांकीपुर की सड़कों पर, पार्कों और मैदानों में दानापुर कैण्ट के गोरे फौजियों ने जिन्दगी के जिन कुत्सित और वीभत्स पहलुओं का प्रदर्शन किया, हमारे समाज के अचेतन मन पर उसकी ऐसी गहरी छाप पड़ी कि आज हर आदमी के अन्दर का भूला टामी उजागर हो उठा है । युद्ध के विषैले गैसों में सारे समाज के मानस को विकृत कर दिया है । काले बाजार के अंधेरे में एक नई दुनिया की सृष्टि हो गई है, जहां सूरज नहीं उगता, चांद नहीं चमकता और न सितारे ही जगमगाते हैं ।... इस दुनिया में मां-बेटा, पिता-पुत्र, भाई-बहन और स्वामी-स्त्री जैसा कोई सम्बन्ध नहीं ।... कल एक गरीब ने विटामिन 'सी'[2] की सूई आठ रुपये में खरीदा है । पांच आने का छोटा सा कैप्सूल ।....' शहर की यह जिन्दगी हिन्दुस्तान के हर गांव के लोग, दूसरा रूप लेकर , जी रहे हैं ।

---

१ 'मैला आंचल' ,पृ०१८६

२ वही ,पृ०१६२

सांस्कृतिक समस्याओं को विभिन्न कोणों और बिन्दुओं में अभिव्यक्ति दिया गया है । कुछेक पात्र तो मात्र ... बहाने गढ़े गये हैं-- लक्ष्मी कोठारिन, महंत सेवादास, रामदास, लरसिंघदास और रामपियरिया आदि । आम आदमी जहां जहालत भरी जिन्दगी बिता रहा है, वहां धर्म के ठेकेदार बगुला भगत मठ के लोग मलाई और पुआ का भोग करते हैं । लक्ष्मी कोठारिन बिना साबुन के नहा नहीं सकती, बिना महकौआ तेल लगाये सीधापन नहीं आ सकता । सैकड़ों बीघे जमीन की आय है केवल तोंद बढ़ाने और कुत्सित वासनाओं की पूर्ति के लिए किया जाता है । ज्ञान चर्चा तो दूर त्याग-तपस्या और पवित्रता भी इनके जीवन का अंग नहीं, वे ऐश्वर्य और भोगलिप्सा के मद में अंधे हैं । धर्म की आनन्त और शाश्वत शक्ति इन मठों में कफन होती है । महन्त सेवादास की वासना का कोढ़ा गा रहा है, नेत्रहीन होने पर भी बेटी जैसी उम्र लक्ष्मी को देखकर लार टपकाता है, मृत्यु के कुछ घंटे पहले तो एकदम अशांत हो जाता है और हाथ पकड़ लेता है । लक्ष्मी सोचती है, 'अंधा आदमी जब पकड़ता है । अंधे का पकड़ । लाख जतन करो, मुट्ठी टस-से-मस नहीं होगी ।.....हाथ है या लोहार की संडसी । दंतहीन मुंह का दुर्गन्ध ।..., लार ।.... 'महंथ साहेब। महंथ साहेब, सुनिए रामदास धुनी के पास ही है ।'[१] लेकिन विडम्बना यह है कि महंत सेवादास के बाद महंत रामदास के मन में भी लक्ष्मी के प्रति वही कुटिल और कुत्सित दृष्टि जागृत होती है । बाघ के मुंह से छूटी तो बिलार के मुंह में गई । लक्ष्मी सेवादास और रामदास दोनों से घृणा करती थी । सेवादास के नये महंत को टीका के लिए जिस भ्रष्ट वातावरण की सृष्टि हुई है, वह सांस्कृतिक अवमूल्यन का संकेत देता है । 'लरसिंघदास रामदास को टीका देने के लिए आचारज गुरु का संदेशा लेकर आया था किन्तु मेरीगंज मठ पर एक ही रात रहने के बाद उसपर महंथी का भूत सवार हो गया । नौ सौ बीघे की काश्तकारी ।लक्ष्मी

---

१ मैला आंचल ,पृ०४७

आम का बाग । दस बीघे में सिर्फ केला लगा हुआ है । एक एक घौर में हजार केले फले हैं । हजरिया केला । दो कोड़ी गाय, चार गुजराती भैंस, और सबसे कीमती अमुल्य धन लछमी दासिन ।[1] लरसिंघदास भ्रष्ट तरीके से आचारज गुरु के कान भर कर, भंडारी को सौ रुपया और नागा बाबा को पांच भर गांजा रिश्वत देकर -- महंती प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। आचारज गुरु लरसिंघदास को महंती का टीका देने के लिए मेरी गंज आते हैं । टीका नागा बाबा रामदास को खड़ाऊं से पीटता है, लछमी को कुत्सित गालियां सुनाता है,' हरामजादा । रण्डी । तैं समझती क्या है री ? ऐं, दुनिया को तू अन्धा समझती है ? बोल ..... छिनाल ..... बोल । साली कुत्ती। साधु का रगत बहाती है और बाबु लोगों से मुंह चटवाती है । दूं अभी तेरे गाल पर चांटा, हट जा यहां से, कातिक की कुतिया ।'[2] लेकिन गांव के लोग इसे सहन नहीं करते और चादर टीका के समय नागाबाबा की दाढ़ी नोच लेते हैं । नागा बाबा बेतहाशा भागता है । रामदास महंत बनकर अनैतिकता और व्यभिचार का नायक बन जाता है । रामपियरिया को रखेलिन दासिन रख लेता है । इस प्रकार गांव के मठ के भ्रष्ट वातावरण को दिखाकर लेखक भारतीय समाज की रुग्ण धार्मिकता का पर्दाफाश करता है ।

'मैला आंचल' में अनैतिकता के ढेर सारे चित्र अभिव्यक्त किए गए हैं । इस अभिव्यक्ति में शुभ बात यह है कि लेखक ने कोई निराशावादी दृष्टिकोण नहीं अपनाया है और न इस गलनशीलता के माध्यम से घृणा या जुगुप्सा का वह स्वरूप कहीं उपस्थित किया है ,जो मात्र आवेश या विस्मय उत्पन्न करके ही सीमित[3] रह जाता,वरन् परिवर्तन की मांग की भूमिका स्वयमेव उत्पन्न करता है ।बावनदास,बालदेव,कालीचरन,प्रशान्त और कुछ हद

---

१ 'मैला आंचल',पृ०६५

२ वही, पृ०६८

३ लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय :'हिन्दी उपन्यास : उपलब्धियां',पृ०६३

तक लक्ष्मी दासिन नैतिकता की स्थापना के लिए संघर्ष करते हैं। इस प्रकार नैतिकता- अनैतिकता का टकराहट भी उजागर हुई है।

आज के जीवन में राजनीति इतने गहरे और व्यापक रूप आच्छादित है कि उससे बचकर बहुत कम आधुनिक साहित्यकार जा सकते हैं-- यह कुछ उसी प्रकार से लगता है, जिस प्रकार मध्ययुग में साहित्यकार धार्मिक मतवादों एवं विश्वासों से बच नहीं पाते थे। आज का साहित्यकार भी राजनीति के फन्दे से अपना गला नहीं छुड़ा पाता। उपन्यासों में राजनीति का उपयोग बड़ी विकृत अवस्था में किया जाता है। लेखक प्राय: अपनी कृतियों में या तो किसी मतवाद का पक्षधर बन जाता है या फिर इतर राजनीतिक विचारधारा का विरोधी। यह प्रवृत्ति इतनी घातक होती है कि पाठक और लेखक का सम्बन्ध लगभग टूट-सा जाता है, संवेदनशीलता का व्यापक स्तर पर क्षरण होता है। क्योंकि ऐसी स्थिति में लेखक की विचारधारा उसकी रचना और कला पर हावी हो जाती है। होना यह चाहिए कि लेखक को एक तटस्थ दर्शक की भांति समसामयिक राजनीति और राजनीतिक विचारधारा से साक्षात्कार करे। इसमें संदेह नहीं कि रेणु ने 'मैला आंचल' में तत्कालीन राजनीति और राजनीतिक परिवेश का इतना संतुलित चित्र उपस्थित किया है कि उससे उनकी औपन्यासिक कला को एकदम क्षति नहीं पहुंचती। उन्होंने न तो किसी राजनीतिक विचारधारा का पक्ष ग्रहण करने का प्रयास किया है, न किसी का विरोध। वस्तुत: जिस घुटनभरी जिन्दगी की अधिकांश उन्होंने चित्रित की है, उसमें यह राजनीतिक चित्रण य इतना घुलमिल गया है कि वह अलग से देखा ही नहीं जा सकता। रेणु की निर्वैयक्तिकता एवं तटस्थता ने उसे और भी गहरा रंग दिया है। वे ह कहीं भी मताग्रही नहीं प्रतीत होते। उन्होंने वास्तव में एक व्यापक मानवतावाद की स्थापना करने की चेष्टा की है।[१]

---

१ लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय : 'हिन्दी उपन्यास : उपलब्धियां', पृ०६४

उपन्यास में जिस प्रकार छोटे-छोटे अनगिनत घटनाओं के खंडचित्र हैं, उसी प्रकार पात्रों की संख्या भी विशाल है। आंचलिक जीवन की व्यापकता और पूर्णता के लिए अनेक छोटे-बड़े पात्रों की सृष्टि करना अनिवार्य था। किसी भी पात्र के में लैंगिक अंकन की गुंजाइश नहीं है, कोई भी पात्र पूरे रचना संगठन में हावी नहीं है। दूसरे शब्दों में, नायक की परिकल्पना का प्रयास नहीं हुआ है, बल्कि पूरा अंचल (मेरीगंज) ही नायक है। बहुल छोटे-बड़े पात्र उस आंचलिक जीवन को उजागर करने के साधन हैं। डा० प्रशान्त, बालदेव, बावनदास, कालीचरन तथा लछमी में ऊपर उठने की थोड़ी बहुत गुंजाइश थी, पर लेखक इसके लिए कोई प्रयास नहीं करता। कोई भी पात्र ऐसा दिखाई नहीं देता कि उसको एकसूत्र में आबद्ध कर सके। लेखक समस्याओं और परिस्थितियों के चित्रण में इतना उलझ कर रह गया है कि अवकाश नहीं मिल सका, कि किसी पात्र को अपने युग या समाज का जीवन्त प्रतीक बना सकता। उपन्यास में बहुसंख्य पात्र अपनी-अपनी विशेषताओं के साथ मिल-जुल कर 'अंचल' के चरित्र की सृष्टि करते हैं। किसी भी आंचलिक जीवन को चित्रित करने के लिए विभिन्न रूचियों एवं गुणों से युक्त कई पात्रों की सृष्टि करते हैं। करना स्वाभाविक है, क्योंकि गांव या अंचल में अनेक पात्र तो होते ही हैं, और अलग अलग विशेषताओं से युक्त होते हैं। वे सब मिलकर उस विशेष ग्राम्य या अंचल जीवन की विशिष्टता को अभिव्यक्ति देते हैं। इस प्रकार पात्रों की भीड़ उपन्यास की कमजोरी नहीं है, बल्कि उसके शिल्प संगठन के अनुरूप है।

रेणु के पात्रांकन की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने किसी भी पात्र के साथ बेईमानी नहीं की है, जो जिस तरह से हैं, सबका पूर्ण चित्र प्रस्तुत किया है। उनके लिए कोई पात्र गौण नहीं है, क्योंकि आंचलिक जीवन में प्रत्येक चरित्र अपने स्थान पर महत्वपूर्ण होते हैं। जितनी अपेक्षा डा० प्रशान्त के चित्रण में है, उतनी ही नौकर प्यारू में भी। सुमिरत बेतार, रामपियरिया, फुलिया, खलासी जैसे पात्र अपने स्थान पर अधूरे कहीं नहीं दिखाई देते। 'मैला आंचल' में चरित्रांकन की एक अन्य विशेषता है--गहरी मानवीय सहानुभूति और आस्था का सम्प्रेषण। लछमी, बालदेव, कमली, डा०

प्रशान्त,कालीचरन,बावनदास,विश्वनाथ प्रसाद और लेवादास आदि चाहे आदर्श न भी हों, तो भी हमारी सहानुभूति प्राप्त करने में पर्याप्त सफल है। उनकी दुर्बलताएं अस्वाभाविक नहीं प्रतीत होतीं। ग्राम्य जीवन के साथ अत्यधिक भावनात्मक सम्पृक्ति के कारण कुछेक स्थल अवश्य ही आरोपित कहे जा सकते हैं, लेकिन अपनी सम्पूर्ण अभिव्यक्ति में ये स्थल इतने घुल मिल गये हैं कि समग्रता से अलग नहीं होते। डा० प्रशान्त के वाक्यांश 'ममता! मैं फिर काम शुरू करूंगा-- यहां, इसी गांव में। मैं प्यार की खेती करना चाहता हूं। आंसू से भीगी हुई धरतीपर प्यार के पौधे लहलहायेंगे। मैं साधना करूंगा ग्रामवासिनी भारतमाता के मैले आंचल तले....[१]' लेखक की बेहद भावुकता का परिचयव देते हैं,क्योंकि न तो प्रशान्त गांव में रूककर प्यार की खेती करता है, न मुरझाये ओठों पर मुस्कुराहट लाता है,बल्कि कमली को लेकर पटना वापस जाने का निश्चय कर लेता है। इसी प्रकार विश्वनाथ का एकाएक हृदय-परिवर्तन भी अस्वाभाविक है, लगता है यहां लेखक कोठारी चरित्र के साथ अपने को जोड़ लेता है। बावनदास को गांधी प्रतीक बनाकर मेरीगंज का पूर्ण चरित्र दिखाने की कोशिश भी आरोपित है।

अधिकतर आलोचकों ने 'मैला आंचल' के प्रति यह आरोप[२] लगाया है कि.... यह कृति किसी क्लैसिक पात्र की सृष्टि करने में असफल है। पर क्लैसिक पात्र की सृष्टि न करना प्रासंगिक है, क्योंकि इसकी ही उसमें रचनात्मक सौन्दर्य का निर्माण होता है। हमारी बात का समर्थनडा० सत्यपाल चुघ भी करते हैं,--'यहां ऐसा एक भी पात्र नहीं, जिसका उपन्यास के अन्य पात्रों की अपेक्षा विशेष अधिक चित्रण किया हो, या उसे ऐसा महत्व मिला हो कि उपन्यास के अन्य पात्र उसके प्रेम या[३] संघर्ष में बंधने पर बाध्य हुए हों। .... यह उसका नूतन शिल्प-विधान है।' 'परती परिकथा' में रेणु ने

---

१ मैला आंचल,पृ०३३४-३५।

२ नेमिचन्द्र जैन :अधूरे साक्षात्कार,सुरेश सिनहा : हिन्दी उपन्यास,पृ०३३१ लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय : 'हिन्दी उपन्यास: उपलब्धियां,पृ०६५।

३ सत्यपाल चुघ :'प्रेमचंदोत्तर उपन्यासों की शिल्प-विधि',पृ०५८४-८५।

जितेन्द्र को गौरैसिक बनाने का प्रयत्न किया है, लेकिन वह वहां चित्रित आंचलिक जीवन से एकदम अलग-थलग दिखाई देता है-- लगभग विदेशी जैसा जब कि 'मैला आंचल' में सभी पात्र मेरीगंज से जुड़े हुए हैं । इस प्रकार आलोचकों ने यह आरोप लगाकर उपन्यासकार और उसकी कला के साथ अन्याय किया है। मेरीगंज चरित्र की समग्र अभिव्यक्ति के लिए लेखक उसके एक एक कण की कहानी कहता है । उसकी आन्तरिकता और धड़कन की पहचान कराने के लिए लोकनृत्यों,लोकगीतों,लोककथाओं, रूढ़ियों ,परम्पराओं,रीति-रिवाजों,पर्वों,त्योहारों आदि को यथावसर उपस्थित करता है । इससे मेरीगंज के वातावरण की सघन और जीवन्त व्यंजना भी हो सकी है । मेरीगंज के विभिन्न चित्रों को ध्वनियों,तालों,दूसरे शब्दों में काव्यात्मक तथा संगीतात्मक प्रभाव देकर उजागर किया गया है, जिससे चरित्र और वातावरण की प्रभावशीलता और भी सघन हुई है ।

विभिन्न शैलियों के निर्माण के द्वारा उपन्यास में सौन्दर्य उत्पन्न किया गया है । कथा विन्यास तथा चरित्रांकन-विधि में 'प्वाइंट आफ व्यू' तकनीक का उपयोग देखा जा सकता है । हिन्दी में इस पद्धति का सर्वप्रथम प्रयोग अज्ञेय ने 'नदी के द्वीप' में किया था । दोनों में अन्तर यह है कि जहां 'नदी के द्वीप'में चार पात्रों के दृष्टिकोण से कथा कही गई है और उन पात्रों के नाम पर अध्यायों का विभाजन भी किया गया है, वहां 'मैला आंचल' में सभी छोटे बड़े पात्रों के दृष्टिकोणों से कथाविन्यास हुआ है । डा० सत्यपाल चुघ कहते हैं--' यहां मुख्यत: ग्राम-सामान्य, या अनेक ग्रामीण पात्रों के दृष्टिकोण से कथा कही गई है--यह सामूहिक शैली है[१]।' इसके अतिरिक्त आधुनिक विविध पद्धतियों का भी सहारा लिया गया है--स्मृत्यवलोकन, पत्र,रिपोर्ताज,व्यंग्य,रेखाचित्र,शब्दचित्र,

---

१ सत्यपाल चुघ : प्रेमचंदोत्तर उपन्यासों की शिल्प-विधि ,पृ०५९५

स्वप्न आदि को अवसरानुकूल स्थान मिला है ।

'मैला आंचल' की एक विशिष्टता इसके नूतन आंतरिक विधान में है । काव्यमय प्रभाव, संगीतात्मक रूपविधान-- विभिन्न वाद्यवृन्दों के स्वर, गीतों के उद्धरण, ध्वन्यात्मक अनुगूंज, पात्रों की भंगिमाओं की गति लय और गंध सौन्दर्य की संवेदना उजागर करते हैं । एक उदाहरण पर्याप्त होगा--

> टन टनाक, टन टनाक । सजाई हुई मोकना हथिनी जा रही है।
> ढन ढन ढनांग ढनांग । कार्तनियों का घड़ांघंट बोल रहा है ।
> धु ऊ ऊ तु तु तु । शंखनाद ।
> पौं औं पौं ।..... पौं पौं पौं । अंग्रेजी बाजा ।
> तक तक तक तक धिनाग धिनाग । अमहरा का खानखोल बाजा ।
> पों पों पों ई ई ई पों पों पों... । खान खोल वालों का पिपही गा रहा है ।
>
> चांदो बनियों साजिलो बरात ओ हो,
> एक लाख हाथी साजिलो, दुई लाख घोड़ा,
> चार लाख पैदल, दुल्हा बाला लखिन्दर ।

पीपही पर बिहुला नाच का बरात वाला गीत बजा रहा है[१]। किन्तु पूरे उपन्यास में इस प्रकार की माधुरी ध्वनि गंधों की इतनी भरमार है कि कहीं कहीं सम्प्रेषणीयता में बाधा उत्पन्न होने लगता है, लगने लगता है कि लेखक जानबूझ कर उसे उपन्यास में थोप रहा है ।

आंचलिक शिल्प के अनुरूप 'मैला आंचल' में स्थानीय भाषा का प्रयोग किया गया है, जिससे 'अंचल' के चरित्र को उजागर करने में पर्याप्त सहायता मिल सके । पात्रों, दृश्यचित्रों एवं कथा विन्यास के अनुकूल

---

१ मैला आंचल, पृ०२३८

भाषा की सर्जना कथाकार का कौशल है । लोकोक्तियों-मुहावरों,लोकधुनों-लोकगीतों आदि के द्वारा स्थानीय वातावरण सघन होता है । "अरे हां-हां, बेटा - बेटा केकरी, घो हारी करे मंगनी । बाऊनी कहे गुई गे कि तेरा पैंदा में छेद । हाथ में कंगना तो चमका रहा हो, ललासो को एक पुड़िया सिन्दूर नहीं जुटता ।"[1] सुशलिंग पाटी, गन्हा महातमा , किरान्तादल, इनकिलास जिन्दाबाघ आदि स्थानीय शब्द तो किसी हद तक ठीक हैं,ये शुद्ध रूप से ज्यादा दूर नहीं हैं, किन्तु गमहलि, मोसो-सटक, लोटिस, मोगळिया बांधो, बास,हुलका,मोंच, कब्बड़-फब्बड़, चमोटी आदि देशज और स्थानीय शब्द पाठकों तक सम्प्रेषण में व्याघात उत्पन्न करते हैं । बहुत सारे ऐसे प्रयोग लेखक कर गया है,जिसे अंचलेतर पाठकों को समझने में बहुत कठिनाई उत्पन्न हो जाती है,यद्यपि उसने 'पाद टिप्पणियां' देकर उन्हें समझाने का भरसक प्रयत्न किया है, लेकिन पाठकीय प्रक्रिया में बाधा तो उत्पन्न हो ही जाती है । बाद के उपन्यासों में यह प्रवृत्ति और अधिक प्रयुक्त देखी जा सकती है । उपन्यास की यह भाषिक संरचना लेखक की रूढ़ि बन जाती है और विवशता में खिसता चला गया है ।

<u>पानी के प्राचीर (१९६१)</u>[2]

बलचनमा(१९५२), मैला आंचल(१९५४),नया गांव (१९६४) तथा अलग अलग वैतरिणी(१९६८) जैसी कृतियों को जितना प्रचार मिला है, उतना प्रचार रामदरश मिश्र कृत 'पानी के प्राचीर' को नहीं प्राप्त हो सका है, फिर भी उसमें कुछेक कमजोरियों को छोड़कर आंचलिक शिल्प-विधान अपने समग्र रूप में उजागर होता है,इस दृष्टि से इसे एक सशक्त

---

१ मैला आंचल, पृ०६३

२ रामदरश मिश्र : पानी के प्राचीर ,हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय,ज्ञानवापी, वाराणसी,प्र०सं०,१९६१ ।

कथाकृति कहा जा सकता है । डा० प्रभाकर माचवे भी इसे एक महत्वपूर्ण रचना स्वीकारते हैं[1] । उनकी कथा-रचनाओं में ग्राम्य यथार्थ अपनी समस्त अच्छाइयों एवं बुराइयों के साथ व्यापक धरातल पर चित्रित होता है, किन्तु काव्य की रोमैण्टिक छाया, कवि व्यक्तित्व होने के कारण बराबर सम्पृक्त रहता है। 'पानी के प्राचीर' की कथित असमर्थता के पीछे इस प्रवृत्ति का बहुत अंशों में हाथ देखा जा सकता है । बलचनमा(नागार्जुन) और मैला आंचल(फणीश्वर नाथ रेणु) के वस्तु और शिल्प में जो कसाव और अन्विति है, वह 'पानी - के प्राचीर' में नहीं है, फिर भी प्रभावांकन और संवेदनात्मक क्षमता के अंश इसमें विरल नहीं हैं, इसलिए इसे अमहत्वपूर्ण कृति भी नहीं कहा जा सकता ।

'पानी के प्राचीर' का शीर्षक चयन अपने वस्तु के अनुरूप है । परतन्त्रता की बेड़ी में जकड़े हुए भारत के गांव लंगड़े हैं, प्रगति और विकास की सम्भावनाएं रुकी हुई हैं । 'राप्ती और 'गोर्रा' नदियों की धाराओं से घिरा हुआ भू -भाग जो युगों से अपनी सारी हरियाली इन नदियों की भूखी धाराओं को लुटाकर केवल विवशता, अभाव और संघर्ष के रूप में शेष रह गया है। संसार के सारे सूत्रों से कटा हुआ यह प्रदेश अपने आप में एक संसार है । .... प्राचीरों के समान नदियों की धाराओं ने इसे बन्दी बना रखा है[2] ।' नदियों की धाराओं या पानी के प्राचीरों में बंद भू भाग की कथा को उपन्यास में संजोने का प्रयत्न लेखक ने किया है । वह आशावान है कि स्वाधीनता प्राप्ति के पश्चात् हमारी अपनी सरकार इस प्रदेश में संचार के साधनों को उपलब्ध करेगी, शिक्षा-संस्थाओं का निर्माण करेगी, बाढ़ से सुरक्षा की व्यवस्था करेगी। इस प्रकार नदियों अथवा पानी की प्रबल प्राचीरें टूटेंगी । लेखक का यह रोमानी आदर्श औपन्यासिक कला को क्षरित ही करता है, यह प्रवृत्ति उनकी अधिकांश कृतियों में देखा जा सकता है[3]। 'जल टूटता हुआ(१९६९) में आदर्श का यह मुलौटा और भी अधिक स्थापित है ।

---

१ माध्यम,मार्च,१९६६,पृ०९३

२'पानी के प्राचीर' की भूमिका से ।

३ सुरेश सिनहा :'हिन्दी उपन्यास',पृ०३७१

उपन्यास का कथानक विधान 'मैला आंचल' से मिलता जुलता है । छोटी छोटी कथा धारायें और दृश्य चित्र उभरते हैं, विलुप्त हो जाते हैं, फिल्म या कैमरे के दृश्य चित्रों के सादृश्य पर इन्हें देखा जा सकता है । इनका प्रभाव सम्मिलित रूपसे पड़ता है-- एक दृश्य से नहीं । अंतर यह है कि 'मैला आंचल' में जहां पात्र अपने दृष्टिकोण से दृश्यखण्डों की कमेण्ट्री करते हैं, वहां 'पानी के प्राचीर' में स्वयं लेखक वर्णन प्रस्तुत करता है । 'रेणु' के कथानक में संगठन और अन्विति है, तो आलोच्य उपन्यास का कथानक कई स्थल पर बिखर गया है । आंचलिक कथा-विधान का सम्पूर्ण निर्वाह करने में असफल हो गया है । नीरू दो-तीन बार 'पांडेपुरवा गांव छोड़कर गोरखपुर जाता है और लेखक प्रत्यक्ष रीति से शहरी कथा कहने लगता है । यद्यपि शहर की कहानी बहुत संक्षिप्त है, तथापि आंचलिक विधान में इसका भी अवकाश नहीं देना चाहिए । आंचलिक कथा-शिल्प में प्रत्यक्ष रीति से चित्रित वर्णन क्षेत्र से अलग भटकना, आंचलिकता में बिखराव उत्पन्न करना है । 'मैला आंचल' को इस कमजोरी से कुशलता पूर्वक बचाया गया है । पटना शहर की जिन्दगी ममता के पत्रों के माध्यम से ~~व्यक्त हुई~~ व्यक्त हुई है, लेखक के प्रत्यक्ष वर्णन द्वारा नहीं, इसलिए आंचलिक कथा-संयोजना में जरा भी आंच नहीं आने पाई है ।

उपन्यास की कहानी राप्ती और गोर्रा नदियों के बीच बसे गांव पांडे पुरवा की है । यह केवल पांडे पुरवा गांव की कहानी नहीं है, वरन् दोनों नदियों की धाराओं से घिरे विशाल भू भाग की कहानी है, और पूरे भूभाग की कहानी वहां रहने वाले प्रत्येक व्यक्ति की कहानी है । गांव में सभी प्रकार के लोग हैं । जमींदार भुपेन्द्र सिंह तथा गांव के मुखिया को छोड़कर प्राय: सभी निर्धनता एवं बेबसी की जिन्दगी बिताते हैं । छोटे छोटे स्वार्थों को लेकर आये दिन संघर्ष होता है और इस संघर्ष के बीच कथा के सूत्र खुलते एवं विकसित होते हैं । कथानक के माध्यम से लेखक ने अस्पृश्यता विधवा विवाह, धर्मभावना, महाजनों की सूदखोरी एवं शोषण, बाढ़ के विनाश-

प्रकाशित करने की जगह, बलपूर्वक नजराना लेते हैं। जमींदार भूपेन्द्र सिंह अपनी इच्छा एवं आवश्यकतानुसार बलपूर्वक दस-बारह हजार रूपये भेंट मांग सकता है। नीरज प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण होने पर भी प्राइमरी स्कूल का अध्यापक नहीं हो पाता, क्योंकि उसके पास 'अप्रोच' नहीं था।

गांव का मुखिया अन्य लोगों की उन्नति और प्रगति नहीं देख सकता, इसी कारण सोमेश पांडे और विश्वनाथ तिवारी से ईर्ष्या एवं दुश्मनी रखता है। कदम कदम पर उन्हें बर्बाद करने की कोशिश करता है। सोमेश के पुत्र निरंजन तथा विश्वनाथ के लड़कों की शिक्षा से आतंकित होता है। जैसे अंग्रेजी हुकूमत हिन्दुस्तानियों के पर्याप्त शिक्षित हो जाने पर भयभीत होने लगी थी, क्योंकि विद्रोह का आसन्न खतरा महसूस होने लगा था। उसी प्रकार मुखिया को अपने सम्मान और करने वाले अत्याचारों के प्रति भय उत्पन्न होता है। कभी घनश्याम तिवारी के हक की जमीन छीनने की असफल कोशिश करता है, कभी सोमेश के घर में आग लगवाकर नीचा दिखाने का प्रयत्न करता है। सिरफिरे बैजू को अपने पक्ष में करके मनचाहा अत्याचार करता है। गांव के अधिकांश काश्तकारों को ब्याज पर धन दे रखा है। खेत गिरवी रखे हैं। इसलिए उसके अन्याय के प्रति कोई आवाज नहीं उठाते। गेंदा विधवा हो जाती है, और वैधव्य का जो नारकीय रूप सामने आता है, उससे आतंकित होकर अंदर ही अंदर घुटती है। बिन्दिया समाज की कामुक गिद्ध निगाहों से बचने के लिए बैजू का दामन पकड़ती है, तो गांव में कुहराम मच जाता है। मुखिया बिन्दिया के घर को नष्ट करवा देता है, विवश गेंदा को गांव का आदर्श पात्र मलिन्द, अपने यहां शरण दे देता है। अब बैजू की दृष्टि में मुखिया का अन्याय समझ में आता है। निरंजन एवं मलिन्द के प्रति सहानुभूति शील होता है। अन्त में मुखिया के सारे प्रयत्न व्यर्थ सिद्ध होते हैं, एक प्रकार से वह अपने संघर्ष में असफल सिद्ध होता है। खंड चित्रों एवं शब्दचित्रों से समन्वित इस कथानक में प्रतीकात्मक विन्यास भी देखा जा सकता है। मुखिया और जमींदार भूपेन्द्र सिंह शोषक वर्ग के प्रतीक हैं और गांव के अन्य पात्र

शोषित । दोनों के संघर्ष के बीच क्या दृश्य उभरते एवं विलीन होते हैं,लेकिन कोई गठा हुआ कथानक विकसित नहीं होता । शोषितों का विराट शक्ति के समक्ष उच्चवर्ग नतसिर होता है ।

रीति-रिवाजों,पर्वों,त्यौहारों,रूढ़ियों,परम्पराओं लोकनृत्यों,लोकगीतों इत्यादि के अंकन के द्वारा आंचलिकता को सघन करने का प्रयास हुआ है और चौताल की कड़ियों,ढोलक और करतार के स्वरों के साथ फाग,सावन एवं बिरहा के अलापों से उस आंचलिकता को संवेदनात्मक तथा काव्यात्मक शीतलता प्रदान की गई है । देवी-देवताओं,भूत-प्रेत-जिन,टोने टोटके की रूढ़िगत मान्यताओं के उरेहण से क्षेत्र की प्रकृति भंगिमा मुखर हुई है ।

लेखक के कवि व्यक्तित्व के कारण स्वभावत: कई स्थल रोमानी और भावुकतापूर्ण हो गए हैं । सन्ध्या और निरंजन के निश्छल प्रेम की अपनी जमीन में बसाते समय लेखक की भावुक दृष्टि क्रियाशील होती है। किन्तु डा० प्रभाकर माचवे के शब्दों में--' यह ठीक है कि रामदरश जी का कवि कहीं-कहीं प्रबल हो उठता है और वे भावुक हो उठते हैं-- ऐसे कई प्रसंग हैं -- पर वे बार बार चौंककर पुन:सचेत हो उठते हैं, सुबही । बाढ़ के वर्णन या गांव में सास बहू के झगड़े या क्रान्ति के प्रति गांव वालों की सहानुभूति और वर्ग विशेष की असहानुभूति, इनविवरणों में वे भावुकता से अपनी आंखों के आगे झीना धुंध नहीं छाने देते । इसलिए पात्रों के और छोटे छोटे भूत के गुच्छों जैसे कथोपकथन प्रसंगों के बावजूद एक विराट सत्य यथार्थता से सब को घेरे रहता है कि गांव शहर न नहीं बन सकता, जो शहर आगया है, उसे गांव क्या अच्छा लगेगा ?'[1]

आंचलिक शिल्पविधान के अनुरूप इस उपन्यास में बहु-पात्रों की योजना की गई है,क्योंकि इससे चुने गये या चित्रित अंचल की

---

१ माध्यम, मार्च,१९६६,पृ०६४

समस्याओं को अपने बहुविध रूप में प्रकट किया जा सके । विविध वह पात्र अपने अलग अलग व्यक्तित्व चित्रों के द्वारा पांडेपुरवा गांव की विविधता एवं समग्रता में स्पन्दित एवं उजागर करते हैं । निरंजन पांडे अथवा नीरू अपने आदर्शों, आस्थाओं और जीवन्त व्यक्तित्व के कारण नायक का आभास देता है, वह आद्यन्त उपन्यास में छाया रहता है, कथा के कई सूत्र भी उसी पर अवलम्बित है । प्रारम्भ में अपने आदर्शों एवं मान्यताओं के प्रति निष्ठावान व आस्था-वान दिखाई देता है, किन्तु बाद में परिस्थितियों और अभावों ने बदलने के लिए विवश कर दिया । बाबू गजेन्द्र सिंह जमींदार के यहां नौकरी करते समय वहां का वातावरण पर्याप्त प्रभाव उत्पन्न करता है । यह परिवर्तन मानव स्वभाव के अनुसार है । वह चौंक कर पीछे देखता भी है और पश्चाताप भी करता है, लेकिन जिन विवशताओं के तहखाने में जी रहा था उसकी दीवारों को भेद नहीं पाता । उसका परिस्थितिजन्य परिवर्तन मनोवैज्ञानिक भी कहा जा सकता है । निरंजन के अतिरिक्त मलिन्द, रमेश, गनपति, आदि भी अपनी आस्थाओं एवं विश्वासों को लेकर संघर्ष करते हैं, अन्याय और अत्याचार के आगे झुकते नहीं, बल्कि उसकी समाप्ति के लिए निरन्तर संलग्न रहते हैं ।

गांव का मुखिया और जमींदार भूपेन्द्र सिंह उच्च या शोषक वर्ग के प्रतिनिधि हैं । अपनी विशाल भुजाओं के द्वारा गरीबों एवं साधारणजनों का शोषण करते हैं । अनेक अनैतिकताओं एवं अत्याचारों के बावजूद लोगों की आवाज अन्दर ही अन्दर उबल कर गुम हो जाती है । क्योंकि सभी इनकी बोझ तले दबे हुए हैं । मुखिया का लड़का महेश सरेआम सम्भ्रान्त बहू-बेटियों की इज्जत के साथ खिलवाड़ करता है । लोग देख-सुनकर भी मौन रह जाते हैं । वासना के अंधे कई लोग, जो अधिकतर महेश के साथी हैं, नारी विवशता का लाभ उठाने के लिए तत्पर रहते हैं । बिन्दिया का घर जब मुखिया उजाड़ रहे थे बिन्दिया बेलाग होकर सबकी वासनात्मक बदबू का पर्दाफाश करती है ।

सोमेश पांडे में परिस्थिति के अनुसार व्यक्तित्व परिवर्तन की प्रवृत्ति है। अभावों और फटेहाली हालत में पर्याप्त परिश्रमी, साधक, ईमानदार एवं संवेदनशील दिखते हैं, लेकिन सुविधाएं प्राप्त होने पर आलसी और आरामतलब हो जाते हैं। इस परिवर्तन में उनके संस्कार भी कारक हैं। निरंजन और केशव अपने पिता की इस वृत्ति से घृणा करते हैं, लेकिन पितृ-प्रेम में दरार कभी नहीं आती। टोसुन, धोमड़ पांडेय, बैकुण्ठ बाबा, बैनी काका, रग्घु बाबा इत्यादि के पात्रांकन में चापलूस व्यक्तित्व का सम्प्रेषण है। गनपति गांधी सिद्धान्तों के द्वारा दरिद्र एवं दलित व्यक्तियों में सुराजी चेतना उत्पन्न करने का प्रयास करता है। उसका व्यक्तित्व 'मैला आंचल' के बावनदास के सादृश्य पर है, किन्तु बावनदास का चरित्र गनपति के चरित्र से कहीं ऊंचा है। बावनदास के जीवन्त व्यक्तित्व के सामने वह उतना ताजा और प्रभावी नहीं बन पाया है।

पुरुष पात्रों की अपेक्षा नारी पात्रों गेंदा, चमेली, बिन्दिया और सन्ध्या के पात्रांकन में लेखक ने अधिक अवकाश एवं सजगता का परिचय दिया है। उसमें भी बिन्दिया एवं गेंदा का व्यक्तित्व अधिक तीक्ष्ण स्वाभाविक एवं जीवन्त बन सका है। बिन्दिया अपने चरित्र में जितनी यथार्थ और ताजी बन सकी है, उसके आगे कोई पुरुष पात्र नहीं खड़ा किया जा सकता। निर्धनता की आंच में भुनती हुई बिन्दिया वासना के कीड़ों से बचने के लिए, समाज के किसी भी मुंह की परवाह न करते हुए बैजू की शरण लेती है। बाहर से बैजू गंवार और दुराचारी है-- किसी के घर बेहिचक सेंध लगा सकता है, लोभ के लिए किसी को लाठी से गिरा सकता है, किसी के यहां आग लगा सकता है, इसके बावजूद उसका आन्तरिक हृदय कोमल तारों से बुना हुआ है। चारों ओर से ताने और अपमान मिलने पर भी बिन्दिया को शरण देता है, यहां उसका सिरफिरा व्यक्तित्व दब जाता है, निश्छल स्नेह पाने के कारण। अपना घर उजड़ते समय गांव के अधिकांश लोगों के

नकाब उलटती है[1], यहां बिन्दिया एकदम तीखी और ज्वालामुखी लगती है। पुरुष पात्र तो अन्याय को देखते और भोगते हुए भी चुप रहते हैं, अपना कुछ गुस्सा जाहिर नहीं करते । गेंदा चहकती हुई, विहंसती हुई स्वच्छन्द दिखती है । गांव के किसी भी कोने पर चमकती हुई वह बाला देखी जा सकती है । विधवा होने के पश्चात् उसकी चंचलता और वाचालता स्वभावत: लुप्त हो जाती है । वैधव्य का नारकीय जीवन भोगती हुई गंभीर और मूक रहने लगती है । उसके चरित्र से करुण संवेदना ही उत्पन्न होती है ।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि 'पानी के प्राचीर' के विविध एवं बहुल पात्र नदी की छोटी-बड़ी लहरों की भांति है, जो लहराते हैं, परस्पर मिलते हैं, टकराते हैं, अलग अलग दिखाई देते हैं, लेकिन नदी से अलग नहीं होते । सम्पूर्ण पात्र लहरों की भांति पाण्डेपुरवा नदी के व्यक्तित्व को विविध आयामों एवं कोणों में प्रस्तुत करते हैं ।

'पानी के प्राचीर' की भाषिक संरचना आंचलिक विधान के अनुकूल है । रेणु की भाषा अधिकाधिक स्थानीयता के कारण सहज सम्प्रेष्य नहीं है, उसी प्रकार रामदरश की भाषा में भी स्थानीय रंग देखा जा सकता है । लेकिन अंतर यह है कि जहां रेणु का स्थानीय वर्णन स्थानीय बोली के कलेवर में उबाऊ हो जाता है, वहां रामदरश ने आवश्यकतानुसार केवल संवादों में ही स्थानीय बोली का उपयोग किया है, इससे भाषा स्वाभाविक बनी है तथा महत्वपूर्ण भी । इस दृष्टि से रामदरश की भाषा को अधिक वजनदार कहा जा सकता है । स्थानीय बोली के सम्प्रेषण के लिए उसे बहुत कम पादटिप्पणियों का सहारा लेना पड़ा है। यह सच है कि जब तक स्थानीय बोली का प्रयोग उपन्यास में नहीं किया जायगा, तब तक आंचलिकता में जीवन्त रंगत नहीं आयेगी, उपन्यास के मूल

---

१ 'पानी के प्राचीर', पृ०८७-९०

स्वर का अधिकारिकता(आथेंटिसिटी) कम हो जायेगी, किन्तु स्थानीय बोली को समझने वाले पाठक हैं कितने ? 'टाइम्स लिटरेरी सप्लीमेंट' के संपादकीय में इस्पाहानी बोली के भविष्य का सवाल उठाते हुए कहा गया है कि बीस बोलियों की अपेक्षा एक भाषा कहीं अच्छी है[1]। केवल स्थानीय बोली के माध्यम से ही स्थानीय रंगत नहीं लाया जा सकता, दूसरे शब्दों में आंचलिकता नहीं उभारी जा सकती, उसके लिए चित्रित क्षेत्र की परम्पराओं, रूढ़ियों, मान्यताओं, रीति-रिवाजों, लोकप्रवृत्तियों आदि से भी सहायता ली जा सकती है। इससे आंचलिक शिल्प में व्याघात भी उत्पन्न नहीं होता। यदि अधिकाधिक पाठकों तक अपनी कृति को पहुंचाना है तो स्थानीय बोली के प्रयोग से कथाकार को बचना ही होगा।

'पानी के प्राचीर' में कई स्थल पर भाषा भावुकता पूर्ण हो गई है। एक उदाहरण पर्याप्त होगा--

'अरे पापी भगवान के लिए चुप रह।' कहकर चहकती हुई सन्ध्या नीरू से लिपट गई, उसके कंधे पर सिर रखकर सबक सबक कर रोती रही। नीरू की आंखों से आंसू निकल निकल कर उसके बालों को भिगोते रहे। सन्ध्या उठो, क्या पागलपन करती हो, मलिन्द भाई आ जायें तो।'

सन्ध्या भी इसी आशंका से जागरूक हो गई। उसने अपनी आंसू भरी आंखें नीरू की आंखों में डालकर कहा' वादा करो अब ऐसी बुरी बुरी बातें नहीं कहोगे। 'नीरू क्या कहे ?' सोच नहीं पा रहा था। उसका सारा यथार्थ-बोध भावुकता में बह गया था।' नहीं सन्ध्या नहीं कहूंगा।'[2] इस प्रकार की भाषा एवं संवादों के रूप उपन्यासमें कई स्थल पर मिल जायेंगे, विशेषकर प्रेममूलक रोमैण्टिक प्रसंगों में। ये किसी फिल्म या फुटपाथ के उपन्यासों की भाषिक संरचना से आगे नहीं बढ़ पाते। उपन्यास

---

१ "Times literary suppliment" / Oct. 8, 1964 / P. 39.

२ पानी के प्राचीर, पृ०१७४

की माला का यह असमर्थ पक्ष कहा जा सकता है ।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि 'पानी के प्राचीर' रेणु और नागार्जुन की अपेक्षा कम प्रचार मिलने के बावजूद, पूर्वी अंचल को पर्याप्त कौशलपूर्ण ढंग से उभारने तथा छटपटाती हुई मानवीय आत्मा के तन्तुओं को बारीकी से पड़ताल करने के कारण एक महत्त्वपूर्ण कृति है । 'इस प्रदेश की व्यापक पृष्ठभूमि पर जो मानवमूल्यों और उच्चतर जीवन-मूल्यों सत्यों के रूप उभरे हैं, वे एकदेशीय न होकर पूरे समाज के हैं ।'[1]

अलग अलग वैतरणी (१९६७)[2]

'अलग अलग वैतरणी' कथाकार डा० शिवप्रसाद सिंह का प्रथम किन्तु बहुचर्चित उपन्यास है । स्वाधीनता के बाद बदलते-बिगड़ते ग्रामांचल को अपनी समग्रता और विस्तार के साथ आधुनिक ग्राम्य-बोध के कलेवर में, पहली बार डा० सिंह ने उपन्यस्त किया । गांव को जीवन्त और प्रकृत रूप में प्रस्तुत करने के लिए जिस ढंग से कथा और चरित्र का विन्यास हुआ है और उस बहाने बदलते गांव की सच्चाइयों से साक्षात्कार किया गया है, वह अपने आप में नया और ताजा है । ग्राम्य संवेदना को गहराई के साथ स्पर्श करने वालों में प्रेमचन्द के बाद शिवप्रसाद सिंह का नाम अगली पंक्ति में लिया जा सकता है । 'पढ़कर लगता है कि अब तक का समूचा औपन्यासिक ग्रामांकन नगर के परिप्रेक्ष्य में हुआ है तथा खेत-खलिहान और बन्नी-बोझ की असली बातें अब आई हैं । गांव, की सचाई, उसका दु:खदर्द ऊपर से छू भर जाने की नहीं, भीतर से उघाड़ने की कला बहुत नई है ।'[3]

---

१ 'पानी के प्राचीर' की भूमिका या पूर्वाभास से

२ शिवप्रसादसिंह : 'अलग अलग वैतरणी', लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, प्र०सं०, १९६७ ।

३ ललित शुक्ल : 'दिशाओं का परिवेश', पृ०२५

उपन्यास का शीर्षक प्रतीकात्मक है । स्वतन्त्रता के पश्चात् उत्पन्न नई-पुरानी समस्याओं को 'वैतरणी' का प्रतीक देकर कथा को साकार करने की कोशिश हुई है । 'स्वतन्त्रता आई । जमींदारी टूटी। करैता के किसानों को लगा कि दिन फिरेंगे । मगर हुआ क्या ? अलग अलग वैतरणी । अलग अलग नर्क ।। -- जिसे निर्मित किया है भूतपूर्व जमींदार ने, धर्म और समाज के पुराने ठेकेदारों ने, भ्रष्ट सरकारी ओहदेदारों ने और इस वैतरणी में जूझ और छटपटा रही है गांव की प्रगतिशील नई पीढ़ी ।'[1] ग्राम्य जीवन के अलग अलग नर्कों का जो दस्तावेज प्रस्तुत है, उसमें सभी छटपटाते हैं कोई इसे स्वर्ग में नहीं बदल सकता, जो बदलने की कोशिश करेगा, विपिन की तरह टूट कर गाजीपुर डिग्री कालेज में अध्यापकी कर लेगा, केवल नर्क की जिन्दगी को प्रस्तुत करने में एक व्यंग्य भी है-- क्योंकि समाज के ठेकेदार और शासन तंत्र उस नर्क को बदलने के लिए उदासीन रहते हैं ।

कथाकार उपन्यास को आंचलिक स्वीकार करने में हिचक अनुभव करता है,क्योंकि उसे शक है कि आंचलिक शिल्प आलोचना की दृष्टि को एकांगी और सीमित कर देगा, उसे समग्रता एवं गहराई में नहीं पहचाना जायेगा । लेखक उपन्यास को आंचलिक मानने से चाहे जितना कतराता हो, पर शिल्प-विधान की दृष्टि से 'अलग अलग वैतरणी'को आंचलिक ही कहा जायेगा --'मैला आंचल' की तरह तो नहीं, नई कलात्मक सर्जना में ।

लगभग सात सौ पृष्ठों के इस उपन्यास में 'करैता' गांव की लगभग एक दर्जन उपकथाएं तथा एक केन्द्रीय कथा संगुम्फित है । करैता गांव जैसे एक लम्बा परिवार हो-- और उसके सदस्य अलग अलग कथाओं एवं समस्याओं को लेकर उपस्थित होते हैं । बाहर से लगता है कि सब की कहानियां अलग-अलग हैं,अलग अलग नर्क हैं,किन्तु भीतर से एकसूत्रता है । 'पूरे गांव की

---

१ 'अलग अलग वैतरणी' के मुखपृष्ठ से

कहानी सब का समानान्तर विकसित होती है, परन्तु प्लाट कहीं नहीं। सस्पेंस बना रहता है और रहस्य कभी-कभी आगे चलकर खुलता है। इस पुरानी औपन्यासिक विधा का लेखक ने उपयोग किया है। कथाभूमि में हटकर देखने पर अनेक अध्याय पृथक से स्वतंत्र कथा से लगते हैं।[1] परन्तु स्वतंत्र जैसा दिखती कथाएं केन्द्रीय व्यक्तित्व गांव से जुड़ी हुई हैं--जैसे करैता गांव एक बहु आयामी व्यक्तित्व हो और विभिन्न परिवारों की पृथक्-पृथक कथाएं गांव के विविध चरित्र आयामों को प्रस्तुत करती हैं।

उपन्यास का कथानक -विधान 'ट्रेलर शिल्प' की तरह है। गांव की अनेक शक्लें एक एक करके उभरती हैं, कमेण्ट्रेटर उनके बारे में अथवा उनकी कहानियां कहता चलता है। एक व्यक्ति उभरता है उसकी कथा कहता है, दूसरा व्यक्ति-- दूसरी कथा, तीसरा व्यक्ति-- तीसरी कथा, इस प्रकार फिल्म के पर्दे पर कई व्यक्ति, कई दृश्य और कई कथाएं एक- एक करके उभरती हैं। लेखक इन सब को समेटकर गांव की एकफिल्म दिखाता है।

उपन्यास की केन्द्रीय कथा

करैता के दर्जनों किसान-परिवार के बिखरे कथाजाल में एककेन्द्रीय कथा भी देखी जा सकती है। विस्तार और प्रभाव की दृष्टि से, जीवन्त चरित्रों की दृष्टि से क्षावनी के जमींदार ठाकुर जैपाल सिंह के परिवार की टूटने की कहानी, उपन्यास की मुख्य कहानी है। कथानक की अधिकांश घटनाओं का सम्बन्ध कहीं न कहीं इस परिवार की कहानी से सम्बद्ध है। हमारी बात का समर्थन डा० विवेकीराय भी करते हैं।[2] जमींदारी टूटने के साथ ही ठाकुर जैपाल सिंह में भी टूटन और घुटन की

---

१ ललित शुक्ल : 'दिशाओं का परिवेश', पृ०२५-२६

२ वही, पृ०२७

प्रक्रिया प्रारम्भ होती है, लेकिन अपनी प्रतिष्ठित मर्यादा को बचाने के लिए हर सम्भव कोशिश करते हैं। टूट टूट कर भी अपने बड़प्पन को झुकने नहीं देना चाहते। ज़मींदारी के ज़माने लद गये, नई परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में आधुनिक शस्त्रों के सहारे प्रभाव अक्षुण्ण रखने में सफल होते हैं। गांव के एक अन्य भूतपूर्व ज़मींदार परिवार सुरजू सिंह से खानदानी झगड़ा है, जिसके केन्द्र में दोनों परिवारों के देवपाल और राजमती का प्रेम सम्बन्ध और पुनः आहुति है। सुरजू सिंह के पास अपना गिरोह है, उसमें गुण्डे हैं और छँटे हुए बदमाश भी। प्रत्येक अनैतिक और बुरी घटना के पीछे जैपाल परिवार को फंसाने या सम्बन्ध दिखाने की कोशिश करता है-- इसके मूल में यही मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रिया या बदले की भावना काम करती है-- लेकिन हर प्रयत्न निष्फल ही सिद्ध होता है। ग्राम सभापति के चुनाव में सुरजू सिंह, जैपाल सिंह एवं कांग्रेसी नेता सुखदेवराम खड़े होते हैं। जैपाल सिंह जानते हैं कि वे विजयी नहीं होंगे, क्योंकि सुखदेवराम देहात का सबसे बड़ा कांग्रेसी नेता है, पूरा जादव पाल्टी, गोंड, कहार, दुसाध, कोइरी-कामी सब उनको वोट देंगे-- लेकिन सुरजू सिंह को भी विजयी नहीं होने देना चाहते। वे शतरंजी चाल खेलते हैं, अपनी ओर के सारे वोट सुखदेवराम को दिलवा देते हैं और सुरजू सिंह मुंह ताकता रह जाता है। सुखदेवराम को बाद में अपने पक्ष में मिलाकर--उसके ग्राम सभापति हो जाने के बावजूद सारा कार्य अपने इशारों पर करवाते हैं। एक दिन अपने उत्तराधिकारी पुत्र बुझारथ को भावना में डोमन चमार की बेटी सुगुनी के साथ देख लेते हैं, उसी हृदय पीड़ा से इतना घुलना हुआ कि उसी के ग्रास बन गये। इस प्रकार झूठी शान को पाले हुए टूट कर इस दुनिया से उठ गये। बुझारथ के समय में तो जैपाल परिवार की रही सही झूठी मर्यादा भी समाप्त हो गई। वह चोरी करता है, करवाता है, शराब पीता है, पिलाता है और बहु-----------------

---

१ 'अलग अलग वैतरणी', पृ०५०

बेटियों की इज्जत को लूटने के लिए प्राय: तत्पर रहता है ।

जैपाल सिंह का छोटा लड़का और बुझारथ का छोटा भाई विपिन इतिहास से प्रथम श्रेणी में एम०ए० करके गांव लौटता है । देवनाथ भी डाक्टरी पास करके गांव आता है और गांव में ही प्रैक्टिस करने की कोशिश करता है । विपिन और देवनाथ नई पीढ़ी का प्रतिनिधित्व करते हैं-- शायद नई पीढ़ी । उनके मन में गांव की नई तस्वीर को बदलने की इच्छा है। एक दिन विपिन अपनी छावनी में थानेदार को अन्याय करते देखकर डाट देता है । बुझारथ पुष्पा के परिवार पर कर्ज अदा न करने के कारण घर कुर्की करवाने का प्रयत्न करता है, लेकिन विपिन उसके से चार सौ रुपया देकर घर नीलामी होने से बचा लेता है । विपिन और पुष्पा एक दूसरे के प्रति बचपन से ही आकर्षित है । पुष्पा को विपिन पर भरोसा था । सामाजिक मर्यादा के कारण विपिन अपने मूक प्रेम के प्रति मुखर नहीं हो पाता । उसकी शादी हो जाने पर भी भूल नहीं पाता और अन्दर ही अन्दर छटपटाता रहता है, क्योंकि कुल मर्यादा के संस्कारों से मुक्त नहीं हो सका था । सोपिया नाले पर बुझारथ द्वारा पुष्पा की इज्जत लुटने से बचाता है -- वह भी संयोगवश इसके बाद तो वह एकदम टूट जाता है । 'पुष्पा को फंसाने के चक्कर में बुझारथ बुरी तरह घायल हुआ पर कुल की लाज ढकने के ख्याल से विपिन ने सारी स्थिति का बोझ अपने सिर पर ओढ़ लिया था परन्तु इतना बोझ लेकर चलना कठिन है । उसका प्रेम टूट रहा है और वह असमर्थ है, अनकही प्रेम वेदना में तड़प रहा है, आत्मग्लानि और आत्मदाह में तड़प रहा है ।'[1]

केन्द्रीय कथा के मर्मस्पर्शी प्रसंग

दो परिवारों की प्रतिष्ठा कसौटी पर चढ़ी हुई है । विपिन ने कुल मर्यादा की लाज को ढकने के लिए बुझारथ के पाप को अपने सिर ले लिया । सुरजू सिंह के पूछने पर विपिन कहता है कि 'मुझसे

---

1. अलग अलग वैतरणी, पृ०२७

झगड़ा हो गया । भ...आ को बातचीत में हाथापाई होने लगी । वे पीछे हटे, ब.. नाले में गिर पड़े ।' कनिया को कैसे विश्वास हो कि विपिन ब ने भा.. से झगड़ा कर उन्हें अकेले कर घायल कर दिया है? विपिन यह सोचकर छटपटा रहा था कि कनिया भाभा पर या बात रह.. होगा ? उनके विश्वास पर कुठाराघात ? वह सोच रहा था " मैंने तो सिर्फ खानदान की इज्जत बचानेके लिए एक झूठी तोहमत ओढ़ ली । अपने को दोषी तो मैंने खुद बना लिया । मगर इस पर विश्वास कौन करेगा ? कनिया सोचता होगा कि इसी दिन के लिए इस आस्तीन के सांप को मैंने दूध पिला पिला कर पाला । कनिया बेचारी को क्या मालूम ? शायद कभी मालूम भी न हो । उनकी आंखों के सामने तो विपिन एक भ्रातृ द्रोही, झगड़ालू नीच इन्सान के रूप में हमेशा हमेशा के लिए अंकित हो ही गया ।[1] विपिन के भतीजे बुटून का मासूम हृदय इस घटना को लेकर अस्तव्यस्त हो जाता है --घर लौटने पर वह विपिन पर लाठी चला देता है । यहां तक कि तो ठीक था लेकिन भोले भाले बुटून के मन में विपिन के प्रति जो दुर्भाव पनपक उठा था उससे विपिन का दिल एकदम से बैठ गया --" हां हां, पागल हो गया हूं । तुम छोड़ दो मुझे, नाहीं मैं तुम्हारी भी बोटी बोटी काट कर फेंक दूंगा । ई साले को बिना मारे मैं छोड़ूंगा नहीं । ई कसाई हैय। ई बाबु जी को जान ले रहा था आज । कमजोर आदमी को नाले में झोंक दिया । बड़े बहादुर बनते हैं, हुंह।[2] "कनिया ने जब यह सुना तो वह पागलों का भांति बुटून को डांटने लगा--बुझारथ भी सुनकर एकदम परेशान हो जाता है । कहां है बुटून ? कहां है बुटून ? अभी बुलाओ । अभी लाओ मेरे सामने । मैं उसको गोली से उड़ा दूंगा । मैं उसको काट कर फेंक दूंगा । उसका ऐसा हिम्मत ![3] हमारे खानदान में ऐसा कभी नहीं हुआ । हे भगवान कहीं चला न जाय ।"

---

१ अलग अलग वैतरणी, पृ०३६५

२ वही, पृ०३६७

३ वही।पृ०४०९

दयाल महराज कनिया को सब कुछ बता देते हैं और कनिया विपिन के लिए तड़पने लगती है । उसका अन्तर कराह उठता है --" मैंने बुद्दन को भी अच्छी तरह से मरम्मत कर दी है । उस कमीन छोकरेने तो खून हो लगा दिया । मेरी कोख से ऐसा भी कोई जनम ले सकता है । यह सोच-सोच कर हम लाज से गड़ी जा रही हूं । सच विप्पी, बाबू जी के मरने पर भी मैं ऐसी टूटी नहीं पर अपनी आंख से आज सब देखकर मैं सोचती हूं कि यह जिन्दगी भार ही है ।"[1] इस घटना के बाद तो विपिन टूट जाता है । गांव के उद्धार का सारा उत्साह ठंडा पड़ जाता है । बुझारथ के ट्रेन डकैती में पकड़े जाने पर, उसे छुड़ा तो लेता है पर अंदर ही अन्दर भाई, परिवार एवं गांव के प्रति उदासीन होता जाता है ।

दूसरी ओर बचिया को भी जब सब कुछ मालूम होता है तो चटपट पुष्पा का विवाह कर भार मुक्त हो जाती है । पर रह जाती है बात चुभी विपिन के हृदय में पटनहिया भाभी की कि "ऐसे भी कोई किसी का हाथ पकड़ कर छोड़ता है ? ऐसे ही मरद हैं आप ?" अपनी कायरता पर विपिन की अन्तर्वेदना घनी होती है । पुष्पा उसकी थी पर झूठी प्रतिष्ठा के पीछे उसने अपना खून कर डाला । उसका मन बैठ जाता है । वह सोचता है " अपनी जन्मभूमि को मृत केंचुल से निकालने की सारी तमन्ना एक एक करके खत्म होती गई । रही सही कसक पूरी हो गई । देवनाथ के कस्बे में सरक जाने से उसने सोफ में कहा --" मारो गाले गांव को गोली । और वह शहर की ओर भाग खड़ा हुआ । अचानक एक खुले रहस्य की तरह सामने आ गई कनिया । मगर, उनके प्रेम में ऐसी सामर्थ्य कहां कि रोक सकें ? हां, पढ़ने वाला जरूर चकित होता है[2] कि कहीं मिसिर मिसिराइन की कहानी की पुनरावृत्ति का ग्रह तो नहीं कटा ?

---

१ `अलग अलग वैतरणी`, पृ०४०७

२ ललित शुक्ल : `दिशाओं का परिवेश`, पृ०२७-२८

फिल्म के पर्दे पर एक साथ दो दर्जन चेहरों का उपकथाएं

फिल्म के पर्दे पर एक साथ लगभग दो दर्जन छोटा-छोटा उपकथाएं केन्द्रीय कथा के चारों ओर बड़ा कुशलता के साथ नियोजित एवं सम्बद्ध की गई है। ढेर सारी बिखरी कथाओं को सिलसिलेवार अलग-अलग किन्तु अंदर से एकसूत्र करके उपन्यासकार ने सृजन को कलात्मक एवं आकर्षक बनाया है। 'आधा गांव' नहीं इनके बीच पुरा गांव बहुत साफाई के साथ उभरता है। जितने प्रकार के व्यक्तित्व एवं व्यक्ति मिलकर एक गांव होता है, लेखक ने किसी को छोड़ा नहीं है। गांव के एक एक अंग को उचित साज संवार मिली है, न किसी को कम न किसी को अधिक। यह कथात्मक संयम और संतुलन विस्मयकारक है। बहुत अधिक उखाड़ पछाड़ करता दीखने वाला लेखक वास्तव में सर्वत्र 'सम' पर होता है। एक गांव की उसकी परिकल्पना बहुत सुविचारित एवं सुनियोजित है तथा करैता एक प्रतिनिधि गांव है।[१]

दयाल महराज उर्फ बुल्लू पंडित करैता गांव के साफर मैना हैं। फिल्म के पर्दे पर दयाल महराज का चेहरा उभरता है और लेखक बेखटके उसकी कथा कहता है। 'दयाल पंडित की अपनी खुशी का कोई महत्व नहीं। घर में अकेले हैं और सत्तर साल की बूढ़ी मां।...... करैता गांव में कोई शादी-ब्याह हो, कोई मुण्डन जनेऊ हो, कोई व्रत-त्योहार हो या कोई उत्सव समारोह हो दयाल महराज उसमें सबसे पहले तैयार मिलेंगे उत्सव के हफ्ते भर पहले से इन्तजाम के लिए उन्हें बुला लिया जायेगा। दयाल महराज को न अपना फिकर न घर की न मां की। बस वे दूसरों के खुशी के आगमन पर चेहरे पर स्वागतम का पोस्टर चिपकाये घूमते नजर आयेंगे। किसी को किसी चीज की जरूरत हो, दयाल महराज से

---

१ ललित शुक्ल : 'दिशाओं का परिवेश', पृ०२८

कहै। वे आकाश पाताल छानकर खोज बरामद कर देंगे[1]।" क्या करूं मालिक। बाभन हूं। हलवाही चरवाही कर नहीं सकता। मिहनत मजूरी कोई करायेगा नहीं। ऊपर-झापर से कुछ काम कर देता हूं। इसी से तो दो प्रानी का गुजर चलता है।" वे बड़ो बंधावनों से कहते[2]। गांव की औरतें पुलक पंडित को बहुत मानती हैं। करैता भेजकर तेल, साबुन, चोटी कंघा, जम्फर, ब्लाउज, इत्यादि मंगवाती हैं। पुष्पा की इज्जत लुटने की घटना में दयाल पंडित भी विपिन के साथ थे। विपिन की दुष्टता और वासना की कुल मर्यादा के लिए इस रहस्य को छिपाये रहते हैं, बाद में कनिया के सौगन्ध देने पर सत्य प्रकट करते हैं।

दूसरा चेहरा, तीसरा-चौथा और पांचवा। इस प्रकार फिल्म के पर्दे पर चेहरे उभरते और विलीन होते हैं। सुखदेवराम ने यादववंश में गलती से जन्म ले लिया। न तो कभी डंड बैठक किया, न लठ्ठ को गाउटी ओढ़ी। कभी गर्दन में रेंडे सूत का गंडा ही पहना। कभी भैंस की पीठ पर बैठ कान में उंगली डालकर बिरहा भी नहीं गाया। लाठी से उन्हें सख्त नफरत थी। पटा बनेठी का खेल देखकर उन्हें गश आने लगता।..... पिता बलांजन चौधरी उन्हें 'बेसुरदास' कहते। गिरगिट की तरह दुबला पतला और डरपोक।[3] पिता के ताने और डांट फटकार से ऊबकर कांग्रेसी हो गये। गांव से भागकर तीन साल इधर उधर भटकते रहे और लौट कर ग्रामीणों में 'जोत' जगाने की कोशिश करने लगे। ग्राम सभापति के चुनाव में जैपाल सिंह का समर्थन प्राप्त कर विजयी भी होते हैं। आधुनिक कांग्रेसी नेताओं का प्रतिनिधित्व करते हैं -- बाहर से ईमानदार और अन्दर

----

१ अलग अलग वैतरणी, पृ० ४-५

२ वही, पृ० ५

३ वही, पृ० १०

से भ्रष्टाचारी । गोसाईं महराज भी पूजा पाठ छोड़कर , सुखदेवराम के साथ, जोत जगाने में सहायता देते हैं ।

करैता गांव एक पूरा व्यक्तित्व है और गांव के परिवार उस व्यक्तित्व के विभिन्न आयाम हैं । लेखक गांव की सम्पूर्णता को उजागर करने के लिए सब तरह के किसान परिवार की कहानी कहता है । हरसू सरदार गांव के ढुलमुल इन्सान जमींदारों की सेवा करने में जिन्दगी व्यतीत करते हैं । भज्जू लाल उपाधिया उपधिया लोभी पुरोहितों का प्रतिनिधि है । बंशीकाका बड़े परिश्रम से परिवार की नौका पार करने की कोशिश करते हैं, लेकिन पुत्र कल्लू के बुरी संगत और बाद में कुंठाग्रस्त,नामर्द बन जाने पर गर्वेषित और पीड़ित रहते हैं । निर्धनता की आग में जलता हुआ धरमू सिंह का छोटा परिवार, जिसके बीच विपिन का असफल प्यार लिये पुष्पा जिन्दगी भर छटपटाती है । टीमल सिंह, एक गरीब किसान, पढ़ने में तेज हरिया को भरपूर पढ़ाने की कोशिश में असफल रहता है,क्योंकि गांव के निठल्ले आवारा लोगों की सोहबत में पड़ जाता है ।

गांव के लुच्चे-लफंगों की कथा भी पिरोयी गई है और नेक-इन्सानों की भी । सुरजू सिंह की अपनी पार्टी है, जिसके बल पर जैपाल परिवार को पराजित और गिराने की हर संभव कोशिश में असफल होता है । अनेकों तिकड़म खेलता है, लेकिन हर बार लंघी खाकर गिर पड़ता है ।सलोल गांव के आदर्श इन्सान हैं । माटी की गंध के प्रति इतने समर्पित है कि सब कुछ लुट जाने पर भी गांव छोड़ने के लिए राजी नहीं होते । जग्गन पहलवान साफ मिजाज और नेक दिल है । उन्हें छल छद्म नहीं आता, निर्भय किसी भी अन्याय का डटकर प्रतिरोध कर सकते हैं ।

गांव के अंग चमटोल की कहानी, भिनकुआ एक हलवाह, घुरबिनवा एक चरवाह, सरूप भगत एक नेकदिल भक्त हरिजन सरदार ।अन्य छोटे लोग जो गांव को एक बड़ी शकल देते हैं, बीसू धोबी, लोकगीत की धुन में जीने वाला, उसका बेटा सुरजितवा परम्परा को निबाहते जाता है । गांव का स्कूल, उसकी भी एक रोचक कहानी, नये पुराने का संघर्ष, एक अस्पताल ,भज्जूलाल

ग्राधिया के डाक्टर बेटे देवनाथ के पलायन की कहानी, कोने कोने की थाह लेखक ने ली और सब मिलकर गांव की जो शक्ल खड़ी की गो चेहरे मोहरे से बहुत सुपरिचित लगने के साथ अपनी समस्त दुर्बलताओं और समस्याओं में सत्य है ।

कथा में नाटकीयता

'अलग अलग वैतरणी' की पूरी कथा जहां शाश्वत ट्रेलर पद्धति पर आधारित है, वहां बीच बीच में नाटकीयता के आयाम भी मुखर हैं । नाटक में जैसे अस्वाभाविक दृश्य आते हैं और दर्शकों को चौंकाते हैं, वैसे ही यहां भी पात्र अचानक आते हैं और कथा अभिव्यक्ति पाते हैं । कुछेक घटनाएं तो इस तरह से आती हैं कि पाठक उसका पूर्व अनुमान किंचित् भी नहीं कर सकता है । प्रथम अध्याय में ही मेले का दृश्य अचानक उपस्थित होता है । 'बुढ़ुआ फिर आ रहा है ।' "सच्ची ? क्या बुढ़ऊ फिर आ रहे हैं ?"......दयाल महराज जानते हैं, "क्या बाकी रहा उनकी यहां । जमींदारी टूटी कि लोगों ने छावनी की ओर मुंह करना भी छोड़ दिया । फिर भी 'बुढ़ुआ फिर आ रहा है । यह क्या बात?[१] दयाल महराज ने कंधे पर गमछा डाला और छावनी की ओर चल पड़े । कल्पू और पटहनिया भाभी के सुहागरात, सुखारथ द्वारा साधिया नाले पर पुष्पा को फंसाने, बुद्धन द्वारा विपिन पर लुपके से लाठी उठाने, मुंशी जवाहिरलाल की लड़के के साथ सोने, सुरजू सिंह का डोमन चमार की बेटी व सगुनी के साथ रंगे हाथ पकड़े जाने आदि के दृश्य अथवा घटनाएं उपन्यास के कैनवस पर नाटकीय ढंग से आती हैं और पाठकों को भरपूर चौंकाती हैं ।

पात्रों की भरमार

गांव की पूरी शक्ल उभारने के लिए लेखक ने हर तरह के चेहरों का इस्तेमाल किया है--उनमें लुच्चे-लफंगे, कांग्रेसी नेता, अखाड़िये, भ्रष्टाचारी, सेवक, वेदना से छटपटाते लोग, चमटोल की निम्नवर्ग, धोबी, चरवाहे अहीर और गायक मानुष सभी प्रकार के हैं । सम्पूर्ण पात्रों के दो वर्ग किए

जा सकते हैं --(क) ऊंचा जाति के पात्र और (ख) निम्नवर्ग के पात्र । दोनों प्रकार के पात्रों में चार तरह के चरित्र हैं-- (क) आदर्शनेक चरित्र,(ख)आधुनिक भारत के अनुरूप रुपकड़े अपनाने वाले चरित्र, (ग) तटस्थ चरित्र तथा (घ) समय और परिस्थितियों के अनुसार चलने वाले विवश चरित्र ।

उपन्यास के अनेक पात्रों का कतार में मास्टर शशिकांत बलाल,विपिन,देवनाथ,सरूप भगत,कनिया और जग्गन मिसिर आदर्श चरित्र हैं-- जिनके माध्यम से कथाकार ने वैतरणी पार कराने का असफल चेष्टा का है। आज की दुनियां में जहां चारों ओर फूल जैसा भ्रष्टाचार,अनाचार,स्वार्थपरता, प्रतिस्पर्धा, लूट-खसोट का वातावरण मुंह बाये खड़ा है, उस दुनिया में दो चार आदर्श चरित्र कितना वैतरणी पार करायेंगे । हारकर कहेंगे-- कौन किसको पार कराता है वैतरणी ? या 'मारो गोले गांव को गोली' किसी तरह से जिंदगी बीतती जाय, यही काफी है । समकालीन मनुष्य यथार्थ को बड़ी ईमानदारी और सफाई के साथ लेखक ने उपन्यास में उजागर करने की चेष्टा की है ।

मास्टर शशिकान्त एक कर्मठ नवयुवक, शिक्षक, दिल में एक हौसला लेकर करैता आया था । उसका नियुक्ति के समय बड़े बाबू दु:खी होकर कहते हैं '.... दु:खी थोड़ा जरूर हूं कि तुम्हारे जैसे प्रतिभावान युवक को एक सड़ियल जगह में नियुक्ति हो गयी । माना कि जिसके अन्दर आग है, वह कहीं भी भेज दिया जाय, अपनी रोशनी फैलायेगा ही मगर एक जहीन आदमी को मुर्दा जगह पर 'डम्प' करना ह कोई बुद्धिमानी तो नहीं है । खैर, तुम्हें वहां भेजा जा रहा है तो खास बात तो होगी ही । तुम्हारे हल्के के किसी इंसपेक्टर ने तुम्हारे बारे में जो रपट भेजी थी,वह क्या मैं भूला हूं । लिखा था इस तरह के लगन वाले यदि दो दर्जन अध्यापक भी इस जिले में मिल जायं तो शिक्षा के क्षेत्र में क्रान्ति हो सकती है । अब करो भाई क्रान्ति । मुझे तो लगता है कि तुम्हारी तारीफ के ये अल्फाज ही तुम्हारी बदनसीबी

के वाइस हो गये ।[२]' और शशिकान्त कहता है, '... सोचता हूं शायद यह मेरी जिन्दगी की सबसे बड़ी पराजय की घड़ी है । मैं तो बड़े बाबू इस बात में विश्वास करता हूं कि हर इन्सान के लिए उसकी प्रतिभा और शक्ति के अनुसार कार्यक्षेत्र सौंपने का काम कोई अदृश्य शक्ति किया करती है । किसी जमे जमाये शोहरत वाले स्कूल में जाता तो जो भी करता वह पहले के किये कराये का ही हिस्सा बन जाता । करैता के बारे में आप लोग इतना जानते हैं कि उस अंधेरे में एक चिनगारी भी जला सका तो आप लोगों का स्नेह मिल जायेगा । बस, मुझे और क्या चाहिए ।[२]'

शशिकान्त गांव के मुर्दनगी छाये भोले भाले बच्चों को देखकर तरस खाता है । उनको सुधारने का प्रयत्न करता है, और मुंशी जवाहिर लाल उस पर हंसते हैं । शशिकान्त एक दिन मुंशी जी को लड़के से पांव दबवाते हुए देखता है और मन में अजीब सी बेचैनी और टीस अनुभव करता है । मुंशी जी सफाई देते हैं '... लड़के हैं । मास्टर लोग जाने कितनी सेवायें लेते हैं । मैंने भी थोड़ी सेवा ले ली, तो इससे क्या बिगड़ गया ।[३]' ऐसी घिनौनी बात इतनी सहजता से कह देता है कि शशिकान्त की सोचने की ताकत भी समाप्त हो जाती है । शशिकान्त एक प्रकार से दर्शक की भांति गांव आता है, कुछ चिनगारी भरने का असफल प्रयास करता है और कटकर अलग हो जाता है, बल्कि काटकर अलग कर दिया जाता है ।

विपिन और देवनाथ प्रगतिशील नई पीढ़ी के का प्रतिनिधित्व करते हैं । सुधारने के मोह में गांव में ही बसने का निर्णय लेते हैं, लेकिन जहालत भरी जिन्दगी से ऊबकर और धीरे धीरे टूट कर पक्के पक पलायन कर जाते हैं । विपिन उपन्यास का लुंज पुंज नायक है । कथाकार के मन में उसके प्रति चाहे जितना मोह रहा हो, लेकिन रंगमंच के मूक दर्शक

---

१ अलग अलग वैतरणी', पृ०१७६

२ वही, पृ०१७६

३ वही, पृ०४६३

से अधिक कुछ नहीं बन पाता, दूसरे शब्दों में, पाठकों का एक आईना है जिसके माध्यम से वे गांव के भिन्न-भिन्न चेहरे भर देखते हैं। विपिन के मन में गांव को सुधारने के लिए चाहे जितना उत्कल रहा हो किन्तु उसका रोमानी भावुकता से अधिक क्या उपलब्धि दे पाता है? क्योंकि सुधारने के प्रयत्न में तत्पर नहीं होता, केवल देखकर बेचैनी ही महसूस करता रह जाता है। वर्तमान समाज में ऐसे अनेक युवक हैं जो मन में विभिन्न ख्याल लिये बेचैन होते हैं, कोशिश भी करते हैं लेकिन ऊबकर पलायनवादी बन जाते हैं। उसी प्रकार विपिन भी गांव छोड़कर गाजीपुर डिग्री कालेज में अध्यापकी कर लेता है। पुष्पा के लिए उसके भावसूत्र से जुड़ता है, फिर भी उसमें गहराई नहीं ला पाता। विवाह के प्रश्न पर सामाजिक व्यवस्था के खिलाफ खड़ा नहीं हो पाता केवल मन में विक्षोभ भर बनता है। बड़े भाई के पाप को सिर पर ओढ़कर अन्दर ही अन्दर घुटता है। कुल मिलाकर असफल आदर्श नवयुवक विपिन दो सवाल छोड़ जाता है--(क) खोखली रूढ़ियों को अगर नहीं तोड़ सकता तो बेचैनी कैसी? और (ख) आधुनिक शिक्षा प्राप्त करके भी संस्कारों में क्यों बंधा रह जाता है? वह अंत में बड़बड़ाता है, "मैं सिर्फ दूसरों के लिए जिन्दगी कुर्बान करने के लिए पैदा हुआ हूं। मैं निर्णय भीरू हूं। डरपोक हूं। सुविधा पसन्द हूं। मैं अपनी इच्छा से कोई काम नहीं कर सकता। मेरा चाहा कुछ भी कभी पूरा नहीं होगा। मैं हमेशा ही मन के भीतर [illegible] में[1] छिपे मिथ्या प्रतिष्ठा और खानदानी बड़प्पन के जोंक से हारता रहूंगा।" विजयदेव नारायण साही उसके असफल चरित्र की ओर संकेत करते हैं, "उसके लिए करैता एक कठिन समस्या की तरह है, जिसके साथ उसका एक ही रिश्ता बन सकता है कि वह उसे झुठलाने की कोशिश करे। यह रिश्ता अपने आप में एक दिमागी रिश्ता है। करैता से विपिन के जितने और सम्बन्ध हैं पैदायशी, खानदानी या पुष्पा के साथ उसका सिहरन वाले उनकी भूमिका सिर्फ इतनी ही है कि दिमागी रिश्ते को थोड़े वक्त के लिए करैता से जोड़ दें।

---

१ अलग अलग वैतरणी, पृ०६४१

एक सिर्फ समस्या को इस तरह से जोड़ दें कि विपिन के लिए समस्या का साक्षात्कार करना अनिवार्य हो जाय। मगर उन रिश्तों में इतना दम नहीं है कि विपिन को विचलित कर सकें, या भीतर का आदमी बना सकें।[१]

मिट्टी के प्रति समर्पित ललाल मियां का चरित्र हल्का संवेदना उत्पन्न करता है। जोसर ने उनकी जमीन छीन ली, लेकिन वे लहजाब लहजीब ही चिल्लाते रहे, अपने हक के लिए कुछ भी नहीं लड़ सके। अन्त में गलकर, टूटकर ही गांव छोड़ने को विवश होते हैं।

कनिया उपन्यास का जीवन्त पात्र बनते-बनते रह गई है। उसका चरित्र एक प्रतिष्ठित परिवार की मर्यादा और झूठी शान को निरन्तर बचाते जाने और असफल होकर टूटते जाने का मसौदा प्रस्तुत करता है। पति बुफारथ की दुष्प्रवृत्तियों के कारण मन में कुढ़न रखते हुए पत्नी के रिश्ते को ससम्मान निभाती है, लेकिन देवर विपिन के लिए अतुल स्नेह और मोह लिए हैं क्योंकि उसे ही कुल की मर्यादा समझती है। प्रशान्त गम्भीर और विशाल हृदय वाली कनिया पहले तो यह सुनकर कि विपिन ने अपने बड़े भाई से झगड़ा करके घायल कर दिया है,टूटती है, बाद में भेद खुलने पर और भी टूक टूक हो जाती है और पश्चाताप की आग में झुलसती है। अन्त में पाठकों के सामने दो-तीन सवाल छोड़ जाती है--(क) विपिन के विवाह की चर्चा तब पर, पुष्पा से प्रेम सम्बन्ध जानने पर भी चुप और तत्पर क्यों रह गई? (ख) पुष्पा और विपिन दोनों ओर से प्रेम जानकर भी विपिन को बढ़ावा क्यों नहीं देती और (ग) नौकरी पर जाने के सवाल पर खुश क्यों नहीं होती?

मास्टर शशिकान्त, विपिन, देवनाथ, सरूप भगत और ललोल मियां एक एक करके सभी आदर्श पात्र चले चले जाते हैं और शेष रह जाता है, तीखा व्यक्तित्व, जग्गन मिसिर। यद्यपि वह निर्माण तो कुछ नहीं करता,किन्तु अपने तीखे और खरे व्यक्तित्व के सहारे हर अन्याय

---

१ आलोचना,अप्रैल,-जून,१९६९

का निर्भयता से सामना करता है । अनाथ जैसी स्थिति में जन्म लेने के बाद बड़ी धैर्य, साहस और कर्मठता से जिन्दगी की गाड़ी को पटरी पर लाता है, लेकिन परिस्थितिजन्य विवशता से जीवन भर अविवाहित रहता है । मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रिया स्वरूप विधवा भाभी की स्वीकृति से तादात्म करता है,लेकिन भीतर से हमेशा छटपटाता है । भाभी भीतर से तो विवाह की बात चलाता है,किन्तु हमेशा बराबर भयभीत रहता है कि अकेली न हो जाय । इतना अंतर्विरोध होने पर भी वह एक सच्चे ग्रामीण की निर्भीकता को बनाये रखता है । गांव के बिखराव और फोड़े बनाने वालों के प्रति तड़प है, घृणा है और अवसर पड़ने पर फूटता भी है । हरिया और जोसर जैसे लुच्चे और कुंटिल व्यक्तियों का दंभ मिटाने के लिए बेलाग रहता है । यहां उसका ब्राह्मण दर्प उबलता हुआ देखा जा सकता है ।

सुरजू सिंह खल पात्रों का सरगना है । उसकी जिन्दगी का केवल एक ही लक्ष्य है-- जैपाल परिवार की मर्यादा और समृद्धि को रोकना तथा अवसर ढूंढ ढूंढ कर नीचा दिखाने की कोशिश करना । हरिया, कविलवा और सिरिया उसके चमचे अथवा चापलूस हैं । जोसर पुलिस जुल्म और अत्याचार का उदाहरण प्रस्तुत करता है । तथाकथित `सरकारी आदमी` की आड़ में रिश्वत लेना, किसी की जमीन हड़प लेना, पंचायत में झूठी कसम खा लेना उसके लिए साधारण बात है । जैपाल का बेटा कुलथ बुझारथ बिगड़ा हुआ जमींदार है । करैनी के जिस कुलीन परिवार की कुल मर्यादा एवं बड़प्पन के लिए जैपाल अपनी जिन्दगी की आहुति तक दे देते हैं, उसे बुझारथ ने थोड़े ही समय में छिन्न-भिन्न कर दिया । चोरी छिपे गांव की बहू-बेटियों की इज्जत के साथ खिलवाड़ करना,ट्रेन में डकैती डलवाना करैनी की मर्यादा के विरुद्ध था । पुष्पी का घर नीलाम करवाने के पीछे अव्यक्त रूप से उसकी वासना ही काम कर रही थी कि शायद पुष्पी उसके सामने झुक जायेगी । अपनी दुष्प्रवृत्तियों के कारण पत्नी की भ्रू-भंगिमा से डरता था ।

एक और नर्क है गांव का स्कूल । विद्या का पवित्र

मंदिर नहीं, घिनौना नर्क है । अध्यापक विद्या प्रदान करने के बजाय,घर के छोटे से काम से लेकर सभी प्रकार की सेवायें लेते हैं और उसे अपना अधिकार मानते हैं । छोटे मासूम बालकों के साथ वासना की पूर्ति करना भी उनका अधिकार अथवा दक्षिणा है । शशिकान्त सत्प्रयासों से जान डालने की कोशिश करता है, लेकिन स्कूल के नर्क-काढ़े सफल नहीं होने देते ।

कुछेक पात्र अपने अलग-अलग मुहावरों के साथ मुख्य कथा से कहीं कहीं जुड़ते हैं, लेकिन पृथकता का आभास बनाये रखते हैं । फब्बू उपधिया, सुखदेवराम, गोमई महराज, दयाल पंडित,शम्भू सरदार आदि उपन्यास के विशाल कैनवस पर तरंगों की भांति आते हैं और हल्के से स्पर्श करके चले जाते हैं । ये ऐसा कुछ नहीं करते कि देर तक दृष्टि टिकी रह सके, पर अपने चरित्र गठन में अमहत्वपूर्ण भी नहीं रहते । यह कथाकार के चरित्र चित्रण की विशिष्टता है । सुखदेवराम कांग्रेसी नेता गांव में जोत जगाने के लिए बनते हैं, लेकिन ग्राम सभापति होने के बाद जोत जगाना तो भाड़ में चला जाता है और भ्रष्टाचार के माहौल में डूब जाते हैं । गोमई महराज मासूमियत की छाप लिये गांधी सिद्धान्तों का नकाब ओढ़े सुखदेवराम के पीछे पीछे रहते हैं । दयाल पंडित का व्यक्तित्व उपन्यास के सारे पात्रों से भिन्न और विशिष्ट है-- लोगों की सेवा करने में विचित्र संतोष का अनुभव करते हैं । गांव की औरतों के लिए एकदम आत्मीय थे । हृदय से स्वच्छ, साफ, मन से ईमानदार और न्याय के नाम किसी का भला हो जाय तो अपना सौभाग्य समझते हैं ।

पटहनिया मामी का चरित्र मनोविज्ञान सम्मत सामाजिक विधान के क्रूर अत्याचारों की कहानी कहता है । नामर्द कल्लू से विवाह हो जाने पर रूढ़ियों को तोड़कर कुछ कहती नहीं,केवल अंदर ही अंदर घुटती है । सुहाग रात का दृश्य तो अत्यन्त मार्मिक है-- पढ़ी लिखी होने पर भी खुलकर कुछ नहीं कह पाती । इस नर्क का उद्धार गांव का कोई व्यक्ति नहीं करता इसलिए वह धीरे धीरे परिस्थितियों के साथ समझौता कर लेती है । लेखक ने करैता के नरक में पटहनिया मामी के आंसुओं की नदी को भीगे मन से देखा है ।

उसने गांव में छिनते उसके नैतिक हक को देखा है । अपने नामर्द पति कल्लू से गहरी अतृप्ति पाकर उसे हक था कि वह विपिन से उपन्यास मांग कर पढ़े, शशिकान्त को अंग्रेजी में मदद के लिए बुलाये अथवा डाक्टर देवनाथ से अपने पति के इलाज के सिलसिले में बात करे । लेकिन क्या समाज उसके इस हक को मान्यता देने के लिए तैयार है ? इस अवसर पर गांव के अच्छे लोग चाहे वह शशिकान्त हो, चाहे विपिन या चाहे देवनाथ, सभी परम्परागत विधि-निषेध और सड़ी नैतिकता के कड़े पहरे में विवश, मारु और उसके प्रति निर्दय है ।.... उसकी अतृप्त इच्छा,उसकी मूक वेदना, उसकी मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रियाएं, उसके मुंहजोर स्वभाव का वर्णन, होली पर लड़कों को नंगा करने की उसकी बान, सब एक गूढ़ मार्मिक वेदना से पाठकों के मन को भर देता है ।'[1]

ठाकुर जैपाल सिंह सामन्ती व्यवस्था के शोषण का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं । जमींदारी टूट गई,लेकिन एक नए किस्म का और ज्यादा खतरनाक जमींदारी पनप कर लूटमार और अत्याचार करने लगा । नये युग के अनुसार जैपाल गोट खेलने और प्रभुत्व कायम रखने का कोशिश करते हैं । ग्रामसभापति के चुनाव में सुरजू सिंह उसी तिरपट गोट का शिकार होता है । सुरजू सिंह के चारों खाने चित होने पर हरिया कहता है, --'कमाल है । मैं तो भाई, बुड्ढे की खोपड़ी पर फिदा हो गया हूं ।' 'उधर पट्टी में कुल कितने वोट हैं ? डेढ़ सौ । हैं न । ये सभी जैपाल सिंह के टोस वोट थे । मगर उन्हें मिले कितने ? सिर्फ तीस । बाकी एक सौ बीस कहां गये जनाब ? ये गये सुखदेवराम को । गये नहीं दिये गये । ताकि सुरजू सिंह हार जायं । यानी बुड्ढा जीतने के लिए नहीं खड़ा था । बाबको हराने के लिए खड़ा था।'[2]

निम्नवर्ग का चरित्र --चमटोल--एक नया आयाम

कांग्रेसी सरकार ने हरिजनों एवं शोषितों के लिए चाहे जितना किया हो,लेकिन सामाजिक ढांचे उन्हें समानता दी है?सवर्णों के समान इज्जत मिली है? गांव के लोग क्या उन्हें आदमी समझते हैं ? युग

---

१ दिशाओं का परिवेश ,पृ०३१

२ अलग अलग वैतरणी,पृ०७६

युग के संस्कार क्या इतनी जल्दी पवित्र हो जायेंगे ? आजादी के पहले ये घृणा और हीन थे, वैसे आज भी हैं । अंतर क्या हुआ है ? वह अब भी पिटता है, छावनी के बबुआनों से अब भी बोलने की हिम्मत नहीं पड़ती। यह वैतरणी कैसे पार होगा ? सवर्ण और हरिजन शायद एक नहीं हो सकते, लेखक ने इस अलगाव को प्रतीकात्मक विन्यास देकर स्पष्ट किया है । उत्तर में बबुआन ,दक्षिण में चमटोल और बीच में एक गड्ढा रेखा की तरह है । इस प्रकार एक गांव में दो गांव की अनुभूति होती है । एक बस्ती में सवर्ण दूसरी चमटोल-शोषित, अछूत । चमटोल एक विशाल परिवार है-- गरीबी और भूख से छटपटाता हुआ । इस परिवार के धनेसरी बुढ़िया, जगुनी, दुलारी, सम्प भगत, झिनकुआ, घुरबिनवा, सुरजितवा, आजितवा अपने चरित्र से आकर्षित करते हैं । आर्थिक दुरवस्था, अशिक्षा और गंदगी में उनकी जिन्दगी लाश की तरह है । हीन से हीन और बद से बदतर । शशिकान्त कहता है, --' बात यह है कि विपिन बाबू कि अब हमारे गांव उस स्थिति में पहुंच गये हैं, जहां दर्द की इन्तहा ही दवा बन जाती है । दर्द का हद से गुजरना है दवा हो जाना ।.... हमारी मानसिक स्थिति धीरे धीरे इस ढंग की हो जाती है कि लगने लगता है कि जो है वही ठीक है, क्योंकि बेठीक मानने से दिल को दुःख ही होगा । फिर जब पता नहीं कि कांटा कहां कहां चुभा है, तो फिर तलवे के चमड़े को पूरा का पूरा उधेड़ देना भी बुद्धिमानी नहीं होगी । मैं अक्सर इस कांटे की जगह को टटोलने की कोशिश करता रहा हूं ।...'[1]

चमटोल में प्रवेश करते ही मिलती है धनेसरी बुढ़िया। अद्भुत अस्पर्शी व्यक्तित्व । स्वाधीन जीवन बिताने वाली अनेक कर्म-कुकर्म में माहिर लेकिन कितने आश्रयहीनों की आश्रयदाता । अन्याय के विरुद्ध ऊंचा स्वर करने वाली धनेसरी मानव अनुभूतियों की जानदार तस्वीर है । सम्प भगत

---

1 अलग अलग वैतरणी, पृ०४४२

प्रशांत,गंभीर,अनुभवी और विचारवान हैं । डोमन चमार की बेटी जमुना के साथ सुरजू सिंह के पकड़े जाने पर सरूप भगत को सोनवा और शोभनाथ के प्रेम की याद आती है । सोनवा को कसाइयों की भांति मार डाला गया था । वे इन घटनाओं को अब हंसी ठट्ठा नहीं , एक नासूर की भांति देखते हैं । वह कहता है --"मगर ई कैसा 'परेम' भाई । आज तक किसी राजपूत-बाभन की लड़की के साथ चमार दुसाध का परेम काहे नहीं हुआ ?"[1] तो आज की घिनौनी सामाजिक संरचना के प्रति विद्रोहमूलक प्रश्न चिन्ह लग जाता है । पुन: दूसरा प्रश्न भी उठता है, "परेम का सारा संकट गरीबों के सिर पर डालकर भागते काहे हो ?"[2] और शोषण की चरम स्थिति की ओर संकेत करता है, "काका यदि इस कौम को उठाना चाहते हो तो गांठ बांध लो कि अब लड़ाई भीतर है, बाहर नहीं । सहते सहते[3] यह कौम अब यहां पहुंच गई है जहां उसे जहालत में ही आराम मिलने लगा है ।"

जमुना की घटना को लेकर कौम की इज्जत का सवाल, और उसके परिप्रेक्ष्य में असली नर्क का पर्दा खुलता है ।संघर्ष के बहाने चमार चौधरियों की जमात अपने ही कौम के साथ बलात्कार करती है । डोमन चमार को एक मन चावल और एक पट्ठा सूअर को अर्पित करना होगा । लच्छीराम भाषण देने के लिए फीस लेगा--तीस रुपया । नूरजमान,लच्छीराम,रामकिसुन आदि मिलकर भाषण से एकत्रित लोगों को उत्तेजित करते हैं और नर्क को और भी अधिक दर्दनाक बना देते हैं । सरूप भगत की हत्या हो जाती है । इसका जिम्मेदार कौन होगा ? यह कौम को ऊपर उठाने का रास्ता था ? कोरे भाषण और जुलूस के भभ्भड़ से कौम को ऊंचा नहीं उठाया जा सकता । सरूप भगत गांव की रहाइस को ही विपत्ति का मूल मानते हैं । कहते हैं घोसला बनाओगे तो गिद्ध कौओं की नजर लगेगी ही । वास्तव में उस अतिहीन रूप

----

१ 'अलग अलग वैतरणी',पृ०५७७

२ वही,पृ०५७७

३ वही,पृ०५७७

चमटौल के आगे नाबुओं का फरैता गिद कौओं की जमात का तरह लगता है ।
उपन्यास में तटस्थ और सही दृष्टिकोण से यह विसंगति प्रस्तुत का गई है ।
लेखक ने गराबा के अंधकार को परखा है[१] ।

<u>दुगान तेवर</u>

उपन्यास में स्वातंत्र्योत्तर कालान अवमूल्यन और नवान परिस्थितियों का तेवर के साथ चित्रण हुआ है । अवमूल्यन का स्थिति में नैतिकता के आदर्श बेमाना हो गये, स्वार्थों का दुनिया में रंग से रंग चेहरे उभरने लगे । मानवी व्यवहारिकता, भ्रष्टाचार, व्यभिचार का माहौल इस तरह से पनपा कि उससे सारी मानवीय व्यवस्था चरमरा कर गड्डमड्ड हो गया । जनतंत्र का मखौल....शतरंज का खेल । गांव का हालत दिन प्रतिदिन बिखरता जाता है । शशिकान्त कहता है, --"पहले शोषण था, अत्याचार था, गरीबी और जहालत थी । पर दिमाग में कुछ ऐसा भी था जो इन्सान को सीमा से लांघने से रोकता था । अब वह अंकुश नहीं रहा । न ईश्वर का डर है न इज्जत और प्रतिष्ठा के जाने का खतरा है । न जमींदार का डर है, न समाज का । अब आदमी सचमुच में स्वतंत्र है । बिल्कुल स्वतंत्र । गरीबी पहले से भी बढ़ गई, आबादी की तरह । इन्सान है कि पहले से तंग हो गया, दिमाग से, मन से, तन और कर्म से । जिधर देखिए आपको दमघोट सन्नाटा मिलेगा । गधा जैसे ऐंठनों के बीच में डाल दिये गए हैं और बसते चले जा रहे हैं, मगर न तो उन्हें कहीं परेला दीखता है और न तो ऐंठने वाला व्यक्ति ही । इस स्थिति में टूटे,हारे लोगों को क्षणिक मनबहलाव के लिए कुछ चाहिए । बीमार आदमी को सहज-सामान्य खाना अच्छा नहीं लगता । उसे चटपटी चीजें चाहिए । वह चाट खायेगा, मिर्च से जीभ जलाएगा। और इस जलन और लार से संतुष्ट होगा । यही हाल नये लोगों का समझिये ।

---

१ ललित शुक्ल : "दिशाओं का परिवेश",पृ०३४

अनैतिक अमानवीय सम्बन्धों से इन्हें इस तरह की दृष्टि मिलती है जैसे कुत्ता सूखी हड्डी चिचोरता है । जीभ कट जाती है और उसे अपना ही खून स्वादिष्ट लगने लगता है । वह समझता है कि यह स्वादिष्ट तरल पदार्थ हड्डी से निकल रहा है और वह घण्टों बैठकर इसे चूसता रहता है ।[१] शशिकान्त के कथन की बातें पूरे उपन्यास में देखी जा सकती हैं । ग्रामसभापति कहता है कि जब देखो कि सारा गांव कटकटाकर तुम्हारी निन्दा कर रहा है तब जानो कि तुम बड़े आदमी हो रहे हो ।

वातावरण और बिम्ब

उपन्यास में वातावरण और परिवेश के चित्र बिम्बात्मक अधिक बन पड़े हैं । प्रकृति चित्र--गर्मी की तपन, कातिक की रात, सावन की हरीतिमा, भादों का दउंगरा--पात्रों की मानसिक स्थिति से सम्पृक्त है । मकर संक्रान्ति का उत्सव गांव केलिए खास महत्व का है । सारा गांव गंगा स्नान करने चला जाता है, लेकिन इस बहाने लेखक अतृप्त कामनाओं की मारी पटहनिया भाभी और विपिन को एकान्त मुलाकात का अवसर देता है । क्वार-कातिक का महीना गांव के लिए रंगारंग क्यारियों का महीना होता है । [२]कहीं छोटी छोटी पतली नोकदार पत्तियों वाले गेहूं के खेत तो कहीं आंवरी पत्तियों वाले मटर के खेत तो कहीं गंधाते कांटेदार चौड़े चौड़े पत्तों वाले सरसों के गोटे । इस पूरे सिवान की समरसता को चुनौती देते ईख के असिपत्र बन तथा ज्वार और बाजारे के उठती पहाड़ियों जैसे खेत । वह पूरा सिवान जैसे रंगीन कलाबत्तू की ओढ़नी है । जिसे अपने सीने पर फरफराती धरती गुमसुम लेटी किसी की आतुर बाट जोह रही है ।[२] आषाढ़ और सावन जो बादलों के गरजने का माह तथा सारी प्रकृति के गर्भाधान का महीना होता है । ऋतुमती नारी की तरह धरती वर्षा की बूंदों की प्रतीक्षा करती है, किन्तु गांव में ये

---

१ अलग अलग वैतरणी, पृ० ४५४-५५

२ वही, पृ० ३५६

---महीने अब उदास निकल जाते हैं । 'उदास आंखों से आसमान को हेरते हुए किसान, मटमैले बदन पर से मक्खियां फाड़ते हुए ढोर । पता नहीं कहां गया वह आषाढ़ । वे बादल । रंगों का वह प्रदर्शन । पंछियों का वह वर्षामंगल।[1] अब तो मुर्दनगी के अलावा कुछ भी नहीं दिखाई देता ।

बीसू धोबी का बेटा सुरजितवा गधे पर लादी लादे गाता हुआ नदी की ओर चला जा रहा था ...

कबिरा गरब न कीजिए, इस जोवन का आस ।
टेसू फूले चार दिन, खंखर भये पलास ।।[2]

'गुंडागर्दी नहीं चलेगी'[3], जुलूस का चित्र[4], देवपाल और सुब्बा का कुश्ती[5], सोपिया नाले का चित्र[6], देवीधाम का कामिनी देवी तथा लगने वाला रामनवमी का मेला[7] आदि अनेक दृश्य और चित्र कुल मिलाकर वातावरण को बिम्बात्मक और फोटोग्रैफिक रूप देते हैं । मैला आंचल की तरह वातावरण को लय और ताल के रंग में तो नहीं डुबोया गया है, फिर भी पर्व-त्योहार, मेला, रूढ़ि, संस्कार तथा आधुनिक नवीन परिस्थितियों को खंड चित्रों में दिखाकर लेखक को गांव की नई-पुरानी शक्ल को उपस्थित करने में सफलता मिली है ।' गांव करैता की अविस्मरणीय तस्वीरें.... बुढ़िया से लेकर तलैया में डुबकी डुबौवल खेल तक जैसे अगणित दुर्लभ ग्राम चित्रों की अवतारणा, सर्वत्र एक भावुक यथार्थ दृष्टि से लेखक ने वह सब देखा है जो प्राय: अदेखा रह जाता है । हरिया की मूर्ख लड़ाकू औरत को वह देखता है, बीचोंबीच आंगन में पसर कर नंगे पैरों को फैलाकर फटी साड़ी खींच कर

---

१ अलग अलग वैतरणी, पृ०१५६
२ वही, पृ०१२६
३ वही, पृ०८६१
४ वही, पृ०२६३-६४
५- वही, पृ०१३-१४
६- वही, पृ०
७- वही, पृ०१३-१४

सौतों रहती थी और मुट्ठी भर भात के लिए लड़ाई करते लड़कों को पिट पिटाकर गंगा के दहाने भेजा करते"। इसमें एक पूरे परिवेश का बिम्ब अत्यन्त घना, सांकेतिक, प्रभावशाली और स्पष्टरूप में उभरा है। पात्र स्वयं तो बोलते हो हैं पर नैरेशन में नये शिल्प का प्रभाव वहां दिखाई पड़ता है जहां पात्रों के अंतर प्रदेश की हलचलों के चित्र उन्हीं की भाषा में, उनकी विचारतरंगों को अपने मानस में पचाकर लेखक स्थान पर देता चलता है। लेखक और पात्र की यह मानसंगत अद्वैतता इस उपन्यास की एक मूल्यवान उपलब्धि है।[1]

भाषिक संरचना

उपन्यास की भाषिक संरचना भी महत्वपूर्ण है। हिन्दी के अधिकांश आंचलिक उपन्यासों में आंचलिकता के नाम पर भाषा को जानबूझकर कृत्रिम बना दिया जाता है। उसका मकदम स्थानीय प्रयोग कई बार ऊब और खिन्न पैदा करता है। 'अलग अलग वैतरणी' उस कृत्रिमता और ऊब से मुक्त है। ग्राम्य भाषा को सहज-परिनिष्ठित करके उपस्थित किया गया है लेकिन बोध और ग्राम्य रूप को प्राय: बचाकर। परिनिष्ठित भाषा के नजदीक होने पर भी गंवई गंध, स्थानीयता की व्यंजना बराबर जीवित रहती है। गांव के विविध पात्रों के व्यक्तित्व और स्थिति के अनुसार भाषा के विविध प्रयोग मिलते हैं -- किसान, बनिहार, हलवाह, दुसाध, ठाकुर-बाभन, चमटोल सब की भाषा अलग अलग। गुण्डों, चाटुकार और टुकड़खोरों की भाषा, पुलिस की भाषा के फर्क को लेखक ने खूब समझा है। ..... नये हाथों फड़कती रपटती हुई ताजी टटकी सांस की जिस नई भाषा को पेश किया है वह बेशक बहुत जानदार है।[2] भाषा के कुछेक रूप प्रस्तुत किए जा सकते हैं--

----

१ ललित शुक्ल : 'दिशाओं का परिवेश', पृ० २६

२ वही, पृ० ३२

'हम लोगों के गोल में कासुदगा थी, आगुदगा। ऐसा कौवारोर नहीं था। खाने के लाले नहीं पड़ते थे। उस बखत तो पेट का बच्चा भी जानता था कि बाहर की दुनिया में खाने का क्या मजा है। हरा चुनरी पहन कर लाल मुंहवाली चुगनी खोहारी बैठती थी। जितना खाना हो, खाओ छक कर। हां।'[1]

'वह हमेशा ताल तलैया और पेड़ों पर आंखें गुड़ेर गुड़ेर कर चिड़ियां ही खोजता चलता है। रमचन्ना फुदकता हुआ, अचरज से पुराने पेड़-पौधों को देखता है कि जैसे वे वही हैं कि बदल गये हैं। पर बौरहे को क्या मालूम कि वे सब वही हैं, बदल वह खुद गया है। पहले वह सोलह साल का लौंच बैलका था अब तो गबरू जवान हो गया है।'[2]

'रे चरना। बे कनचिप्पा।। साला डुगडुगी तो क्या बजा रहा है, किसी को कुछ समझता ही नहीं। यों अकड़कर चला जा रहा है जैसे बैंड बाजा का बिगुलची हो। कब से पूछ रहा हूं कि यह बिना मौसम की शहनाई काहे को बजाई जा रही है, पर यह गुलमवा का नाता है कि एक दिन रुककर जवाब तक नहीं देता।'[3]

' वाह-वाह, , ई सब गुलत है, फरेब है। अरे वाह मियां जी वाह। हमको आप जोलहकट्टी मत सिखाइये। ए इहा न लगिहैं राउर माया, वाह रे वाह।'[4]

लेखक ने कौवारोर, किरिया-कसम, किरौध, बिरई-चुरगुन, सुकुंवार, जरखरीद, मुंहफट, लमहर, पोरसा आदि सैकड़ों शब्दों का, फांव-फांव, लोहो-लोहो, ओहो-ओहो जैसी ध्वन्यात्मक विशिष्ट शब्दावली का; पेल पराना, छिक्का फटना, फसलमेंट पाल्टी आदि जैसे मुहावरों का लोकभाषा के तल से छानकर उद्धार किया है। लोकोक्तियों

---

१ अलग अलग वैतरणी, पृ० २५

२ वही, पृ० ५२

३ वही, पृ० ११५

४ वही, पृ० २७८

और काव्यमय उपमाओं ने भाषा के रचाव को और भी सुगढ़ बना दिया है 'वह फिर धीरे-धीरे गाने लगता । एक फुसफुसाहट, एक बेचैनी जैसे, हहराता आंधी में चिड़ियों के बेबस बच्चे चासते चले जा रहे हैं... ।'[1] 'बचेदा कुछ लत से आँका कि अभी पुस्तकबाजी हो सकता है ।'[2] 'रारा की नकली फंसरी कभ भेद छुपा न सकेगी ।'[3] 'पुजैया के बकरे को भी कनइल की माला पहनाई जाती है ।'[4] 'खाने को ठिकाना नहीं और पुजैया में बैंड बाजा ।'[5] 'पुष्पा तो जैसे ओड़हुल का फूल था लाल सिंधौरे पर रखा हुआ, टटका फूल ।'[6] इस प्रकार भाषा की विशिष्ट बानगी और अद्भुत लाजगी पूरे उपन्यास में देखा जा सकता है ।

-०-

---

१ अलग अलग वैतरणी, पृ०३१

२ वही, पृ०५२

३ वही, पृ०८५

४ वही, पृ० १३६

५ वही, पृ०१६१

६ वही, पृ० १७५

षष्ठ अध्याय

-0-

ऐतिहासिक शिल्प-विधान

ऐतिहासिक शिल्प-विधान के उपन्यासों में इतिहास तत्व अथवा वर्णित अतीत का सघन वातावरण उपन्यस्त किया जाता है । इनमें अन्य प्रकार के शिल्प रूपों-- प्रतीकात्मक, वर्णनात्मक,विश्लेषणात्मक,नाटकीय आदि का समावेश हो सकता है, किन्तु प्रधानता अतीतकालीन वातावरण के जीवन्त निर्माण या इतिहास की होती है ।

जगत की विविध घटनाएं जो अतीत बन चुकी हैं,हमारा इतिहास है और जो कुछ भी आज घटित हो रहा है,हमारा वर्तमान इतिहास है । इस विशद् अर्थ में समस्त मानव एवं मानवेतर प्रकृति तथा उनके अनुस्युत फल इतिहास ही हैं[१] । इतिहासकार घटनाओं का तथ्यपरक,बिखरी सामग्री को संगठित कर उसका विवरण देता है, साथ ही उसके निष्कर्ष स्वरूप उस काल की सामाजिक राजनीतिक एवं सांस्कृतिक स्थिति का निरूपण करता है । इस प्रकार वह बीते काल का स्थूल यथार्थ प्रस्तुत करता है । ऐतिहासिक उपन्यासकार भी अतीत के यथार्थ को ही निरूपित करता है,क्योंकि उपन्यास यथार्थ से कभी भी अलग नहीं

---

१ गोविन्द जी(सम्पादक) : `ऐतिहासिक उपन्यास- प्रकृति एवं स्वरूप`,पृ०७३

नहीं हो सकता-- किन्तु उसके प्रस्तुतीकरण का ढंग इतिहास से भिन्न और भावपरक होता है। वह उस यथार्थ को, युग जीवन को भावात्मक स्तर पर संश्लिष्ट रूप में सम्प्रेषित करने का प्रयास करता है। पात्रों और घटनाओं को अधिकाधिक संवेदनशील बनाने के का उपक्रम करता है। उस युग का मनुष्य क्या सोचता है, उसके मन में भावनाओं के कैसे तूफान हैं, वह किन परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य से गुजरा है आदि को स्पर्श करता है। उपन्यासकार इतिहास को सहानुभूति और ईमानदारी से देखता है। इतिहासकार के वर्णन में व्यक्तिगत राग-द्वेष समाहित हो सकता है, किन्तु उपन्यासकार राग-द्वेष से मुक्त, सत्य को अधिक गहराई से स्थापित करता है। इतिहासकार केवल महत्वपूर्ण तथ्यों एवं चरित्रों को प्रस्तुत करता है, उसका वर्णन तथ्यपरक और नीरस होता है, किन्तु ऐतिहासिक उपन्यासकार छोटी से छोटी घटनाओं एवं छोटे से छोटे चरित्रों को भी उत्कृष्टता एवं सम्भावनाओं के साथ मुखर करता है। वस्तुत: इतिहास में अनेक ऐसे स्थल होते हैं, जो विस्तार चाहते हैं, ऐसी संवेदनाएं रहती हैं जो मानव-व्यवहारों से जुड़ने के लिए मचलती रहती हैं, अनेक अधूरी कहानियां होती हैं, जो पूरी किये जाने की अपेक्षा रखती हैं।[1] उपन्यासकार उन्हें पहचानता है और महत्वपूर्ण बनाकर अपनी रचना में रखता है।

इतिहास और ऐतिहासिक उपन्यास दोनों में ही कल्पना का उपयोग होता है। कोई इतिहासकार यह दावा नहीं कर सकता कि उसने इतिहासनिर्माण में कल्पना का कुछ भी उपयोग नहीं किया है। वास्तव में कोई भी मानवीय क्रिया या कार्य-व्यापार कल्पना के बिना सम्भव नहीं है --गणित भी नहीं।[2] तो क्या इतिहास और ऐतिहासिक उपन्यास दोनों में कोई अन्तर नहीं है। तात्विक दृष्टि से देखने पर दोनों में कोई विरोध नहीं प्रतीत होता, किन्तु दोनों की रचना-प्रक्रिया में पर्याप्त अन्तर देखा जा सकता है। इतिहासकार कल्पना का उपयोग तथ्य संग्रह करते हुए बिखरी ऐतिहासिक सामग्री को संगठित करने और इतिहास का वैज्ञानिक और प्रामाणिक निर्माण करने के लिए करता है

---

१ गोविन्द जी (सम्पादक) : 'ऐतिहासिक उपन्यास प्रकृति एवं स्वरूप, पृ० ६४

२ वही, पृ० १०२

ऐतिहासिक उपन्यासकार कल्पना के सहारे अतीत का यथार्थ प्रस्तुत करता है, उस काल का जीवन्त एवं सघन वातावरण प्रस्तुत करता है । युग के आन्तरिक मंतव्य और सत्य के प्रतिपादन में अनुभूति के सम्प्रेषण में कल्पना का यथेष्ट सहारा लेता है । वह बिम्बों के माध्यम से चित्रित युग की चेतना को अभिव्यक्ति प्रदान करता है । वह इतिहास का आधार लेकर सूक्ष्म कल्पना के सहारे केवल अतीत युग को ही प्रस्तुत नहीं करता,बल्कि उसके रूप,सौन्दर्य और आकर्षण को पुनर्जीवित करके पाठकों के समक्ष जीता जागता हुआ खड़ा करता है । इतिहासकार जहां किसी युग या इतिहास विशेष का केवल स्मरणीय वर्णन करता है, वहां उपन्यासकार उसका विविध रूप और उसकी विविध सम्भावनाओं को साकार करता है ।अमहत्वपूर्ण पात्र और घटनाएं भी शक्तिशाली और जीवन्त बनकर हमारे सामने चेतन हो उठती हैं । अतीत को साकार करने के प्रयत्न में ऐतिहासिक उपन्यासकार को ऐतिहासिक सत्य के प्रति जागरूक होते हुए भी तथ्यों एवं घटनाओं के इधर-उधर हो जाना पड़ता है । और काल्पनिक घटना-प्रसंगों की उद्भावना भी करनी पड़ती है । कारण कि उसके लिए वास्तविक घटनाएं अथवा तथ्य साध्य नहीं, साधन होते हैं,जिनके भीतर निहित इतिहास की भाव-वृत्ति को चित्रित करना ही उसका लक्ष्य होता है और उसके इस प्रयास में कल्पना का विशेष योग रहता है[१] ।

ऐतिहासिक उपन्यास की सृजन-प्रक्रिया में न केवल अतीत के सत्य का ही उद्घाटन होता है, प्रत्युत कभी-कभी और प्राय: वर्तमान की समस्याओं और उसकी चेतना को भी अतीत से सम्पृक्त कर दिया जाता है । लेखक वर्तमान समस्या का समाधान अतीत के वातावरण में खोजने का प्रयास करता है । इस रूप में अतीत की उपयोगिता और वर्तमान की कमजोरियां उजागर होती हैं । यहां कहा जा सकता है कि ऐतिहासिक उपन्यासकार वर्तमान समस्याओं के

---

१ गोविन्द जी(सम्पादक) : 'ऐतिहासिक उपन्यास प्रकृति एवं स्वरूप',पृ०१३०

हल के लिए व्यक्तिगत अनुभवों का सम्प्रेषण करता है । सम-सामयिक समस्याओं को उकेर कर उसकी व्याख्या करता है । वर्तमान के कई सारे यथार्थ-- सामाजिक,राजनीतिक,सांस्कृतिक आदि अतीत युग के जीवन से सम्पुष्टि प्राप्त कर नई अर्थवत्ता धारण करते हैं । लेखक ऐतिहासिक घटनाओं का सहारा लेकर प्रतीकात्मक और व्यंजनात्मक रीति से वर्तमान व्यवस्था पर प्रहार करता है । इस प्रकार ऐतिहासिक शिल्प-विधान एक साथ द्विविध यथार्थ-- अतीत और वर्तमान-- को प्रस्तुत करता है ।

ऐतिहासिक शिल्प-विधान के उपन्यासों में लेखक इतिहास का उपयोग निम्न प्रकार से कर सकता है--

(१) पात्र और कथानक नितान्त काल्पनिक होकर भी,लेखक किसी युग के वातावरण को इसप्रकार स्थापित करता है कि उस युग का चित्र साकार होकर पाठकों के समक्ष स्पष्ट दिखाई पड़ने लगता है । इसप्रकार के उपन्यासों में इतिहास का आभास मात्र होते हुए भी ऐतिहासिक वातावरण या युग का जीवंत चित्र उपन्यस्त किया जाता है ।

(२) कुछ उपन्यासों की कथा तो ऐतिहासिक रहती है, किन्तु पात्रों का रूपायन काल्पनिक होता है । उसकी दृष्टि सम्पूर्णत: कथा पर केन्द्रित रहती है । कथा के माध्यम से ही वह अतीत युग का वातावरण प्रस्तुत करता है । जैसे आचार्य चतुरसेन का `वैशाली की नगरवधू` तथा वृन्दावनलाल वर्मा का `विराटा की पद्मिनी` ।

(३) कभी-कभी कुछ ऐतिहासिक घटनाओं को लेकर ही ऐतिहासिक उपन्यास गढ़ दिया जाता है । इसमें वे घटनाएं जो प्रसार पाना चाहती थी, इतिहासकारों की दृष्टि में नगण्य रह चुकी है,उपन्यासकार उनको जीवन्त बनाकर चेतना प्रदान करता है । इतिहास में ये महत्वपूर्ण किन्तु भूली हुई घटनाएं ही मात्र ऐतिहासिक होती हैं और शेष कथा तथा पात्र काल्पनिक होते हैं । लेकिन वातावरण का जीवन्त रूपायन यहां भी इष्ट होता है । वृन्दावनलाल वर्मा का `मुक्तविक्रम` इसी साध्य का उदाहरण है ।

(४) इसके अतिरिक्त शुद्ध इतिहास का भी उपन्यासों में उपयोग किया जाता है। इसमें लेखक मूलरूप से ऐतिहासिक पात्रों तथा कथ्य पर आश्रित होता है, किन्तु कल्पना के सहारे वह उसमें रोचकता और आकर्षण प्रदीपित करता है। कल्पना का कुशल संयोजन यहां इतिहास का रूप ले लेता है। इसप्रकार के उपन्यासों की सृजन प्रक्रिया में लेखक को पर्याप्त सावधानी बरतनी होती है। ऐतिहासिक पात्र, कथा तथा कल्पना मिलकर युग के वातावरण को सघन बनाते हैं। सत्यकेतु विद्यालंकार का 'चाणक्य' वृन्दावनलाल वर्मा का 'झांसी की रानी' ऐसे ही उपन्यास हैं।

इतिहास उपयोग के इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि उपन्यास में चित्रित युग के वातावरण की अभिव्यक्ति लेखक की पहली और अन्तिम शर्त है। वह वातावरण को बिम्बों एवं चित्रों के सहारे संश्लिष्ट रूप में उजागर करता है। वातावरण के जीवन्त निर्माण में यदि लेखक असफल हो गया तो उसके ऐतिहासिक उपन्यास का ढांचा बिखर जायगा और पाठकों का उसके प्रति आकर्षण प्राय: समाप्त हो जायगा। ऐतिहासिक शिल्प विधान में कथानक, चरित्र चित्रण तथा एवं भाषिक संगठन सभी वातावरण आश्रित होते हैं। किसी भी युक्ति से अतीत या चित्रित युग का वातावरण जीवन्त रूप में अभिव्यक्ति पा सके, उसी के अनुरूप पात्र एवं कथानक एवं भाषिक संरचना को संगठित एवं मुखर किया जाता है।

ऐतिहासिक शिल्प-विधान का उपन्यासकार एक ऐसे संसार का सृजन करता है, जिसमें पाठक उसी संसार में विचरण करते हुए अनुभव करता है। वह वर्तमान से भिन्न चित्रित अतीत में अपने को खोया हुआ पाता है। इस हेतु लेखकय युग की परम्पराओं, रीति-रिवाज, भाषा, आदर्श, आस्थाओं एवं जीवन के यथार्थ को अभिव्यक्ति प्रदान करता है। वह वर्तमान से भिन्न चित्रित अतीत में अपने को खोया हुआ पाता है। इस हेतु लेखक युग की परम्पराओं, रीति-रिवाज भाषा, आदर्श, आस्थाओं एवं जीवन के यथार्थ को अभिव्यक्ति प्रदान करता है। दूसरे शब्दों में वह वातावरण के उरेहण द्वारा ऐतिहासिक यथार्थ को रूपायित करता है। कथाकार अत्यन्त सूक्ष्म एवं संश्लिष्ट कल्पनाओं के सहारे पाठकों की

मन:स्थिति को उस युग से सम्पृक्त करता है। एक प्रकार से युग ही एक चरित्र के रूप में चित्रित होता है। लेखक के रचना-संसार में पात्र जैसे आज भी उसी प्रकार जीते-जागते और बोलते प्रतीत होते हैं, घटनाएं जैसे आज भी उसी प्रकार घटित हो रही हैं। वह पात्रों का केवल बाह्यचित्रण ही नहीं करता या इतिहास में जिस प्रकार उनका नियोजन किया गया है, उससे ही संतोष नहीं कर लेता, बल्कि उनके मानसिक संसार में प्रवेश कर उनकी सच्चाई को और भी अधिक जीवन्त बनाता है। इतिहास में चित्रित चरित्र को और अधिक सशक्त एवं यथार्थ रूपमें अभिव्यक्ति देता है।

प्रसिद्ध ऐतिहासिक पात्रों के चयन में यह सुविधा रहती है कि वे अपने साथ एक खास संसार अथवा वातावरण लेकर पाठकों के समक्ष उपस्थित होते हैं और पाठक आसानी से उस युग के से सम्पृक्त हो जाता है। लेखक उन प्रसिद्ध ऐतिहासिक पात्रों एवं घटनाओं की सच्चाई को उजागर करने के लिए उनकी व्याख्यायित भी करता है। इसके अतिरिक्त वह महत्त्वपूर्ण पात्रों के अलावा सामान्य ऐतिहासिक चरित्रों का जीवन भी चित्रित करता है, जो इतिहास नहीं कर पाता। वह चित्रित युग के लोक-जीवन में प्रवेश करता है और अन्धकार में विलीन कई सारे जीवन सत्यों को रूपायित करता है। इस प्रकार वह अतीत युग को और उसके यथार्थ को अधिक ईमानदारी से स्पर्श करता है।

ऐतिहासिक उपन्यास में वातावरण के जीवन्त सृजन के लिए भाषा को युग के अनुसार उसकी संवेदना के अनुरूप ढालना होगा। यदि किसी उपन्यास में बुद्धकालीन वातावरण को उपन्यस्त किया गया है तो उसकी भाषा भी उसी युग के अनुरूप गढ़नी होगी, क्योंकि इससे ऐतिहासिक शिल्प-विधान की रचना अधिक सशक्त एवं प्रासंगिक बन सकेगी। लेखक उस युग के लोकजीवन से सम्बन्धित भाषिक संरचना पर भी पर्याप्त ध्यान देता है। चरित्रानुकूल भाषा की विविधता पर भी ध्यान केन्द्रित करता है यानी राजा

और सम्भ्रांत किस प्रकार बोलते हैं, उनकी भाव-भंगिमाएं किस प्रकार होती हैं तथा सामान्य जीवन के पात्र चरित्रानुकूल किस प्रकार आचरण करते हैं, उनको उसी भाषा में संवारने का प्रयत्न करता है। लेकिन बड़े से बड़े कथाकार भी यहां भूल कर बैठते हैं।

ऐतिहासिक शिल्प-विधान के उपन्यासों के सृजन के लिए एक महत्त्वपूर्ण शर्त यह है कि लेखक चित्रित अतीत के औचित्य को पूर्ण कुशलता से उजागर करे। कोई भी तथ्य यदि वह कालविरुद्ध चित्रित करता है, तो उस रचना से पाठक साक्षात्कार नहीं कर पायेगा। हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में -- 'औचित्य उपन्यास की जान है। औचित्य का अभाव सर्वत्र खटकता है, पर उपन्यास विशेषकर ऐतिहासिक उपन्यास में उसका अभाव तो बहुत अधिक खटकने वाला होता है। पात्रों के चरित्र-चित्रण में उनकी बातचीत में उसके वस्त्रालंकारों के वर्णन में उनकी रीति नीति के उपस्थापन में सर्वत्र औचित्य की आवश्यकता होती है। सर्वत्र यह आवश्यक है कि उपन्यासकार पूरी ईमानदारी और सच्चाई से काम ले। इन सब बातों में देश, काल और पात्र के ज्ञान की आवश्यकता रहती है। ऐतिहासिक उपन्यास लिखने वाला लेखक उस काल के वातावरण से बंधा होता है। वह कोई भी ऐसी बात अगर लिख दे जो उस जमाने में संभव नहीं थी तो बात खटक जायेगी और सहृदय पाठक को रसस्वाद में बाधा उपस्थित होगी[1]।'

हमने यहां स्वातन्त्र्योत्तरकालीन तीन प्रमुख ऐतिहासिक उपन्यासों के शिल्प विधान का विशिष्ट अध्ययन प्रस्तुत करने का प्रयास किया है; जो विभिन्न दृष्टिकोणों से विभिन्न संसार का निर्माण करते हुए दृष्टिगोचर होते हैं। ये एक दृष्टि से ऐतिहासिक उपन्यासों में प्रयोग भी हैं। 'मुर्दों का टीला' (रांगेय राघव) प्रागैतिहासिककाल के एकदम अछूते क्षेत्र को

----

१ गोविन्द जी (सम्पादक) : 'ऐतिहासिक उपन्यास प्रकृति एवं स्वरूप', पृ०९८

बिखरी हुई सामग्रियों को एकत्रित कर कल्पना के उन्मुक्त पंखों के सहारे उस युग के सत्य को उसकी संवेदना को प्रतिष्ठित करता है । इसे इतिहास का आभास प्रस्तुत करने वाला उपन्यास कहा जा सकता है । `चारु चंद्र लेख` (हजारी प्रसाद द्विवेदी) ऐतिहासिक उपन्यास की एक अलग और विशिष्ट भंगिमा को प्रस्तुत करता है । सिद्धों एवं नाथों के तांत्रिक संसार का उपन्यास में उपयोग करने के लिए द्विवेदी जी ने अनेक बिखरी हुई ऐतिहासिक सामग्रियों को कल्पना से सम्पृक्त करने का प्रयास किया है । इसे अर्द्ध ऐतिहासिक उपन्यास कोसंज्ञा दी जा सकती है । `कुणाल की आंखें` (आनन्द प्रकाश जैन) में इतिहास प्रसिद्ध अशोक चरित्र का विरोध प्रकट करते हुए कुणाल को एक नये किन्तु अधिक सशक्त विचारधारा का प्रतिनिधित्व करते हुए दिखाया गया है । लेखक ने यहां ऐतिहासिक सामग्री का पूर्णत: उपयोग किया है और उसी के अनुसार व्याख्या भी की है । अस्तु, इसे शुद्ध ऐतिहासिक उपन्यास कहा जा सकता है।

`मुर्दों का टीला (१९४८)[१]

`मुर्दों का टीला` अपना प्रगतिशील दृष्टि तथा अछूते काल के इतिहास को कथा में समेटने के कारण ऐतिहासिक उपन्यासों में महत्वपूर्ण स्थान रखता है । भारत का क्या विश्व के प्राचीनतम इतिहास को उपन्यास के कलेवर में बांधना अपने आप में पर्याप्त कौशल की मांग करता है,जब कि उस काल का इतिहास अभी गर्भस्थ हो-- केवल खुदाई में प्राप्त अवशेषों के आधार पर इतिहास की कल्पना की गई हो । इस सन्दर्भ में लेखक को उपन्यास की कथा ऐतिहासिक किन्तु रोचक बनाने के लिए पर्याप्त कल्पना का सहारा लेना पड़ा है, लेकिन उपलब्ध ऐतिहासिक सत्य से वह अपने-आपको बचाता नहीं है । उसकी रक्षा करते हुए तथा कल्पना का सहारा लेते हुए आकर्षण एवं कुतूहल को बनाये रखने में उसे सफल कहा जा सकता है ।

---

१ रांगेय राघव : `मुर्दों का टीला`,किताब महल,इलाहाबाद,प्र० सं०,१९४८

सिन्धुनद के तीर पर आज से सहस्रों वर्ष पहले मोहनजोदड़ो व्यापार का एक बहुत बड़ा सुसभ्य केन्द्र था । उस समय सुदूर पश्चिम में एलाम और सुमेर, क्रीट में माइनोन सभ्यता तथा उत्तर में हड़प्पा थे[1] । द्रविड़ भारत के ही मूलनिवासी थे अथवा बाहर से आकर यहां बसे । इस सम्बन्ध में लेखक दूसरे मत को स्वीकार करता है । बिलोचिस्तान के एक भाग में ब्राहुई बोली जाती है जो धुर दक्षिण की एक भाषा से समानता रखती है । या तो द्रविड़ आर्यों के प्रहार से एक टुकड़ा छोड़कर बाकी दक्षिण भाग गये, या धीरे धीरे फैल गये[2] । इतिहास-कारों की मान्यता है कि मोहनजोदड़ों की सभ्यता को प्रबल आर्यों ने ध्वस्त कर दिया होगा । ऋग्वेद के एक- नौ मण्डल में आता भी है कि आर्यों ने कीकट, पाणिय,किरात आदि को पराजित किया , हो सकता है कि इन विजित जनपदों में मोहन-जोदड़ों और हड़प्पा भी रहे हों । किन्तु उपन्यास का लेखक इस मत को स्वीकार नहीं करता । उसके अनुसार --" ३५०० ई०पू० ही लगभग आर्यों के आने का समय बताया जाता है । क्योंकि अभी तक मोहन जोदड़ो में आर्य चिन्ह नहीं मिले हैं, मैं समझता हूं वे यहां नहीं आये और जब आये तब मोहन-जो-दड़ो नहीं रहा[3] । एक महानगर का मिट जाना आकस्मिक दुर्घटना रही होगी ।" ऐतिहासिक उपन्यास मेंलेखक तत्कालीन इतिहास की हर बात को नहीं दिखा सकता । उसे कुछ तो छोड़ ही देना पड़ता है[4] । इस दृष्टिसे रांगेय राघव ने 'मुर्दों का टीला' की सृजन-प्रक्रिया या शिल्प-विधान में प्राप्त ऐतिहासिक सामग्री से कुछ बातों को तो संकेत कर दिया है और कुछ को एकदम छोड़ दिया है । इसलिए पाठक-प्रागैतिहासिक अतीत से सम्पूर्णत: साक्षात्कार नहीं कर पाता । जो घटनाएं या विषय इसमें शामिल होने के लिए मचलरही थीं, वह संकेत देकर रह गईं । इस कमजोरी को हम आगे क स्पष्ट करेंगे ।

----

१ उपन्यास का आमुख,पृ०(घ) से
२ वही, पृ० (घ)
३ वही, पृ०(ङ)
४ वही, पृ० (ङ)

मोहन-जो-दड़ो का अर्थ है-- मृत का स्थान अर्थात् मुर्दों का टीला[1]। अर्थात् उपन्यास का नामकरण व्यंजना प्रधान तथा उसमें वर्णित इतिहास से सीधे सीधे जुड़ने वाला है। यह नाम प्रागैतिहासिक कालीन वातावरण को साथ लेकर आता है और अपने कालके वातावरण व्यंजित करने में समर्थ० है।

उपन्यास की कथा बाईस अध्यायों या परिच्छेदों में विभक्त है। कथानक का सम्पूर्ण ताना-बाना मोहन-जो-दड़ो महानगर पर केन्द्रित है, कीकट और मिश्र आदि के कतिपय प्रसंग भी इस केन्द्रीय कथा से सम्बृक्त हैं। लेकिन, लेखक ने इन प्रसंगों को सूचना मात्र दी है। इस दृष्टि से उपन्यास के कथानक को पर्याप्त सुगठित तथा कसा हुआ कहा जा सकता है। कथानक निर्माण में लेखक ने ऐतिहासिक सामग्री का उपयोग किया तो है, लेकिन उन प्रसंगों को जानबूझ कर छोड़ दिया है, जिनसे उपन्यास के वातावरण विन्यास में अधिकाधिक और भी उभार आ सकता था। बल्कि उसने कल्पना का उपयोग अधिकाधिक करने का प्रयत्न किया है। इसलिए इसे इतिहास का आभास प्रस्तुत करने वाला उपन्यास कहा जा सकता है।

मोहन-जो-दड़ो का महा श्रेष्ठि मणिबंध मिश्र से व्यापार करके अपने साथ एक विशाल धनराशि तथा सुन्दर दास-दासियों और मिश्र आमेन-रा के साथ महानगर लौटता है। महानगर उसका सम्राटवत स्वागत करता है। मणिबंध अपने साथ लाई हुई दासी नीलुफर के सौन्दर्य पर मुग्ध होकर अंकशायिनी बना लेता है। वह श्रेष्ठि के महल की रानी बन जाती है, उसके साथ उसके स्वामि-भक्त एवं बाल सखा दासी हेका तथा दास अपाप भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। कई पृष्ठ बीत जाने पर भी कथा का कोई महत्त्वपूर्ण सूत्र स्पष्ट नहीं होता। मात्र मणिबंध के ऐश्वर्य एवं उसके रोमान्स, भोग-विलास का वर्णन मिलता है। पड़ोस के कीकट देश से भागकर आई हुई गायिका वेणी को प्रलोभन एवं वैभव के मोह में मणिबंध बांध लेता है और अब उसे अपने प्रेम की मल्लिका बनाने की इच्छा

---

१ उपन्यास का आमुख, पृ०(घ)

करता है । उसकाप्रेमी विल्लिभिट्टुर जो अधिक स्वच्छन्द विचारों वाला एवं निश्छल हृदय का है, कुछ भी आपत्ति प्रकट नहीं करता । इस प्रसंग के साथ ही कथानक में थोड़ी-बहुत उलझन एवं उसके विकास की भूमिका स्पष्ट होने लगती है । उपेक्षित नीलूफर अपने अधिकार को प्राप्त करने के लिए लालायित हो उठती है । अब उसे अपने दासत्व का भी बोध होता है । वैभव विलास में रहते हुए वह अपने दासत्व को भूल गई थी । यदि वह दासी न होती तो क्यों उपेक्षित की जाती ? इसलिए नारी मर्यादा एवं दास स्वातन्त्र्य के लिए संघर्ष रत हो जाती है ।

नीलूफर पहले तो विल्लिभिट्टुर का षड्यन्त्र समझकर उसकी हत्या करने का प्रयास करती है, किन्तु सत्य प्रकट हो जाने पर स्वयं गायक की निश्छलता पर मोहित हो उठती है । वह अब छल-छद्म की दुनिया से दूर विल्लिभिट्टुर के साथ गृहस्थी का सुख पाने की कामना करती है । इसी बीच बर्बर आर्यों के आक्रमण से त्रस्त कीकट देश के नर-नारी भाग कर महानगर में शरण लेते हैं, लेकिन महानगरवासी उन निर्वासितों के प्रति सहानुभूति नहीं प्रकट करते । वे अपने विलास और मदिरापान में ही मस्त रहते हैं । नीलूफर और विल्लिभिट्टुर शोषित दासों, एवं उपेक्षित कीकट नर-नारियों के साथ मणिबंध के विरुद्ध विद्रोह का नेतृत्व करते हैं । उनका साथ महानगर का शोषित नागरिक भी देता है । कीकटदेशवासी राजकुमारी चंद्रा भी उस नेतृत्व में साथ देती है । इस कथा-प्रसंग से कथानक में परिवर्तन एवं पर्याप्त आकर्षण का सूत्रपात होता है ।

इस संघर्ष की एक और भूमिका आमेन-रा की दुरभिसंधियों से निर्मित होतीहै । वह मणिबंध को सम्राट बनाने एवं स्वयं को उसके द्वारा निर्मित साम्राज्य का महामंत्री बननेका कुचक्र रचता है । मणिबंध इस मृगतृष्णा के मोह का शिकार हो जाता है । आमेन-रा गणतंत्रात्मक शासन को समाप्त करने तथा निरंकुश शासन की स्थापना के लिए प्रेरित करता है । वह बर्बर आर्यों से महानगर की रक्षा की ओर भी संकेत देता है । मिस्र के फराऊन के समान शक्तिशाली बनने का स्वप्न दिखाता है ।

आमेन-रा की मंत्रणा के अनुसार मणिबंध ने शान्तिरक्षकों की सेना को धन देकर अपनी ओर मिला लिया और अधिक से अधिक धन देकर विशाल सेना को सुसज्जित करना प्रारम्भ कर दिया ।अधिकार एवं शक्ति पाकर सेना ने नगरवासियों पर अत्याचार करना प्रारम्भ कर दिया । गणपतियों ने संकटकालीन सभा में मणिबंध से सन्धि करने का कायरतापूर्ण प्रस्ताव किया, किन्तु आमेन-रा के कुचक्रों ने उसे ठुकरा दिया । और शान्ति प्रतीक चोल्शी कन्या को बन्दी बना लिया । आमेन-रा ने गणतंत्र को समाप्त करने के लिए गणों की सभा पर आक्रमण कर दिया । गणपतियों ने पर्याप्त संघर्ष किया, किन्तु मणिबंध की विशाल सेना के आगे एक-एक कर समाप्त हो गये ।

गणतंत्र समाप्त हो जाने पर मणिबंध और भी निरंकुश हो उठा । अब उपेक्षित समाज, शोषित प्रजा, आततायी के विरोध में विद्रोह कर बैठी । चिल्लभिद्दुर, नीलुफर, राजकुमारी चन्द्रा, दासी हेका, दास अपाप और श्रेष्ठि विश्वजित के नेतृत्व में पर्याप्त शस्त्राभाव होने पर भी जनता ने अन्त तक संघर्ष किया । घनघोर युद्ध के पश्चात् जनसेना पराजित हुई । नीलुफर अपाप के साथ वेणी के प्रासाद में इस आशा से जाती है कि शायद अन्तिम अस्त्र काम दे जाय । लेकिन वह वेणी को समझाने में असफल हो जाती है और वहीं पर आमेन-रा की तलवार का शिकार बन जाती है । साथही आमेन-रा को भी अपने अत्याचारों का मूल्य चुकाना पड़ा -- दास अपाप वहीं पर उसकी हत्या कर देता है और भागते हुए रास्ता भूल जाने पर बन्दी बना लिया जाता है ।

युद्ध भूमि में चिल्लभिद्दुर घायल होकर बन्दी बना लिया जाता है, राजकुमारी चंद्रा आत्महत्या कर लेती है । एक-एक कर विद्रोहियों को बन्दी बनाकर खुले समारोह में बध करने की आज्ञा दी जाती है । और चिल्लभिद्दुर की मृत्यु के समय नगर का सारा जन-समाज क्रन्दन कर उठा, किन्तु पूर्व प्रेमिका वेणी शान्त बनी रही । सम्राट बन जाने पर रात्रि को मदिरा पान के समय मणिबंध अपने जीवन की कहानी वेणी को सुनाता है । उसी समय विक्षिप्त

श्रेष्ठि विश्वजित मणिबन्ध की हत्या के उद्देश्य से प्रासाद में छिपकर प्रवेश करता है और मणिबंध का कहानी सुनकर चौंक उठता है। लेखक ने चमत्कारिक ढंग पर एक रहस्य को अनावृत किया है। विश्वजित को अपने खोये हुए पुत्र की याद आती है और मणिबंध ही उसका खोया हुआ पुत्र था। उसी समय चमत्कारिक ढंग पर वेणी विल्लिभिट्टुर के साहस एवं प्यार के लिए विदिप्त होकर भागती है। अतृप्त मणिबंध उनके पीछे भागता है और विश्वजित अपने पुत्र को अंकमें लेने के लिए भागता है। तभी पृथ्वी का हृदय फट जाता है। प्रबल भूकम्प में महानगर का समस्त वैभव समाप्त हो जाता है। सम्राट और साम्राज्य की कल्पना भी धूल धूसरित हो जाती है।

कथानक के इस सार संक्षेप के साथ कहा जा सकता है कि इसका गुम्फन बड़ा ही कुशल, आकर्षक एवं आद्यन्त कुतूहल को बनाये रखने वाला है। कथानक के विकास में अनेक चमत्कारिक घटनाओं एवं परिवर्तनों का समावेश हुआ है। लेखक को जहां कहीं अवसर मिला है, उसने चमत्कार उत्पन्न करके पाठकों को चौंकाया है। चमत्कारिक घटनाओं के अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। वेणी और विल्लिभिट्टुर का महानगर का में प्रवेश और मणिबन्ध का वेणी के प्रति मोह एकाएक और हठात् है। उसका आभास पाठकों को पूर्व में ही कहीं भी दिखाई नहीं देता। नीलूफर द्वारा विद्रोहियों का नेतृत्व करना एवं विल्लिभिट्टुर जो सांसारिक प्रपंचों से अलग स्वच्छंद जीवन में मस्त विचरण करता था, एकाएक विद्रोहियों का नेता बन जाता है, भी आकस्मिक कहा जा सकता है। आमेन-रा मणिबंध के मन में सम्राट बनने की कामना भी एकाएक जगाता है। इसके अतिरिक्त अन्य अनेक आकस्मिक घटनाएं चमत्कारिक ढंग से कथा में मोड़ उत्पन्न करती है। लगभग आधे उपन्यास तक कथानक निर्जीव गति से आगे बढ़ता रहता है, उसमें किसी प्रकार का आकर्षण दिखाई नहीं देता किन्तु, जब आमेन-रा मणिबंध को सम्राट बनने के लिए प्रेरित करता है तथा नीलूफर विल्लिभिट्टुर, चंद्रा आदि विद्रोही झंडा खड़ा कर संघर्ष करते हैं, वहां से कथानक में यथेष्ट प्राणवत्ता दिखाई देने लगती है और फिर अंत तक अत्यन्त सजीव गति से परिणति प्राप्त करता है।

कथा-वर्णन में यद्यपि लेखक ने पर्याप्त ऐतिहासिक सामग्री का उपयोग किया है और उसके अनुसार वातावरण निर्माण में सहायता किया है, किन्तु कई स्थलों पर उसने जानबूझ कर ऐतिहासिक घटनाओं एवं प्रसंगों को संकेत मात्रकर दिया है। बर्बर आर्यों के आक्रमण का उसने संकेत तो किया, किन्तु उसे अधिक तीखे एवं सघन रूपमें व्यक्त करने में असफल रहा है। उसका आभास मात्र देने के बजाय यदि उसका और विस्तार प्रदान कर सकता तो अतीत का वातावरण और जीवन्त होने में सहायक बन सकता था। पड़ोसी देश, कीकट, पणिय, किरात आदि का या तो उसने जिक्र ही नहीं किया, कीकट का संकेत दिया भी है तो वह भी केवल नाममात्र को, कीकट का जनजीवन महानगर के जन-जीवन से जुड़कर और भी वातावरण को सघन बना सकता था। तथा कथा में पर्याप्त आकर्षण बढ़ा सकता था। लेखक की दृष्टि केवल महानगर तक ही स्थिर रह जाती है। इसके अतिरिक्त जिन पात्रों के माध्यम से कथा में परिवर्तन दिखाया है, वे सब विदेशी अथवा महानगर से अलग पात्र हैं। यह तथ्य ऐतिहासिक सत्य को काफी दूर कर देता है। लगता है, लेखक की दृष्टि महानगर की सामंतवादी व्यवस्था और उस शासन के वैभव विलास में सोई जनता को मृतप्राय दिखाने की रही है, महानगर से इतर पात्र ही उस सोई आत्मा में चेतना भर सकते थे और सामंतशाही के खिलाफ विद्रोह करने में सफल हो सकते थे। लेखक का सम्पूर्ण श्रम मणिबंध जैसे उच्च पात्रों एवं उनके आस पास रहते हुए नीलूफर, वेणा, हेका, अपाप, आमेन-रा आदि के जीवन को चित्रित करने में लगा रह जाता है। महानगर के सामान्य नागरिक की जिन्दगी को उसने अल्पांश भी स्पर्श नहीं किया है। इसलिए उपन्यासका यथार्थ एकपक्षीय बनकर रह गया है। कथा में अनेक लम्बे विवरणों की भरमार भी आस्वाद में बाधक हैं। उपन्यास में तीन पक्ष ऐसे हैं, जो जहां तहां कथारस को विस्वादु करते रहते हैं। (१) संवादों में आधुनिक युग के अर्थबोध और उनका व्यर्थ का विस्तार, (२) हत्याओं के बल पर कथा के मोड़ की प्रवृत्ति,[१] (३) दैवी घटनाओं में निहित कथावस्तु का जीवन।

---

१ ललित शुक्ल : 'विचारों का परिवेश', पृ०१५३

उपन्यास का कथानक प्राय: वर्णनात्मक ढंग पर नियोजित है, किन्तु उसमें अन्य शिल्प रूपों का भी सहारा लिया गया है । पात्रों के चरित्र को स्पष्ट करने के लिए पूर्ववृत्तात्मक प्रणाली का उपयोग हुआ है । ये पूर्ववृत्त[1] स्वयं पात्र प्रस्तुत नहीं करते, बल्कि लेखक स्वयं उनकी ओर से व्याख्या करता है ।कहीं कहीं ये पूर्ववृत्त पात्र स्वयं उजागर करते हैं[2] ।कहीं स्मृति प्रणाली के माध्यम से भी विगत जीवन[3] स्पष्ट किया गया है[4] । घटनाओं के बीच मानसिक अन्तर्द्वन्द्व या मानसिक तनाव और चेतना प्रवाह-पद्धति के द्वारा भी इसे अभिव्यक्ति दी गई है ।

ऐतिहासिक उपन्यासों में वातावरण के द्वारा वर्णित अतीत को साकार करना अनिवार्य होता है । `मुर्दों का टीला` में वातावरण निर्माण के लिए लेखक ने पर्याप्त सामग्री देने का प्रयत्न किया है । मोहन-जो-दड़ो के परिवेश को उजागर करने के लिए उसने समकालीन देशों एवं विदेशी राज्यों का संकेत दिया है । कीकट राज्य की जिन्दगी को हल्के ढंग पर स्पर्श करने का प्रयास किया है । समकालीन प्रसिद्ध सम्राट फराऊन का बार बार नाम याद दिलाता है । और मणिबंध को मिस्र के शासन फराउन के समान शक्तिशाली बनने की कामना करता है । मोहन-जो-दड़ो की सभ्यता व्यापारियों की सभ्यता थी । महानगर एक गणतंत्रात्मक प्रणाली के द्वारा संचालित होता था और गणपति प्राय: धनी श्रेष्ठि हुआ करते थे । श्रेष्ठिगण जलपोतों के द्वारा विदेशों से व्यापार करते थे और यथेष्ट धन कमाकर महानगर की समृद्धि में सहायक होते थे । पर्याप्त सम्पत्ति होने के कारण दास-दासियों का क्रय-विक्रय एक सामान्य बात थी और उनकी सामाजिक स्थिति अत्यन्त घृणित थी ।वर्तमान हरिजनों के समकक्ष उन्हें रखा जा सकता है । खुदाई में जो विशाल स्नानागार मिला है, इतिहासकारों के अनुसार लगता है मोहन-जो-दड़ो के लोग विशेष धार्मिक अवसरों पर यहां सार्वजनिक स्नान किया करते होंगे । लेखक ने इस ऐतिहासिक अनुमान को

---

१ `मुर्दों का टीला`, पृ०८३-८४

२ वही, पृ०६८-७२, ६०-६१

३ वही, पृ०२७८-७९

स्वीकार कर महानगरवासियों को धार्मिक उत्सवों पर यहां स्नान करते हुए दिखाया है । द्रविड़ सभ्यता मूर्तिपूजक थी और प्रत्येक हानि को दैवी प्रकोप तथा लाभ को दैवी प्रसाद समझती थी । महानगर का प्रत्येक वासी चाहे वह सामान्य नागरिक हो या श्रेष्ठि सभी अंधविश्वासी हैं । वे सर्प, महामाई, महादेव, वृषवत्स,वृक्ष आदि की पूजा और जादू टोना में विश्वास करते हैं । जीवन में सफलता के लिए उपन्यास का प्रत्येक पात्र अहिराज और महामाई की उपासना में तल्लीन होता हुआ दिखाया गया है । अहिराज और महामाई को प्रसन्न करने के लिए विशाल उत्सव किये जाते हैं जिसमें प्रत्येक नागरिक भाग लेता है । बुरे कर्म करने पर वे अहिराज से भयभीत रहते हैं । उनकी दृष्टि में अहिराज की शक्ति अपरिमित है । महोत्सव के अवसर पर महामाई की उपासना में वृद्ध पुराजी कहता है--'

'हे महिमामई माई हमारा अन्न तेरी करुणा है ।

हमारा जीवन तेरी दया है । अबोध का अपराध ध्यान में रखकर तू हमें दंड न दे । देख, सारा महानगर, दूर दूर के ग्रामवासी आज तेरे चरणों पर अपने पापों का प्रायश्चित करने आये हैं । पथ के दस्यु और दैत्यों , प्रेतों तथा नारकीय पिशाचों का दमन करने वाली माता, रत्नगर्भा, सागराम्बरा, आकाश के वक्षस्थल से मिलकर तीव्र श्वास लेने वाली, महागौरवशालिनी, तू प्रभात की उषा के समान पवित्र और निर्मल है ।[1] मिस्रवासी देवता ओसिरिस को परम शक्ति स्वीकार करते हैं । नीलूफर, हेका, ओसिरिस देवता से बार बार दया की याचना करती है तथा उससे भयभीत रहती हैं । अंधविश्वासों के कारण वे इसको मोहन-जो-दड़ो के देवताओं के से श्रेष्ठ समझती हैं और उन्हें पर्याप्त श्रद्धा नहीं करतीं ।

इस प्रकार लेखक ने अतीत को उजागर करने के लिए वातावरण का कुशलतापूर्वक निर्माण किया है, किन्तु कुछ स्थलों को उसने जानबूझ कर छोड़ दिया है । यदि उस पर पर्याप्त ध्यान दे सकता तो उपन्यास का वातावरण और भी सघन और जीवन्त हो सकता था । वह उपन्यास की सम्पूर्ण कथा

----

१ मुर्दों का टीला', पृ०६५-६६

महानगर पर ही नामित रह पाता है। प्रागैतिहासिक अतीत का सम्पूर्ण युग और उसकी परिस्थितियों का चित्र देने में वह असफल रहा है। महानगर की गणतंत्रात्मक प्रणाली को स्पष्ट करने के लिए गण के स्वरूप, उनके गठन आदि की केवल अस्पष्ट सूचना मात्र दी गई है, कथा में उसको कोई तेवर प्रदान नहीं किया गया है। उपन्यास में प्रस्तुत विवाद को लेकर उसमें पर्याप्त गुंजाइश था। लेखक योगिराज की जिस तपस्या का उल्लेख उपन्यास में करता है, वह सदा कथा से अलग बना रहता है। और जब भूकम्प में सारा महानगर ध्वस्त हुआ, वे भी धरती में समा गये।...... केवल एक ऐतिहासिक संकेत देने मात्र के अतिरिक्तयोगिराज उपन्यास को कोई संजीवनी नहीं देते। नीलूफर और हेका भागते हुए एक ऐसे गांव में पहुंचती है,जहां एक योगी देवता को प्रसन्न करने के लिए अमानुषिक ढंग से स्त्री बलि दे रहा है,श्रद्धालु० ग्रामवासी उस और प्रसन्नता से देख रहे हैं, नीलूफर और हेका भयभीत होकर वहाँ से भाग आती है। इस प्रसंग को मुख्य कथा से सम्पृक्त करने की आवश्यकता थी जिससे युग का सांस्कृतिक वातावरण और भी मुखर हो सकता था। मणिबन्ध एक समृद्ध गांव में जाता है, लेकिन लेखक वहां के जनजीवन को अभिव्यक्ति देने में कतरा गया है। बर्बर आर्य कीकट पर आक्रमण करके वहां अधिकार कर लेते हैं और द्रविड़ों की शिश्न पूजा को देखकर हंसतेहैं। इस प्रसंग को मुख्य कथा से जोड़कर तथा लिंग पूजा की परम्परा को विस्तृत रूप दिया जा सकता था तथा इसी के आधार पर दो संस्कृतियों की पारस्परिक तुलना तथा तेवर दिया जा सकता था। आर्यों से त्रस्त कीकट वासी मोहन-जो-दड़ो भाग कर आते हैं,किन्तु यहां के लोग उन्हें सहानुभुति नहीं देते, वे भिखारियों की तरह भटकते हैं। ये प्रसंग ऐतिहासिक औचित्य के विपरीत है,क्योंकि सैंधव सभ्यता समृद्ध एवं सभ्य समझी जाती है। ये समस्त प्रसंग स्थल उपन्यास के वातावरण को जीवन्त बनाने में हल्का कर देते हैं। लेखक दासों के इतिहास के उद्धार में ही कुछ अग्रसर हो सका है। पर गतिमती मानवता का इतिहास जिसे 'मुर्दों का टीला' में

---

१ ललित शुक्ल : 'दिशाओं का परिवेश, पृ०१५२

अभिव्यक्त होना चाहिए था, वह केवल दासों का ही तो नहीं है । द्रविड़ सभ्यता का इतिहास-बिम्ब भी बहुत उभर कर सामने नहीं आया, जिसका अतीत लेखक ने काकट से जावा तक देखा है[1] ।

उपन्यास के आकार को देखते हुए पात्र बहुलता अवश्य स्वाभाविक है, लेकिन उनके चरित्र-चित्रण में लेखक की दृष्टि बहुत संकुचित रही है । एक तो वह आभिजात्य और दास-दासियों तक ही पात्रों का समावेश कर पाया है, उनका भी कोई जीवन्त रूप नियोजित नहीं हो सका है । दूसरे जो सजीव पात्र हैं भी, उन्हें लेखक ने आग्रह वश चमत्कारों और अत्युक्तियों का घर बना दिया है । नीलुफर और चिल्लिभिक्षुर सजीव पात्र हैं, लेकिन अन्त तक वे विश्वसनीय नहीं बन पाते । उनका चरित्रगत परिवर्तन हठात् और अविश्वास उत्पन्न करने वाला है ।

उपन्यास में स्थिर अथवा सपाट पात्र ढूंढे नहीं जा सकते । पात्रों के विभिन्न चारित्रिक परिवर्तन एवं विकास पाठकों के कुतूहल एवं आकर्षण को बनाये रखने में समर्थ है । लेखक ने उपन्यास के माध्यम से अपनी मार्क्सवादी या द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की विचारधारा को सम्प्रेषित करने का प्रयास किया है, इस कारण पात्र अधिकतर वर्गीय हो चुने गए हैं । विचार आग्रह के कारण ही सीमित क्षेत्रों मे पात्रों का चयन कर सका है । इसलिए लोकजीवन के पात्र यहां स्थान नहीं पा सके हैं । मणिबंध, आमेन-रा, नीलुफर, विश्वजित, वेणी, चिल्लिभिक्षुर, अपाप, हेका, चन्द्रा, अदायप्रधान एवं गणपतिजन सब वर्गीय एवं गतिशील पात्र हैं । पात्रों के चरित्रगत विकास का पूर्व अनुमान पाठक सहज ही नहीं लगा सकते, क्योंकि प्रत्येक पात्र परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तित होते रहते हैं । वर्गीय चरित्र होते हुए भी उनकी व्यक्तिसत्ता समाप्त नहीं हो जाती । उनकी अपनी व्यक्तिगत चारित्रिक बुनावट भी है और व वह अधिक रोचक एवं आकर्षक है । मणिबंध महानगर का महाश्रेष्ठि, अपार ऐश्वर्य का

---

१ ललित शुक्ल : 'दिशाओं का परिवेश', पृ० १५२

स्वामी विषम विलासी एवं क्रूर है। किसी भी सुन्दर यौवना को देखकर उसे प्राप्त करने का कुटिल प्रयास उसके लिए सहज है। नारी उसकी कमजोरी है, लेकिन वह उसे केवल भोग की सामग्री से ज्यादा महत्त्व नहीं प्रदान कर सका है। ऐश्वर्य के अहंकार एवं शक्ति के बल पर वह स्वामी बनने का प्रयास करता है न कि अपने व्यक्तित्व एवं सहृदयता के आधार पर। पात्रों का चरित्रगत परिवर्तन अधिकतर अधिकार लालसा एवं दूसरे पात्रों के सम्पर्क और प्रेरणा के कारण होता है। मणिबंध अत्याचारी तो पहले ही था, दास-दासियों पर कोड़े बरसाना एवं अपने रथ के नीचे निरीह नागरिकों को कुचल देना तो साधारण बात थी, लेकिन आमेन-रा द्वारा प्रेरित एवं उत्तेजित करने पर उसकी क्रूरता एवं अत्याचार आततायी का रूप ले लेती है। आमेन-रा के सम्पर्क में एवं प्रेरणा के द्वारा वह सम्राट बनने का प्रयत्न करता है और बलात् दमन चक्र के आवेश में सार्वजनिक हत्याकाण्ड एवं युद्ध के वातावरण का सृजन करता है। मिस्र के शासक फराउन के समान बनने की प्रक्रिया में वह तैमूर और चंगेज जैसा व्यवहार करने लगता है। लेकिन उसकी यह निष्ठुरता और क्रूरता किन्हीं-किन्हीं स्थलों पर एकदम विलीन होती दिखायी देती है। सम्राट बन जाने पर भी जब वेणा महल छोड़कर भाग जाती है, उस समय एक विक्षिप्त प्रेमी की भाँति उसके पीछे भागता है। अपने अत्याचारों को सोचकर कभी-कभी उसका मन प्रबल अन्तर्द्वन्द्व में घुमड़ने लगता है[1] तो कभी-कभी भिखारियों एवं दासों और सारथि तक के प्रति द्रवित हो जाता है[2]। उपन्यास के अन्त में जब वह अपने पिता की अनजाने ही हत्या कर देता है, उस समय हृदय निश्छलता के साथ हाहाकार कर उठता है[3]।

---

१ 'मुर्दों का टीला', पृ०२२०-२२

२ वही, पृ०२२५

३ वही, पृ०५७७-७८

आमेन-रा गम्भीर कूटनीतिज्ञ एवं कुवृत्तियों का प्रतीक है। वह मणिबंध के चरित्र का सहायक बनकर आता है और उपन्यास में चित्रित वर्ग संघर्ष का वही एकमात्र कारण बनता है। सामंतशाही के पोषण के लिए जितना बर्बर वह बनता है, मणिबंध नहीं। नीलुफर उपन्यास का सबसे आकर्षक एवं सजीव चरित्र है। क्रीत दासी होते हुए भी अपने सौन्दर्य के बल पर अतुल ऐश्वर्य की स्वामिनी बनती है। उस समय अपने दासत्व को भूलकर विलास एवं अहंकार के मद में डूबी रहती है, लेकिन मणिबंध द्वारा ठुकराये जाने पर वह सिंहनी बन जाती है। उसका अपूर्व साहस और शौर्य देखकर हठात् आश्चर्य होने लगता है। तिरस्कृत होकर उसका चारित्रिक परिवर्तन संवेदनापरक है। उसे अब दासत्व की और नारीत्व की अनुभूति होती है। उसके चरित्र में नारी विज्ञान का कुशल संयोजन किया गया है। वह वेणी की हत्या करने का प्रयास करती है, लेकिन बाद में कोमल नारी-हृदय के कारण वह विचार त्याग कर चित्तिभिग्गुर की निश्छलता पर विमुग्ध हो जाती है। जितना सुख उसे चित्तिभिग्गुर की पत्नी बनने पर मिलता है, उतना वैभव विलास की स्वामिनी बने रहने पर नहीं। चित्तिभिग्गुर का युद्ध की ओर प्रयास करते समय उसका नारी-हृदय मोहित हो उठता है, यहां उसका पूर्व चरित्र एकदम दबा हुआ रहता है और स्वाभाविक नारी मुखर हो उठता है। पति के अज्ञात अमंगल आशंका से उसका मन कांप उठता है और वह उसे जाने से रोकती है। लेकिन पुनः वह निर्बलता को त्याग कर वेणी के प्रासाद में निशंक जाती है, वहां उसकी हत्या हो जाती है। स्पष्ट हो जाता है कि वह कायर नहीं, बल्कि नारी-हृदय मुखर हो उठा था। वेणी एक नर्तकी और विलास की मृगतृष्णा की चकाचौंध में लिप्त रहने के सिवा और कुछ नहीं बन पाती, लेकिन अन्त में उसका भी चारित्रिक परिवर्तन दिखाया गया है। कहीं तो उसका पूर्व प्रेमी चित्तिभिग्गुर उसकी[1] आंखों के सामने बधिर के हाथों मारा जाता है वह सीत्कार तक नहीं करती लेकिन उसी के लिए वह मणिबंध के ऐश्वर्य को छोड़कर विक्षिप्त होकर भागती है। वह अब मणिबंध को दूसरे रूप में देखती है। वह कहती है--' तुम हत्यारे हो। तुम नर के रूप में पिशाच हो... तुमने उसे

मार डाला ... तुमने निष्ठुर दैत्य .... तुमने उसे मार डाला ... तुम कायर हो ..... वह महावीर था[1] .... वह नायक था... फिर संसार तुमसे घृणा करता है नारकीय पशु.... ।

विठ्ठलभिक्षुर एक निश्छल, कोमल एवं पवित्र हृदय वाला काष्ट देशवासी गायक है। उसकी अपूर्व सहनशीलता सामान्य मनुष्य से उठाकर देवत्व के पद पर प्रतिष्ठित करती है। प्रेमिका वेणा के विश्वासघात पर उसमें कहीं भी उत्तेजना नहीं दिखाई देती यहां तक कि जब वह स्वयं उसकी हत्या करने की इच्छा से आती है, उस समय भी वह उसे क्षमा कर देता है और समझता है कि अब भी वह वापस लौट कर चली आयेगी। चन्द्रा और नीलूफर का प्रणय प्राप्त करने का भी उसे सौभाग्य मिलता है, और ठुकराये लोगों के प्रति अत्यन्त सहानुभूति रखता है। नीलूफर उसे कायर एवं क्लीव समझती थी, लेकिन यही विठ्ठलभिक्षुर एकाएक शोषितों के प्रति द्रवित होकर विद्रोहियों का नेता बन उठता है। युद्ध में जितनी वीरता से वह लड़ता है, उस समय महावीर बन जाता है। घायल होकर मणिबंध का बंदी बनता है और पत्नी नीलूफर का मुंह गले में लटका कर गंभीर काल की भांति दिखाई देता[2] है। लेकिन कहीं-कहीं उसका गांधी की तरह अहिंसा पर भाषण देना खटकता है।

विश्वजित का चरित्र आद्यंत रहस्य की भांति बना रहता है। वह कभी महानगर का सम्पन्न श्रेष्टि था लेकिन सब कुछ खोकर भिखारी बन चुका है। सामंतशाही के अत्याचारों का उसे नजदीक से अनुभव है इसलिए उसके विरोध में वह नगर में हमेशा मंत्र फूंकता है। विद्रोहियों को उत्तेजित और चेतन करने के लिए यह भिखारी तो साक्षात् लौह पुरूष की भांति दिखाई पड़ने लगता है। मणिबंध के सर्वनाश की कल्पना मात्र से ही वह गद्गद् हो उठता है,लेकिन यही विश्वजित उपन्यास के अन्त में वात्सल्यवश एकदम निरीह हो उठता है। यह जानकर कि मणिबंध महानगर का सम्राट उसका ही पुत्र है, उसे पुत्र कहकर अंकमें लेने के लिए पागल हो उठता है। अपाप, हेका दासवर्ग या शोषितों के प्रतिनिधि हैं। इस प्रकार प्रत्येक चरित्रों का व्यक्तिगत आकर्षण और उनकी पर्याप्त गतिशीलता स्पष्ट है, लेकिन जैसा कि

---

१ 'मुर्दों का टीला' ,पृ०५६६

पहले इंगित किया गया है कि इन पात्रों का चरित्रगत आयाम सीमित दायरे में ही केंद्रित रह गया है । मणिबंध एक विलासी भावुक व्यक्ति एवं सम्राट बनने की कामना में अत्याचारों और क्रूरता के सिवा और आगे नहीं बढ़ पाता । विरिलभिर पवित्र हृदय वाला गायक एवं विद्रोहियों का नेता के अलावा और क्या बन पाता है । आमेन-रा तो एक कुबड़ा सामंतशाही का पोषण करने वाला ही बना रह जाता है । निवजित एक विक्षिप्त पागल से आगे नहीं जा पाता है । इन चरित्रों के स्वाभाविक एवं जीवनगत सामान्य आयामों का लेखक स्पर्श नहीं कर सका है । नालूफर के चरित्र में अवश्य वह अधिकतर अत्युक्तिपूर्ण सा दिखाई देता है ।

पात्रों के चरित्र प्रकाशन में लेखक ने स्वयं अपनी ओर से अधिकतर वर्णन प्रस्तुत किया है अर्थात् वर्णनात्मक प्रणाली के द्वारा चरित्र-चित्रण विन्यस्त करने का प्रयास किया है, लेकिन चरित्र-चित्रण की अन्य प्रणालियों का भी यथावसर उपयोग किया है । पात्रों के चारित्रिक परिवर्तन के समय चित्रित अन्तर्द्वन्द्व एक ओर मार्मिक बन पड़े हैं, दूसरी ओर वे चरित्र प्रकाशन एवं संगति में सहायक हैं । चरित्र विकास की संगति दिखाने के लिए पर्याप्त रूप से पात्रों के पूर्वकृत्यों का भी प्रकाशन किया गया है । पूर्व वृत्तात्मक प्रणाली के अतिरिक्त कहीं-कहीं स्वप्न प्रणाली एवं चेतन प्रवाह पद्धति का भी आश्रय लिया है । एक दासी अपने बच्चे की मृत्यु हो जाने पर गीत गाती है और उस गीत को सुनकर मणिबंध दिवास्वप्न सा देखता है[१]। नालूफर गायक का प्रेम प्राप्त करने के बाद भी आशंकित रहती है । कहीं वह मणिबंध के हुक्म उस प्यार को छीन न ले और यह आशंका उसके मन में अचेतन बनकर प्रतीकों के माध्यम से व्यक्त होते हैं[२]। कहीं-कहीं नाम विशेष के अनुसार समनार्थक को दूसरे नाम से सम्बन्धित स्मृतियों को उभार कर मनोवैज्ञानिकों की शब्द-सह-स्मृति परीक्षा प्रणाली का रूपांतरित प्रयोग-सा किया है । इससे पात्र के भीतरी संघर्ष के अनावरण में सहायता ली गई है[३]।

पात्रों के स्वभाव, मन: स्थिति और संस्कारों की व्यंजना करने के लिए संवादों से यथेष्ट सहायता ली गई है । अधिकतर संवाद संक्षिप्त ही हैं । और परिस्थिति के अनुसार पात्रों की मानसिक स्थिति को उजागर करनेमें सक्षम हैं ।संक्षिप्त संवाद प्रभावाभिव्यंजक बनकर आये हैं, जैसे --

'उसने क देका से कहा --' आज मणिबंध प्रासाद के सब गुप्तपथों को अवश्य ढूंढेगा ।' फिर हंसी ,' किन्तु उसे मिलेगा क्या ? धूल ?'

वह फिर धीरे से हंस दी । कुछ देर बीत जाने पर उसने कहा--' के देक

---

१ मुर्दों का टीला, पृ०२८५-८६
२ वही, पृ०२८७

'हूं ।'

'ऐसे कितने दिन बिताने होंगे ?'

हेका चुप रहो ।

'पर अब मैं यहां नहीं रहूंगा ।'

'क्यों ?'

'सोचता हूं ।'[1]

लेकिन जहां कहीं संवाद लम्बे-लम्बे विवरणों, भाषणों के रूप में व्यक्त हैं, वहां स्वभावतः पठनीयता में व्याघात उत्पन्न हुआ है । विक्षिप्त विश्वजित और कवि-गायक विल्लिभिद्र यदि लम्बे भाषण और कथात्मक संवाद मुखर करते हैं तो वहां स्वाभाविकता इतनी नहीं खटकती, क्योंकि यहां उनकी प्रकृति के अनुकूल उपर्युक्त नियोजन प्रासंगिक है, किन्तु जब नोलुफर, हेका, मणिबंध और आमेन-रा जैसे पात्र भाषण देने लगते हैं या काव्यमय वाक्य बोलने लगते हैं, वहां उसकी स्वाभाविकता खण्डित होने लगती है । पात्रों के स्वभाव एवं संस्कारों के अनुकूल संवादों की विविधता अवश्य ही प्रशंसनीय है । सामंत सामंतों की तरह दास दासों की भांति, सैनिक सैनिकों की भांति और कवि कवियों की ही भंगिमा प्रस्तुत करते हैं । इसके अतिरिक्त पात्रों के हाव-भाव एवं भंगिमाओं को भी संवादों के माध्यम से अभिव्यक्ति दी गई है । वस्तुतः संवाद कथानक एवं पात्रों से सम्पृक्त होकर नियोजित हैं ।

उपन्यास की भाषा वर्णित काल के अनुरूप है । यथासंभव उसे प्रागैतिहासिक वातावरण एवं संस्कार से जोड़ने का प्रयास किया गया है। युग की सांस्कृतिक स्थिति को उजागर करने के लिए संस्कृत एवं मिश्री शब्दों का अवसरानुकूल उपयोग किया गया है । काव्यमयी भाषा बद्ध करने में शायद लेखक का यह दृष्ट रहा है कि प्रागैतिहासिक काल का जीवन अधिक अनावृत, विलासी एवं सुसंस्कृत रहा होगा । वर्णन की बहुलता अवश्य कथानक की गति में बाधक है । परिस्थितियों एवं पात्रों की मनःस्थितियों के अनुकूल वर्णन को संक्षिप्त

---

१ 'मुर्दों का टीला', पृ०३१०

एवं विस्तार दिया गया है । भाषा में कल्पना की उड़ान और सज्जा, उपमाओं एवं प्रतीकों का विन्यास, बिम्ब ग्राही योजना, अनुभूति प्रवणता एवं भावात्मकता को तीव्र करने के लिए उपन्यस्त किया गया है । लेकिन कहीं-कहीं अधिक लम्बे विवरण और अस्पष्ट वाक्य विन्यास जिसकी कथा से कोई सम्पृक्ति नहीं है, वहां भाषा की कलात्मकता एकदम ढह कर गिर जाती । उपन्यास के अंतिम परिच्छेद की भाषा इसी प्रकार की है ।

अन्त में कहा जा सकता है कि उपन्यास में चित्रित युग जीवन की जिस व्यापक एवं गहराई से सम्प्रेषित करने की अपेक्षा थी, उसे विन्यस्त करने में लेखक असफल रहा है । वह केवल अपनी विचारधारा के प्रक्षेपण के कारण, संकुचित घेरे में घूमता रह जाता है । लेकिन एक अछूते क्षेत्र को जिस कलात्मकता से स्पर्श किया है, मात्र वही अपने आप में महत्वपूर्ण है ।

चारु चन्द्र लेख[१] (१९६३)

हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अब तक दो उपन्यास लिखा है । उनका प्रथम उपन्यास 'बाणभट्ट की आत्मकथा' आत्मकथात्मक शिल्प विधि में संग्रथित नवीन शिल्प रूप तथा भाववस्तु के अभिनव संगठन के कारण काफी प्रसिद्धि प्राप्त कर चुका है । चारु चंद्र लेख इसकी अपेक्षा शिल्प के बिखराव का मसौदा प्रस्तुत करता है । यद्यपि उन्होंने इसमें सर्वथा एक अछूते क्षेत्र को स्पर्श करने का प्रयास किया है, तथापि वस्तु संगठन में जिन शिल्प मुहावरों, कथा शिल्प एवं चारित्रिक व्यक्तित्व को उभारा है, वह ठीक तरह से अन्वित नहीं हो सका पाया है । १२ वीं-१३ वीं शताब्दी के जिस काल की सामाजिक, सांस्कृतिक एवं राजनीतिक चेतना को उजागर किया गया है, उसके प्रस्तुतीकरण में चरित्र संगठन एवं कथा-विधान बिखरा बिखरा एवं आरोपित सा लगता है । सत्य यह है कि

---

१ हजारी प्रसाद द्विवेदी : 'चारु चन्द्र लेख'--राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्र०सं०१९६३

उनके निबन्धों की विशेषताएं इसमें प्रक्षेपित हो गई हैं । ओजपूर्ण एवं भावुक शैली जैसा कि इनके निबन्धों की विशेषता रही है, प्रस्तुत कृति में अनायास मुखर हो गई है ।

हिन्दी की कई एक औपन्यासिक कृतियों में वर्तमान परिस्थितियों को अतीत के परिपार्श्व में झांकने का प्रयत्न किया गया है । दूसरे शब्दों में, अतीत को आधुनिक दृष्टि आयामों के अन्तर्गत परखा-समझा गया है । इस प्रक्रिया में एक ओर अतीत वर्तमान के लिए अधिक अर्थवान और महत्वपूर्ण बनता है और दूसरी ओर समकालीन अनुभूति किसी विशिष्ट काल के परिप्रेक्ष्य में तीव्रता और गहराई की विभिन्न मुद्राएं प्राप्त करती हैं । इस तरह परम्परा को हम सर्वथा एक नये रूप में पहचानने का प्रयास करते हैं और आधुनिकता के साथ उसकी सर्जनात्मक सम्पृक्ति करते हैं । दुर्भाग्यवश हिन्दी कथा साहित्य में परम्परा का उपयोग इतिवृत्त तथा भावुकताप्रधान हो रहा है। इन रचनाओं में लेखक परम्परा के प्रति श्रद्धापूर्ण अधिक दिखाई पड़ते हैं,बजाय इसके के वे इनके सर्जनात्मक पुनर्निर्माण का कार्य करते । हजारीप्रसाद द्विवेदी की दूसरी रचना 'चारु चन्द्र लेख' इस दृष्टि से उल्लेखनीय अपवाद हैं ।इसमें लेखक ने आधुनिक स्थितियों की चेतना के साथ बारहवीं-तेरहवीं शती के आंतरिक कलह से जर्जर और तांत्रिक साधना के मोह में, पथभ्रष्ट भारतीय जीवन में उस युग की अराजकता,विशृंखलता, नैतिकहीनता और मूढ़ता के सूत्र और उनकी परिणति खोजने का प्रयास किया है ।

दिक्काल की माप में अघोरनाथ ने चंद्रद्वीप की उपत्यका में चंद्रगुहा के पिछले हिस्से में उटंकित प्रतिलिपि प्राप्त की, उसका काल है ईसा की बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी और घटनास्थल है आर्यावर्त-- आज का

---

१ नेमिचन्द्र जैन : 'अधूरे साक्षात्कार',पृ०१०६

उत्तरी भारत । यों प्रसंगत: मध्य एशिया, चीन, तिब्बत, किरात आदि देशों के रोचक विवरण हैं और केवल प्रसंगत: आ गई संज्ञाओं से कुछ अधिक हो है । कथा में राजनीति के दांवपेंच हैं, प्रजातंत्र का जयघोष है, तांत्रिक और बौद्धिक साधनाओं की मनोवैज्ञानिक व्याख्यायें हैं, सिद्धों की सिद्धियों के चमत्कार हैं, गोरखनाथ के योग का प्रताप है, पटुनटकलाचपल कृष्ण का लीला का गान है, सामंती समाज-व्यवस्था पर प्रकाश है, रणनीति की विवेचना है, देश में सोने के रिजर्व स्टाक की समाप्ति की घोषणा है और मुद्रा स्फीति की समस्या है, विदेशी आक्रमण है, इस्लाम की विशिष्टता भी है और देश-प्रेम का पुकार भी, आश्लेष में लेटी हुई बाहुएं भी हैं और लगातार मांगती हुई मुद्राएं भी । इसमें कोटिवेधी रस भी है और मर्मभेदी दृष्टि भी, अमोघवाक् भविष्यवाणियां भी हैं और पृथ्वी से पराजित होने वाले ग्रह नक्षत्र भी[1] ।

ध्यान से देखने पर उपन्यास में एक मूल कथा (मुख्य कथा) नियोजित है । उज्जैन के राजा सातवाहन एक प्रसिद्ध सिद्ध सांदी मौला की खोज करते- करते मिल जाती है बत्तीस गुणों से सम्पन्न, अतीव सुन्दरी चंद्रलेखा । वह तपस्वी नागनाथ की खोज में, हाथ में भोजन की थाली लिए हुए भटक रही है । वह इस कार्य में राजा सातवाहन से सहायता की याचना तथा उनकी रानी बनने का निमंत्रण देती है । राजा इसके निमंत्रण को स्वीकार कर, घोड़े पर बिठा कर उसे राजधानी ले आता है और विवाह कर लेता है तथा दिये गये वचन के अनुसार तपस्वी भागनाथ को भी ढूंढ निकालता है । वह तपस्वी कोटिवेधी रस को सिद्ध करने में संलग्न है, इसके लिए बत्तीस गुणों से सम्पन्न रानी चंद्रलेखा की आवश्यकता होती है और रानी से इस कार्य के लिए सहायता मांगता है ।

पूरे देश में विदेशी आक्रमण से सामान्य नागरिक भयभीत एवं संत्रस्त है, क्योंकि सम्पूर्ण देश छोटे छोटे राज्यों में विभक्त और विच्छिन्न है। वे परस्पर स्वार्थ, कलह एवं वैमनस्य के कारण विश्वासघात एवं विदेशियों की सहायता कर रहे हैं । प्रजा की नैतिक शक्ति क्षीण होती जा रही है । देश की

----

१ `माध्यम`, मार्च, १९६५, पृ०७८

एकता के सूत्र में बांधने वाला कोई प्रबल शासक नहीं मिल रहा था । प्रतापी पृथ्वीराज और गहड़वारी ओज जयित्रचन्द्र को शक्ति एक-दूसरे की ईर्ष्या एवं वैमनस्य के कारण कालकवलित हो चुकी है । प्रबल चन्देल नरेश परमार्दिदेव की शिरायें बुझ चुकी हैं । इस विकट एवं संकटापन्न स्थिति में मंत्री विद्याधर भट्ट, पुरोहित धीर शर्मा, राजा सातवाहन को कुशल नेतृत्व एवं विदेशियों को पदाक्रान्त करने के लिए उत्तेजित एवं प्रेरित करते हैं, लेकिन पूर्व इतिहास देखते हुए उन्हें भय है कि कहीं राजा सातवाहन रानी चंद्रलेखा के मोहक सौन्दर्य के सम्मोहन में अपना कर्तव्य न भूल जाय और देश की नौका और भी डगमगाने लगे। रानी चंद्रलेखा यहां अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य करती है। वह देश के सामान्य नागरिक को चेतन करने के लिए घूम-घूम कर व्यक्तिगत सम्पर्क करती है,इस कार्य में स्वयं राजा सातवाहन भी सहायता देता है । उसकी प्रेरणा से राजा सातवाहन जनजागरण के कार्य में संलग्न रहता है, दूसरी और रानी चन्द्रलेखा स्वयं इस कार्य को छोड़कर कोटिवेधी रस की सिद्धि के लिए तपस्वी नाथनाथ के पास चली जाती है । रस तो सिद्ध नहीं हो पाता,उल्टे नाथनाथ की मृत्यु हो जातीहै और रानी चंद्रलेखा विक्षिप्त होकर सिद्धियों के पीछे पागल बनी फिरती है ।

राजा सातवाहन आक्रान्त तुर्कों को पदाक्रान्त करने के लिए विद्याधर भट्ट की सहायता से तैयारी करते हैं । साथ ही देश में घुंडकेश्वर साधु का भी दल कुचक्र एवं उत्पात मचाता फिर रहा है । इन घुंडकों के दल का भी मूलोच्छेदन करनाथा । रानी चंद्रलेखा भटकती हुई नाटीमाता के सम्पर्क एवं आश्रय में आती है एवं पटुनटचपल कृष्ण की भक्ति के प्रति आसक्त होती है,उसकी प्रेरणा से मालव प्रदेश के साधारणजन, नट आदि जिसमें मैना,बोधा प्रधान आदि भी सहायता देते हैं । घुंडकों से नाटी माता के आश्रम में ही कई बार मुठभेड़ होती है और बार-बार घुंडकों को ही पराजित होना पड़ता है । लेकिन एक संघर्ष में राजा सातवाहन और रानी चंद्रलेखा आहत होकर बिछुड़ जाते हैं । स्वस्थ होने के बाद सातवाहन शत्रु से पुनः लोहा लेने के लिए अन्य राजाओं से सहायता पाने का प्रयास करता है । पर वे लोग सिद्धों और देवी-देवताओं के

चक्कर में पड़े हैं और कोई निश्चय करने में असमर्थ हैं । अन्त में सातवाहन को चंद्रलेखा से उस समय भेंट होती है, जब उसकी प्रिय सहायिका मैना आत्मघात करन करती है, और वे दोनों भी आश्रय छोड़कर अन्धकार में भागने को भी लाचार होते हैं । चेतना को प्राप्त क्रियाशक्ति नष्ट हो जाती है,और इच्छाशक्ति दिग्भ्रमित है[१] ।

इस प्रकार मुख्य कथा सूत्र नाममात्र को है लगभग क्षीण सा । उसके साथ ही अनगिनत छोटे-छोटे प्रासंगिक और अवान्तर कथाएं भी जोड़ी गई हैं,जो एक दूसरे से मिल नहीं पाई हैं,बल्कि उनकी अलग-अलग सत्ता सी दिखाई देती हैं । कथा-वर्णन में लेखक ने कल्पना का ब अपूर्व आश्रय लिया है, और विभिन्न कथाओं को अंतवर्तीसूत्र के आधार पर जोड़ने के बजाय,बाह्य वस्तुनिष्ठता पर जोड़ने का प्रयास किया है । यहां लेखक की उर्वर कल्पना इतनी अतिरंजित हो गई है कि कथा की प्रतीति एवं यथार्थ पूर्णत: खंडित और बिखरी दिखाई देती है । एक प्रकार से कथातत्व में ह्रास परिलक्षित होता है । कथानक तत्व का यह ह्रास आधुनिक मनोवैज्ञानिक उपन्यासों से भिन्न प्रकृति एवं कोटि का है। जैसा कि पहले संकेत किया गया है, यहां कथा में बाह्य वस्तुनिष्ठता बराबर रही है-- कथा की बुनावट अंत: प्रयाण पर आधारित ब नहीं है[२] ।

कथा में कई प्रसंग चंद्रलेखा का अपना जीवन वृतान्त,राजा जयित्रचन्द्र एवं रानी सुहवदेवी की कहानी, विष्णुप्रिया एवं नाटी माता के पूर्ववृत्त तथा कृष्ण भक्ति की तल्लीनता एवं युद्ध में राजा की सहायता के वर्णन कोटिवेधी रस को सिद्ध करने से सम्बन्धित अनुभवों की कथा, फक्कड़ सीदी मौला द्वारा वर्णित तिब्बत एवं मध्य एशिया के अनुभव,इल्मिश खान की प्रसन्न

---

१ नेमिचंद्र जैन :`अधूरे साक्षात्कार`,पृ०१०८

२ `माध्यम`,मई,१९६४,पृ०७९

करने एवं उनसे आशीर्वाद लेने तथा तान्त्रिक और महायानी बौद्ध अभिचारों-क्रियाओं की कथा, अदाम्य भैरव एवं भद्रकाली के विचित्र प्रसंग, व्यासतीर्थ में राजा अशोक चल्ल द्वारा शिवा बलि के अनुष्ठान की कथा, मैना, बोधा प्रधान, अलहना आदि नटों द्वारा जन जागरण एवं राजा को विदेशी आक्रान्ताओं को समूल नष्ट करने में सहायता आदि उपन्यस्त हैं । इन विभिन्न कथाओं के नियोजन से एक तो मुख्य कथा का महत्व एकदम समाप्त सा दिखाई देता है, साथ ही क्षीण एवं भीना होकर इतर प्रासंगिक कथाएं कभी-कभी अधिक महत्वपूर्ण और प्रमुख लगने लगी हैं । मुख्य कथासूत्र अनगिनत छोटी एवं संकरी पगडंडियों में यात्रा करता, भटकता, उलझता और बिखरता चलता है । लगता है लेखक एक ही उपन्यास में बहुत कुछ (जो कुछ वह जानता है सब) कहने का प्रयत्न करता है । और इसी कारण कथा का सम्पूर्ण ढांचा चरमरा उठा है । कुल मिलाकर लगता यही है कि कथा के बहाने एक अत्यन्त रोचक युग की बहुमुखी सांस्कृतिक गाथा को पूरे विस्तार से कहने का लोभ लेखक संवरण नहीं कर सका है । वह उस युग के जीवन को उसके विभिन्न स्तरों पर विभिन्न रूपों और आयामों में इतने विस्तार से जानता है कि उसे सभी कुछ मूल्यवान और महत्वपूर्ण और सार्थक प्रतीत होता है । लगता है जैसे उस अगाध विराट भण्डार में से चुनाव करना उसके लिए कठिन हो गया है और अधिक से अधिक सामग्री प्रस्तुत कर देना ही उसे सर्वोत्तम उपाय जान पड़ा है । इस प्रक्रिया में 'चारु चंद्र लेख' एक 'उपाख्यान की बजाय कथा-सरित्सागर' जैसा कहानी किस्सों का खजाना बन गया है, जिसमें एक में से दूसरा आख्यान तो निकलता चला आता है, पर कुल मिलाकर रचना का कोई कलात्मक रूप नहीं उभरता ।[1]

लेखक ने कथा-वर्णन में पाण्डित्य-प्रदर्शन, पाठकों को अधिक से अधिक ज्ञान की सामग्री प्रदान करने तथा शोध और व्याख्या को विचित्र ढंग से मिलाने का प्रयास किया है । कथा के बहुत सारे अंग उसकी 'प्रामाणिक'

---

१ नेमिचन्द्र जैन : 'अधूरे साक्षात्कार', पृ०१०६

अनुभूति से निष्पन्न नहीं प्रतीत होते । कथा-पद्धति चित्र समीक्षक प्रणाली की तरह उपन्यस्त की गई है यानी पात्रों को अतीत के परिपार्श्व में निश्चित चित्रों की भांति उनके निश्चित स्थानों पर टांग दिया गया है और परवर्ती इतिहास-बिन्दु के आलोक पर खड़े होकर उनकी समीक्षात्मक परीक्षा की गई है और अंतिम भाग में पुन: सबको उतार कर उनके वास्तविक स्थान पर-- असफलता के अंधकार-- में भेज दिया गया है ।विद्याधर,धीर शर्मा,अक्षोभ्य भैरव,अमोघवज्र बोधा,नाटी माता, रानी चन्द्रलेखा आदि ऐसे ही पात्र हैं जिन्हें राजा सातवाहन रूपी कला समीक्षक-- जो कि कथा का नैरेटर भी है-- परखता जाता है और अपनी टिप्पणियां देता जाता है[1] ।

`चारुचन्द्र लेख` में विभिन्न रोचक कथाएं और विभिन्न स्रोतों से संकलित एकत्रित किए गए हैं,जिसमें अधिकतर भाग `प्रबन्ध चिन्तामणि` पर आधारित है । यद्यपि लेखक ने विभिन्न स्रोतों से लिए गए कथासूत्रों को जोड़ने का प्रयास किया है, किन्तु इस प्रयास में वे सफल नहीं हो पाये हैं । कथा`नैरेशन` की जिस पद्धति को लेखक ने स्वीकार किया है, वही औपन्यासिक ढांचा को बिखरने के लिए जिम्मेदार है । सम्पूर्ण कथा राजा सातवाहन की अपने वृत्तान्त अथवा आत्मकथात्मक पद्धति के रूप में लिखी गई है,लेकिन बीच-बीच में और भी कई `नैरेटर` जुटाये गये हैं जो बारी-बारी से सातवाहन को तथा पात्र एक-दूसरे को कथा सुनाते हैं । सातवाहन के सम्पर्क में अथवा यों कहें कि उपन्यास में जितने भी पात्र पहली बार रंगमंच पर आते हैं वे अपनी अथवा कोई एक कहानी कहते हैं । विद्याधर भट्ट,सीदी मौला,अल्हन,बोधा प्रधान, मंगल आदि विभिन्न स्थलों पर कथा के विभिन्न अंशों का वर्णन करते हैं । रानी चंद्रलेखा स्वयं एक प्रमुख नैरेटर है, वह स्वयं भी कथा कहती है तथा उसके द्वारा अन्य पुरुष में अपने ही अनुभव का वर्णन भी किया गया है । चंद्रलेखा द्वारा लिखे लम्बे पत्र को सातवाहन पढ़ता है, इस माध्यम से भी कथा का कुछ भ

----

१ `माध्यम`,मई,१९६४,पृ०८०

भाग संगठित किया गया है । कहीं-कहीं सातवाहन छिपकर या जानबूझकर मौन रहते हुए पात्रों के बीच परस्पर वार्तालाप या कथा को सुनाता है । यहाँ कथा की `वायरिस्टिक पद्धति` नियोजित सी दिखाई पड़ती है । कोच स्थलों पर स्वप्न प्रणाली का भी उपयोग किया गया है । इस प्रकार कथावर्णन में लेखक ने विभिन्न युक्तियों एवं रीतियों के द्वारा रोचकता एवं आकर्षण उत्पन्न करने का प्रयत्न किया है, पर सच्चाई यह है कि लेखक तथ्य एवं कल्पना में ऐक्य उपस्थित नहीं कर पाया है, जिससे उपन्यास की अन्विति हर स्तर पर खण्डित हुई है । साथ ही रचना के प्रत्येक स्तर पर बिखराव ही परिलक्षित होता है । देवीशंकर अवस्थी का आरोप है --`कथा के अन्तर्गत संगत Objective correlatives की खोज वस्तुत: शिल्प की खोज है और द्विवेदी जी के मन में शायद कहीं यह विद्यमान है कि कथ्य-- यानी विचार या भाव -- महान होना चाहिए,शेष सब गौण है । इस दृष्टिकोण के कारण सम्पूर्ण कथा-सामग्री से अपने को तटस्थ कर वे शिल्प के माध्यम से उसका विश्लेषण और विकास नहीं कर सके, उसकी तमाम निहित सम्भावनाओं का अन्वेषण भी नहीं कर सके तथा जो सबसे अधिक आवश्यक कार्य था, उसका मूल्यांकन-- वह भी नहीं हो सका । यह कार्य शिल्प के माध्यम से ही सम्भव होता है और मेरा यह आरोप है कि लेखक को शिल्प के द्वारा अपनी सामग्री या विषयवस्तु की जो परिचर्या करनी थी,वह नहीं कर सका । इसे निष्ठा का अभाव भी कहा जा सकता है । परिणामस्वरूप प्रस्तुत उपन्यास में कच्चे माल का जिस परिणत कथावस्तु में रूपान्तरण होता है, वह संदिग्ध है । एक महत्वपूर्ण समीक्षक द्वारा लिखे जाने वाले उपन्यास में यह अनवधानता कुछ विचित्र-सी लगती है ।[1]

उपन्यास के अन्त में दी गई व्योमकेशशास्त्री की टिप्पणी में बड़े दिलचस्प ढंग से कथा के रूप को समझाने का तथा रचना की संगत तत्वों के विषय में सफाई देने का प्रयत्न किया है । इस टिप्पणी के द्वारा लेखक अपने

----

१ `माध्यम`,मई,१९६४,पृ०

को बड़ी चालाकी से बचाना चाहता है .... यह कि इस पूरी (या वस्तुत: अधूरी) कथा में चन्द्रलेखा का लिखा अंश बहुत कम है । बाकी अंश जो राजा सातवाहन के मुख से कहलाया गया है, किस प्रकार संगत है, यह स्पष्ट नहीं होता । इस सम्बन्ध में पूछने पर अघोरनाथ बहुत असन्तुष्ट हो गये थे और ज्ञानी के लहजे में बोल उठे थे कि पत्थर पर खुदी हुई बातें ही सत्य नहीं होतीं, समाधिस्थ चित्त में प्रतिफलित बातें भी इतनी ही सत्य होती हैं। ....ऐतिहासिक दृष्टि से कथा में असंगति नहीं है । ऐसा लगता है कि किसी ने ऐतिहासिक तथ्यों को सोच विचार कर इसमें पिरोया है । फिर भी उज्जयिनी के राजा सातवाहन का कोई प्रमाण नहीं है । सबसे खटकने वाली बात इसकी शैली है ।....कथा दैनंदिनी शैली में है । लेखक आगे घटने वाली घटनाओं से एकदम अपरिचित जान पड़ता है ।... कथा में सांस्कृतिक और धार्मिक तत्व हैं, पर उन्हें आधुनिक शिक्षा- प्राप्त व्यक्ति के संस्कार से समावृत्त होना पड़ा है ।..... परन्तु कथा का स्वर विश्वसनीय है । अघोरनाथ के लिए भी यह असम्भव ही जान पड़ता है कि इसमें से तथ्य और कल्पना को अलग-अलग करके दिखा दें । वस्तुत: इस दृष्टि से कथा में एक जीवन्त ऐक्य है .... ।[1]

सम्पूर्ण कथा के भीतर गति विषम होकर चलती है, जिससे उसमें आंतरिक लय समाप्त सा और गति का संयोजन बिखरा-बिखरा और गड्डमगड्ड लगता है । उपन्यास की सर्जनात्मक कमजोरी तो कथा के अन्तिम भाग में साफ साफ झलकने लगती है । लगता है, कथा का कोई सुनियोजित ढांचा प्रस्तुत करना लेखक का इष्ट नहीं है, इसलिए उसे किसी न किसी प्रकार कथा को समाप्त करना ही था और उसने बड़ी नाटकीय मुद्रा में मैना का आत्मघात करा दिया है तथा रहस्यपूर्ण ढंग से और अचानक रानी चन्द्रलेखा तथा राजा से भेंट करा दिया है । यह अति नाटकीय अंत पाठकों को एकदम झटका देता है और वे इस असमंजस में पड़ जाते हैं कि आखिर लेखक चाहता क्या था ? रचना की कलात्मक कमजोरी उसके सामने और भी स्पष्ट हो जाती है ।

उपन्यास में प्रतीकात्मक कथा को भी नियोजित करने का प्रयास किया गया है किन्तु वह भी जीवन्त नहीं हो पाया है, जैसा कि प्रतीकात्मक

---

१ 'चारु चन्द्रलेख', पृ० ४३७-३८

कथा से अपेक्षा की जाती है । राजा ज्ञान एवं चेतना का प्रतीक है,लेकिन वह सम्पूर्ण कथा में अभावात्मक एवं निष्क्रिय है-- लगभग जड़ और विमूढ़ सा । इसकाकारण यह है कि इच्छा शक्ति रानी उसको उचित पर्याप्त सहायता नहीं देती तथा क्रिया शक्ति मैना तो आत्मघात ही कर लेती है । प्रतीकात्मक कथा अपनी व्यंजना में अधिक सशक्त एवं काव्यात्मक होती है । लेकिन लेखक यहां उसके आन्तरिक समंजन के अभाव के कारण, जीवनी शक्ति को खो देता है । फलत: प्रतीकात्मक कथा भी असफल और कमजोर दिखाई देने लगती है । कुल मिलाकर उपन्यास का कथा रूप असफलता का ही उदाहरण पेश करता है ।

कथा शिल्प की ही भांति लेखक उपन्यास के चरित्र-नियोजन में भी असफल और बेजान है । रोचकता और आकर्षण में नहीं बल्कि उसकी कलात्मक सर्जना में । चरित्र प्रकाशन के लिए उसने संवादों और कथानक से काम लेने के बजाय छोटे-छोटे कथा -प्रसंगों व और वक्तव्यों का आरोपण चरित्रों पर कर दिया है, जब कि इस युक्ति से वातावरण को सघन बनाया जाता है । चरित्रों की सत्ता उनका प्रकाशन जीवन्त होने के बजाय ढुलमुल,अभावात्मक,अधूरे और कल्पना मूलक अधिक बन पड़े हैं । अधिकतर चरित्र या तो भावुक प्रतिक्रियाओं की तरह लगते हैं या तो अरूपताओं का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं ।

सातवाहन के ही चरित्र को यदि उठाया जाय,वह उपन्यास का नायक होकर भी एकदम असहाय और पंगु है । एक तो उसके चरित्र को पर्याप्त रूप से उभारा नहीं गया है,दूसरे जो रूप सामने दिखाई पड़ता है वह भी बड़ा निरीह,अमहत्वपूर्ण व स्वत: परिचालित नहीं है । सातवाहन के चरित्र नियोजन की यह कमजोरी,उपन्यास के कथाशिल्प के कारण निर्मित हुई है । वह उपन्यास का नायक भी है और कथा का मुख्य 'मैटर' भी इसलिए प्रत्येक पात्रों की प्रतिक्रियाओं का भार उसे ही वहन करना पड़ा है । इसलिए स्वाभाविक रूप से उसका चरित्र सामन्यीकृत हो गया है । उसका अपना निजी अनुभव नहीं,निजी प्रतिक्रिया नहीं और न ही उसकी निजी सत्ता है । यहां तक कि जहां वह भगवती विष्णुप्रिया के आश्रम में मैना और चौथा की बातचीत के समय,विद्याधर से अतीत

की घटनाओं को सुनते समय वह प्रतिक्रिया नहीं करता, मात्र अनुभव करता है, वहां उसका रहा सहा चरित्र भी एकदम गिर जाता है । यह बोध ही नहीं होता कि वह इस उपन्यास का नायक है । लेखक ने राजा सातवाहन को नैरेटर का पद देकर एक ऐसा ऐतिहासिक दायित्व सौंप दिया है कि वह अपनी प्रतिक्रियाओं के माध्यम से उन चरित्रों की बात बता दे । वह एक ऐसा `कार्डियोग्राम` है जो अन्य हृदयों के धड़कनों के ग्राफ अंकित करता चलता है । इस प्रक्रिया में उसका अपना कोई क्रियाशील व्यक्तित्व ही नहीं रह जाता । वह तो हर `प्रभाव` के लिए खुला है, और जहां हर प्रभाव के लिए खुलापन होता है, लगता है कि वहां अंत: कोई प्रभाव ही नहीं रह जाता[१] । राजा सातवाहन के चरित्र की कमजोरी का एक कारण यह भी है कि प्रकारान्तर से लेखक ने उसे केवल माध्यम भर बनाया है । इच्छा-शक्ति रानी है, कर्तव्य शक्ति मैना को प्रदान कर रखा है और बोध शक्ति बोधा पर छोड़ दिया है तो राजा के पास बचा ही क्या है ? वे पंगु और पराश्रित हों तो इसमें आश्चर्य क्या ? यानी वह उपन्यास में प्रधान स्थिति रखते हुए भी निरा वैशिष्ट्यहीन एवं निष्क्रिय है । रानी के सामने तो इतना दीन दिखाया गया है कि वहां उसका व्यक्तित्व अपने पद से एकदम गिर जाता है । जिस चरित्र की प्रेरणा से मैना, बोधा, अलहना, विणधर भट्ट और नट-नटी दृढ़ होकर शत्रु-सेना को पदाक्रान्त करने के लिए तत्पर रहते हैं, उस प्रेरक चरित्र का इतना दीन और कमजोर होना बड़ा असंगत और अस्वाभाविक लगता है ।

रानी चन्द्रलेखा के चरित्र-निर्माण में भी कोई कलात्मक निखार नहीं देखा जा सकता, बल्कि पूरे उपन्यास में असंगति और विरोधाभास का दर्शन मिलता है । लेखक एक साथ उसे जनपद नायिका और सिद्धयोगिनी का पद देना चाहता है और इसी द्विधा दृष्टि के कारण उसके चरित्र का ढांचा विरूप हो गया है । वह एक ओर बत्तीस लक्षणों से युक्त सविता के समान है कि

---

१ `माध्यम`, मई, १९६४, पृ०८४

जिसके दर्शनमात्र से मनुष्य सफलकाम हो सकता है । नागनाथ कहते हैं-- '.... देवि, आज मेरे प्राण प्रसन्न हैं, आज सविता का उदय सार्थक है, आज गंगा की धारा सफलकाम है, आज मेरी सिद्धि मिल गई है । गुरु ने मुझे बताया था कि तुम्हारी सिद्धि का प्रथम सोपान सुलक्षणा किशोरी का दर्शन होगा । आज मुझे सिद्धि पाना सुगम जान पड़ रहा है ।'[1] अपने अपूर्व सौन्दर्य और सर्वलक्षण सम्पन्नता के कारण ही वह राजा सातवाहन व राज्य के प्रत्येक पदाधिकारियों को सहज ही आकर्षित कर लेती है । राजा सातवाहन तो उसके सामने इशारों पर नाचनेवाले हैं । रानी कहती है--'.... वीरों, रणक्षेत्र के लिए प्रस्थान करो । तुम्हारी संख्या बहुत कम है तुम्हारे पास युद्ध करने की सामग्री का अभाव है, किन्तु रानी चन्द्रलेखा तुम्हें आश्वासन देती है कि तुम्हें निराश नहीं होना पड़ेगा । मैं तुम्हारे पीछे प्रजाओं को संगठित करने के लिए प्रयत्न करने जा रही हूं । वीरों, सच्चे धर्म के लिए लड़ो । हार और जीत इतिहास-विधाता के इंगित के अनुसार होतीहै । मनुष्य की सार्थकता और सफलता प्रयत्न करने में है ।'[2] रानी की योजना चरितार्थ हुई । समस्त मालव जनपद में एक अद्भुत नवजीवन जाग उठा । शत्रु को लौट जाना पड़ा[3] । रानी राज्य की प्रजा के लिए प्रेरणा स्रोत बन जाती है । समस्त जनपद में नवचेतना एवं अपूर्व जागरण का संचार होने लगता है । रानी के इंगित पर जनपद प्रजा अपने प्राणों की आहुति दे सकती है । लेकिन लेखक इसके बाद रानी चन्द्रलेखा को सिद्धयोगिनी का व्यक्तित्व देकर उसके शक्तिशाली और जीवन्त रूप को अंतर्धान कर देता है । रानी सिद्धियों के पीछे विक्षिप्त हो भटकती है और प्राप्ति कुछ नहीं होती । जनपद पार्वती के व्यक्तित्व में जो तेज और दीप्ति थी, वह सिद्धयोगिनी बनकर निरीह और खंडित दिखाई देता है । ......यदि उसके परवर्ती रूप को एक व्यक्तित्व के विघटन के रूप में देखा जाय, तो वह भी सुचिन्तित और कलात्मक दृष्टि से भली भांति परिकल्पित नहीं जान

---

१ चारु चंद्रलेख, पृ०२३

२ वही, पृ०१००

३ वही, पृ०१००

पड़ता । प्रारम्भ में वह अभिभूत करती है और उसकी एक विशेष प्रकार की प्रतिमा हमारे मन पर अंकित होती है । किन्तु बाद में लगभग अकारण ही वह इतना निस्तेज पड़ जाती है कि उस पर दया भी नहीं आती, उससे कोई सहानुभूति तक नहीं बचती । यद्यपि राजा तथा अन्यसभी व्यक्ति (और इस प्रकार उनके माध्यम से स्वयं लेखक) अब भी उसके उसी पूर्व व्यक्त रूप का स्मरण करके अपना आदर प्रकट करते रहते हैं । वह अपने-आप में भी विचित्र और अस्वाभाविक लगता है ।.... प्रारम्भिक तीव्रता के बाद धीरे-धीरे चन्द्रलेखा बुझी-सी चुपचाप पृष्ठभूमि में चली जाती है और कथा अनगिनती निरर्थक तथा शून्य प्रदेशों में भटकती रहती है ।[1]

पूरे उपन्यास में यदि कोई चरित्र आकर्षित करता है तो वह है मैना का चरित्र । उसके चरित्र संघटन में किसी प्रकार की भावुकता से काम नहीं किया गया है । लेखक उसे काव्यात्मक रूप के बजाय अधिक प्रत्यक्ष और तीखे रूप में प्रस्तुत करता है । मैना जैसे धड़कते हुए जीवन की प्राणदायी बयार तंत्र-मंत्र से आबद्ध तथा नाना पदार्थों के होम-धूम्र से अवरुद्ध-अवसन्न प्रदेश में बहा लाती है । उसके व्यक्तित्व में एक प्रकार की सहजता, मधुरता और स्फूर्ति है जो उस पूरे युग के वातावरण में अपूर्व और अप्रत्याशित लगती है, जैसे अनगिनती छाया-आकृतियों के बीच वही जीवन्त हो ।[2] राजा सातवाहन के साथ उसका हल्का भावसूत्र भी जुड़ा है, लेकिन इसके बावजूद वह इसे कभी व्यक्त ह नहीं करती और न ही इसके कारण कमजोर ही कहीं दिखती है । जितनी देर तक वह उपन्यास में रहती है, सभी पात्र उसके सामने निष्प्राण एवं निस्तेज दिखाई देते हैं । यहां तक कि सर्वलक्षणसम्पन्न चंद्रलेखा भी हत और दीन दिखती है । यद्यपि मैना का चंद्रलेखा के प्रति आदर भाव है और उसकी रक्षा के लिए उसे प्राणों का मोह नहीं है, तथापि उसके इस व्यक्तित्व के कारण

---

१ नेमिचन्द्र जैन : 'अधूरे साक्षात्कार', पृ०११३-११४

२ वही, पृ० १११

चन्द्रलेखा का मैना के प्रति भक्तिभाव प्रदर्शित करना असंगत और अप्रत्याशित लगता है। मैना के चरित्रांकन में लेखक इतना डूब गया है कि उसे यह ध्यान नहीं रह जाता कि रानी चन्द्रलेखा उपन्यास की नायिका है। जैसे जानबूझकर उसका दृष्टिकेन्द्र चन्द्रलेखा से हटकर मैना पर आकर टिक जाता है, इसीलिए चन्द्रलेखा को तो उसने सिद्धियों के पीछे भागने पर विवश कर दिया है और उसका सम्बन्ध राजा सातवाहन से लगभग तोड़ दिया है और मैना को नजदीक लाने के लिए नाटी माता के आश्रम में राजा सातवाहन को भेज देता है। लेकिन दृष्टिकेन्द्र का यह परिवर्तन अप्रत्याशित और कला की दृष्टि से कमजोर ही है। क्योंकि यहां मैना इतनी सशक्त और जीवन्त दिखने लगती है कि नायिका चन्द्रलेखा की प्रतिमा खण्डित एवं एकदम टूट सी जाती है। मैना का व्यक्तित्व यद्यपि अपने आप में बड़ा आकर्षक और मोहक है पर कुलमिलाकर वह समस्त रचना का केन्द्र विच्युत ही करती है।

उपन्यास के अधिकतर पात्र अरूप सिद्धान्त कथन एब्स्ट्रैक्ट प्रतिक्रियाओं के पुतले हैं, किन्तु मैना में जीवन्त मानसिकता का साक्षात्कार किया जा सकता है। उसमें तीव्र संवेदना है, पर वह संवेदना प्रतिक्रियाशील न होकर क्रियाशील होने की है-- क्रियाशील जीवन्तब मानवीय इकाई के रूप में। संभवत: इसी कारण सारे अरूप सिद्धान्त कथन करने वाले पात्र उसके सम्मुख हतप्रभ हो उठते हैं। राजा, सीदी मौला, विद्याधर, यहां तक कि बोधा भी उसके तर्क में चोट सम्हाल नहीं पाते। कारण यही है कि वह समस्याओं का अरूपीकरण नहीं करती, उन्हें सीधे मुंह पकड़ती है। वस्तुत: समस्त उपन्यास का सर्वाधिक जीवन्त और सम्भावनासमृद्ध पात्र यही है और जितने अंशों में कथा में वह रहती है, उसे अनुभव की प्रामाणिकता भी दिये रहती है, साथही मानवीय साक्षात्कार की ऊष्मा भी। और यह आश्चर्य की ही बात है कि बात बात पर उच्छ्वसित होकर वाक्स्फीति के विलास में निमग्न रहने वाले द्विवेदी जी इस पात्र के मानसिक द्वन्द्व के चित्रण में कहीं अधिक संयमशील दिखते हैं-- लगता है कि पात्र अपने निर्माता से बड़ा हो गया है।[१] लेकिन उपन्यास के अन्त तक लगता है कि लेखक

---

१ `माध्यम`, मई, १९६४, पृ०८५

का ध्यान चन्द्रलेखा की ओर जाता है, इसलिए अतिनाटकीय और अप्रत्याशित रूप से वह मैना का आत्मघात करा देता है । एक प्रकार से रोमैण्टिक शरदचंद्रीय प्रेम की परिणति उसमें दिखाई देती है और यह स्थिति कृत्रिम और आरोपित अधिक हो जाती है । कुल मिलाकर लेखक उसके चरित्र को मोहक,जीवन्त और सशक्त रूप में प्रस्तुत करने के बावजूद उसकी समस्त सम्भावनाओं को भास्वर नहीं कर सका है ।

विद्याधर भट्ट,धीर शर्मा,सोदी मौला,अमोघ वज्र,नागनाथ, गोरख,अदानेग्य भैरव,नाटीमाता, भगवती विष्णुप्रिया,बोधा प्रधान,अलहना, जल्हण और मम्मल इत्यादि जीवन कम जीते हैं, दर्शन और आदर्शों में अधिक और बंधे दिखते हैं । कारण शायद यही है कि ये पात्र लेखक के अपने उन आधुनिक मानवतावादी विचारों तथा जनतांत्रिक आदर्शों के विग्रह हैं,जिन्हें वह स्वयं स्वीकार करता है या जिनके लिए संघर्ष करना श्लाघ्य समझता है, परन्तु ये सभी स्वयं उसके लिए वर्तमान सन्दर्भ में एब्स्ट्रैक्ट ही हैं । फलत: ऐतिहासिक अनुभव की तात्कालिकता इन पात्रों से तिरोहित हो जाती है,क्योंकि जीवन में ये समस्याएं बिखरी और छिटपुट होती हैं तथा एकदम वैयक्तिक रूपों में प्रकट होती हैं,जिन्हें ये पात्र सामान्यीकृत करके एक ऊंचे बौद्धिक स्तर पर अभिव्यक्ति देते हैं और इस प्रकार यह बौद्धिक सामान्यीकरण ऐतिहासिक चरित्र को कमजोर करता है[1] ।

कथा विन्यास और चरित्र नियोजना की अपेक्षा उपन्यास का वातावरण अधिक सशक्त,सांद्र और सघन निर्मित हुआ है । वस्तुत: वातावरण को सघन बनाने के लिए कथानक और चरित्रों को एक औजार के रूप में उपयोग किया गया है । सिद्धि साधनाओं की घटनाएं और उनकी कथा,कोटिवेधी रस को सिद्ध करने का उपक्रम,तांत्रिक और बौद्ध साधनाओं के अनगिनत चित्र के द्वारा लेखक तत्कालीन जर्जर समाज की प्रामाणिकता का बयान करना चाहता है । ईसा की बारहवीं - तेरहवीं शताब्दी का काल खंडित और जर्जर भारत का चित्र है । लेखक ने ऐतिहासिक अतीत --साम्प्रदायिकता,व्यर्थ कुलाभिमान,परस्पर ईर्ष्या एवं छोटी-छोटी बातों को लेकर सङ्ग युद्ध,सिद्धियों के मोह में सम्पृक्त अपार जन समूह, तुर्कों के आक्रमण और भारतीय नरेशों का

---
१ 'माध्यम',मई,१९६४,पृ०८३

तुर्कशक्ति से संघर्ष आदि के यथार्थ को सच्चाई के साथ प्रस्तुत किया है । अदाम्य भैरव कहते हैं--' अरे ओ सातवाहन, इस देश की राजनीति विच्छेद की नीति पर खड़ी हुई है । आज वीर विक्रमादित्य क सा जननेता कहां है ? कहां है समुद्रगुप्त जैसा लोकनायक, जो महामांडलिकों के सिर पर पैर रखकर स्वयं सेना का संचालन करता हो ? कहां है चन्द्रगुप्त जैसा विषम साहसिक जो शत्रु सेना में इसप्रकार अकुतोभय होकर प्रवेश करता था, जैसे सिंह सियारों के झुंड में घुस जाता है ।?.. और देख सातवाहन शुक्र और कामन्दक की रणनीति में परिवर्तन की आवश्यकता है । .... देवी के चरणों पर सिर रखकर शपथ कर कि तू सीधे जनता से सम्पर्क रखेगा, किसी को छोटा और किसी को बड़ा नहीं मानेगा, धरती को बपौती नहीं,धरोहर समझेगा, सामन्ती प्रथा का उच्छेद करेगा ।ऐसा करके ही तू वीर विक्रमादित्य की परम्परा का उत्तराधिकारी बनेगा ।'[1] अमोघ व्रज्र वज्र कहता है --' ....मैं देख रहा हूं कि सिद्धियों के पीछे पागल बने लोगों ने देश को निर्वीर्य और कायर बना दिया है । माया के पराभूत करने का ढोंग रचने वाले लोग माया के सबसे मजबूत वाहन सिद्ध हुए हैं । काम-क्रोध को शत्रु घोषित करने वाले क्रीतदास सिद्ध हुए हैं । सारा समाज पाखंड और मिथ्याचार से अभिभूत हो गया है ।...'[2] इस प्रकार ऐतिहासिक अतीत के वातावरण को उजागर करने के लिए स्फीत कथन अथवा लम्बे संवादों का आश्रय अधिकर स्थलों पर किया गया है । राजनीतिक दांवपेंच,प्रजातंत्र की प्रतिष्ठा, सामंती समाज की विघात अवस्था, विदेशी आक्रमण,देश-प्रेम की पुकार आदि कथा दृश्यों के द्वारा युग का सम्पूर्ण वातावरण घनीभूत करने का यत्न है । वातावरण विन्यास के समय लेखक कई स्थलों पर अत्यन्त भावुक होकर आदर्श की स्थापना करने के प्रयत्न में लग गया है । कथा,पात्र,भाषा एवं संवाद सभी उपकरणों की योजना युग के वातावरण को उजागर करने के लिए की गई है । यहां तक कि लेखक केवल

----

१ चारुचन्द्र लेख,पृ०४०८-९

२ वही,पृ०३३८ ।

भारतवर्ष ही नहीं चीन, तिब्बत और मंगोलदेश के प्रसंगों में विदेशी वातावरण को उपन्यस्त किया है और उसके द्वारा एक ओर ज्ञान प्रदर्शन, दूसरी ओर उसकी सम्पृक्ति भारतीय परिवेश की समस्याओं से भी कर दी गई है ।

जैसा कि ऊपर इंगित किया गया है कि संवाद और वार्तालाप के द्वारा कथा और चरित्र का विकास कम वातावरण के निर्माण में विशेष सहायता ली गई है । लम्बे-लम्बे भाषणों से उपन्यास भरा पड़ा है, जिससे कथा और चरित्र विकास की गति बाधित हुई है । चंद्रलेखा और विश्वाधर भट्ट के स्फीतकथन जन जागृति के लिए और ओज-आवाहन के लिए वक्तृत्व कला के अच्छे नमूने त तो हो सकते हैं, लेकिन इससे उपन्यास का शिल्प बिखरने का कारण अधिक बनते हैं । कथनों में पात्रों के पद का सम्मान, व्यक्तित्व की त व्यंजना क भी व्यक्त होती चलती है । साथ ही भावों-अनुभावों का स्पष्टीकरण भी लेखक देता चलता है, जिससे चरित्रों की मन:स्थिति का बोध होता चलता है । नैरेटर पात्र संवादों के माध्यम से-- विस्तृत वार्तालाप यहां तक कि अकेले नैरेटर ही सुनने वाले पात्र को कहने का अवसर प्रदान न करते हुए -- कथा का विकास दिखाया गया है । इस प्रकार संवाद कथावर्णन में सहज सहायता देते हैं । लेकिन कुल मिलाकर संवादों में वह निखार नहीं आ पाया है जो `बाणभट्ट की आत्मकथा` में हम देखते हैं ।

हजारीप्रसाद द्विवेदी भाषा के धनी तो हैं ही । भाषा के द्वारा उन्होंने ऐतिहासिक अतीत को उजागर करने की चेष्टा की है । भाषा विवरणात्मक तथा लम्बे-चौड़े स्फीत कथनों से भरी है जिसके माध्यम से संप्रेषण कम, ज्ञान प्रदर्शन अधिक हो सका है । भाषा को युग के नजदीक रखने की चेष्टा में लेखक सफल रहा है, कहीं कहीं अनुभूत्यात्मक अंश के द्वारा संवेदना को भी अभिव्यक्ति दी गई है । विवरणदेने में लेखक इतना डूब गया है कि भाषा उसके हाथ से निकलती हुई दिखाई पड़ती है । प्रत्येक पात्र धारा प्रवाह बोले जाते हैं। उन्हें यह ध्यान नहीं रहता कि दूसरे पात्रों पर इसकी क्या प्रतिक्रिया होगी ।

साथ ही उद्धरण पद्धति के द्वारा श्लोकों को भी उसमें सम्पृक्ति करता गया है । भाषा के माध्यम से कहीं-कहीं स्थानों, परिस्थितियों की व्याख्या भी कर दी गई है[1]। भाषा वैज्ञानिक व्याख्या के साथ दार्शनिक और राजनीतिक व्याख्यायें भी देखी जा सकती हैं । यहां तक कि तिब्बती बौद्ध साधनाओं, मंगोलों द्वारा शक्ति प्राप्त करने की युक्तियाँ भी भाषा के माध्यम से ही खोजी गई हैं । स्फीत कथनों और साधनाओं के चित्र के समय लेखक ब की भाषा काव्यात्मक हो गई है । कहा जा सकता है कि 'चारु चन्द्र लेख' की भाषा वैयक्तिक निबन्धों का सा छाप छोड़ती हैं । डा० देवीशंकर अवस्थी भी हमारी बात का समर्थन करते हैं-- ' वस्तुत: द्विवेदी जी के समस्त औपन्यासिक शिल्प का मूल स्वर वैयक्तिक निबन्ध का है । वैसी ही उच्छल आवेगमयता, वैसी ही उड़ान, वस्तुओं के छिपे अर्थों को ढूढ़ने की वैसी ही अभिभूत चेष्टा, प्रसंगच्युत टिप्पणियां तथा सूचनायें, पाण्डित्य का रहैटरिक, संस्कारों आदि के प्रति अत्यधिक उन्मुखता, प्रामाणिकता प्रकटकरने वाली व्याख्यायें एक ऐसा मुखौटा जिसकी आड़ से लेखक अपने संघर्ष और समस्याओं को व्यक्त कर सके, आदि बातें उनके वैयक्तिक निबन्धों में भी हैं और इन उपन्यासों में भी वही अंश आये हैं । वस्तुत: यदि उनके ललित निबन्धों और उपन्यासों के 'ग्राफ' बनाये जा सकें तो कर्व के बिन्दु आस पास ही रहेंगे ... '[2]।

'कुणाल की आंखें (१९६७)[3]

आनन्दप्रकाश जैन ने उर्वर कथ्य, मौलिक प्रतिभा और इतिहास की नवीन व्याख्या के बल पर हिन्दी के ऐतिहासिक उपन्यासकारों में महत्वपूर्ण स्थान बना लिया है । उनकी कृति 'कुणाल की आंखें' अपने प्रभावी कथ्य एवं उसके अनुरूप शिल्प संगुफन के कारण ऐतिहासिक उपन्यासों में काफी चर्चित रहा है।

---

१ 'चारु चन्द्र लेख', पृ०१०५

२ 'माध्यम, मई, १९६४, पृ०८७

३ आनन्दप्रकाश जैन : 'कुणाल की आंखें, राजपाल एण्ड संस, दिल्ली, प्र०सं० १९६७।

आज की प्रजातांत्रिक राजनीति में संसद का विरोधी दल विशेष आकर्षण का केन्द्र है । कारण यही है कि बिना दूसरा पक्ष सामने आये सत्य की स्थापना असम्भव है । बिना दूसरे पक्ष की उपस्थिति के पहला पक्ष अतिशयोक्तिपूर्ण, दंभी, अकर्मण्य और असत्य हो उठता है । यह दूसरा पक्ष प्रथम पक्ष से भी अधि अधिक उपयोगी, सार्थक और सुन्दर है । प्रथम पक्ष के सर्वथा अयोग्य और अकर्मण्य हो जाने पर यही दूसरा पक्ष प्रगति का सूत्रधार बनता है । 'कुणाल की आंखें' इसी दूसरे पक्ष की चेतना है[1] ।

अशोक को भारतीय इतिहास में आवश्यकता से अधिक प्रशस्ति-गान मिला है । यह सच है कि वह अपने समय का एक महान सम्राट था, किन्तु अतिशयोक्ति प्रत्येक दृष्टि से हानिकारक होती है । अपने साम्राज्य के स्थायित्व के लिए उसने जिन नीतियों का अनुसरण किया, वह वन्दनीय अवश्य हैं, किन्तु राजसत्ता के साथ बौद्ध धर्म को जिस रूप में सम्पृक्त किया गया, वह कालान्तर में मौर्य साम्राज्य को अंदर ही अन्दर पोला एवं जर्जर करता गया । 'धम्म' के प्रचार के लिए उसने जिन अनेकानेक साधनों का आश्रय लिया, उससे भारतीय क्षितिज से खड्ग की झनकार विलीन होती गई और उसके स्थान पर समाज के कायर, आलसी, असामाजिक एवं परित्यक्त लोगों ने प्रव्रज्या धारण कर संघों की शोभा बढ़ाने लगे । उत्पादन का अधिकांश भाग इन्हीं संघों में जाने लगा । इसलिए वीर प्राणों में विद्रोह की लपटें उठने लगीं । बार बार विद्रोह दमन के बावजूद, यह आग ठंडी नहीं हो पाती थी ।

अशोक की राजनीति को आधुनिक भारत की राजनीति से जोड़ा जा सकता है । जिस प्रकार भारत के कांग्रेसी शासन के आदर्श, नीतियाँ और आस्थाएं मात्र छलावा हैं । कथन और क्रिया में पर्याप्त दूरी देखी जा सकती है । आदर्शों, वादों एवं प्रचार की आड़ में कब जनता एवं विरोध पक्ष की शक्तियां सीमित या नहीं के बराबर हैं, इसलिए वह स्वेच्छा से सब कुछ कर सकता है । उसी प्रकार अशोक अपने धर्म की आड़ में, विरोधपक्ष की शक्तियों

---

[1] 'कुणाली की आंखें' का आधार, पृ०४ ।

को आसानी से चारित करता है । इस प्रकार अशोककालीन एकपक्षीय इतिहास को आनन्दप्रकाश जैन की लेखनी ने बड़ी सुगमतापूर्वक एवं मौलिकता के साथ एक नवीन दृष्टि दी है तथा उसे आधुनिक चेतना के साथ सम्पृक्त किया है ।

उपन्यास का शीर्षक प्रतीकात्मक तथा कथानक एवं उसकी चेतना का प्रतिपाद्य बोधक है । तक्षशिला पहुंचकर राजकुमार कुणाल की आंखें जो कुछ देखती हैं, वे प्रियदर्शी अशोक के शासन के लिए आश्चर्यजनक थीं । वहां की प्रजा प्रियदर्शी की नीतियों को मानने के लिए तैयार न थी । कुणाल की आंखें देखती हैं कि दमिरजक के बौद्ध स्तूप में अनाचार, व्यभिचार एवं दुरभि-संधियां होती हैं । नवकुमारी कन्याओं को प्रवृज्या के लिए लोभ, प्रोत्साहन एवं बलप्रयोग होता है । भगवान तथागत के अभिधर्म का स्वरूप कलुषित होकर वीभत्स रूप ले चुका था । इन विद्रूपताओं की समाप्ति के लिए कुणाल ने अचानक आश्चर्यजनक कदम उठाया और उसकी सूचना प्रियदर्शी के पास भेज दिया तथा अन्य आवश्यक कार्यवाही के लिए आदेश की याचना की ।लेकिन इसके बदले में कुणाल की बौद्ध प्रेरित षड्यन्त्र के कारण अपनी आंखें देनी पड़ती हैं और कलंक दिया जाता है बेगुनाह तिष्यरक्षिता पर । इस प्रकार इस प्रतीक द्वारा सम्राट अशोक के `धम्म` और उसके आदर्शों का सहज ही अनावरण किया है । कुणाल की आंखें निकालने को लेखक ने बड़ी कुशलता से प्रजातन्त्रात्मक प्रणाली में कांग्रेसी सरकार को विरोध पक्ष की उपेक्षित ही नहीं,दमित करने की नीति का प्रतीकत्व दे दिया गया है-- कुणाल की आंखें दूरदर्शी विरोधपक्ष की तीखी आंखें हैं,जिन्हें अहिंसा,शांति,एवं मानवता की दुहाई देने वाली सरकार बरदाश्त नहीं कर पाती[१] ।

`कुणाल की आंखें` का सम्पूर्ण कथानक इकतीसअध्यायों में वर्णित है तथा `समापन` शीर्षक में कथा का सार या अन्त दिया गया है। कथावर्णन वर्णनात्मक ढंग पर है, लेकिन उसकी व्यंजना प्रतीकात्मक है । कथा बिना किसी उलझाव के सीधे-सीधे विकसित होती है और सूत्र धीरे-धीरे खुलकर

----

१ सत्यपाल चुघ : `ऐतिहासिक उपन्यास`,पृ०३६५

पाठकों के सामने आते जाते हैं । कथा दृश्य कई स्थलों पर जैसे विद्युत की भांति मंच पर प्रकट होते हैं, उससे पाठकों क में आश्चर्य का भाव जागृत होता है और कुतूहल निरन्तर बना रहता है । दूसरे शब्दों, कथा-परिवर्तन के समय नाटकीय विधि का भी सहारा लिया गया है(जिसका संकेत हम यथास्थल करेंगे) । कथा वर्णन में लेखक (यहध्यातव्य रहे) अशोककालीन ऐतिहासिक वातावरण को बराबर जीवित रखता है । और इस प्रकार पाठक उस काल की अनुभूति का साथ साथ रस लेता चलता है ।

कथानक का संगठन सुगठित एवं कसा हुआ है । एक ही कथा आद्यन्त बड़ी कुशलता के साथ विकसित एवं संगुफित है । छोटी-छोटी कथाओं को उसमें स्थान नहीं मिला है, इसलिए कथानक कहीं भी बिखरने की स्थिति में नहीं आया है ।

उपन्यास की कथा का प्रारम्भ दृश्यात्मक ढंग पर होता है । मौर्य सेनायें राजकुमार कुणाल की अध्यक्षता में, तुमुल नाद करते हुए तक्षशिला की ओर तीव्र गति से बढ़ रही हैं । यहां तत्कालीन व्यवस्था की ओर संकेत किया गया है, जैसे राजकुमार कुणाल हाथी मदशेखर के स्थान पर अश्व की मांग करते हैं, महावत चन्द्रपीड़ की आवाज की मुद्रा हाथों की ओट करके मुंह नीचा किये हुए होता है ।[1] साथ ही मौर्य सेना के संचालन की ओर लेखक पर्याप्त प्रकाश डालता है,जिससे अशोक कालीन इतिहास के भ्रम की अनुभूति बराबर बनी रहे । "सेनापति ने इस बीच आक्रमण के लिए सेनाओं की अगली पिछली पंक्तियों की ही व्यूह रचना की थी, इसलिए कुमार कीओर जाने का अवसर उन्हें नहीं मिला था । तक्षशिला के विद्रोहियों के पास दूत भेजा जा चुका था और उससे मार्ग में ही भेंट होने की संभावना थी किन्तु वह अभी तक लौट पाया था ।"[2]

----

१ 'कुणाल की आंखें',पृ०१५

२ वही,पृ०२६

तक्षशिला में प्रवेश करते ही सैकड़ों गुप्तचर नगर की हर राह-बाट में फैला दिये गये । कुमार ने विद्रोहियों से उत्पन्न नारकीय दृश्य को अपनी आंखों से देखा । वृद्ध महासामंत का शव एक खंभे में डंडे के सहारे गलफांस लगाकर लटकते हुए पाया गया । त्वचा जगह जगह से लम्बी रेखाओं में उधड़ गई थी, जिससे मालूम होता था कि निर्दयी विद्रोहियों ने उन्हें मौत का निवाला बनाने से पहले बेरहमी से पीटा था[1] । शान्ति स्थापना के पश्चात गुप्त पुरुषों की सूचनाओं के आधार पर बड़ी संख्या में गांधारी बंदी बनाये गये ।

कथासूत्र दमिरजक के बौद्ध स्तूप के माध्यम से भी खुलता है । स्तूप से सम्बद्ध धम्ममहामात्र बोधिगुप्त,महास्थविर विशालबाहु और उपाध्याय वात्स्यायन की दुरभिसंधियों का कुचक्र धीरे-धीरे अनावृत होता है । अभिधर्म के बलात् और किसी भी कीमत पर महत्वपूर्ण व्यक्तियों को प्रवृज्या के लिए बाध्य करना, जिससे संघ की शक्ति निरन्तर बढ़े तथा मौर्य राजशक्ति में उनकी बाहें सुदृढ़ होती रहें। इसके अतिरिक्त संघ सैनिक शक्ति का केन्द्र भी हो रहा था ।

तक्षशिला में आंतरिक विद्रोह के लिए नगर श्रेष्ठियों का दल भी कार्य कर रहा था । नगर का समस्त वैभव उनके हाथों में केन्द्रित था । वे पांच सहस्त्र अरबी और पारसी अश्वों का सात दिन में पूर्ति करने का सौदा कर सकते हैं । रातों रात नगर भर का अन्न खरीद कर बौद्ध स्तूपों को प्रदान कर सकते हैं । नगर श्रेष्ठियों के दल को वर्तमान पुंजीपतियों का प्रतीक कहा जा सकता है । विद्रोह के समय इन पुंजीपतियों ने विद्रोहियों को पर्याप्त आर्थिक सहायता प्रदान किया था ।

कथा की सीमा बहुत विस्तृत नहीं है, वह केवल मौर्यकालीन राजनीति और राजनीतिक दुरभिसंधियों तक सीमित है । पूरी कथा का

---

१ `कुणाल की आंखें`,पृ०३३

केन्द्रबिन्दु तक्षशिला है। तक्षशिला में विद्रोह क्यों हुआ, उसके लिए कौन-कौन से तत्व उत्तरदायी हैं,गूढ़ पुरुषों द्वारा उन तथ्यों का पता लगाते-लगाते कथा का अधिकांशभाग समाप्त हो जाता है और अन्त में धीरे-धीरे सुलगने वाली दुरभिसंधियाँ उजागर होती हैं।

राजकुमार कुणाल प्रियदर्शी की राजनीति से सहमत नहीं है।उसे यह भी पसन्द नहीं था कि धर्म का चोला पहनाकर सब जनशक्ति को ठगा जाय,उसे कायर और क्लीव बना दिया जाय।एक दिन अचानक नाटकीय गति से महंत विशालबाहु,उपाध्याय वात्स्यायन और धर्ममहामात्र बोधिगुप्त बन्दी बना लिया जाता है। कुणाल तक्षशिला का सारा वृत्तान्त पत्र के माध्यम से प्रियदर्शी को सूचित करता हैऔर याचना करता है कि उसे उपराज बनाकर तक्षशिला को स्वायत्तता प्रदान कर दी जाय। प्रियदर्शी उसके उत्तर में तुरन्त पाटलिपुत्र वापस आने की आज्ञा देते हैं। साथ ही पाटलिपुत्र के शासन के लिए अलग से व्यवस्था की आज्ञा प्रेषित करते हैं। `कुमार अंधीयताम` वाक्य का अनर्थ निकाल कर बौद्ध मठाधीशों ने भयंकर काण्ड किया।देवी प्रेरणा की मृत्यु, सुबाहु की हत्या और राजकुमार कुणाल की आँखें निकाल ली जाती हैं। कथा का अंत त्रासदीय है और अनावश्यक रूप से लेखक कई महत्वपूर्ण पात्रों की हत्या करवा देता है। लगता है अब उसके लिए कथा में इन पात्रों का कोई महत्व नहीं रह गया था। `समापन` शीर्षक कथाभाग तो और भी नीरस और शिथिल है। लेखक ने प्रियदर्शी के राजवैभव और शक्ति को तिरोहित होते दिखाया है। यह व्यंजना भी निष्पादित होतीहै कि इस प्रकार की कुव्यवस्था और आडम्बरपूर्ण राजशक्ति कभी स्थायी नहीं रह सकती, उसका पतन अवश्यम्भावीहै। इस प्रकार अप्रत्यक्ष रूप से भारतीय राजनीति पर प्रहार हो जाता है।

संक्षेप में उपन्यास का कथानक तीव्र गति से प्रारम्भ एवं विकसित होता है, बीच-बीच में शिथिलता भी दिखाई देता है,किन्तु

अन्त बड़ा ही संवेदनपूर्ण एवं आनन्दीय है । ऐतिहासिक वातावरण को जीवित रखने में उपन्यास की कथा चाहे जितनी ही सक्षम हो, शिल्प की दृष्टि से पर्याप्त सुगठित हो क्यों न हो, लेकिन रंजन एवं आकर्षण के स्थल कम ही हैं । कथा का व्यंजनापक्ष जिसकी सम्पृक्ति आधुनिक भारतीय राजनीतिक चेतना से है,वह अवश्य ही महत्त्वपूर्ण,सशक्त और पर्या पर्याप्त आकर्षक हैऔर शायद लेखक का यही प्रयोजन भी था ।

ऐतिहासिक उपन्यास पात्र प्राय: बहुल होते हैं,लेकिन `कुणाल की आँखें` में पात्र सीमित हैं । आवश्यकतानुसार जितने भी पात्र गढ़े गये हैं, मिलकर मौर्यकाल की ऐतिहासिक संवेदना को उजागर करते हैं । चरित्र-चित्रण में भी कथानक की भांति कोई उलझाव नहीं है, उनके व्यक्तित्व सीधे और सपाट ढंग पर अभिव्यक्ति पाते हैं । सम्पूर्ण उपन्यास का केन्द्रीय चरित्र राजकुमार कुणाल है,जिसे लेखक ने प्रतीकात्मक विन्यास भी प्रदान किया है । `आधार` में ही उसने स्पष्ट किया है कि वह वर्तमान या आधुनिक शासन के दूसरे पक्ष या विरोधपक्ष की चेतना का प्रतीक है[1] । कुणाल के माध्यम से उसने आज की प्रजातांत्रिक राजनीति पर प्रहार किया है ।

राजकुमार कुणाल प्रियदर्शी से अधिक बुद्धिमान,चेतन और वीर पुरुष है । वस्तुत: उसे नयी पीढ़ी का प्रतिनिधि माना जा सकता है,जो परम्परागत रूढ़ियों एवं मान्यताओं के प्रति अनास्था,पुराने मूल्यों के मूल्यों के प्रति मोहभंग एवं नई चेतना की स्थापना में संलग्न है । वह सिंह पुरुष है लेकिन न्यायपक्ष केसमर्थन में एकदम सहनशील है । अन्याय या अत्याचारीपक्ष के विरोध में शीघ्रता से अपना निश्चय नहीं करता,बल्कि खोज करने के पश्चात् निर्णय लेता है । कालियाद्रि और कुशालव को इसीलिए सजा देने के बजाय तक्षशिला में शांति स्थापना के लिए समझौता

---

१ उपन्यास के `आधार` से ,पृ०४

करता है, क्योंकि वह जानता है कि प्रजा के हृदय पर अधिकार किये बिना शासन नहीं किया जा सकता । कुणाल के माध्यम से, उपन्यास में, तत्कालीन शासन की विडम्बनाओं, आडम्बरों और अत्याचारों को अनावृत्त किया गया है, और इस प्रकार वर्तमान शासन से उसकी सम्पृक्ति की गई है । राजपरिवार में अशोक ने सबसे पहले उन्हीं लोगों के सिर पर हाथ रखा, जो सिंहासन को उसके हाथ से छीन सकते थे या उसे अयोग्य ठहराकर सिंहासन पर अधिकार कर सकते थे[१] । कुणाल को यह स्वीकार नहीं था कि प्रियदर्शी अशोक धर्म की आड़ में अराजकता को प्रश्रय दें । उसकी आंखें देखती हैं कि अशोक की ही नीतियों और पाखंडों - आडम्बरों के फलस्वरूप धनवान एवं समृद्ध वृद्ध कोमलांगी अबलाओं से विवाह रचाकर उनके जीवन को विद्रूप बना सकते हैं, परस्त्री गमन कर सकते हैं । अकर्मण्य भिक्षु सामान्य प्रजा का शोषण करते हैं । भिक्षुणियां अनेक रोगों का शिकार होकर घुट घुट कर मृत्यु को प्राप्त होती हैं । कुणाल ने अपने चरित्र के माध्यम से यह व्यंजना कर दिया है कि अत्याचारी शासन का पतन शीघ्र निश्चित है। प्रजा उपदेश सुनाना नहीं चाहती, उसे अपनी तकलीफों का निदान चाहिए । संकट के समय इसीलिए या तो वह मूक दर्शक बन रही है या शासन पर व्यंग्य प्रहार करती है । कुणाल को लेखक ने आधुनिक चेतना से सम्बद्ध करके उसके चरित्र को अधिक सशक्त, प्रौढ़ एवं यथार्थ बना दिया है । ऐतिहासिक उपन्यासों में ऐसे चरित्र बहुत कम मिलते हैं ।

'कुणाल की आंखें' के पात्र मात्र इतिहास के पुतले नहीं हैं, उनमें मानवीय भावनाओं का सम्प्रेषण भी किया गया है । कुशीलव और कालियाद्रि को मुक्त कर देना उसकी मानवीय एवं कूटनीति का परिचायक है । देवी प्रेरणा और गोपा के प्रति सर्वत्र उसमें मानवीय भाव स्थायी रहता है । बौद्धों के कुचक्र का शिकार होकर जब वह अपनी आंखें खो देता है

---

१ उपन्यास के 'आधार' से, पृ०६

उस समय भी उसका प्रियदर्शी के प्रति पूर्व आदर्श और पूजा भाव बना रहता है। उसके निश्छल उद्गार, " कितना स्पष्ट, सार्थक, भ्रमरहित निर्देश था। आर्यपुत्र के नेत्र फैले के फैले रह गये। पियदस्सी पिता, देवानांपिय! यह आपका आदेश है? क्या आपको अपने पुत्र की पितृभक्ति पर संदेह था? इतने छल की क्या आवश्यकता थी, पियदस्सी। सीधा आदेश अपने पुत्र को भेजते। अपने नेत्र स्वयं निकाल कर आपके चरणों पर न रख देता। तात! आर्य सुबाहु जैसा महावीर सखा, देवी प्रेरणा जैसी कोमल कली, सुभट सोमदत्त जैसा अजेय योद्धा-- ये सब आपके क्रोध की अग्नि में काहे को भस्म होते। अब वे कहां मिलेंगे[1]। आस्था, आदर्श एवं मानवीय संवेदनाओं को व्यक्त करते हैं। यहां कुणाल मनुष्यत्व के रूप में बहुत ऊपर उठ जाता है।

कुणाल के अतिरिक्त अन्य पुरुष पात्रों में आर्य सुबाहु, धम्ममहामात्र बोधिगुप्त, उपाध्याय वात्स्यायन, महंत विशालबाहु, गुप्त पुरुष उदयन और गुणभद्र, सेनापति अरिदमन, नगरश्रेष्ठि धनदत्त, अमात्य राजसेन और चंद्रसेन, गांधारी कालियादि एवं कुशीलव आदि प्रमुख हैं। ये चरित्र अपनी सीमा में पूर्ण हैं, इनमें विस्तार की गुंजाइश कम है। एक ओर ये तत्कालीन इतिहास के वातावरण निर्माण में सहायक हैं, दूसरी ओर केन्द्रीय चरित्र कुणाल को सशक्त रूप से उजागर करने में योग देते हैं। सुबाहु एक स्वामिभक्त वीर के रूप में चित्रित है। वह पाटलिपुत्र से ही कुमार के साथ छाया की भांति लगा रहता है और अन्त में अपने स्वामी की रक्षा में प्राणों की बलि दे देता है। योद्धा के रूप में उस समय उसके समकक्ष केवल सोमदत्त ही ठहर सकता था, अन्यथा उसकी खड्ग अजेय थी। वह वीर होने के साथ-साथ मानवीय भावों से अनुप्रेरित है। देवी प्रेरणा के प्रति अगाध अनुरक्ति उसके निश्छल प्यार की द्योतक है।

महास्थविर, विशालबाहु, धम्ममहामात्र बोधिगुप्त, उपाध्याय वात्स्यायन प्रियदर्शी के पाखण्ड प्रपंच के प्रतीक हैं। तीनों के चारित्रिक आयाम

---

१ 'कुणाल की आंखें', पृ०३६६

को एक दिखाकर लेखक ने कुशलता का परिचय दिया है । वे एक होकर मंत्रणा करते हैं एवं अपनी विशाल बाहें फैलाते हैं । वे स्वार्थ के लिए देश को आर्थिक संकट में ला सकते हैं, नगर का समस्त वैभव एक ही दिन में खरीद सकते हैं, रक्षा के लिए सेना एकत्रित कर सकते हैं । उन्हीं के कुचक्रों का परिणाम था कि राजकुमार कुणाल को अपनी आँखें खोनी पड़ीं । लेखक ने इन तीनों का सार्वजनिक शिरच्छेद दिखाकर यह व्यंजित करने का प्रयास किया है कि पापाचार एवं पाखण्ड का विनाश सन्निकट है ।

उदयन कुमार की चेतना का प्रतीक है और गुणभद्र प्रियदर्शी की नीतियों का समर्थक । उदयन अपनी चातुरी से शीघ्र ही तक्षशिला की आन्तरिक स्थिति का प्रतिवेदन कुमार के समक्ष प्रकट करता है । लेकिन गुणभद्र कूटनीति से अपने स्वार्थ को ही उतिश्री में लगा रहता है । वह नगरश्रेष्ठि धनदत्त और बौद्ध मठाधीशों से समझौता करके अपनी शक्ति को बढ़ाने में तत्पर है । गोपा के सन्दर्भ को देखकर उसका मन चंचल हो उठता है, सामान्य पुरुष की भांति छुप चुपके से उसके पास जाता भी है, लेकिन उसके मन की इच्छा पूरी नहीं होती । उदयन को हल्की ईर्ष्या है कि सुबाहु पर कुमार की दया अधिक है और वह उसके समकक्ष आना चाहता है । यह मानवगत कमजोरी है, कोई चाटुकारिता या छलावा नहीं । उसके प्रतिवेदन के आधार पर सम्राट अशोक तक अपना निर्णय बदल देते हैं । नगर श्रेष्ठि दल तथा बौद्ध पाखंडियों के प्रपंच को बड़ी निपुणता से अनावृत्त करता है, जो उसके पद को ऊँचा उठाने में पर्याप्त समर्थ है । गैलिशिया के प्रति हल्का भावसूत्र भी दिखाया गया है, लेकिन लेखक ने इस प्रसंग को जानबूझकर छोड़ दिया है । लगता है उसे बाद में यह अनुभव हुआ होगा कि यह कमजोरी उसके पद को कमजोर बना सकती है । चरित्र के इस आयाम को छोड़कर उसमें कहीं भी कृत्रिमता नहीं है ।

नगरश्रेष्ठि धनदत्त आधुनिक पुंजीपतियों का प्रतिनिधित्व करता है। जिसप्रकार आज के पुंजीपति देश को आर्थिक संकट के कगार पर ला सकते हैं, देश का धन एकत्रित कर आम आदमी का शोषण कर सकते हैं,

राजसत्ता पलट सकते हैं । नगरश्रेष्ठि धनदत्त भी नगर का समस्त अन्न खरीदकर मौर्य सैनिकों को भूखे होने की स्थिति में लाता है तथा राजनीतिक कुचक्र में सहयोग देता है । सेनापति अरिदमन का चरित्र अस्पष्ट एवं धुंधला है,उसको लेखक ने जैसे अनावश्यक समझकर उसे ज्यादा मुखर नहीं किया है । कालियाद्रि और कुशीलव गांधारियों की चेतना हैं । तक्षशिला का विद्रोह उनके नेतृत्व में फलीभूत होता है, लेकिन वीर होकर भी वे वन्य नहीं हैं । कुणाल की एक दृष्टि में वे अपना सर्वस्व न्योछावर कर सकते हैं,क्योंकि पर उनपर अगाध विश्वास हो गया था ।

इस प्रकार पुरुष पात्रों का चरित्रांकन लेखक की कुशल प्रतिभा का परिचायक है ।

उपन्यास में नारी चरित्र सीमित है, वे भी अपूर्ण एवं बिखरे हुए । कुमारी प्रेरणा,गैलेशिया और गोपा तीन ही नारी चरित्र उपन्यास में स्थान पा सके हैं । लगता है, लेखक की दृष्टि में उस काल में नारी की स्थिति महत्वपूर्ण नहीं थी,इसीलिए इस ऐतिहासिक यथार्थ के अनुरूप उसने नारी पात्रों को चलताऊ ढंग पर चित्रित करके छोड़ दिया है । देवी प्रेरणा के चरित्र का एक ही आयाम आद्यन्त चित्रित है, वह है प्रेमिका का रूप । अपनी आंखों के समक्ष उसने जो अकांड तांडव देखा है इससे इस जीवन के प्रति उसमें विराग उत्पन्न हो गया और प्रव्रज्या के लिए आतुर दिखाई गई है । लेकिन लेखक ने अवसर प्रदान किया है कि उसका भ्रम मिट सके,क्योंकि उस जैसी अनिंद्य सुन्दरी का भिक्षुणी हो जाना विडम्बना होती । भ्रम का पर्दा हट जाने पर संसार के प्रति पुन: उसमें अनुराग उत्पन्न होता है, इसका कारण था सुबाहु के प्रति उभरती हुई अनुरक्ति । एक आदर्श भारतीय नारी की भांति वह अपना जीवन भी दान दे देती है । गैलेशिया का चरित्र कहीं भी उभर नहीं पाया है । वह केवल मानवीय अनुभूति से अनुपूरित एक गणिका मात्र दिखाई गई है । गोपा का चरित्र अवश्य ही आकर्षक एवं नारी पात्र के रूप में संवेदना उत्पन्न करने वाला है । वह दासी होकर भी अपूर्व

सुन्दरी एवं अतृप्त कामेच्छाओं की शिकार है, लेकिन इस अतृप्ति को किसी कुट दिशा कीओर अग्रसर नहीं दिखाया गया है । अप्रत्यक्ष रूप से वह कुमार के प्रति आसक्त है, प्रत्यक्ष रूप में अपनी भावनाओं को कुमार के सामने कभी प्रकट नहीं करती, लेकिन अन्दर ही अन्दर घुटती रहती है । उसका कुमार के प्रति समर्पण भाव अन्त तक जीवित रहता है ।

उपन्यास का वातावरण इतिहासानुकूल और सघन है । लेखक ने अशोक कालीन धार्मिक, राजनीतिक, एवं सामाजिक वातावरण की बिम्बात्मक अनुभूति उत्पन्न कराया है । इतिहास में हमने अशोक की राजनीति का सुखद पक्ष देखा है, लेकिन राजनीति के पीछे जो स्वार्थी तत्व कार्य कर रहे थे, स्वयं अशोक व्यर्थाडम्बरों के द्वारा सामान्य जनता का शोषण कर रहे थे, उस दूसरे कलुषित पक्ष को इस सचाई के साथ लेखक ने प्रस्तुत किया है कि हम उसपर विश्वास किये बिना नहीं रह सकते । धर्म की अत्यधिक सम्पृक्ति के कारण शासन कायर और क्लीब होता गया । मौर्य शासन मरणासन्न अवस्था में आ गया । इस तथ्य को प्रस्तुत करने के लिए तक्षशिला को कथाक्षेत्र बनाया गया है । क्योंकि तक्षशिला की प्रजा मागधियों की अपेक्षा अधिक बलवान एवं भौतिक सुखापेक्षी थी । कथानक में उन्हीं घटनाओं का चयन किया गया है, जिससे अशोककालीन वातावरण अधिक सघनता एवं स्पष्टता से उजागर हो सके । कुणाल की आँखें बौद्ध धर्म का विकृत रूप देखती हैं । बौद्ध मठाधीश धर्म ज्ञान एवं आचार-विचार की चर्चा नहीं करते बल्कि अपनी प्रबल शक्ति का लाभ उठाकर षडयन्त्र रचते हैं ।प्रव्रज्या ज्ञान के द्वारा नहीं बल्कि बलात धारण करवाते हैं । बौद्ध संघारामों का चित्र निर्मल न रहकर कुरूपता को धारण कर चुका था । उदयन कहता है--" प्रमाण के रूप में आर्थिक दासता से ग्रस्त उन नागरिकों के वे वक्तव्य हैं जिनमें उनकी स्थिति का लाभ उठाकर उनके बच्चे उनसे छीन लिये गये हैं । प्रमाण के रूपमें वेवैधाएं हैं, जिनके कंधों पर गर्भपात की महामारी की परीक्षा करने का भार डाला गया है... महास्थविर की यह दूषित रक्त केवल आपके संघाराम से ही प्रवाहित नहीं

हो रहा है । देश भर में प्राय: ही संघारामों की यही दशा हो चली है,जिसने न केवल प्रियदर्शी को, अपितु उनके अमात्यवर्ग में भारी असंतोष है ।और यह गंभीरता से विचार किया जा रहा है कि राज्य की ओर से भोजन,वस्त्र, आवास तथा औषध के रूप में जो चार प्रकार का शरण बौद्ध भिक्षुओं को दी जाती है, उसके कहीं दुराचार के अड्डे तो नहीं पल रहे हैं ।[1]

लेखक ने मौर्यों की सैन्य शक्ति एवं उसकी साज-सज्जा,रणकौशल एवं गूढ पुरुषों की क्रियाएं सब को जीवन्त रूप में प्रस्तुत किया है । राज्य में शक्ति प्राप्ति के लिए तथा प्रभुत्व स्थापना के लिए प्रत्येक पात्र अपने-अपने ढंग से संलग्न दिखाए गए हैं । कूटनीति,कुचक्र एवं दुरभिसंधियों का चक्र निरन्तर चलता है--चाहे वह धर्ममहामात्र बोधिगुप्त हों या स्थविर विशालबाहु,राजकुमार कुणाल हों या उदयन,गुण भद्र हों या नगर श्रेष्ठिगण -- सभी व राजनीतिक वातावरण को सचाई के साथ प्रस्तुत करते हैं ।

राज्य में दासियों एवं गणिकाओं की संख्या विशाल थी । असमर्थ किन्तु सुन्दरी स्त्रियां समर्थ वृद्धों की या तो दासियां बनने के लिए विवश थीं या उनकी कामवासनाओं की आग में घुट-घुट कर तड़पने के लिए मजबूर थीं । अपने सौन्दर्य के बल पर कभी-कभी दासियां असाधारण अधिकार प्राप्त कर लेती थीं,यहां तक कि राजनीतिक उलट-फेर का कारण बनती थीं । नारी स्थिति के वैचित्र्य 'कुणाल की आंखें' में पर्याप्त चित्रित हैं ।

जहांपात्र और घटनायें अपनी ओर से वातावरण अभिव्यक्ति के लिए कुछ नहीं करतीं, वहां लेखक को स्वयं अपनी ओर से कहना पड़ा है । लेकिन ऐसे स्थल उपन्यास में बहुत कम हैं, संकेतों एवं व्यंजनाओं के द्वारा इस कमजोरी से बचने का प्रयत्न किया गया है । संक्षेप में कहा जा सकता है कि उपन्यास में क्या घटनाएं और पात्र अशोककालीन वातावरण को नियामक बन कर इस रूप में आयी हैं और इससे वातावरण उस काल को उजागर करने में सक्षम है ।

उपन्यास की भाषा व और संवाद पात्रानुकूल हैं । भाषिक रचना सीधी और स्पष्ट है । वह न तो मनोवैज्ञानिक उपन्यासों की ~~भांति~~ भांति

---

१ 'कुणाल की आंखें',पृ०२३७

जटिल है और न वर्णनात्मक उपन्यासों की भांति स्थूल ही । वह कथानक एवं पात्रों की अनुगामिनी बनकर व्यंजना एवं संकेतों के सहारे आधुनिक चेतना की अभिव्यक्ति देती है । एकाध उदाहरण द्रष्टव्य हैं:--

(१) साम्राज्य रसातल को जा रहा है, सम्राट अग्रमहिषी के शोक में उदासीन होते जा रहे हैं, चारों ओर इस अहिंसक साम्राज्य में हिंसा का जोर बढ़ता जा रहा है, सीमाओं पर प्रादेशिक व राजुक अशांत हो गए हैं, प्रियदर्शी अपने गुढ़ पुरुषों के प्रतिवेदन सुनकर भी अनसुने कर जाते हैं....[1] ।

(२) प्रियबंधु, यही विस्तार था, जिसने प्रियदर्शी को प्रियदर्शी का बाना पहनने को विवश किया और जम्बू द्वीप में युद्ध चक्र के स्थान पर धर्म-चक्र घुमने लगा, क्योंकि युद्ध-चक्र के पहिये स्थूल हैं, लौकिक हैं, भौतिक हैं, जो दूरस्थ प्रदेशों तथा विदेशों में देर करके पहुंचते हैं । धर्मचक्र के पहिये सूक्ष्म हैं, वायु की गति से भी तेजी के साथ घुमते हैं, पारलौकिक हैं और अदृश्य हैं । इनके पीछे बड़े-बड़े भौतिक रथ छिप जाते हैं[2] ।

भाषा की शब्दावली तत्कालीन इतिहास और वातावरण के अनुकूल है । कालानुरूप सभी पात्र प्राय: एक ही मुद्रा में बोलते हैं, लेकिन विभिन्न पात्रों की दृष्टि से भाषा की विविधता भी देखी जा सकती है । धम्ममहामात्र बोधिगुप्त, महास्थविर विशाल बाहु इत्यादि बौद्ध मठाधीश 'भंते' का संबोधन और बार बार 'बुद्धं शरणं गच्छामि' दुहराते हैं । नगर-श्रेष्ठियों की भाषा में स्वार्थ एवं छल की गंध आती है । गुढ़ पुरुषों की भाषा में रहस्य एवं कुतूहल का भाव स्थायी रहता है । कुणाल की भाषा में नई पीढ़ी की चेतना देखी जा सकती है ।

कथ्य की अभिव्यक्ति प्राय: संवादों के माध्यम से की गई है । अपनी ओर से कुछ कहने के लिए, जहां तक हो सका है, लेखक ने बचने का प्रयत्न किया है । संवाद प्राय: संक्षिप्त किन्तु पूर्ण और अवसरानुकूल

---

१ 'कुणाल की आंखें, पृ०४०

२ वही, पृ०१२३

निबद्ध किए गए हैं । संवादों के सहारे पात्रों की ऐतिहासिक सत्ता का ज्ञान होता है। कहीं-कहीं विस्तृत लम्बे भाषण भी दिये गये हैं[१] । वे कथानक के नैरन्तर्य में बाधक की तरह आते हैं । लेकिन ऐसे स्थल अत्यल्प हैं ।ऐसे स्थल प्राय: स्वाभाविक रूप से स्थान पा गये हैं । सभा में दिये गये भाषण और अमात्य परिषद् की बैठकें में विभिन्न अमात्यों के लम्बे संवाद स्वाभाविक हैं और वातावरण-सृजन में सहायक हैं[२] । तक्षशिला नगर के समस्त परिस्थितियों की सूचना और उसपर प्रियदर्शी का आज्ञा पत्र लम्बे संवाद के रूप में नियोजित है,लेकिन स्वाभाविक एवं प्रासंगिक[३] । कहीं-कहीं पात्र अस्तव्यस्त व मन:स्थिति में स्वयं से ही जल्पन की भांति बातचीत करते दिखाये गये हैं[४] । संवादों की भाषा इस प्रकार गठित की गई है कि कथानक बड़ी गति से आगे बढ़ता रहता है और पाठक का कुतूहल बराबर स्थायी रहता है ।

अन्त में निष्कर्ष स्वरूप कहा जा सकता है कि `कुणाल की आंखें` अपने विचारों की उर्वरता और गहनता,उपयुक्त और आकर्षक कथात्मकता,पात्रांकन में संगठन, काल के वातावरण की यथार्थ और सघन अभिव्यक्ति, आधुनिक चेतना से सम्पृक्ति, भाषा की कुशल व्यंजना आदि आदि मिलकर ऐतिहासिक उपन्यासों में एक नये संसार से साक्षात्कार कराता है तथा उपन्यास के तेवर को वजनदार बनाता है ।

-o-

---

१ `कुणाल की आंखें`,पृ०२०६,३४४,० ३४५,३८२ आदि

२ वही, पृ०३२५-८५ ३३२

३ वही, पृ० ३१७-२५

४ वही, पृ० ३६

सप्तम अध्याय

-0-

व्यंग्यात्मक शिल्प-विधान

व्यंग्यात्मक शिल्प-विधान के उपन्यासों का दृष्टिकेन्द्र विवरण पर नहीं, बल्कि व्यंजना पर होता है । इस विधान में लेखक यथार्थ को सीधे सीधे व्यक्त न करके व्यंजना के सहारे अभिव्यक्ति प्रदान करता है । समाज की सामयिक स्थितियों, परिस्थितियों, दशाओं और उसकी अच्छाइयों-बुराइयों को वह प्रतीकात्मक ढंग पर या सीधे व्यंग्य के द्वारा व्यंजित करता है । प्रतीकात्मक व्यंग्य में मनुष्येतर पात्रों का चयन करके उसके द्वारा कथा का ताना-बाना बुनता है और उसके द्वारा सामयिक मनुष्य की हालत की पड़ताल द करता है । प्रतीकों को स्पष्ट करने के लिए व्याख्या भी देता चलता है । 'कालो कुर्सी की आत्मा' में इस विधि का जीवन्त उपयोग किया हुआ है । मनुष्य अपने घृणित पहलु को सीधे साथे पढ़कर क्रुद्ध सकता है, एकदम सीधा चोट पड़ सकता है, इसलिए लेखक बड़ी कलात्मक बारीकी से उस घृणित पहलु को प्रतीकात्मक पद्धति के द्वारा उजागर करता है कि पढ़ने वाला तिलमिलाये तो, लेकिन वह व्यंग्य हृदय में गहरे रूप से पैठकर सोचने को मजबूर करे । इसलिए प्रतीकात्मक व्यंग्य के उपन्यासों में लेखक को कला और साधना से काम लेना पड़ता है । कथा और चरित्र की नियोजना इस प्रकार करनी होती है कि वह समंजित और संगठित होकर सामयिक मनुष्यों की कमजोरियों से सम्पृक्त हो सके । इस प्रकार व्यंग्यात्मक शिल्प विधान का महत्व सामयिक दृष्टि से ही होता है । समसामयिक परिप्रेक्ष्य में रखकर ही उसकी व्याख्या की जा सकती है । लेकिन

प्रतीकात्मक व्यंग्य के अतिरिक्त इस विधि में सीधे-सीधे व्यंग्य भी प्रक्षेपित किये जाते हैं। यह ध्यातव्य रहे कि व्यंग्यात्मक शिल्प-विधान के उपन्यासों का उद्देश्य पाठकों को हंसाना नहीं, मनोरंजन करना नहीं जैसा कि शरद जोशी या हरिशंकर परसाई की कुछ कहानियों और 'बैठे ठाले' के स्तम्भ में देखा जाता है, बल्कि उनके द्वारा पाठकों के घाव पर नश्तर लगाया जाता है। लेखक अपने शिल्प और कथ्य के द्वारा पाठकों को चिकोटी काटता है, उसके हृदय को झकझोरता है और मनुष्य की सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक आदि सच्चाइयों को एकदम दो टूक मुखर करता है। 'राग दरबारी' की कहानी, गांव की कहानी न होकर पूरे राष्ट्र की कहानी है, जो आजादी के बीस वर्षों बाद बनी-बिगड़ी है। लेखक समाज के हर मनुष्य का मुखौटा उघाड़ता है। पाठक पढ़े और देखे कि हम कितने गिरे हैं, कितने कीड़े बिदबिदा रहे हैं हमारी जिंदगी में। जीवन में संघर्ष करते हुए लोग किस तरह से भ्रष्ट और अनैतिक होकर स्वार्थ पूरा कर रहे हैं, वह उन सब को बखिया उधेड़ता है। इस प्रकार व्यंग्यात्मक शिल्प-विधान में चाहे वर्णन हो, चरित्र भाषा हो या संवाद सभी को व्यंग्य के सांचे में रखा जाता है। वर्णन तो हमारी सचाई का बयान कर देता है, और चरित्र वर्ग प्रतिनिधि होकर उपस्थित होते हैं। लेखक अपनी भाषा में किसी प्रकार की रोक नहीं लगाता, चाहे वह प्रतीक रूप में हो या बेलाग कहने में। कुल मिलाकर व्यंग्यात्मक शिल्प विधान के द्वारा लेखक मनुष्य के यथार्थ को व्यंजना के० द्वारा और सीधे-सीधे भी --उसकी पहचान कराता है और इस पहचान को बड़े तीखे और तेवर के साथ प्रस्तुत करता है।

विशिष्ट उपन्यासों का अध्ययन

१

खाली कुर्सी की आत्मा (१९५८)

लक्ष्मीकान्त वर्माकृत 'खाली कुर्सी की आत्मा' व्यंग्यात्मक शिल्प-विधान की प्रतीकात्मक विधि से सम्प्रेषित करता है। प्रतीकों की भाषा में आस्था-

१ लक्ष्मीकान्त वर्मा : 'खाली कुर्सी की आत्मा', किताब महल, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, १९५८।

अनास्था के प्रश्न, मूल्यों का विघटन, बांझ होती मानवीयता को अभिव्यक्ति मिली है, लेकिन सैटायर और व्यंग्य का वातावरण सर्वत्र बना रहता है ।अधिकांश आलोचकों ने भी `खाली कुर्सी की आत्मा` को व्यंग्यात्मक शिल्प-विधान का उपन्यास स्वीकार किया है । डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी के कथन में, `लक्ष्मीकांत वर्मा का प्रथम उपन्यास `खाली कुर्सी की आत्मा` नये कथा शिल्प का एक दूसरा रूप प्रस्तुत करता है । मुख्यत: सामाजिक सैटायर से अभिप्रेरित यह कथाकृति समसामयिक जीवन पद्धति के सम्बन्ध में एक रचनात्मक दृष्टि सामने रखती है ।[1] `डा० राजमल बोरा भी कहते हैं--`खाली कुर्सी की आत्मा` श्री लक्ष्मीकांत वर्मा का लिखा हुआ व्यंग्य प्रधान और प्रतीकात्मक उपन्यास है ।[2]`

उपन्यास की रचना-दृष्टि मूलत: सामाजिक है । मध्यवर्गीय समाज की विद्रूपताओं और कमजोरियों को प्रतीक और व्यंग्य की भाषा में उकेरने का प्रयास हुआ है । जीवन के विविध आयामों को विन्यस्त करने के लिए मृत्यु के वातावरण का सृजन(जो हमारी संस्कृति और सभ्यता का प्रतीक है) और इस यांत्रिक सभ्यता में मानवीय मूल्यों का मारण, बूढ़ा पैटमैन कहता है,`पिछली दुनिया ऐसी नहीं थी .... मुझे लगता है आज की दुनिया की आत्मा खोखली हो गई है.... आज के आदमी का लोहा कुछ कुत्सित और खराब हो गया है ... मैंने पिछली दुनिया भी देखी थी .... ऐसे लोग नहीं थे .....सच मानो ऐसे लोग नहीं थे....[3] । खोखली व्यवस्था,बोखती हुई सभ्यता, किसी तरह जीने की विवशता और अन्त में भविष्य के प्रति विश्वासऔर आस्था आदि सवालों से साक्षात्कार करने का प्रयत्न किया गया है । ` सभ्यता की बात करते हो ? सब झूठ है । सभ्यता मर गई । कल उस चौरास्ते पर वह अंधेरे में चली जा रही थी, अकेली निरीह सी थी । उसे उस मोटर चलाने वाले ने मारा । ये मोटर वाले

---

१ रामस्वरूप चतुर्वेदी : `हिन्दी नवलेखन`,पृ०१२५

२ राजमल बोरा : ` हिन्दी उपन्यास : प्रयोग के चरण`,पृ०१५७

३ `खाली कुर्सी की आत्मा`,पृ०६५

`ल आफ द रोड' तक नहीं जानते । खूब जोर शोर से अन्धाधुन्ध शोर मचाते हुए चलते हैं । और जब वह उन्हीं की चपेट में आ गई, सभ्यता मर गई, आदमी मर गया, संस्कृति विधवा हो गई, क्योंकि आदमी ने आत्महत्या कर लिया, उसकी लाश अब भी पिरामिड के मसालों के बीच सुरक्षित है । अगर आदमी की शकल देखना चाहते हो तो उसकी छाती पर पड़े हुए पत्थर को हटाओ, हटाओ, हटाओ....'[1] और इस पत्थर को हटाने के प्रयास में मेजर सफदर नवाब बोलते हुए बच्चे को अपने सीने से चिपकाये रहते हैं, लेकिन संवेदनशील मनुष्य इस दुनिया में जाने से असमर्थ रहता है । मूल्यहीनता के बीच अन्त में लेखक आस्था प्रकट करता है, ' मेरा अस्तित्व ही समाप्त जैसा लगता है, लेकिन मैं अब भी जिन्दा हूं और जिन्दा रहूंगी .... हां भाग्य की रेखा भ्रान्त, सिकुड़ी हुई अंगेनी नहीं होती, व्यक्तित्व ऊपर कपड़े की भांति टांग नहीं सकते । वस्तुत: वह कुछ नहीं होती.... वह केवल अभिव्यक्ति होती है.... मेरी अभिव्यक्ति मुझी तक नहीं है-- मैं-- मैं जो लाली कुर्सी की आत्मा हूं....आत्मा, लाली कुर्सी की आत्मा..... बच्चा बोल रहा है..... बोल और ... जिसका अर्थ अभी नहीं बन पाया है'[2] । लासै रैटायर की निराशा में परिणति के स्थान पर भविष्य की आस्था में यह परिणति नवलेखन की अपनी विशेषता है[3] ।

उपन्यास का शीर्षक प्रतीकात्मक है । लाली कुर्सी आज के समाज में जी रहे संवेदनशील प्राणी का प्रतीक है । वह वेटिंग रूम में पड़ी हुई चारों ओर के वातावरण में फैले मनुष्यों की कहानियों को परखती है एवं उसमें हिस्सा लेती है । उसे इन कहानियों का जीवित गवाह कहा जा सकता है । वह सोचती है,--' और मुझे आज यह लगता है कि यह कहानियां ? यह सारी कहानियां जो मैं इस वेटिंग रूम में बैठी बैठी इस आतंकित वातावरण में दुहरा गई हूं । यह सब मुझसे पृथक् नहीं है । इस कहानी का सबसे बड़ा हास्यास्पद रूप यह है कि इन

---

१ `लाली कुर्सी की आत्मा',पृ०३३५

२ वही, पृ०४१६

३ रामस्वरूप चतुर्वेदी : `हिन्दी नवलेखन',पृ०१२५

कहानियों को सजीव सचेष्ट पात्र होते हुए भी मैं इन्हें उन स्थलों से बचा नहीं सका, जहां आदमी केवल मज़ाक बनकर रह गया है । मैंने बहुत चाहा कि निरपेक्ष भाव से मैं इन कहानियों और इन घटनाओं के बीच रहकर भी अपना दामन बचा लूं, लेकिन आज की यह भयंकर रात, यह आतंकित वातावरण मुझे इस बात के लिए मजबूर कर रहे हैं कि मैं भी अपने को अक्रिय रूप से इस परिधि में डाल दूं । असलियत तो यह है कि हर कहानी जिसमें दम होता है, जिसमें दर्द होता है, उसमें भाग लेना ही पड़ता है । यह अधिकार नहीं जीवन का दायित्व है । आज आदमी की इतनी शक्लें, इतनी बेतरतीब तस्वीरें देखने के बाद मेरे सामने केवल एक ही निष्कर्ष है और वह यह कि जिस आग से बचने के लिए, जिस कुरूपता को अपने बीच से फेंकने के लिए आदमी सारी जिन्दगी दौड़ताब रहता है, अन्त में जीवन का व्यंग्य उसे उसी स्थान पर ला पटकता है, जहां कुरूपता ही कुरूपता है । लेकिन इसका मतलब कदापि नहीं है कि इन कुरूपताओं के बीच सौन्दर्य नष्ट होकर सड़-गल कर केवल विकृत होकर रह जायेगा । सौन्दर्य में अपने आप उभरने की ताकत है । वह उभरता है और उभरता है इस शक्ति के साथ कि कुरूपतायें स्वयं नष्ट हो जाती हैं ।'[1] यह उदाहरण शीर्षक की प्रासंगिकता और लेखक की रचना-दृष्टि को उजागर करता है । खाली कुर्सी उपन्यास की मुख्य पात्र होकर जीवित लोगों की तस्वीरें देखती है, कुरूपताओं का अवलोकन एवं परीक्षण करती है और इस कुरूपता के पीछे सौन्दर्य की आस्था प्रकट करती है । शीर्षक चयन और उसके अनुरूप सामग्री संगठन का कलात्मक सृजन 'खाली कुर्सी की आत्मा' की प्रशंसनीय विशिष्टता है ।

'खाली कुर्सी की आत्मा' का शिल्प-विधान नवीन है और वह भाववस्तु के साथ एकता रखने वाला है । भाववस्तु और शिल्प की सम्पृक्ति हिन्दी-उपन्यासों में बहुत कम देखने को मिलती है । डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी के शब्दों में --' खाली कुर्सी की आत्मा ' का शिल्प मिश्रित और नया है । कई

----

१ 'खाली कुर्सी की आत्मा', पृ०३७२

शिल्प पद्धतियों के संयोग से उसमें कुछ अस्पष्टता अवश्य है, पर कुल मिलाकर मध्यवर्ग के जिस बहुमुखी समाज का लेखक चित्र प्रस्तुत करना चाहता है । वह उस आवश्यकता के प्रति प्रायः अनुरूप है ।[1]

उपन्यास की पूरी कथा बेजान वस्तुओं के माध्यम से कही गई है । काला कुर्सी अपनी आत्मकथा के वर्णन के साथ समाज के विविध पात्रों का कथा कहती है, इससे पात्रों के चरित्र का प्रकाशन होता है और समाज की विद्रूपताओं के विविध आयाम का चित्रांकन भी । चंदनपुर के रेलवे स्टेशन के पास एक रेल दुर्घटना होती है, बहुत से यात्री घायल होते हैं और स्टेशन पर चहल पहल हो जाती है । स्टेशन के वेटिंग रूम में एक टूटी हुई काली कुर्सी दिखाई देती है । वह अपना परिचय देती हुई अपनी आत्म कहानी सुनाती है । रेलवे स्टेशन का वेटिंग रूम उसका अन्तिम स्थान है ।.... उसने जीवन में किन-किन स्थानों की यात्रा की और उस स्थल पर कैसे पहुंची, अपने जीवन में उसने जो अनुभव प्राप्त किए व स्वयं जीवन को खुली आंखों से देखा उसका ब्योरेवार हाल वह कुर्सी पाठकों को सुनाती है ।[2]

पहले वह वेटिंग रूम में उपस्थित लोगों का परिचय संकेत रूप में देती है, दूसरे शब्दों में, रेलवे स्टेशन और वेटिंग रूम के पात्रों का वर्णन बाह्य और सूचनात्मक ढंग पर मिलता है । इसके बाद वह स्मृत्यवलोकन पद्धति के आधार पर अपनी आत्मकथा कहती है, उसके बीच कई पात्र कथायें उभरती हैं, यद्यपि इस टेकनीक से कई छोटी-छोटी कहानियां अलग-अलग सी आभासित होती हैं, लेकिन लेखक ने उनको एकान्वित करने के लिए पर्याप्त प्रयास किया है ।(क) सम्पूर्ण काली कुर्सी से कहीं न कहीं सम्पृक्त है, क्योंकि वही कथा का मुख्य नैरेटर है । (ख) बीच बीच में वेटिंग रूम की कथा देकर पृथक दिखती कहानियों को मूल कथा से जोड़ा गया है। (ग) कथानक में आये विभिन्न मनुष्य पात्र एक ही शहर के रहने वाले हैं और एक ही समाज में जीते हैं ।इस प्रकार विभिन्न पात्र कथायें अपने आप में स्वतंत्र होती हुई भी, एक दूसरे से जुड़ी हुई हैं, विभिन्न अवसरों पर एक दूसरे से मिलते हैं और एक दूसरे की कहानियों को विकसित-आलोकित करने का प्रयास करते हैं और अन्त तक मुख्य पात्र काली कुर्सी से सम्पृक्त रहते हैं ।

----

१ रामस्वरूप चतुर्वेदी : 'हिन्दी नवलेखन', पृ०१२८
२ राजमल बोरा : 'हिन्दी उपन्यास : प्रयोग के चरण', पृ०१५८

सुविधा की दृष्टि से कथानक को दो भागों में बांटा जा सकता है--

(क) चंदनपुर रेलवे स्टेशन के वेटिंग रूम का कथानक

(ख) चंदनपुर शहर में रहने वाले पात्रों की कथाएं

वेटिंग रूम का कथानक उपन्यास का मूल कथानक है । फिर भी इसका वर्णन संकुचित और लगभग बिखरा सा है । वेटिंग रूम एक ऐसा स्थान होता है, जहां सभी अजनबी और परस्पर अपरिचित रहते हैं । ऐसे लोगों का परिचय तात्कालिक और सूचनात्मक ढंग पर ही किया जा सकता था, इसीलिए खाली कुर्सी वेटिंग रूम के पात्रों की कथा सूचनात्मक ढंग पर ही उपस्थित करती है ।उनका वेश,भूषा,आकृति,व्यवहार,व हावभाव एवं स्फुट संवादों को सुनकर मात्र ही कथा का निर्माण करता है । चूंकि वह रुक फिर नहीं सकती,इसलिए उसका निरीक्षण स्फुट,अधूरा और बिखरा हुआ रहता है--' गोल मेज के चारों ओर चार कुर्सियां हैं,जिन पर चार विशिष्ट व्यक्ति बैठे हुए हैं । चारों के पैर मेज पर टंगे हैं । वेटिंग रूम में प्रवेश करते ही नजर मेज पर पड़ती है और मेज पर नंगी नंगी टांगों के मस्तक पर जूतों और चप्पलों के ताज के सिवा कुछ नहीं दिखाई पड़ता । नागरा.... लांग शू.... मिलेट्री बूट... और चप्पल चारों जूतों को देखकर व्यक्तियों के व्यक्तित्व का भी अनुमान लगाया जा सकता है ।....

.... नागरा जूता पहनकर बैठा हुआ व्यक्ति भावुक है । उसका सौन्दर्य बोध, उसकी मान्यताएं, उसकी कल्पनाएं सभी कुछ उसके मन की कोमलता से अधिक सूक्ष्म हैं । सारा शरीर देखने से लगता है जैसे एक फौलाद की आल्पीन को जबरदस्ती झुकाकर टेढ़ा कर दिया गया है और मस्तक का सारा भार खुद अपनी कल्पनाओं के बोझ से झुका जा रहा है ।....[1]

वेटिंग रूम की कथा के साथ बीच बीच में रेल दुर्घटना की मुख्य घटना तथा रेलवे स्टेशन की गति का वर्णन भी होता चलता है ।और उसका क्रम टूटने न पावे,इसलिए बार-बार वातावरण का आभास मिलता चलता है --'अब अंधेरा हो चुका था । इक्के दुक्के पैटमैन और पार्सल बाबुओं के नालदार जूते तारकोल के प्लेटफार्म पर खटपट खटपट करते गूंज जाते थे ।बगल वाले कमरे में

----

1 खाली कुर्सी की आत्मा,पृ०७६

शोर गुल कुछ कम हो गया था । लगता था रोता हुआ बच्चा सिसकियां भरते भरते सो गया था ।'[1]

उपन्यास की दूसरी कथा चंदनपुर निवासियों की है ।कथानक के इस भाग का विन्यास भी विशेष युक्तियों द्वारा सम्पन्न है । कुर्सी स्मृत्यवलोकन पद्धति के द्वारा अपने सम्पर्क में आये हुए पात्रों की कथा टुकड़ों में कहती है और बीच-बीच में वेटिंग रूम की कथा भी जारी रहती है । इससे दोनों प्रकार की कथाओं को जोड़ने और एकान्वित करने का प्रयास हुआ है । 'वेटिंग रूम की कथा वर्तमान यथार्थ है और चंदनपुर की कथाएं अतीत की स्मृतियां हैं । कुर्सी व उन अतीत स्मृतियों को वर्तमान के यथार्थ से जोड़ते हुए उन्हें अर्थ प्रदान करती है ।.. दूसरे शब्दों में अतीत वर्तमान को आलोचित करता जाता है ।'[2]

ये पात्र कथाएं अलग अलग शीर्षकों में प्रतीकात्मक ढंग पर बेजान और मनुष्येतर वस्तुओं के नाम पर संगुफित है ।और उस खण्डकथा अथवा विवेच्य पात्रों के आचरण को रूपायित करते हैं । जैसे 'राख के पुतलोंद में लोहे का अभाव', 'आदमी और चूहे : एक प्रयोग', 'अधूरा आदमी और कैक्टस का फूल' आदि और कुछेक शीर्षक उसमें वर्णित कथा का सारांश प्रस्तुत करते हैं, जैसे 'वह लोहे का खिलौना जो जेबी भगवान बन गया' तथा मवेशी डाक्टर वनडोले और घड़ियों की आवाज में कैद आयोजन, नियोजन, रोमान्स इत्यादि' । कथा के अंत में प्राय: कथा से अलग पात्रों के मुख से परस्पर संवादों के बीच कथा का विश्लेषण और निष्कर्ष दिया जाता है । प्रथम प्रकार के कथानक में कथा-विश्लेषण और निष्कर्ष देने का कार्य पैटमैन करते हैं और चंदनपुर के पात्रों की कथा में लौह पुरुष तथा खिलौने-- रीछ,बन्दर और गीदड़ । ये विश्लेषण लेखकीय वक्तव्य का आभास भी देते हैं ।

खाली कुर्सी जिन स्थानों की भोक्ता नहीं है, उन कथाओं को अपरोक्ष विधि में प्रस्तुत करती है । कथा विश्लेषक बेजान और मनुष्येतर पात्र कुर्सी को कथाएं सुनाते हैं और कुर्सी उन्हीं के मुख से कही हुई कथाओं को

---

१ 'खाली कुर्सी की आत्मा',पृ०८८-८६

२ राजमल बोरा :'हिन्दी उपन्यास: प्रयोग के चरण',पृ०१६२-१६३

ज्यों का त्यों प्रस्तुत कर देती है । जैसे महिम की कथा अधूरा आदमी और कैक्टस के फूल के द्वारा तथा अगम पंडित की कथा गाय और अश्व के द्वारा उपस्थित की गई है । इस प्रकार दोनों कथानक एक दूसरे से गुथे हुए नगर के समाज और इस बहाने समकालीन समाज की जिन्दगी और उनकी सच्चाइयों को प्रस्तुत करते हैं ।

पात्रों की संख्या बहुल और विविध है । सजीव मनुष्य पात्रों के अतिरिक्त मनुष्येतर एवं निर्जीव पात्र भी चित्रित हुए हैं । निर्जीव एवं मनुष्येतर पात्र अपने आप में महत्त्वहीन होते हुए भी आलोचक और परीक्षक के रूप में महत्वपूर्ण हो गए हैं । सम्पूर्ण पात्रों की प्रत्यक्ष गवाह खाली कुर्सी है,जो मानवीय ह्रासशीलता को प्रतीकात्मक रूप में उपस्थित करती है । सभी पात्र प्राय: मध्यवर्गीय समाज के आचरण और उनका वास्तव प्रस्तुत करते हैं-- वह भी सैटायर और व्यंग्य की भाषा में । उपन्यास की प्रत्येक कहानी में मुख्यत: एक या दो पात्रों का व्यक्तित्व उभरता है और उनके व्यक्तित्व का विश्लेषण निर्जीव एवं मनुष्येतर पात्रों द्वारा होता है ।

निम्नवर्ग का पात्र हवलदार अपने व्यक्तित्व में आस्थाओं-अनास्थाओं के बीच झूलता है । अपनी ईमानदारी और सज्जनता के कारण जिन्दगी भर लुढ़कता है । बेला से प्रेम में असफल होने पर, प्रेम के प्रति अविश्वास और आदमी के बजाय जानवर से प्यार करने लगता है ।`क्या करता है हवलदार ..... तुमको कुतिया से इतना प्रेम क्यों है ।` हवलदार कहता है,`इसलिए मेमसाहब कि यह जिसे प्यार करती है तो फिर उसे धोखा नहीं देती ....`[1] उसके व्यक्तित्व का दूसरा आयाम है--धर्म और शास्त्रों के प्रति आस्था । अपनी जिन्दगी को शास्त्र और ज्योतिष के अनुसार चलाता है । अगम पण्डित इसी प्रवृत्ति के कारण उसे दोनों हाथों से लूटता है । अन्त में बहुत गच्चा खाने पर

----

१ `खाली कुर्सी की आत्मा`,पृ०२३

धर्म-कर्म के प्रति भी उसका विश्वास उठ जाता है । इस प्रकार हवलदार का चरित्र निम्नवर्ग के व्यक्तित्व का घुटन और क्रमश: टूटते जाने का यथार्थ प्रस्तुत करता है ।

हवलदार के अलावा प्राय: सभी पात्र मध्यमवर्ग से चुने गये हैं । अगम पण्डित उर्फ लम्बोदरमणि त्रिपाठी प्रसिद्ध ज्योतिषी तथा विद्वान मानवीय मूल्यों का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं । वह एक ऐसा पात्र है, जो जिन्दगी भर अपने मूल्यों और आस्थाओं से चिपका रहा । लेकिन ये मूल्य जगत के अनुकूल नहीं थे अत: अन्त में उसे अपने हाथों कैद होना पड़ा ।[1] पत्नी गोरा के भाग जाने के बाद उनका सारा विषय अर्थहीन हो जाता है । शायर कहता है--`सुना तुमने ? तुम समाप्त हो चुके हो पण्डित.... तुम्हारा विद्या समाप्त हो चुकी है, यानी तुम और तुम्हारा इल्म दोनों ही मुर्दा हो चुके हैं.... ।`[2]

डा० सन्तोषी प्रसिद्ध दार्शनिक और मनोविज्ञान वेत्ता हैं । उन्हें अपने जीवन में केवल दो वस्तुओं से प्रेम है-- पहली चीज तो है उनकी प्रयोगशाला जिसमें वे तरह-तरह के प्रयोग करते और निष्कर्ष निकालते थे । दूसरी चीज उन्हें अपनी भावना प्रिय थी ।[3] जिसके माध्यम से वे सौन्दर्य की गहराई में डूब जाना चाहते थे । लेकिन अपनी जिन्दगी में दोनों ही चीजों से कटु अनुभव प्राप्त करते हैं तथा धीरे-धीरे टूट जाते हैं । अपने विभिन्न प्रयोगों से उन्होंने इन्सान और जानवर को एक साथ रखने की कोशिश की, लेकिन बाद में उन्हें अनुभव हुआ कि उनके निष्कर्ष सत्य होने पर भी कोई स्वीकार नहीं करेगा । यदि इसे वे बता देंगे तो लोग उन्हें जिन्दा दफन कर देंगे । अपनी प्रयोगशाला में जिस दिमाग के सहारे वे रात-रात भर जागते हुए प्रयोग करते थे, बाद में अनुभव करते हैं कि इस दिमाग को बिना बेचे उन्हें नींद नहीं आयेगी । वे कहते हैं--` मैं अपने सिर को बेचना चाहता हूं, कोई भी खरीदार किसी भी कीमत पर ले सकता है, क्योंकि जब तक मैं इसे बेचूंगा नहीं तब तक मुझे नींद नहीं आयेगी, नींद जो कि लगातार जागने के

---

१ राजमलबोरा : `हिन्दी उपन्यास : प्रयोग के चरण`, पृ० २७३

२ `खाली कुर्सी की आत्मा`, पृ०६५

३ वही, पृ०२४५

बाद एक जिन्दगी देती है।....[1] अपनी भावनाप्रियता के कारण दिव्या देवी से विवाह किया लेकिन दोनों के सिद्धान्त और आस्थाएं अलग अलग थीं,इसलिए सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है। चंदनपुर की विख्यात सुन्दरी प्रतिमा से नाटकीय विवाह किया, लेकिन यह विवाह भी एक टूटा हुआ समझौता था। परिणामस्वरूपत अन्त में वे उखड़ जाते हैं, वे कहते हैं-- "मैं निश्चय नहीं कर पा रहा हूं यकि मैं जिन्दा रहूं या आत्महत्या कर लूं,क्योंकि मेरे लिए जिन्दा रहना उतना ही कठिन है, जितना कि मरना।[2] वे आत्महत्या नहीं कर पाते और विकलांग होकर रह जाते हैं। जिन्दगी के साथ मौत ने भी धोखा दे दिया।

इसी प्रकार महिम का व्यक्तित्व भी आस्था के लिए संघर्ष और बाद में टूटन की कहानी कहता है। उसके व्यक्तित्व के दो पहलु हैं-- (क) जब उसमें आस्था और भाव थी, (ख) जब उसकी आस्थाएं टूटकर विघटित हो गईं। वह दैन्य और अभाव में भी निराश नहीं होता, बल्कि अपना शोध-प्रबन्ध लिखने में तल्लीन रहता है। अंजलि उसके सम्पर्क में आकर उसकी आस्थाओं पर चोट करती है, लेकिन वह व्यवस्थाहीन नहीं होना चाहता। उसका परिणाम यह होता है कि अंजलि प्रकाश के साथ चली जाती है और अपने पाप को महिम के पास छोड़ जाती है,जब वह ईमानदार जीवन व्यतीत कर रहा था। उसे नाजायज बच्चा रखने के अपराध में पांच साल की सजा हो जाती है। अब उसे लगा कि उसके चारों ओर विडम्बनाओं का भयंकर जाल है... आदमी से बढ़कर उसके यह नियम, यह मग्न रूप बड़े हो गये हैं... इन सब के सामने आदमी इतना छोटा लगता है जैसे उसकी इकाई का कोई स्वत्व ही नहीं है....पुलिस को गवाह मिल जाते हैं, लेकिन महिम को नहीं मिलते ... अन्याय अपने को छिपा लेता है, लेकिन न्याय को अपना ही प्रकाश नहीं मिल पाता ...[3]। जेल से छूटने के बाद महिम का व्यक्तित्व टूटन और आत्महीनता की अभिव्यक्ति देता है।

---

१ 'लाल कुर्सी का आत्मा',पृ०२८०

२ वही,पृ० २८०

३ वही,पृ० ३३० ।

उपन्यास में कुछ ऐसे भी पात्र हैं, जो परिवेश और स्थितियों के अनुसार मान्यताएं बदलते हैं तथा उसके अनुसार अपनी जिन्दगी फिट करने की कोशिश करते हैं। आस्थाओं को लेकर जिया नहीं जा सकता और अनास्थाएं जीवन को अस्वाभाविक बनाती हैं। इन दोनों के बीच की स्थिति में ये पात्र जीते हैं। जसवंत और प्रतिमा, प्रकाश और अंजलि, ज्वालाप्रसाद और दिव्यादेवी, गनपति शास्त्री और गौरी तथा जनार्दन गाईं ऐसे ही पात्र हैं।

उपन्यास के नारी पात्रों का चरित्र पुरुष पात्रों की अपेक्षा कहीं तीखा, आकर्षक और जीवन्त है। प्रतिमा, अंजलि, गौरी और दिव्या देवी सभी जिन्दगी को यथार्थ के आईने में देखती हैं। किसी एक कटघरे में अपने को बन्द करना नहीं चाहतीं। प्रतिमा डा० संतोषी के साथ विवाह करने पर भी मुक्त और स्वच्छन्द रहती है। जसवन्त के प्रति आकर्षित होकर भी उससे बंधती नहीं। किसी भी चीज का अतिरेक पसन्द नहीं करती, वह जसवन्त से कहती है--'... नहीं तो जानते हो रसातिरेक में तुम्हारा सिर फट जाता... तुम सहन नहीं कर सकते थे यह रस... यह भाव और यह जीवन। आज की वेदना कल से भिन्न है। आज तुने अपने सत्य को झूठ बना डाला है। मैं अपने सत्य पर आज भी कायम हूं। तुम सन्तोषी से देष करते हो, मैं सन्तोषी को सहानुभूति देती हूं और वह मेरी सहानुभूति के कारण मुझे भोगने का अधिकारी है। तुम मुझे पराजित करते हो.... तुम्हारी कठोरता, बर्बरता, एकदम तोड़ने डालने की आकांक्षा, मुझे प्रिय लगती है, इसीलिए मैं तुम्हें भोगती हूं.... और..... और।'[1] उसके व्यक्तित्व का यह विरोधाभास आकर्षक अंश और एक बड़ी उपलब्धि है। अंजलि बंगाल की बुभुक्षा और जिन्दगी का कटु यथार्थ भोग कर आयी है। महिम के सम्पर्क में आती है, किन्तु उसकी झूठी नैतिकता और खोखली आस्था से घृणा करती है। शायद इसी विरोध के कारण सम्बन्ध टूट जाता है। वह कहती है, --' तुम व्यवस्था की बात करते हो? मैं पूछती हूं कहां है व्यवस्था? जीवन की किस दिशा में है व्यवस्था? तुम्हारे जीवन में? मेरे जीवन में? डाक्टर संतोषी के जीवन में।

----

१ खाली कुर्सी की आत्मा', पृ०२६२

तुम सब आस्थाहीन हो । मैं भी हूं । अन्तर केवल इतना है कि तुम व्यवस्था तोड़ नहीं पाते.... मैं उसे तोड़ना चाहती हूं ।'[1] इस प्रकार नारी पात्रों के माध्यम से समकालीन जिन्दगी और संक्रमणशीलता को उजागर किया गया है ।

उपन्यास में कुछेक संवेदनशील और मानवीय पात्रों का भी निर्माण किया गया है-- ऐसे पात्रों में मास्टर दादा और मेजर नवाब का चरित्र उल्लेखनीय है । टूटे हुए और विक्षिप्त मास्टर दादा समकालीन मनुष्य और उसके समाज के मुखौटे को फाश करते हैं ।' डैम दि ह्वाइट कलर्ड सिविलीजेशन। जो सभ्यता की बात करते हैं उन्हें कुछ नहीं आता । इन्हें तो एक महज चावल का मांड निकाल कर कपड़ों में कड़ा करना आता है ।.... लेकिन इन कड़े कालरवालों को महज जिल्द कड़ी होती है.....भीतर से ये पोले होते हैं... महज पोले.... केवल पोले ....[2] ।' ' तू देखता नहीं, तेरे पीछे पीछे जिन्दगी दौड़ती आ रही है । और जिन्दगी का पंजा बड़ा ही सख्त होता है । इसकी सख्ती जब गला पकड़ती है तो दम घुटने लगता है आदमी[3] मर कर छूटी नहीं पाता... कितनी सख्त है जिन्दगी .... कितनी सख्त ।' मेजर नवाब आघात सहते-सहते पंगु हो गये(इससे यह भी आभासित होता है कि मानवीयता पंगु हो गई है) हैं । समाज के कोड़े उसकी आस्थाओं पर चोट करते हैं, फिर भी पराजय स्वीकार नहीं करते । वह टूटी हुई जिन्दगियों के बीच चेतना का प्रतीक बने सतत् क्रियाशील रहते हैं और अन्त में उसका मूल्य उन्हें चुकाना ही पड़ता है । उनपर कई जुर्म-- पुल तोड़ने का, मुसाफिरों को नदी में ढकेलने का, वेटिंग रूम में चोरी करने का-- लगाकर पुलिस गिरफ्तार कर ले जाती है । 'लेकिन मुजरिम कौन है? मैं या तुम... क्योंकि तुम सिर्फ जुर्म देखते हो और मैं जुर्म का कारण और उसका भविष्य[4] भी देखता हूं । तुम इस समय मुझे नहीं इन्सानियत को कैद करके ले जा रहे हो।' कहकर समाज-व्यवस्था पर तीखा प्रश्नचिह्न लगाते हैं ।

---

१ 'खाली कुर्सी की आत्मा, पृ०३२३

२ वही, पृ०३३४

३ वही, पृ०३३३

४ वही, पृ०४०७

वातावरण : मृत्यु और जिन्दगी की भयानकता

मनुष्य की जिन्दगी मृत्यु और जीवन की भयानकता के बीच छटपटा रहा है ।मानवीय सम्बन्ध यांत्रिकता के बीच घुट कर मर गये हैं । इस वातावरण के अंकन के लिए लेखक ने रेल दुर्घटना को कहानी के मूल में रखा है । दुर्घटना के शिकार मनुष्य, बोलती हुई लाशें बराबर जिन्दगी को भयानक वातावरण में प्रस्तुत करताहैं । इस दुर्घटना के बहाने सभ्यता को मरते हुए दिखाया गया है । बगल वाले वेटिंग रूम में घायलों की कराहती आवाजें छन छन कर आ रही हैं । औजारों की खनक से सारा वातावरण झनझना रहा है ... कोई कहता है:

'जनार्दन गार्ड की क्या हालत है नर्स...' और वातावरण शान्त हो जाता है । 'डाक्टर बनर्जी... इसे मार्फिया ... इसे ग्रेस्टोन...ग्लूकोज़ का इन्जेक्शन .... कैसे आदमी हैं साहब.... इतने ब छोटे औजार ? जानवरों की हड्डियां नहीं तराशनी हैं, ये बेचारे इन्सान हैं इन्सान... ।' और फिर वातावरण शान्त हो गया ।

'डाक्टर नवाब आपकी क्या राय है ....' असमंजस,द्विविधा जैसे बढ़ती जा रही है ।

'आरनीका टू थाउजेण्ड.... विल डू... अभी जब तक आपरेशन का सामान नहीं है आप यह दवा तो दीजिए... ' जैसे किसी अपाहिज की आवाज ।

और लड़खड़ाती सांस की तरह यह शब्द.....

'यह चीखता हुआ बच्चा किसका है ? क्यों रो रहा है ?' यह प्रश्न जैसे वातावरण पर भारी बनकर छा गया ।

'मरीज नं०१० का नाम क्या है ?' जैसे किसी ने एक बहुत बड़ी जिम्मेदारी को महज एक झटके में अपने से दूर करना चाहा है।[1]

---

१ 'खाली कुर्सी की आत्मा',पृ०६३

इस चलते हुए वातावरण में मनुष्य नामहीन हो गये हैं। उनकी पहचान नम्बर से हो रही है। और यह वातावरण उपन्यास में घनीभूत अवस्था में अन्त तक बना रहता है ' स्टेशन पर अब भी भाड़ है। लोगों की दिलचस्पियाँ भी कम हो गईं हैं .... नर्स ऊँघ रही है... डाक्टर टाफी चूस रहे हैं.... घायल खामोश हैं, लेकिन बच्चा चीख रहा है ....चीख रहा है ..... चीख रहा है।'[1]

भाषा के आयाम

'काली कुर्सी की आत्मा' की भाषिक संरचना उपन्यास के मूल कथ्य और कहानी को ताज़े और तेवर के साथ प्रस्तुत करता है। भाषा के मूल में सर्वत्र सैटायर और व्यंग्य की व्यंजना बनी रहती है। यह व्यंग्य हंसाने वाला नहीं, कुरेदने वाला है। वह पाठकों को झकझोर करके रख देता है। काली कुर्सी जहाँ सपाट भाषा का प्रयोग करती हैं, वह वेटिंग रूम तथा चंदनपुर के पात्रों के संवाद कतरनों की तरह काटते हैं। मास्टर दादा और मेजर नवाब की भाषा छैनी की तरह आघात करती है। भाषा के विन्यास में गति सर्वत्र बना रहता है जो आज की गतिशील सभ्यता को व्यंजित करने के लिए प्रासंगिक है। शब्द समकालीन जिन्दगी की तरह दौड़ते हैं। 'सप्लीमेण्टर्स नहीं है तो मैं क्या करूँ, चीखने दो। मरने दो कमबख्तों को।'

'बैण्डेज खत्म है डाक्टर।'

'तो मैं क्या करूँ। क्या अपनी कमीज फाड़ डालूँ या कोट।'[2]

फौजी डाक्टर उस रोते हुए बच्चे को डाटते हुए पूछता है,' तू कौन है..... 'तू कौन है..... क्यों रोता है.... डाक्टर उस बच्चे को भी बाहर करो .... यह क्या मेला लगा रखा है। यहाँ मरीजों को क्या आराम मिलेगा, इनसे.... हटाओ.... हटाओ इन सबों को यहाँ से। न जाने कहाँ के

---

१ 'काली कुर्सी की आत्मा', पृ० ५४

२ वही, पृ०२२५-२६

कुछ कबाड़ भर लाये हैं.... यहां किसी क्या जरूरत है ।[1]

लेखक की अपनी एक विशिष्ट प्रवृत्ति -- सामान्य घटनाओं, वस्तुओं या परिस्थितियों को तात्त्विक दृष्टि से देखना-- के कारण उपन्यास के संवाद और वर्णन कहीं-कहीं अनावश्यक दुरूहता से बोझिल हो गये हैं । डा० वनतोले कहते हैं--'प्रत्येक योजना चाहे वह आकाश में उड़ने की हो या बच्चों को चारा देने की हो, उसमें रागात्मक अनुभूतियों का तार आवश्यक है.. . आकाश की सीमा है, किन्तु उसे योजना की उड़ान से नहीं, हृदय की अनुभूति द्वारा ही पाया जा सकता है और हृदय की अनुभूति सब में होते हुए भी लोग क्यों अदृश्य योजनाओं का जाल बिछाते हैं-- क्या बिना योजनाओं के जीवन नहीं चल सकता ।'[2] यह मौके बेमौके तत्त्व दर्शन की प्रवृत्ति अपने-आप में तो अनावश्यक है ही, साथ ही उपन्यास के गंभीर स्थलों के रसबोध को भी हल्का बना देती है । अपने सारे क्रान्तिकारी प्रयोगों के बावजूद इस परम्परागत तत्त्व दर्शन की प्रवृत्ति से अपने को मुक्त नहीं कर सका है, यह एक विलक्षण तथ्य है ।[3]

विन्यास : प्रतीकात्मक

'खाली कुर्सी की आत्मा' -- सब कुछ होते हुए भी-- अपने विन्यास में प्रतीकात्मक है । यह प्रतीकात्मकता शीर्षक से लेकर पात्र चरित्र, कथानक तथा भाषा के रचाव में छाई हुई देखी जा सकती है । यद्यपि उपन्यास का प्रतीकात्मक विन्यास कथ्य को आसानी से प्रकाशित नहीं करता, लेकिन वस्तु की व्यंजना और प्रतीकों के सहारे सम्प्रेषित करना नये रचनाकारों की मुख्य प्रवृत्ति बनती जा रही है ।

वेटिंगरूम आज की गतिशील तथा संवेदनशील दुनिया का प्रतीक है । वेटिंग रूम का समाज अजनबियों का समाज होता है । यहां सभी लोग कुछ काल ठहरने के लिए आते हैं और अपना लक्ष्य खोजते हुए अपने गन्तव्य की ओर प्रस्थान करते हैं । ठीक यही स्थिति जगत की है । जगत में सभी व्यक्तियों की

---

१ 'खाली कुर्सी की आत्मा',पृ०२२७

२ वही, पृ०१७४

३ रामस्वरूप चतुर्वेदी : हिन्दी नवलेखन,पृ०१२७

स्थिति भी आज वेटिंग रूम में ठहरने वाले यात्रियों सी हो गई है[1]। आज की दुनिया में भीड़ है टाक स्टेशन की तरह, सभी एक दूसरे से अपरिचित बने अजनबी या अकेलापन महसूस करते हैं। उनका सारा भीड़ में खोई हुई दिखाई देती है। वेटिंग रूम में आदमी का परिचय क्षणिक और केवल बाह्य होता है, उसी तरह आज के समाज के मानव सम्बन्ध भी निर्मित हो रहे हैं। व्यक्ति अपने ही घेरे में संकुचित, अजनबी और बेगाना होकर जा रहा है। रेल दुर्घटना आज की मर्यादा-हीनता और आस्थाहीनता का प्रतीक ध्वनित करता है। क्योंकि बिना दृष्टि के बिना मर्यादा के हम रास्ते पर चलते हुए भटक जायेंगे। कुर्सी कहता है--" और यह स्टेशन.... प्रत्येक गति का विवेक या दो पुलों के बीच स्थिति की मर्यादा है। लाल रोशनी, हरी रोशनी, गति, भाव, यह सब के सब तो इन्हीं के माध्यम से चलते हैं। लेकिन लगता है मर्यादाएं भी दृष्टि चाहती हैं.....दुर्घटनाएं दृष्टि-हीन मर्यादा के होने से ही उपजती है[2]।" पुल का टूटना कोई नई बात नहीं है, वह तो टूटा हुआ पहले से ही था। समाज का ढांचा टूटा हुआ था, वह चरचरा कर मसक गया, लोग मरने लगे, चीखने लगे। आज का मानव सभ्यता रेल-दुर्घटना की तरह घायल है, चीख रही है। मास्टर दादा कहते हैं--" पुल एक दिन में नहीं टूटा, बर्षों से टूटता रहा है.... मैं अब भी कहता हूं पुल आज नहीं टूटा है... यह तो टूटा हुआ बना ही था, टूटी हुई रचना ही थी.... इसका दोषी कोई नहीं केवल अविवेक है.... अविवेक...[3]"।

चरित्र निर्माण भी प्रतीकात्मक है। मास्टर दादा, मेजर नवाब हवलदार, और खाली कुर्सी संवेदनशील मनुष्य के प्रतीक हैं। आज का हर ईमानदार और मानवीय व्यक्तित्व व्यवस्था के बीच पिसेगा, अपमानित होगा, जाने में असमर्थ पायेगा। नवाब का पंगु होना, मास्टर दादा का विक्षिप्त होना, कुर्सी के तीनों पैर टूट जाना और हवलदार का कैद हो जाना क्रूर सामाजिक विसंगतियों की चोट का प्रतीक है। ज्वालाप्रसाद और दिव्या देवी का चरित्र वर्णित उपशीर्षक में ही

---

१ राजमल बोरा : "हिन्दी उपन्यास : प्रयोग के चरण", पृ०२६८

२ "खाली कुर्सी की आत्मा", पृ०४१३

३ वही, पृ० ४१५

व्यंजित है । `राख के पुतलों में लोहे का अभाव` अर्थात् ज्वालाप्रसाद और दिव्या देवी दोनों खोखले और व्यक्तित्वहीन हैं । लोहे का पुतला सख्त होगा ,मिट्टी का उससे कम सख्त किन्तु राख का तो व्यक्तित्वहीन होगा । ज्वाला ने दिव्या देवी का प्रेम प्राप्त किया, धन प्राप्त किया, प्रतिष्ठा भी प्राप्त की किन्तु उसकी स्थिति क्या थी ? आखिर वह नारायी का नारायी ही रहा.... दिव्या देवी ने काषाय वस्त्र धारण किया । सारा धन ज्वाला को दिया, किन्तु फिर भी पान की बेगम की तरह द्रुम्माकाई बनी रहा ।

इसी प्रकार वातावरण का सृजन भी प्रतीकात्मक है । घायलों की कराहती हुई आवाजें, लगातार उनके मरने की चुकना, संस्कृति और सभ्यता की मृत्यु का प्रतीक है । और बच्चा बोल रहा है, लगातार ....बार-बार बोलता है..... बुद्बुद होता है और खोखला जाता है । आज की सभ्यता,आज के लोग भी खोखले जा रहे हैं लगातार ।

व्यंग्य का प्रामुख्य

`काली कुर्सी की आत्मा` के शिल्प-विधान में व्यंग्य की प्रमुखता है । ल रेल दुर्घटना और बाद में समाज के विभिन्न लोगों का इस घटना से संपृक्ति एक विराट व्यंग्य उपस्थित करता है ।इस बहाने लेखक ने आज की खोखली जर्जर व्यवस्था और मानवीय अनुभूतियों के क्षरण को तीखे रूप में उपन्यस्त किया है । दुर्घटना के बाद वहां इकट्ठी भीड़ क्या सहानुभूति के लिए है ? सहायता के लिए है ? या स्वार्थ की पूर्ति के लिए ? व्यंग्यात्मक ध्वनि में यहां प्रश्नचिन्ह लगाये गये हैं ।

पत्रकार कैलाश जब से यह रेल दुर्घटना हुई है तब से तार पर तार दिये जा रहा है । उसका केवल एक ही मंतव्य है और वह यह कि दुर्घटना को जितना भी रोचक ढंग से अखबार में दिया जायगा, अखबार की बिक्री उतनी ही ज्यादा होगी । उसका मतलब उन मानवीय संवेदनाओं के प्रति नहीं है,जो यहां

---

१ राजमल बोरा : `हिन्दी उपन्यास : प्रयोग के चरण` ,पृ०१६६

आहत हो चुका है । उसका मन्तव्य इतना है कि इस खौफनाक दुर्घटना में आदमी की कैसी-कैसी दुर्दशा हुई है....वह केकड़े की तरह रेंगता है या पर कटे चींटे की तरह, वह दीमक की तरह पिस गया है या सिर्फ एक सैण्डविच की तरह, बनकर रह गया है.... सुबह से अब तक वह नदी के किनारे केवल इसलिए बैठा रहा है ताकि वह उन लाशों की तस्वीरें ले सके,जो कल रात अंधकार में पुल के किनारे के साथ बोग नदी में गिर गई है[1]। स्टेशन मास्टर इसलिए चिन्तित है कि दुर्घटना का सारा दोष उस पर आयेगा, इसलिए वह बार-बार डा. वनडोले से प्रार्थना करता है कि जनार्दन गार्ड को किसी तरह दस मिनट के लिए होश में लाये, उससे बयान लेकर वह बच जायेगा । जसवन्त और प्रतिमा का इस घटना जैसे कोई सरोकार नहीं है,यात्रा स्थगित होने के कारण बोर हो रहे थे०.लेकिन एक दर्जन चिड़ियों को बन्दूक से मार कर पिकनिक मनाते है । यह सारी पीड़ा और वेदना से भरा हुआ कोलाहल, यह चीख, यह पुकार उनके लिए कोई अर्थ ही नहीं रखता । जैसे इनकी बन्दूक और इनकी कारतूस जीवन से भी बढ़कर है[2]। जसवन्त इस भयानक दुर्घटना के प्रति कहता है--" ठिकाना क्या हो .... हिन्दुस्तानी हैं....कमबख्त मरना जानते है... यह भी मरने की एक किस्म है[3]। "डाक्टर मरीजों का उपचार नहीं कर रहे हैं, केवल बात रहे हैं । उनके पास वही दवाइयां नहीं हैं, जिनको जरूरत है । काली मोटी नर्स अपाहिजों,घायलों को ठोकर मारती चलती है । साहित्यकार रसबोध के लिए उलझ रहे हैं । उन्हें नहीं मालूम कि जिन्दगी उक्तियों की भूखी नहीं, सहानुभूति चाहती है ।नेता नारा लगाने के लिए मौजूद है ।" वह तो जीता-जागता मुर्दा है जो हर मिनट,हर क्षण डेथ रिपोर्ट के लिए दौड़ा दौड़ा आता है और फिर बाहर जाकर भीड़ से कहता है इन्कलाब जिन्दाबाद । जैसे सारा परिवर्तन, सारी क्रान्ति वह स्थिति है,जो मौत की भयानकता लेकर आ रही है[4]।"थानेदार दल बल सहित रिपोर्ट लिखने के

----

१ "खाली कुर्सी की आत्मा",पृ०२२३

२ वही, पृ०२२३

३ वही,पृ० ६०

४ वही, पृ०२२४

[illegible] मसाला छूट रहा है । इसप्रकार स्टेशन का वातावरण मौत के खौफनाक अंधेरे में डूबा हुआ समकालीन परिवेश को व्यंग्य के माध्यम से तीखे रूप में उजागर करता है । ग्रेट इण्डियन सर्कस का कथा इस व्यंग्य को और भी जीवन्त बनाती है । उसके अभाव में नगर का जनता का प्रतिक्रिया को व्यक्त नहीं किया जा सकता था । नगर भर में महामानवों का एक टोली घूम-घूम कर प्रचार करता है और रात में नगर का जनता सर्कस देखने आता है । लगता था स्टेशन पर न कोई घटना हुई है और न दुर्घटना । जैसे पुल टूटा ही नहीं । आदमी मरे ही नहीं ... जिन्दगी को फाटके लगे ही नहीं ।

कुलमिलाकर 'काला कुर्सी का आदमी' समकालीन परिवेश को नव्य कलेवर में नैटायर और व्यंग्य विधान में, वस्तु और शिल्प की अद्भुत एकान्विति में, कई अतुल सम्भावनाओं का द्वार खोलते हुए, तीखे रूप में अभिव्यक्ति दे देता है ।

राग दरबारी (१९६८)[१]

श्रीलाल शुक्ल कृत 'राग दरबारी' में शहर से लगे गांव की जिन्दगी के बहाने भारत की लंगड़ी बदबूदार जिन्दगी को तीखे-दुर्दैदार मुद्रा में प्रस्तुत किया गया है । आज की बांझ राजनीति के जमाने में जहां हजारों आदमियों के मिलकर पत्थर फेंकने से या एक आदमी के अनशन कर जान दे देने से भी सत्ता के कान पर जूं नहीं रेंगती वहां श्रीलाल शुक्ल जबर्दस्ती चिकोटी काटते चले जा रहे हैं, जैसे कि इससे कोई चेत जायेगा । यह उनकी ज़िद है इसलिए कि हिन्दी के जिस पांवको वह काटरहे हैं, वह बड़ी देर से हाथ-पर-हाथ रखे बैठे रहने से सो गया है[२] ।

राग दरबारी , आधा गांव और 'अलग अलग वैतरणी' के उपन्यास-लेखकों का यह आग्रह रहा है कि उनकी कृतियों को आंचलिकता के आईने में न परखा जाय, क्योंकि आंचलिक कहकर हम इन उपन्यासों को एक तंग कटघरे में

---

१ श्रीलाल शुक्ल : 'राग दरबारी', राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्र०सं०१९६८

२ श्रीलाल शुक्ल : 'यहां से वहां' की भूमिका से उद्धृत ।

बंद कर देते हैं -- लगभग सिर को धड़ से अलग कर देते हैं । कथाभूमि की दृष्टि से जिन अर्थों में उपन्यास को आंचलिक कहा जाता है उन अर्थों से देखने पर तो रागदरबारी को भी हम आंचलिक उपन्यासों की बिरादरी में खड़ा कर सकते हैं, क्योंकि उसकी सम्पूर्ण कथा शिवपालगंज से प्रारम्भ होकर वहीं समाप्त हो जाती है । कथाकार को कहीं बाहर नहीं दौड़ना पड़ता । एक विशेष क्षेत्र में कथानक सीमित होने मात्र से उपन्यास को आंचलिक नहीं कहा जा सकता। वास्तव में लेखक की मनोदृष्टि (शिवपालगंज) के सहारे एक पूरे देश (भारत) की आधुनिक जिन्दगी की संस्कारहीनता और मूल्यहीनता से साक्षात्कार करना है । वह पूरे भारत की खोखली जिन्दगी को व्यंग्य और तेवर की त्वरा में उकेरना चाहता है ।

कई आलोचकों ने यह आरोप लगाया है कि 'राग दरबारी' जीवन के किसी गहरे आयाम को उजागर नहीं कर पाता । वह समकालीन जीवन की गहरी चुनौतियों से साक्षात्कार नहीं करता -- हास्य और व्यंग्य का इतना बोझ लाद दिया गया है कि मनोरंजन करने के अलावा कुछ उपलब्ध नहीं कर पाता। (क) ... पर लेखक को वह केन्द्रीय दृष्टि नहीं प्राप्त होती जो बातों को गहरा बना सके । व्यंग्य एवं हास-परिहास के से परिपूर्ण प्रहार का आश्रय इतना अधिक ग्रहण किया गया है कि वही इसकी सबसे बड़ी सीमा है और पाठक उसी में उलझ कर रह जाता है । आधुनिकता के धरातल पर आज का जीवन जो चुनौतियां उपस्थित करता है, उससे कहीं भी साक्षात्कार करने की प्रवृत्ति लक्षित नहीं होती[१] । (ख) मगर वास्तव में वह समकालीन भारतीय जीवन के किसी गहरे अंतर्द्वन्द्व या विस्फोटक टकराहट प्रक्षेपण नहीं कर सका है ।.... पर सचाई यह है कि इस उपन्यास में जो दृष्टि या इसकी जो उपलब्धि है वह न तो बहुत व्यापक है, न बहुत गहरी । वह किसी भी तरह फणीश्वरनाथ रेणु के 'मैला आंचल' से आगे नहीं जाता[२] । (४).... यदि इसके फुलके रोचक वर्णन, व्यंग्य की भरमार

---

१ सुरेश सिनहा : 'हिन्दी उपन्यास', पृ०३६६-३७०

२ नेमिचन्द्र जैन का 'समकालीन कथा साहित्य : बहस के लिए कुछ मुद्दे' हिन्दुस्तानी एकेडमी की परिचर्चा में पढ़े गये निबंध से उद्धृत

तक अखबारी रिपोर्ट ही आज की विषमताओं से भरी हुई जिन्दगी को अभिव्यक्त प्रदान करने के लिए अनिवार्य है, तो निश्चय ही 'राग दरबारी' एक मनोरंजक उपन्यास है, अन्यथा न वह जीवन का कोई विश्लेषण व विवेचन ही प्रस्तुत कर पाता है और न आज के तनावों का कोई इजहार ही । वही इसकी बहुत बड़ी खामी है[१] ।

इन आलोचकों का आरोप इस बात को लेकर है कि 'राग दरबारी' का कोई भी पात्र या चरित्र किसी गंभीर दृष्टि या चिन्तन को लेकर जूझता हुआ दिखाई नहीं देता । कोई भी 'कैरेक्टर' समस्याओं से साक्षात्कृत होते नहीं देखा जाता, इस प्रकार सशक्त या गहरी मनोदृष्टि उपस्थित नहीं की जाती । क्या उपन्यासको महान या सशक्त कहने के लिए उपर्युक्त कसौटी इस्तेमाल करना जरूरी है ? वही उपन्यास सशक्त हो पायेगा, जिसमें पात्र गम्भीर समस्याओं से जूझते हुए दिखाये गये हों ? प्रश्न यह उठता है कि क्या आज का आदमी आदमी रह गया है ? जहां इन्सान कीट पतंगों की तरह मर रहे हैं, वेश्यालयों में बैठी नारी तन बेचकर पेट की आग बुझा रही है, मंत्रालयों में बैठे अफसर, संसद में मुंह चलाते हुए मंत्री और नेता गोट फिट करने में संलग्न हैं, हर इन्सान एक अर्द्धमुर्दा है -- वह चाहे जिस तरह का हो । इसलिए श्रीलाल शुक्ल की निगाह में कोई भी पात्र, कोई भी आदमी आत्मीय नहीं है । सब किसी न किसी रूप में भ्रष्ट हैं । उनकी निगाह में समकालीन मनुष्य जानवर है, पशु है । और जानवर इन्सान के लिए आत्मीयता नहीं, आक्रोश नहीं .... खिलवाड़ का भाव ही उत्पन्न हो सकता था । पर श्रीलाल का खिलवाड़ हमें हंसाता नहीं, बदबूदार जिन्दगी के प्रति घृणा का भाव उत्पन्न करता है । वह समाज के अधिक से अधिक घृणित पहलुओं को मार्मिक स्तर पर उभारने की कोशिश करता है । यदि समाज का हर आदमी जानवर है, तो जानवर किसी गंभीर समस्या या पहलू को लेकर लड़ाई कैसे कर सकता है । उनसे किसी गहरी अन्तर्दृष्टि की उपलब्धि की आशा करना निरर्थक है । अस्तु, आलोचकों

---

१ लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय : 'हिन्दी उपन्यास : उपलब्धियां', पृ० १४०

का यह आरोप अर्थहीन हो जाता है कि वह आज के किसी गंभीर मुद्दों को लेकर गहरी और तीखी दृष्टि उजागर नहीं कर पाता । संभवतः लेखक यह चाहता भी नहीं था ।

एक दूसरा आरोप डा० वार्ष्णेय और सुरेश सिनहा ने लगाया है कि प्रस्तुत कृति[1] अखबार का कतरन या किसी विशेष दिवस में निकाला गया 'सप्लीमेंट' है । उपन्यास रिपोर्ताज या ट्रेलर शिल्प में संगुफित है, इसलिए यदि आलोचकों को इसमें अखबार के कतरनों की गंध मिलती हो, तो यह उनकी दृष्टि का दोष है । समाज के वृहत रूपों और मनुष्य जिन्दगी के विभिन्न आयामों को सम्प्रेषित करने के लिए उपर्युक्त शिल्प की मदद लेना प्रासंगिक था । इसी माध्यम से अधिक से अधिक घृणास्पद पहलुओं और जीवन रूपों को प्रदीपित किया जा सकता था । 'अखबारों के कतरन' का आभास मिलना उपन्यास का विशिष्ट शिल्प-विधान है ।

राग दरबारी व्यंग्यात्मक शिल्प-विधान का उपन्यास है, किन्तु श्रीलाल शुक्ल ऐसे व्यंग्य लेखकों में नहीं हैं जो पाठकों को हंसाते हैं, दूसरे शब्दों में, उनके लेखन को हर रोज छपने वाले 'बैठे ठाले' के अन्तर्गत नहीं रखा जा सकता । हरिशंकर परसाई, शरद जोशी या रवीन्द्रनाथ त्यागी की हंसोड़ बिरादरी में श्रीलाल को बैठाना उनके लेखन के साथ बेईमानी करना है । वास्तव में श्रीलाल इन सबसे आगे हैं, क्योंकि उनका व्यंग्य हंसाता नहीं, चिकोटी काट कर खाल उधेड़ लेता है । हृदय झकझोर करके रख देता है । जिस खूबी के साथ वे चित्रों और दृश्यों को सामने रखते हैं, उससे व्यवस्था के प्रति आक्रोश और तीखी घृणा उत्पन्न होती है ।

राग दरबारी अर्थात् किसी राजदरबार का विलम्बित राग या कहानी, जिसकी प्रतीकात्मक व्यंजना स्वाधीनता के बाद का सरकारी तंत्र और उससे उत्पन्न समूची व्यवस्था का राग या कहानी से है । यानी, उपन्यास का

----

१ लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय : 'हिन्दी उपन्यास : उपलब्धियां', पृ०१४०

तथा

सुरेश सिनहा : 'हिन्दी उपन्यास', पृ०३६६-७०

सार्थक लक्ष्य और कथावस्तु को स्पष्ट और व्यंजित करने में सहायक है । डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय के कथनानुसार, इस उपन्यास में यों कहने को एक सुसम्बद्ध कथानक मिल जायेगा और सारी कथा शिवपालगंज में शुरू और खत्म हो जाती है । कहीं इधर-उधर भागना-दौड़ना नहीं पड़ता ।[१] यह कथन कुछ उसी तरह से है जैसे उपन्यास और कहानी के उद्भव की सीमाएँ वेदों और उपनिषदों में ढूढ़ने की कोशिश करते हैं अर्थात् डा० वार्ष्णेय ने यहाँ परम्परित अर्थ में कथानक ढूढ़ने का प्रयत्न किया है । सच तो यह है कि लेखक यहाँ कथानक प्रस्तुत करना नहीं चाहता बल्कि भारत की जिन्दगी, स्वतंत्रता के बाद पैदा होने वाले औलादों की चमड़ी खोलकर सचाई उपस्थित करना चाहता है । कला की दृष्टि से तो यहाँ कथानक सर्वत्र बिखरा बिखरा और अस्तव्यस्त दिखाई देता है ।

उपन्यास के आवरण पृष्ठ पर कहा गया है कि राग दरबारी का सम्बन्ध एक बड़े नगर से कुछ दूर बसे हुए गांव की जिन्दगी से है जो पिछले बीस वर्षों की प्रगति और विकास के नारों के बावजूद निहित स्वार्थों और अनेक अवांछनीय तत्वों के आघातों के सामने घिसट रही है । यह उसी जिन्दगी का दस्तावेज है ।[२] पर सचाई यह है कि राग दरबारी का सम्बन्ध समूचे भारत की जिन्दगी से है जो आजादी मिलने के छब्बीस वर्ष बाद भी स्वार्थी पंथों, मक्कारों और भ्रष्ट लोगों के कारण पिछली जिन्दगी से भी बदतर स्थिति में है । शिवपालगंज की स्थिति भारत के किसी भी कोने में ढूढ़ी जा सकती है । आजाद हिन्दुस्तान की राजनीति, इस दौर में चले विकास कार्यों से सरकार और उसकी नौकरशाही तथा दूसरे औजारों की गतिविधियों से इस दरम्यान किस तरह की औलादें पैदा हुई हैं, उनका व्यक्तित्व शास्त्र, नीतिशास्त्र और समाजशास्त्र क्या है-- उपन्यास में देखा जा सकता है ।[३] छोटी छोटी घटनाओं को भी लेखक भारत की हालत के साथ सम्पृक्त करता है --

---

१ लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय : `हिन्दी उपन्यास : उपलब्धियाँ `,पृ०१३८

२`राग दरबारी` के आवरण पृष्ठ से

३ आलोचना, अक्टूबर-दिसम्बर,१९६८,पृ०९९

(क) क्योंकि उस कालिज की स्थापना राष्ट्र के हित में हुई थी, इसलिए उसमें और कुछ हो या न हो, गुटबन्दी काफी थी । वैसे गुटबन्दी जिस मात्रा में थी, उसे बहुत बढ़िया नहीं कहा जा सकता था, पर जितने कम समय में वह विकसित हुई, उसे देखकर लगता था कि काफी अच्छा काम हुआ है । वह दो-तीन साल में ही पड़ोस के कालिजों की गुटबन्दी की अपेक्षा ज्यादा ठोस दिखने लगी थी । बल्कि कुछ मामलों में तो वह अखिल भारतीय संस्थाओं तक का मुकाबला करने लगी थी ।[1]

(ख) गयादीन ने अपनी बात समझाई, "वही हाल अपने मुल्क का है, मास्टर साहब, जो जहाँ है अपनी जगह ब गोह की तरह चिपका बैठा है । टस से मस नहीं होता । उसे चाहे जितना कोंचो, चाहे जितना दुरदुराओ, वह अपनी जगह चिपका रहेगा और जितने नाते-रिश्तेदार हैं, सब उनकी दुम के सहारे सड़ासड़ चढ़ते हुए ऊपर चले जायेंगे । कालिज को क्यों बदनाम करते हो, सभी जगह यही हाल है ।[2]

(ग) .... जब सनीचर के प्रधान बनने की बात उठी थी या जब छोटे पहलवान जोगनाथ के खिलाफ गवाही देने गए थे । तो सब कुछ मजाक जैसा दिखता था और जब उसने देखा कि सनीचर सचमुच ही गांव सभा का प्रधान है और छोटे जोगनाथ को जेल से छुड़ाकर हंसते हुए वापस आ गए हैं तो उसे झटका सा लगा था । सनीचर की विजय के दिन उसने बहुत कुछ सोच डाला और उस दौरान उसे प्रदेशों की राजधानियों में न जाने कितने वैद्य जी और मंत्रियों और मुख्यमंत्रियों की कतार में न जाने कितने सनीचर घुसे हुए दीख पड़े ।[3]

(घ) रंगनाथ ने उनकी बात काटते हुए बड़प्पन के साथ कहा -- "तुम क्या बक रहे हो रुप्पन ?.... धरती पर सिर्फ एक शिवपालगंज ही नहीं है । हमारे तुम्हारे लिए इतना सारा मुल्क पड़ा हुआ है ।

रुप्पन मुंह लटकाकर बैठे हुए थे । वे भुनभुनाए, "मुझे तो लगता है दादा, सारे मुल्क में यह शिवपालगंज ही फैला हुआ है ।"[4]

---

१ राग दरबारी, पृ०९८

२ वही, पृ०१३०

३ वही, पृ०३०९-१०

४ राग दरबारी, पृ०४०४-५

उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि लेखक शिवपालगंज के माध्यम से पूरी भारतीय जिन्दगी की विद्रूपता को व्यंजित और चित्रित करना चाहता है।

उपन्यास में जितने पात्र हैं, उनसे सम्बद्ध प्राय: उतनी कथाएं हैं । अर्थात् कथापद्धति में विभिन्न प्रसंगों एवं चित्रों की युक्ति का उपयोग किया गया है । इस युक्ति से लेखक समकालीन व्यवस्था के प्रति अधिक व्यापक एवं गहरा चोट करता है । शिवपालगंज जाते हुए ट्रक ड्राइवर और पुलिस के साथ हुई रंगनाथ की मुठभेड़ का प्रसंग, थाना शिवपालगंज का चित्र, छंगामल विद्यालय इण्टर कालेज की कथा, मास्टर मोतीराम के अध्यापन का चित्र, विद्यालय के वातावरण का जिक्र,वैद्य जी की बैठक यानी दरबार का चित्र, लंगड़ की कथा, शहर के रिक्शेवाले का कथा चित्र, लंगड़ की कथा, शहर के रिक्शेवाले का कथाचित्र, रामाधीन भीखमखेड़वी की कथा, दुरबीन सिंह के संस्मरण, कोआपरेटिव यूनियन के चुनाव का चित्र,कुसहरप्रसाद के खानदानी झगड़े की कथा,शिवपालगंज से पांच मील दूर मेले का प्रसंग, जोगनाथ के मुकदमे के सिलसिले में शहर के अदालत का चित्र, सनीचर का ग्राम प्रधान बनने का किस्सा, नेता जी द्वारा दिए गए भाषण का चित्र, कालेज की गुटबन्दी का चित्र, और रंगनाथ का शिवपालगंज से पलायन आदि विभिन्न चित्र,दृश्य, वे प्रसंग मिलकर उपन्यास की वृहत कथा का निर्माण करते हैं । यद्यपि इन कथाओं और प्रसंगों में कला की दृष्टि से अन्विति और संयोजन नहीं है, लेकिन लेखक पूरी भारतीय जिन्दगी और व्यवस्था को स्थापित करना चाहता है, इस रूप में विभिन्न कथा की केन्द्रदृष्टि अन्वित सी दिखाई देती है । आज की संक्रमणकालीन स्थिति में जब सभी कुछ बिखरा-बिखरा और गड्डमगड्ड चल रहा है, इसलिए यदि इस जिन्दगी के चित्रण में लेखक ने छोटी छोटी कथाओं और घटनाओं के वर्णन में बिखरे शिल्प का सहारा लिया है तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं बल्कि इस युक्ति से तो लेखक समकालीन यथार्थ को अधिक ईमानदारी और गहराई से स्पर्श करता है ।

गांव में दो नेता हैं-- एक हैं वैद्य जी और दूसरे रामाधीन भीखमखेड़वी । इन दो नेताओं के अपने-अपने गुट हैं । और इनके संघर्ष व उठापटक की राजनीति और समाज शास्त्र से कथानक का बहुत बड़ा भाग सम्बद्ध है । वैद्य जी का गुट अधिक शक्तिशाली है, इसलिए हर लड़ाई में उनकी जीत होती है । यहां तक कि उपन्यास के अन्त में रंगनाथ तिलमिलाकर दूसरे गुट के प्रति सहानुभूतिपूर्ण

और आत्मीय हो उठता है तथा नैतिक लड़ाई लड़ने का हल्का आभास भी उजागर होता है, किन्तु एक अजनबीपात्र की भांति वह गांव छोड़ देना अधिक श्रेयस्कर समझता है। जैसे उसने सोचा हो, कि मुझसे क्या लेना देना है, कौन स्थायी रूप से रहने के लिए यहां आया हूं। उपन्यास के कथानक में संस्मरण और पंचतंत्र कथा-पद्धति का भी उपयोग किया गया है। रंगनाथ प्रत्येक पात्रों की प्रतिक्रिया को मौन अनुभव करता है और कभी-कभी जिज्ञासा आदि दिखाकर टीका टिप्पणी भी करता चलता है। संस्मरण सुनाने का अधिकतर कार्य सनीचर करता है, इसके अलावा वैद्य जी, रुप्पन और गयादीन भी इस युक्ति से कथा को विकसित करते हैं। रंगनाथ को कोई खास बात समझाने या किसी का परिचय देने के लिए संस्मरण सुनाया जाता है। यानी रंगनाथ के बहाने पाठक भी उसे समझ ले। कथा को पंचतंत्रात्मक शैली में कहानी सुनाकर एक आदर्श या शिक्षा को उजागर किया जाता है। लेकिन यहां प्रत्येक पात्र इस पद्धति के ० बहाने शिवपालगंज की जिन्दगी की कहानी कहते हैं। हर पात्र रंगनाथ को कहानी सुनाते हैं या शिवपाल-गंज की प्रत्येक मुद्राओं एवं आयाम से परिचय कराते हैं। पात्र तो 'नैरेटर' है ही लेकिन लेखक स्वयं जगह-जगह पर अपनी ओर से टीका-टिप्पणी तथा परिचय देता चलता है। वह भी व्यंग्य के कलेवर में। इन स्थलों पर कई सारे जुमले एकदम तीखे और काट करने वाले हैं। 'वर्तमान शिक्षा पद्धति रास्ते में पड़ी हुई कुतिया है, जिसे कोई भी लात मार सकता है।'[1] 'मध्यकाल का कोई सिंहासन रहा होगा जो अब घिसकर आराम कुर्सी बन गया था। दरोगा जी उस पर बैठे भी थे, लेटे भी थे,'[2] वैद्य जी थे, हैं और रहेंगे।'[3] 'पुनर्जन्म के सिद्धान्त की ईजाद दीवानी की अदालतों में हुई है, ताकि वादी और प्रतिवादी इस अफसोस को लेकर न मरें कि उनका मुकदमा अभी अधूरा ही पड़ा रहा। इसके सहारे वे यह सोचते हुए चैन से मर सकते हैं कि मुकदमे का फैसला सुनने के लिए अभी अगला जन्म तो पड़ा ही है।'[4]

---

१ रागदरबारी, पृ०१५

२ वही, पृ०१७

३ वही, पृ०४१

४ वही, पृ०४४

आदि अनेक उदाहरण देखे जा सकते हैं ।

'उपन्यास में कोई रस भरी कहानी नहीं, न प्रेम का वह आदिम त्रिकोण है जो न जाने कब से कहानियों और उपन्यासों को मनोरंजक बनाता आ रहा है और न सेक्स अथवा वैयक्तिक स्थितियों की रफोटि के लोकप्रिय मनोवैज्ञानिक लटके हैं । उपन्यास शिवपालगंज के दैनन्दिन जीवन की कहानी कहता है, जिसमें हर सरगर्मी पर गांव के दो नेताओं की छाया मंडराती रहती है ।... उपन्यास गांव के इन दो नेताओं की आपसी खींचतान,गुटबन्दी और कालेज की मैनेजरी और गांव सभा की प्रधानी के चुनाव को लेकर चलने वाली साजिशों और उठा पटक की कहानी कहता है, जिसके माध्यम से श्रीलाल शुक्ल ने गत बीस वर्षों से होने वाली देश की तथाकथित उन्नति का पर्दा ऐन चौराहे पर फाश किया है ।.... या कहा जाय कि उसके कुत्सित और गर्हित पक्ष का, कटु, व्यंग्यपरक यथार्थ चित्रण अद्भुत कौशल और कलाकारिता से श्रीलाल शुक्ल ने 'राग दरबारी' में किया है ।'[1]

उपन्यास के चरित्र-चित्रण में विभिन्न वर्गों के विविध पात्रों का चयन कियागया है और इन्हें जिस सचाई के साथ और बैहिचक पेश किया गया है, उससे मनुष्य की अस्मिता की पहचान एकदम नंगी और प्रखर दिखाई देती है । वैद्य जी, बद्री पहलवान, रुप्पन, सनीचर, गयादीन, प्रिंसिपल, मास्टर मोतीराम, खन्ना मास्टर, जोगनाथ, कुसहरप्रसाद, कालिकाप्रसाद, बाबू रामाधीन भीखम खेड़वी आदि विविध पात्र समाज में हर जगह बिखरे हुए मिल जायेंगे ।

आलोचकों ने रंगनाथ को पूरे उपन्यास का नायक माना[2] है । लेकिन लेखक ने उसके चरित्र को एक ऐसे चौखटे में फिट किया है कि उसकी अपनी चरित्रवत्ता समाप्त सी दिखती है । वह उपन्यास का एक दूरदर्शक यंत्र है,जिसके माध्यम से देश की जिन्दगी को दूर दूर तक देखा जा सकता है । शिवपाल गंज के लिए अतिथि होने के कारण उसकी स्थिति अजनबी की-सी तरह है,इसलिए सारी स्थितियों का मौन अनुभव करता है, कोई प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं करता, न वो गहरे रूप से यहां की जिन्दगी में हिस्सा लेता है । रंगनाथ एक कुंजी है जिसके सहारे उपन्यास का

---

१ उपेन्द्रनाथ अश्क : 'अन्वेषण की सह यात्रा',पृ०४५-४६.

२ वही,पृ०४६

ताका खोलने की पद्धति का इस्तेमाल किया गया है और बहुत सही तो यह है कि रंगनाथ एक पर्यटक है जो किसी नये स्थल का भ्रमण करने आया है। सनीचर, रुप्पन तथा अन्य पात्रों से शिवपालगंज की कहानी सुनना उनको मिलता है। नायक भी पर्यटक के सहारे उपन्यास का भ्रमण करता चलता है। नये स्थल पर रहते हुए जब उसे अपने घर की या जमीन की याद आती है, दूसरे शब्दों में शिवपालगंज की रहाइस से ऊब जाता है, तब उसके कानों में पलायन संगीत गूंजने लगता है और वह वहां से भाग जाता है। इस प्रकार रंगनाथ को नायक का पद देना किसी भांति भी संगत नहीं लगता। डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने उसे एक कमजोर एवं पंगु पात्र कहा है और उसके चरित्र में गहरी आत्मोपलब्धि का अभाव देखा है। उनके कथनानुसार, -- "रंगनाथ मिट्टी का ऐसा शेर है जो अकेले में गुर्राता रहता है, मौका पड़ने पर दुम दबाकर भाग जाता है। किसी भी समस्या से वह साक्षात्कार करने की उसमें क्षमता नहीं है। न तो उसमें आत्मविश्वास है न दृष्टि।"[१] सवाल यह है कि क्या बिना नायक के उपन्यास की रचना संभव नहीं है? या मुख्यपात्र से यह आशा करना जरूरी है कि वह एक गहरी अन्तर्दृष्टि से समन्वित होगा। क्या ऐसे चरित्र के बिना उपन्यास सशक्त नहीं कहला सकता। कहना नहीं होगा कि 'राग दरबारी' का व्यंग्य इतना सशक्त एवं आकर्षक है कि उसके समस्त पात्र फीके पड़ गये हैं।

वैद्य जी एक ऊंचे मंत्री का प्रतिनिधित्व करते हैं और उनके माध्यम से लेखक ने पूरे राजनीतिक परिवेश की बखिया उधाड़ने की कोशिश की है। प्रिंसिपल, क्लर्क तथा कथित मंत्री के चापलूस और पांव सहलाने वाले व्यक्तित्व के रूप में चित्रित है। रुप्पन, बद्री, सनीचर, छोटे, जोगनाथ आदि गुर्गे या चेले चापड़ हैं। राजनीति के शब्दों में कुल मिलाकर इनका एक गुट है और इनके अधिनायक हैं, वैद्य जी। जिस प्रकार एक नेता या मंत्री व अपने हथकंडों से कई-कई संस्थाओं पर अधिकार रखता है और उन संस्थाओं के द्वारा दोनों हाथ से जेब भरने या लूटने का प्रयास करता है, वैद्य जी ने उपन्यास में करके दिखाया है।

---

१ लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय : 'हिन्दी उपन्यास : उपलब्धियां', पृ०१३६

वैद्य जी और रामाधीन भीखमखेड़वी ऐसे चरित्र हैं, जो आज के समाज के पंडे अथवा ठेकेदार कहे जा सकते हैं । उनका न कोई नैतिक आदर्श है न कोई आस्था ।प्रत्येक उपक्रम में उनका अधिकार होना आवश्यक है ।वैद्य जी अधिक शक्तिशाली नेता और ठेकेदार हैं । वैद्य कम, राजनीति के खिलाड़ी ज्यादा अधिक । गांव में उनका एकछत्र साम्राज्य है, चाहे कोआपरेटिव यूनियन हो या गांव सभा , छंगामल विद्यालय इण्टरमीडिएट कालेज हो या गांव की उन्नति का प्रश्न । उनके शासन में पट्टीदार,रिश्तेदार और मित्र सभी पदाधिकारी के हैसियत से लाभ उठाते हुए गांव की उन्नति करते हैं ।

प्रधान चरित्रों के अलावा कई छोटे-छोटे किन्तु महत्वपूर्ण पात्र अपने-अपने रंग में आकर्षक एवं शिवपालगंज के विशाल चित्रफलक के विभिन्न चित्रों को अभिव्यक्ति देने में सफल हैं । बद्री पहलवान पहलवानी करने के साथ-साथ गुंडों के आश्रयदाता,बेला के असफल प्रेमी और पिता वैद्य जी के प्रत्येक अनैतिक कार्यों के सहायक हैं । सनीचर वैद्य जी का भांजा और चेलों का मुखिया,प्रधान सेवक और उनकी प्रत्येक परोक्ष-अपरोक्ष क्रियाओं का अनुसरण कर्ता ।यह मामा की ही कृपा थी कि वह गांव का प्रधान आसानी से बन जाता है । रुप्पन विद्यार्थी कम, विद्यालय का छात्र नेता अधिक है । गांव की राजनीति में युवा नेता की हैसियत से भाग लेना उसका दायित्व है । जोगनाथ गुण्डा और वैद्य जी तथा बद्री पहलवान का पालक बालक है । चलते मुसाफिरों से बलात् पैसा छीन लेना उसके बायें हाथ का खेल है, यहां तक कि पुलिस भी उसे पकड़ने से घबराती है । मास्टर मोतीराम, खन्ना मास्टर अध्यापक कम विद्यालय राजनीति के विरोधी गुट के सक्रिय कार्यकर्ता। वे मैनेजर वैद्य जी के हर कार्यों का विरोध करना लाजिमी समझते हैं । इसके अतिरिक्त गयादीन,कुसहरप्रसाद,कालिका प्रसाद,लंगड़ आदि चरित्र आकर्षक होकर समकालीन जिन्दगी की सचाई को अभिव्यक्त करते हैं ।

पात्रों के चरित्रांकन में उनकी आकृति-प्रकृति और वेशभूषा के परिचय में वर्णन और व्यंग्य से काम लिया गया है । वे वर्णन भी व्यंजित होकर व्यंग्यात्मक अधिक बन सके हैं । डा० वार्ष्णेय के कथन का अखबारों के 'कार्टून' या 'स्माइल-ए-डे' जैसे पात्र उन्हें नहीं कह सकते,क्योंकि 'कार्टून' या 'इस्माइल-ए-डे

जैसे पात्र उन्हें नहीं कह सकते, क्योंकि 'कार्टून' या 'स्माल-...डे' के पात्र हंसाते भर हैं, गहरे तक बेधते नहीं। राग दरबारी के पात्र अपनी चरित्रगत के माध्यम से तीखे प्रहार करते हैं, नश्तर लगाते हैं और देश की सचाइयों को एकदम जीते-जागते प्रस्तुत करते हैं। इस प्रकार ये पात्र प्रामाणिक भी हैं। पात्रों के आंतरिक ... का प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि लेखक उन्हें लगभग कामिक ढंग पर उपस्थित करता है। उनमें किसी प्रकार का तनावयुक्त संघर्ष कम देखा जा सकता है। उन्हें संशय नहीं सालते। किसी लक्ष्य में सफलता-असफलता होती लगती है तो अपनी समरनीति उन्हें जरूर सोचनी पड़ती है, लेकिन असफलता का लोकभाषा में दार्शनिक स्पष्टीकरण कह-सोचकर जिन्दगी से आसानी से समायोजन कर लिया जाता है। कहीं कुछ तरलता जरूर है, शायद उसे भी ... कहा जा सकता है। पर 'राग दरबारी' की भाषा में उसे खोजने के लिए कुछ बारीक नजर की जरूरत पड़ेगी।[1]

समाज और व्यवस्था के भ्रष्टाचार, भाई-भतीजावाद, योजनाओं का दुरुपयोग और खोखलापन, गुटबन्दी, राजनीति में गुंडों एवं लुटेरों को प्रश्रय, सरकारी कार्यालयों, न्यायालयों एवं पुलिस विभाग की दुर्गति, शिक्षा का उत्तरोत्तर ह्रास, चुनाव के हथकंडे, विज्ञापन की बाढ़ आदि विविध दृश्य-चित्रों को विवरणात्मक ढंग पर उपस्थित किया गया है, पर उससे निकलने वाली व्यंजना और व्यंग्य का आवेग समकालीन वातावरण और परिवेश को जीवन्त रूप में उपस्थित करती है-- लगभग प्रहारात्मक ढंग पर। लेखक के सामने जो भी आया, व्यंग्य से बचकर नहीं जा सका है। वातावरण काल्पनिक नहीं, बल्कि सचाई और प्रामाणिकता के साथ उजागर है। घटनाओं और दृश्यों को जिस प्रकार लेखक उपस्थित करता है, उससे एक-एक स्थिति को बखिया उधड़ती चलती है। उपन्यास के प्रारम्भिक अंश में रंगनाथ और ट्रक ड्राइवर से हुई बातचीत तथा बादमें पुलिस से हुई मुठभेड़ के चित्र में पुलिस विभाग का भ्रष्टाचार प्रकाश होता है। इस प्रकार के दृश्य पूरे उपन्यास में भरे पड़े हैं।

---

१ आलोचना, अक्टूबर-दिसम्बर, १९६८, पृ०१०२-१०३

इसके अलावा हल्के-फुल्के चित्रों के द्वारा जीवन की छोटी-छोटी स्थितियों को भी उभारा गया है । 'थोड़ी देर में ही धुंधलके में सड़क की पटरी पर दोनों ओर कुछ गठरियां सी रखी हुई नज़र आयीं । ये औरतें थीं, जो कतार बांधकर बैठी हुई थीं । वे इत्मीनान से बातचीत करते हुए वायु सेवन कर रही थीं और लगे हाथ मलमूत्र का विसर्जन भी ।[1] ' इस चित्र से न केवल शिवपालगंज के वातावरण का बोध होता है, बल्कि भारत के किसी भी गांव के वातावरण की व्यंजना हो जाती है ।

उपन्यास की संवाद योजना और भाषिक संरचना भी क्रीड़ा कौतुक, व्यंग्य और व्यंजना में उजागर किया गया है । लेखक किसी बात को बेलाग और दो टूक कहने में झिझकता नहीं, पूरे राष्ट्र और समाज को आदर नहीं, कामिक नज़रिये से देखता है । चरित्रों और कथा-दृश्यों के वर्णन में अपनी ओर से टीका देता चलता है और यह टीका टिप्पणी उस वस्तु या स्थिति का बखिया उधेड़ कर उधेड़ती है । ' इस टीका को व्यंग्य कहना या इसके बारे में साप्ताहिक पत्रों के 'बैठे ठाले' के स्तम्भों का उल्लेख करना दृष्टिदोष की देन है, क्योंकि यहां किसी भी पात्र का न तो मज़ाक उड़ाया गया है, न उसपर व्यंग्य किया गया है । जिन लोगों के पास सौन्दर्यशास्त्रीय बारीकियों की समझ न होवे भी इस मुगालते में न रहें, इसलिए पूरे समाज को यहां क्रीड़ा-दृष्टि से देखा गया है ।[2] ' टीका-टिप्पणी के साथ वह किसी भी चित्र का हल्का विवरण भी देता है-- 'वे दुबले पतले थे, पर लोग उनके[3] मुंह नहीं लगते थे । वे लम्बी गर्दन, लम्बे हाथ और लम्बे पैर वाले आदमी थे... । पर वर्णन के साथ तुलना-पद्धति और व्यंजना के आधार पर उसको सम्बन्धित देश की समस्याओं से करता है । ' .... वैसे देखने में उनकी शक्ल एक घबराये हुए मरियल बछड़े की थी, पर उनका रोब पिछले पैरों पर खड़े हुए एक हिनहिनाते अरबी घोड़े का सा पड़ता था ।

वे पैदायशी नेता थे, क्योंकि उनके बाप भी नेता थे[4] । 'स्थितियों के प्रति लेखक की ओर से फेंके गये जुमलों से उपन्यास भरा पड़ा है । 'वर्तमान शिक्षा

----

१ राग दरबारी, पृ०१६

२ आलोचना, १९६९पृ०१०३

३ राग दरबारी, पृ०२३

४ वही, पृ०२३

पद्धति रास्ते में पड़ी हुई कुतिया है, जिसे कोई भी लात मार सकता है[1]।' इस प्रकार अनेक उदाहरण उपन्यास में भी ढूढे जा सकते हैं । 'रूप्पन बाबू जब उनकी तरफ नहीं आए तो वही उनकी ओर चल दिया । लगा, कोई नेता अभी अभी किसी संकट से ऊपर आया है और प्रेस उसका 'इण्टरव्यू' लेने जा रहा है ।' यहां गांव के परिवेश में 'प्रेस इण्टरव्यू' का रूपक लाना सिर्फ यह जाहिर करना है कि रोष केवल देहाती जिन्दगी के प्रति नहीं सारी हिन्दुस्तानी जिन्दगी के प्रति है । ऐसे रूपक उपन्यास भर में हैं और देहात की जिन्दगी को शहर की जिन्दगी से जोड़ते चलते हैं[2]। इस प्रकार के रूपक न केवल वर्णन की भाषा में बल्कि संवादों में भी नियोजित हुए हैं-- रंगनाथ ने कहा ' ड्राइवर साहब, तुम्हारा गियर तो बिलकुल अपने देश की हुकूमत जैसा है ।' ड्राइवर ने मुस्कुरा कर यह प्रशंसा पत्र ग्रहण किया । रंगनाथ ने अपनी बात साफ करने की कोशिश की । कहा,' उसे चाहे जितनी बार टाप गियर में डालो, दो गज चलते ही फिसल जाती है और लौटकर अपने खांचे में आ जाती है[3]।'

संवाद और वर्णन की भाषा को लेखक ने उपन्यास के चरित्र और कथ्य के साथ एकमेक करने का प्रयत्न किया है । समकालीन परिवेश को उसी की भाषा में सजाने संवारने की कोशिश स्तुत्य है । अवध प्रान्त की लोकभाषा का जिसे अध्ययन करना हो, उसके लिए तो यह उपन्यास और भी आकर्षक है । कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं --

(क) कहां लपक गये ?

पहलवान ने लापरवाही से चबूतरे पर थूक दिया । कहा,'बद्री भैया मीटिंग में बैठकर क्या अंडा देंगे ? सुपरवाइजर को पकड़ कर एक धोबीपाट मारते उसी में साला टें हो जाता । मीटिंग-शीटिंग में क्या होगा । रंगनाथ को बात पसंद आ गई । बोला, क्या तुम्हारे यहां मीटिंग में अण्डा दिया जाता है?

---

१ राग दरबारी,पृ०१५

२ आलोचना ।१८,पृ०१०२

३ राग दरबारी,पृ०११

पहलवान को इधर से किसी सवाल की आशा नहीं थी, उसने कहा--'अच्छा नहीं देंगे तो क्या बाल उखाड़ेंगे। सब मीटिंग में बैठकर रांड़ों की तरह फांय-फांय करते हैं, काम-धाम के वक्त खूंटा पकड़ कर बैठ जाते हैं।'... रंगनाथ ने.... इत्मीनान से बात करने के मतलब से कहा--'अन्दर आ जाओ पहलवान' 'बाहर कौन गाज गिर जाय रही है ? हम यहीं चुस्त हैं।' इतना कहकर छोटे पहलवान ने बातचीत में कुछ आत्मीयता दिखाई। पूछा--' तुम्हारे क्या हाल हैं रंगनाथ गुरु ? '..... रंगनाथ बोला --' हम तो बिल्कुल फिट हैं पहलवान, अपने हाल बताओ। इस सुपरवाइजर को गेहूं बेचने की क्या जरूरत पड़ी ?' पहलवान ने फिर नफरत के साथ चबूतरे पर थूका.... इसके बाद अपने को रंगनाथ की उदामता में लाकर बोला --' अरे गुरु, कहा है, तन पर नहीं लत्ता, पान खायं अलबत्ता। वही हाल था। लखनऊ में दिन-रात फुटफैरी करता था। सो, बिना मसाले के फुटफैरी कैसी ? गेहूं तो बेचेगा ही।'

'यह फुटफैरी क्या चीज़ है ?'

पहलवान हंसा, --' फुटफैरी नहीं समझे ? बड़ा सहुरा लाटेबाज था। तो लाटेबाजी कोई हंसी ठट्ठा है। बड़े बड़ों का धुआं निकल जाता है। जमुनापुर की रियासत इसी में लिढ़ी बिढ़ी हो गई।'[1]

(ख) वहीं एक गड्ढे से अचानक आवाज आई, 'कफ़ौन है सफ़ाला ?'....
    गड्ढे में थोड़ी देर खामोशी रही,[2] फिर आवाज आई, 'मफ़ैर गफ़ये सफ़ाले गफ़ोला चफ़ंलाने वाले।'

इस प्रकार के अनेक उदाहरण उपन्यास में हैं। और कहा जा सकता है कि भाषा हल्के स्तर पर है, पर दो टूक है और लोकभाषा के जिन्दगी-भरे आवेग का प्रतिरूप है। इसे व्यंग्यकार की[3] चुस्ती मानना तथाकथित गंवारों की बातचीत से अपरिचय स्वीकार करना होगा।

---

१ राग दरबारी, पृ०९३-९४

२ वही, पृ०८३

३ आलोचना, १८, पृ० १०२

इसके अलावा संकेतों और बिम्बात्मक दृश्यों के अनगिनत उदाहरण भी उपन्यास में ढूंढे जा सकते हैं । कुलमिलाकर रूपक, उपमा, मुहावरे, टोकाएं, जुमले, बिम्ब, रिपोर्ट आदि इकट्ठे होकर भाषा को जीवन के नजदीक रहने की संवेदना को बनाये रखते हैं ।

संक्षेप में पूरे उपन्यास से यही ध्वनि निकलती है कि अपनी सारी शिल्प सम्बन्धी कमजोरियों के बावजूद स्थितियों के इतने वजन के साथ प्रस्तुत किया गया है कि वही उपन्यास को महत्वपूर्ण और महान बनाने के लिए काफी है । लेखक ने आलोचकों की आलोचना के मानदण्ड के आधार पर उपन्यास का गठन नहीं किया है, क्योंकि ऐसा करने के लिए उसे आलोचकों से सलाह लेनी पड़ती । कुछ भी हो, रागदरबारी भी पाठक को फकफोरता है, वह हिन्दी उपन्यास की मांगों को पूरा करे या न करे, उपन्यास जाए भाड़ में, वह कई अर्थों में हिन्दी पाठक की उपलब्धि है ।[1]

-o-

---

1 आलोचना, पृ० 103

अष्टम अध्याय

-0-

प्रयोगवादी या प्रयोगपरक शिल्प-विधान

प्रत्येक युग का समर्थ कथाकार अपनी सर्जनात्मक प्रतिभा के बल पर प्रयोग करता रहा है । परम्परित रचना-दृष्टि से अलग नूतन आयाम स्पर्शित करने पर, वह उसका प्रयोग ही होगा । फिर बदलते हुए मानव-मूल्यों,परिस्थितियों संवेदनाओं के अनुरूप हमेशा से रचना नूतन शृंगार प्राप्त करती रही है । नये भाव-बोध को पुराने आवरण में ढालना प्रासंगिक, सशक्त और स्वाभाविक नहीं होता । वह अपनी अभिव्यक्ति के लिए हमेशा नये माध्यम की मांग करता है । गोपालराम गहमरी,देवकीनन्दन खत्री की परम्परा को तोड़कर यदि प्रेमचन्द ने नये यथार्थ-बोध को नवीन कलेवर में न बांधा होता, तो उस युग के बदलते हुए मूल्य कहां से उजागर हो सकते थे । आज भी जब युग संक्रमण की प्रक्रिया से गुजर रहा है, पुरानी परम्परायें, पुराने मूल्य धराशायी और बिखरे हुए लग रहे हैं अर्थात् युग के बदलते हुए भाव-बोध की अभिव्यक्ति परम्परित ढांचे में नहीं दी जा सकती ।इसलिए हिन्दी उपन्यासों में लेखक नित प्रति नूतन प्रयोग कर रहे हैं । प्रयोग ही जिस उपन्यास की रचना-प्रक्रिया में सबसे जीवन्त तत्व बनकर समाविष्ट हो,लेखक की दृष्टि नूतन प्रयोगों पर ही केन्द्रित रहे, वहां प्रयोगपरक शिल्प विधान देखा जा सकता है।

प्रयोगपरक शिल्प विधान में नूतन शिल्प-प्रयोग इतना सशक्त एवं वजनदार होता है कि उसके समक्ष उसमें विन्यस्त भाववस्तु का महत्व क्षीण प्रतीत होने लगता है । इस विधान के माध्यम से लेखक अपनी प्रतिभा के सहारे नये शिल्प-रूपों, नई रचनापद्धतियों का प्रयोग करता है । इस प्रकार के शिल्प बंधान के उपन्यासों में पाठक उसकी भाववस्तु की अपेक्षा संरचना के नये प्रयोगों और आयामों के प्रति

आकर्षित होता है । लेखक अधिकतर नूतन प्रयोग करके पाठकों को चमत्कृत और आश्चर्य का भाव उत्पन्न करता है । चमत्कार-बोध के द्वारा वह आनन्द की प्रतीति कराता है । प्रयोगपरक शिल्प-विधान में लेखक द्वारा किये गये विभिन्न प्रयोगों के कई मन्तव्य हो सकते हैं यानी प्रयोग की रचना-प्रक्रिया कई रूपों में देखी जा सकती है । या तो लेखक अपने नये रचना-सौष्ठव से सौन्दर्यबोधात्मक आनन्द की प्रतीति कराता है, या तो विभिन्न प्रविधियों के संसार में पाठकों को उलझाकर उनके मन को मूल विषय से विकेन्द्रित करता है, या यह भी हो सकता है कि परम्परायुक्त होकर नये विधान की सर्जना और उपस्थापन की सक्षता एवं नव्यता से जनित आश्चर्य तत्व अथवा आकर्षण से पाठक को प्रभावित चमत्कृत करते हुए भी विषय के सुचारू संवहन में समर्थ होता है[1]।लेखक यह भी करसकता है कि पुराने विषय को ही किसी नूतन विधि अथवा संरचना के सहारे कृति को आकर्षक एवं प्रभावाभिव्यंजक बनाने में सफल हो । इन सभी रचनारूपों के केन्द्र में प्रयोग की प्रवृत्ति अधिक होती है और उसका आकर्षण उसके चमत्कार एवं आश्चर्यपूर्ण प्रसादन में ही निहित होता है ।

प्रयोगपरक शिल्प विधान के माध्यम से कथाकारों ने कई प्रकार के प्रयोग किये हैं । आज के युग में मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन को परख बमुश्किल हो पाती है । इसलिए वह मानव जीवन के खंडचित्र प्रस्तुत करता है । खण्डचित्र के प्रस्तुतीकरण से उपन्यास में चित्रित काल उत्तरोत्तर संकुचित होता जाता है । `उखड़े हुए लोग` में एक सप्ताह का कथानक`चांदनी के खण्डहर` में चौबीस घण्टे की कथा और `सोया हुआ जल` में तो मात्र बारह घण्टे की कथा रूपायित की गई है । पात्रों को समझने के लिए अब पाठकों को समाजशास्त्र,राजनीति, मनोविज्ञान का ज्ञान आवश्यक है,क्योंकि वह अब मनुष्य के बाहरी जीवन का नहीं आभ्यान्तरिक मन की परतों को चित्रित करने का प्रयास करता है ।

---

१ डा० सत्यपाल चुघ : `प्रेमचंदोत्तर उपन्यासों की शिल्प-विधि`,पृ०७८७

प्रतीकों एवं बिम्बों के सहारे वह पूरे उपन्यास की अभिव्यंजना को स्पष्ट करना चाहता है[1]। आभ्यन्तरिक जीवन के स्थापन में अनेक नये शिल्प रूप स्मृत्यवलोक शैलियों, सांकेतिक, चेतन प्रवाह, पूर्व दीप्ति, स्वप्न आदि को उपन्यास का अभिव्यंजना का आधार बनाता है। इसके साथ साहित्य की अन्य अनेक विधा रूपों को भी औपन्यासिक कृति में प्रदीपित करता है। कविता, कहानी, लोक-कथा, उपदेश, रूपक, नाटक, निबन्ध, वार्ता, पत्र[2], डायरी, संस्मरण आदि सभी को एक साथ रखकर देखने का प्रयास करता है। कई लेखकों ने[3] मिलकर एक उपन्यास के विभिन्न अध्याय लिखने का भी प्रयास किया है। चरित्रों में, भाषा में भी नूतन प्रयोग देखे जा सकते हैं। निश्चय ही बदलती हुई परिस्थितियों के अनुकूल मानव-चरित्र बदले हैं। आज का मनुष्य दो-तीन दशक पूर्व के मनुष्यों से भिन्न नया जीवन जी रहा है। भीड़ में खोया हुआ आदमी --अजनबीपन, एकाकीपन, जिन्दगी से कटा हुआ अलग-थलग आदमी अलगाव, अपने में ही संतुष्ट आदमी-- बौद्धिक, वैकल्पिक अकवि आत्मकेन्द्रित, मानवीय अनुभूतियों से सम्पृक्त आदमी--बौद्धिक, वैज्ञानिक आदि विभिन्न चरित्रों के प्रयोग नये अथवा सामयिक उपन्यासों में चित्रित हो रहे हैं। 'वे दिन', 'दूसरी बार', 'सफेद मेमने' 'बेघर', 'एक प्यासा तालाब' आदि में ये चारित्रिक प्रयोग देखे जा सकते हैं।

विशिष्ट उपन्यासों का अध्ययन

बहती गंगा (१९५२)[4]

शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र' की प्रथम कृति 'बहती गंगा' कलेवर में लघु होते हुए भी, विषयवस्तु के विस्तार, यथेष्ट रोचकता और प्रभावाभिव्यंजकता

---

१ द्रष्टव्य 'काली कुर्सी की आत्मा' और 'सोया हुआ जल'
२ 'दामा', 'सांचा', आदि में
३ जैसे 'ग्यारह सपनों का देश' और 'एक इंच मुस्कान'
४ शिवप्रसादमिश्र 'रुद्र': 'बहती गंगा', राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण १९५२।

के कारण महत्वपूर्ण है , लेकिन इसकी विशिष्टता और महत्ता इसके नव्य शिल्प-विधान में है । एक ही काल में रचित दो उपन्यासों--`बहती गंगा (शिवप्रसाद मिश्र `रुद्र`) और `सूरज का सातवां घोड़ा`(धर्मवीर भारती) का शिल्पविधान लगभग समान है । इसका कारण या तो संयोग या एक ही परिवेश और चेतना कहा जा सकता है । `सूरज का सातवां घोड़ा` में विभिन्न छ: कहानियां अलग-अलग होती हुई भी मुख्य पात्र माणिकमुल्ला से सम्बद्ध होकर एकान्वित हैं । `बहती गंगा` में सत्रह विभिन्न कहानियां गंगा नदी को केन्द्र में रखकर काशी के मस्त जीवन को दो सौ वर्षों की गाथा उपस्थित करती है । एकता का जो स्वरूप `सूरज का सातवां घोड़ा` में है वह स्वयं पूर्णता तथा परस्पर सम्बद्धता `बहती गंगा` में अनुपलब्ध है ।

लेखक अपने उपन्यास को ऐतिहासिक कहकर प्रस्तुत करता है । वह लिखता है--`इसी स्थल पर यह बता देना अप्रासंगिक न होगा कि बहती गंगा की प्रत्येक तरंग का आधार कोई न कोई ऐतिहासिक घटना,व्यक्ति,प्रथा या परम्परागत जनश्रुति है । सन् १७५०ई० से लेकर सन् १९५०ई० अर्थात् दो सौ वर्षों की घटनाओं ने `बहती गंगा` में प्रतिनिधित्व प्राप्त किया है । कथाक्रम के अनुरोधवश तिथियों का निर्वाह कड़ाई से नहीं किया गया है, परन्तु व०ह घटनाएं प्राय: सब सही हैं ।`[1] किन्तु यदि विवेचना की जाय तो स्पष्ट होगा कि केवल प्रारम्भिक आठ कहानियों में ऐतिहासिक संवेदना वेष्टित है और कालान्तर की सभी कहानियों में ऐतिहासिक प्रभाव विरल है । वस्तुत: ज्यों-ज्यों लेखक आधुनिक काल के जीवन को उपस्थित करता है,त्यों त्यों वह इतिहास से असम्पृक्त होता गया है । इसके अतिरिक्त ऐतिहासिक दिखने वाली कहानियों का प्रभाव भावात्मक अधिक है । इस आधार पर `बहती गंगा`को ऐतिहासिक उपन्यास नहीं कहा जा सकता ।डा० रघुवंश ने इस उपन्यास के आंचलिक मूल्यांकन पर विशेष बल दिया है --`स्थानीय वातावरण के साथ गहरी संवेदना

---

१ `बहती गंगा की संदर्शिका`,पृ०१०-११

उत्पन्न करने में ही इस उपन्यास की सफलता रक्षित है । ...`[1] नेमिचंद्र जैन[2] और प्रभाकर माचवे[3] भी इसे आंचलिक उपन्यास के रूप में स्वीकृति देते हैं । पर सच यह है कि प्रस्तुत कृति न तो पूर्ण आंचलिक है और ऐतिहासिक तो है ही नहीं। स्थानीय चित्रण में जो कमाल नागार्जुन और फणीश्वरनाथ `रेणु` ने दिखाया है, वह इसमें नहीं हो पाया है । काशी नगरी की विशिष्ट रीति रिवाज, लोक-व्यवहार, मर्यादा और व्यक्तित्व को स्पष्ट और सशक्त ढंग से लेखक प्रस्तुत नहीं कर सका है । केवल स्थान विशेष के नायकत्व, एक स्थान(काशी) में आवेष्टित समस्त घटनाक्रम और यत्र-तत्र काशी की स्थानीय भाषा के आधार पर ही इसे आंचलिक उपन्यास नहीं कहा जा सकता । वास्तव में इसकी विशिष्टता और आकर्षण इसके नूतन शिल्प-विधान में है । अधिकांश आलोचकों ने इसके अभिनव शिल्प प्रयोग की ओर संकेत भी किया है[4] । इसलिए हमने इसे प्रयोग परक शिल्प-विधान के अंतर्गत रखकर अध्ययन करने का प्रयास किया है । हमारा निष्कर्ष शिल्प-विधान की दृष्टि से है, यदि केवल वस्तु की दृष्टि से इसका मूल्यांकन किया जाय तो यह कृति आंचलिक ही ठहरती है-- वह भी इतिहास समन्वित आंचलिक ।

`बहती गंगा` में लेखक ने सत्रह तरंगों अथवा अध्यायों में वर्णित विभिन्न सत्रह कहानियों को धारा-तरंग न्याय के अनुसार परस्पर सम्बद्ध करने का प्रयास किया है । जिस प्रकार तरंगें अपना स्वतंत्र अस्तित्व रखते हुए भी एक धारा को सतत् प्रवाहित करती है, उसी प्रकार उपन्यास की सत्रह तरंगें काशी नगरी या मां पयस्विनी की जीवन-धारा को रूपायित करती हैं । जैसे काशी नगरी उपन्यास की नायिका हो और कहानियों में वर्णित चरित्र सब उस नायिका के जीवन सत्यों के उद्घाटन में `सहायक` हों । इस आधार पर लेखक विभिन्न कहानियों की एकता को प्रतिपादित करना चाहता है । साथ ही सभी कहानियां एक समान

[illegible]
१ आलोचना, ८,पृ०१०६-११० ।   २ नेमिचन्द जैन : `अधूरे साक्षात्कार`,पृ०१७८
३ साहित्य संदेश, जुलाई-अगस्त,१६५६, पृ०५० ।
४ राजकमल बोरा : हिन्दी उपन्यास:प्रयोग के चरण`,पृ०१६,सत्यपाल चुघ : `प्रेम-चंदोत्तर उपन्यासों की शिल्प-विधि`,पृ०६०३, नेमिचन्द्र जैन : `अधूरे साक्षात्कार` पृ०१७८इत्यादि ।

प्रभाव और रोचकता भी उत्पन्न करती हैं। इस समाव प्रभाव को डा० रघुवंश ने भाव संयोग कहा है। विभिन्न अध्यायों का प्रभाव मन पर समवेत रूप से पड़ता है, इस दृष्टि से उपन्यास में पूरा संगठन है[1]। इसमें संदेह नहीं कि उपन्यास की सभी कहानियां भावात्मक संवेदना उजागर करती हैं। घटना प्रवाह और कथा रचना स्वाभाविकता और कौतूहलवर्द्धन के साथ चलता है कि इसमें रोचकता और प्रभविष्णुता का लाभ होना अस्वाभाविक नहीं है। किन्तु जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि ' सूरज का सातवां घोड़ा ' की कहानियों की जो एकसूत्रता और अद्भुत परस्पर बद्धता उस उपन्यास में नहीं है।

' बहती गंगा ' में काशी की जिन्दगी - वह भी दो सौ वर्षों की जिन्दगी से साक्षात्कार कराने के लिए अल्प न्यास में विस्तृत जीवन की झांकी प्रस्तुत करने का उपक्रम हुआ है। उसके अनुसार अलग अलग काल और परिवेश के अनुरूप इन कहानियों के विषय और पात्र परिवर्तित करने पड़े हैं। '...... जैसे यदि कोई व्यक्ति कालक्रम से अपने जीवन की चुनी हुई घटनाओं को -- उनकी परस्पर शृंखला का ध्यान रखे बिना- सुनाकर अपनी शील प्रकृति के सम्बन्ध में दूसरों की धारणा बनाने में होता है, वैसे ही ' बहती गंगा ' काशीपात्रों के सम्बन्ध में भी किया गया है।[2] ......किन्तु ' बहती गंगा ' विश्व भर के उपन्यास जगत में एक नई शक्ति, एक नई आभा और एक नई कला लेकर अवतरित हुई है। राजवर्ग, मध्यवर्ग के पात्र अपनी अपनी कल्पना, भावना, प्रकृति, और प्रवृत्ति की स्वाभाविक भूमिका में ऐतिहासिक घटना प्रवाह में बहते चले जा रहे हैं, इन्हें उपन्यासकार छूता नहीं, रंगता नहीं है वरन् क्रिकेट मैच का रेडियो पर विवरण देने वाले प्रवक्ता की भांति आंखों पर दूरवीक्षण यंत्र लगाकर प्रत्येक पात्र की क्रिया का वर्णन सूक्ष्मता, सजीवता और भावुकता के साथ करता चला

---

१ आलोचना, ८, पृ० १०८

२ सत्यपाल चुघ, प्रेमचंदोत्तर उपन्यासों की शिल्पविधि, पृ० ६०५

गया है ।[1] सीताराम चतुर्वेदी ने अपने उपर्युक्त कथन में उपान्यास के शिल्प के हृदय को पकड़ा है। जैसे रेडियो वाले किसी मेले या उत्सव का आँखों देखा हाल विवरणात्मक ढंग पर देते हैं, क्रिकेट मैच की कमेन्ट्री, खिलाड़ियों की एक-एक क्रियाओं का विवरण देते हुए, प्रस्तुत करते हैं, वैसे ही लेखक भी काशी नगरी के वैशिष्ट्य को कमेन्ट करता चलता है ।

उपन्यास की कथा पद्धति में तिलस्म और ऐयारी उपन्यासों की चमत्कारिकता और कुतूहल का उपयोग हुआ है। सम्पूर्ण कहानियों के घटना क्रम में चमत्कार, कुतूहल, रोचकता और सरसता का अद्भुत सामंजस्य देखा जा सकता है । साथ ही भावात्मक संवेदना सर्वत्र बना रहता है। `गाइए गणपति जगवन्दन` में शोषित नारी का करुण चित्र, निम्न वर्ग की सहज वेदना को उजागर किया गया है। घास काटने वाली पन्ना रानी बनकर भी हमेशा अपमानित, उपेक्षित और उत्पीड़ित होती रही। उसमें भी एक विशिष्ट सुख और संतोष का अनुभव करती है, `अपमान, उपेक्षा और उत्पीड़न में क्या कम सुख है लाला । इन तीनों से हृदय में जो दारुण घृणा उत्पन्न होती है, वह क्या परम संतोष की वस्तु नहीं ?.... भला सो जो तो । उस आदमी से मन ही मन घोर घृणा करने में कितना आनन्द आता है जो तुम्हें दबाकर, बेबस बनाकर समझता है कि उसके दबाव से तुम उसका बड़ा सम्मान करती हो, उसपर बड़ी श्रद्धा रखती हो ।`[2] `घोड़े पै हौदा और हाथी पै जीन` में किंचित हास्य संवेदना को मिलाकर अंग्रेजों और भारतीयों के तनाव का आभास तथा लखदन साव के पारिवारिक चित्र का प्रस्तुतीकरण हुआ है । `नागर नैया जाला कालेपनिया है रो ।` काशी के गुंडों की साहसिकता, युद्ध में निहत्थे पर वार न करने की नैतिकता और मस्तमय जीवन का वर्णन है । जातीय प्रेम में समर्पित नागर प्रतिष्ठित गुंडा था । काले पानी की सजा होने पर सम्पूर्ण नगर की जनता सिसकियाँ लेती है । `सूली ऊपर सेज पिया की

---

१ सीताराम चतुर्वेदी : `बहती गंगा` का परिचय, पृ०६

२ बहती गंगा, पृ०२४

की कहानी अति चमत्कार से अनुप्राणित है । उसमें नागर के साथी भंगड़ भिक्षुक और गौरी का भावात्मक सम्पृक्ति, उसका दुस्साहस, भावनाओं और अंतर्द्वन्द्व का सम्प्रेषण हुआ है । गौरी पति भक्ति की परीक्षा सती होकर देती है । जब मिलन धरती पर न हो सका, तो ऊपर सेज पर मिलने के लिए अग्नि में आहुति दे देती है । `सिवनाथ बहादुर सिंह वीर का खूब बना जोड़ा` दोनों बहादुरों का चौंका देने वाली वीरता की बानगी, `आए आए आए...` में हंस किंकिनी का विलक्षण प्रेम गुलेरी की कहानी `उसने कहा था` की याद ताजी करता है । `अल्ला तेरी महजिद अव्वल बनी` में रुकिया की देश-भक्ति और प्रेम प्रपंच प्रगाढ़ पति-भक्ति, `एहो टैंया फुलनी हेरानी हो रामा` में इन्नू और दुलारी का अनमेल और विलक्षण प्रेम, दुलारी की देशभक्ति, `राम काज छन भंगु सरीरा` में बैनी की फक्कड़ाना मस्ती और वैराग्य आदि मिलाकर कथानक को कुतूहलवर्द्धक और प्रभावात्मक बनाते हैं । अधिकांश कहानियों में रोमान्स, देश-प्रेम और शौर्य-साहसिकता का चित्रण हुआ है और इस प्रकार भावात्मक संवेदना सर्वत्र अक्षुण्ण रहती है । गीतों का उपयोग और शीर्षक भाव-प्रवणता को तीव्र करते हैं । शीर्षक काव्यमय, लोकभाषा और कवि उक्तियों से उधार लिये गये हैं, जिससे भाव उद्वेलन में सहायता मिल सके ।

कथा विधान में नवीन अन्वेषित साधनों का भी गुम्फन हुआ है । प्राय: प्रत्येक कहानियाँ अलग अलग शिल्प साधनों से उपन्यस्त हुई हैं । `नागर नैया कालेपनिया जाला रे हरी` में स्मृत्यवलोकन और काल विपर्यय पद्धति `सूली ऊपर सेज पिया की` में अन्तर्द्वन्द्व और चेतन प्रवाह युक्ति, `एहो टैंया फुलनी हेरानी हो रामा` में रिपोर्ताज, `अल्ला तेरी महजिद अव्वल बनी` पत्र प्रणाली और `घोड़े पै हौदा हाथी पै जीन` में रिपोर्ताज आदि विभिन्न शिल्प युक्तियों का उपयोग किया गया है । इस प्रकार, लेखक ने बड़ी कुशलता से कथ्य और शिल्प दोनों में विविधता का सौन्दर्य अन्वेषित किया है ।

चरित्र-चित्रण में भी विविधता से काम लिया गया है । लेखक एक काल और एक परिवेश का चित्रण नहीं कर रहा है, बल्कि काशी के

दो सौ वर्षों का इतिहास प्रस्तुत करना चाहता है, इसलिए भिन्न-भिन्न कालानुरूप रुचियों, व्यवहारों एवं संवेदनाओं की विविधता होना प्रासंगिक है । ये उच्चवर्ग हैं, मध्य और निम्नवर्ग के भी । विविध पात्र चरित्रांकन के द्वारा यह दिखाने का प्रयास किया गया है कि 'जीवन गंगा की धारा भी भागीरथी गंगा के समान पवित्र है । यदि उसमें एक ओर सड़ी गली लाशें हैं, आवर्जना का स्तूप है, उसके तल में हिंसक जन्तु हैं, तो उसी के साथ उसमें शीतलता है, पवित्रता है और व्यापक उपयोगिता भी है ।'[1] वस्तुतः इन पात्रों के चरित्रांकन के द्वारा लेखक पात्र-सृष्टि नहीं करना चाहता है । सब मिलकर काशी का मस्तीपन, नाटकीयता, देशभक्ति का गौरव, आकर्षण और परम्परावादिता और आधुनिकता आदि प्रवृत्तियों एवं गुणों को स्थापित करते हैं । उपन्यास के पात्रों में राजा,मजदूर, व्यवसायी, विद्यार्थी,नेतागण(कामरेड), गुंडे और शोहदे, चित्रकार-कलाकार, तवायफ,युवक-वृद्ध-बालक, भिन्न-भिन्न अनुभूति सम्पन्न नारियां, हिन्दू-मुसलमान आदि विविध संवेदनाओं को सम्प्रेषित करते हैं । बनारस के वासी अभिमानी और दुर्दान्त थे । वे प्राचीन प्रथाओं के प्रेमी और नवीनता के प्रति असहनशील थे । सन१८५८ से पहले तक उन्होंने अपनी प्रथाओं में हस्तक्षेप के सभी प्रयत्नों का सफलतापूर्वक विरोध किया था ।'[2] अंग्रेज इतिहासकार-कथन उपर्युक्त पात्रों के चरित्र में विन्यस्त देखे जा सकते हैं । चरित्रांकन शिल्प में लेखक ने केन्द्रीय पात्र काशी के इर्द-गिर्द समस्त अन्य पात्रों को घुमाया है, इससे विविधता में एकता की अनुभूति भी उत्पन्न हुई है । किन्तु काशी नगरी की बहुत सी विशेषताओं को लेखक स्पर्श नहीं कर पाया है-- गंगा तटों की मस्ती, गंध,कोलाहल,पंडों के भ्रष्टाचार तथा शोहदों के अत्याचार आदि विशिष्ट प्रवृत्तियों को व्यक्त करने में असफल रहा है । इसी प्रकार 'रांड सांड सीढ़ी सन्यासी, इनसे बचे तो सेवे काशी ।' की उक्ति उपन्यास में चरितार्थ नहीं हो सकी है ।

'बहती गंगा' में जटिल पात्र भी हैं,जो मनोवैज्ञानिक संवेदना प्रस्तुत करते हैं । ये अधिकतर बाद की कहानियों में ही संजोये गये हैं । 'वोमैन हेटर' अपनी कुरूपता के कारण 'हीन ग्रन्थि' का शिकार होता है और संसार की

---

१ 'संदर्शिका',पृ०१०

२ 'उपन्यास की संदर्शिका',पृ०१०

सभी नारियों से घृणा करने लगता है । कुसुम और सुधा का चरित्र परिवर्तन मनोविज्ञान सम्मत है । नारियों से घृणा करने वाले अद्भुत व्यक्तित्व को कुसुम प्यार लुटाती है, घृणा ही उसके प्यार को जन्म देता है ।

जिस सघन वातावरण की उपन्यास से अपेक्षा थी, वह उपन्यासकार उपस्थित करने में असफल रहा है । वस्तुतः कथाकार कहानी कहने में इतना तल्लीन हो गया है कि वातावरण की सघनता और समग्रता की ओर ध्यान कम दे पाया है । पथों, घाटों, गलियों, पण्डों, सन्यासियों और वेश्याओं का जिक्र आया जरूर है, किन्तु सतही ढंग पर । 'बला तेरी मस्जिद अव्वल बनी' में ब्रतानिया मेजर वर्कले ने अपनी प्रेमिका को अंतिम पत्र लिखते हुए कहा है ....यह शहर भी अजीब है, यहां के बहुत पुराने नगरों में है । मुसलमान जिस पूज्य दृष्टि से मक्का, यहूदी फिलिस्तान और ईसाई यरूशलम या रोम को देखते हैं, इस नगर के प्रति हिन्दुओं की दृष्टि उससे भी अधिक श्रद्धा सम्पन्न है । मेरे एक सिविलियन दोस्त ने मुझे बताया है यहां के लोग बड़े ही 'टबुलेण्ट' (दुर्दान्त) हैं । वे गम्भीर बातों पर विज्ञतापूर्ण दृष्टि से मुस्कुराते हैं और छोटी-मोटी बातों पर लड़ मरते हैं । .... यह बात बताना जान रखने वाबिस कि यहां की गलियां बड़ी ही तंग, गन्दी और चक्करदार हैं ।[1] मात्र इसप्रकार के सतही वर्णन से वातावरण सघन नहीं हो सकता । बाद की कहानियों में अवश्य सामयिक परिस्थितियों को उजागर करके वातावरण को जीवन्त बनाने का प्रयास हुआ है । 'ऐसो ठैया फुलनी हेरानी हो रामा' में गांधी आन्दोलन की झांकी[2], 'एहि पार गंगा ओहि पार जमुना' नारी जागरण और पुरुष के अत्याचारों के प्रति विद्रोह[3], 'दिया क्या जले जब जिया जल रहा' निम्न वर्ग-शोषितों, उपेक्षितों-- की बेबसी, पीड़ा और मशीनी जिन्दगी का चित्र[4], और 'नारी तुम केवल श्रद्धा हो' में नवीन बदलते हुए मूल्यों, मानवीय

---

१ 'बहती गंगा', पृ०७५-७६
२ वही, पृ०१००-११२
३ वही, पृ०१२२-२६
४ वही, पृ०१४७-५२

सम्बन्धों एवं नव्य चेतना[1] आदि चित्र सामयिक परिवेश से सम्पृक्त दिखाते हैं ।

'गोरी रंग डालो लाल लाल' में वर्ग संघर्ष का उद्घोष देखा जा सकता है । बुधा राय साहब के सामने बोलता है, '.... जो किसान हैं, मजदूर हैं, कुली हैं, क्या उनके लिए यह महफिल नहीं ? जिनके घर में सदा अभाव रहता है, जिन्हें पर्याप्त भोजन और काफी वस्त्र तक प्राप्त नहीं होता, जो नकली इज्जत के बोझ से दबे हुए सुलकर सांस तक नहीं ले पाते, जिन्हें तेरे जैसे सेठ मध्यवर्गीय कहते हैं, क्या उनके लिए इस महफिल का आनन्द नहीं ? बोल बेईमान ! बोल ! इस गुलाब की बाड़ी के गुलाबों का रूप-रस-गन्ध तेरे ही लिए है और उनके कांटे हमारे ही लिए ? मैं तेरी इस महफिल में आग लगा दूंगा ।'[2]

भाषा और संवाद कथा और चरित्र की गति के साथ साथ चलते हैं । भाषा का रूप पुराना है, लेकिन कथ्य के अनुरूप भावात्मक संवेदना को उजागर करता है । लोकगीतों की योजना, स्थानीय लोक प्रयोग, भावात्मक शब्द चयन आदि कुछ साधन हैं, जिनसे लेखक उपन्यास में भावाभिव्यंजकता को तीव्र करता है ।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि 'बहती गंगा' काशी के दो सौ वर्षों का इतिहास-- विभिन्न सत्रह कहानियों को धारा-तरंग न्याय से समन्वित करने के प्रयास तथा भाव तीव्रता को मुखर करने के उपक्रम विशिष्ट शिल्प के माध्यम से विन्यस्त है, वह अपने ढंग की अकेली और अछूती रचना है ।

-0-

---

१ बहती गंगा, पृ०१५३-६१

२ वही, पृ०१७६-८०

`सूरज का सातवां घोड़ा (१६५२)`[1]

धर्मवीर भारती कृत `सूरज का सातवां घोड़ा` को आलोचना के लगभग सभी शिविरों ने इसकी नई टेकनीक और निम्न मध्यवर्ग के यथार्थ को तीखे और जीवन्त रूप में प्रस्तुत करने को महत्वपूर्ण एवं प्रशंसायोग्य पाया है[2]। आकार की दृष्टि से अत्यन्त लघु होने के बावजूद इसे निहायत सरलता से हिन्दी वृहदाकार उपन्यासों के समकक्ष रखा जा सकता है । भारती जी हिन्दी के सबसे मौलिक रचनाकार हैं । उनके यहां बाहर से आयात की हुई वस्तुएं बहुत कम प्राप्त की जा सकती हैं ।

`सूरज का सातवां घोड़ा` के माध्यम से लेखक ने एक नव्य प्रयोग किया है, आवरण पर `नये ढंग का लघु उपन्यास` कहकर उसका दावा भी करता है । अज्ञेय जी उपन्यास की भूमिका में लिखते हैं--`बहुत सीधी, बहुत सादी, पुराने ढंग की--बहुत पुराने, जैसा कि आप बचपन से जानते हैं-- अलफ लैला वाला ढंग, पंचतंत्र वाला ढंग ,बोकैच्छियो वाला ढंग,जिसमें रोज किस्सागोई की मजलिस जुटती है, फिर कहानी में से कहानी निकलती है ।`[3] अर्थात् कथाकार ने कथासरित्सागर, शुकसप्तति, पंचतंत्र वाली कथात्मक पद्धति को अपनाया है । लेकिन इस पद्धति के द्वारा वह पाठकों का मनोरंजन करना नहीं चाहता बल्कि हृदय को कचोट कर कुछ मूल्यवान उपलब्ध करना चाहता है ।

निम्नमध्यवर्ग की समस्याओं, उसका खोखलापन, सामाजिक गठन की विद्रूपताओं को छोटे कैनवस पर विस्तार के साथ उकेरने का प्रयास हुआ है ।इसके द्वारा वह परम्परागत मूल्यों के प्रति अनास्थावान और विद्रोह करना चाहता है । पुराने में नया कलेवर या पुराने के माध्यम से नव्य कहना चाहता है--शायद इलियट के साथ वे भी कहना चाहते हैं कि नया देने के लिए पुराने को अपनाना पड़ेगा, पुराने को बिना अपनाये नया दिया ही नहीं जा सकता ।पुरानी किस्सागोई शैली का हिन्दी में सर्वथा नया और एकदम अनोखा प्रयोग ह किया है । यह प्रयोग बहुत सारे लेखकों की भांति

---

१ धर्मवीर भारती : `सूरज का सातवां घोड़ा`, साहित्य भवन,इलाहाबाद,प्र०सं०१६५२

२ द्रष्टव्य, उपेन्द्रनाथ अश्क की समीक्षा, आलोचना, जुलाई १६५२,पृ०१०६, राजमल बोरा : `हिन्दी उपन्यास : प्रयोग के चरण`,पृ०२८, प्रेम भटनागर : `हिन्दी - उपन्यास शिल्प : बदलते परिप्रेक्ष्य`,पृ०३०५ तथा सत्यपाल चुघ :`प्रेमचन्दोत्तर उपन्यासों की शिल्प विधि, पृ०८५६ ।

३- उपन्यास की भूमिका से ।

चमत्कार प्रदर्शन या कौतुक दिखाने के लिए नहीं, बल्कि विषयवस्तु के अनुरूप नव्य कथा-विधान का सामंजस्य करके उपन्यास को सशक्त एवं वजनदार बनाया है ।

मणिकमुल्ला द्वारा कहीं गई छः विभिन्न लगता कहानियां स्वयं पूर्ण हैं और परस्पर सम्पृक्त हैं अर्थात् अनेक कहानियों में एक कहानी नियोजित है । ये कहानियां एक पूरे समाज का चित्र और आलोचन हैं, और जैसे उस समाज की अंत:शक्तियां परस्पर सम्बद्ध, परस्पर आश्रित और परस्पर सम्पृक्त हैं, वैसे ही उसकी कहानियां भी । प्राचीन चित्रों में जैसे एक ही फलक पर कई घटनाओं का चित्रण करके उसको वर्णनात्मकता को सम्पूर्ण बनाया जाता है, उसमें एक घटना चित्र के बदलते एक घटनाक्रम की प्रवाहमयता लायी जाती है, उसी प्रकार इस समाज-चित्र में एक ही वस्तु के कई स्तरों पर, कई कोणों और कई कालों में देखने और दर्शाने का प्रयत्न किया गया है, जिससे उसमें देश और काल दोनों का प्रसार प्रतिबिम्बित हो सके । दूसरे शब्दों में लेखक ने शिल्प और भाववस्तु दोनों का विस्तार औरउनका परस्पर अद्भुत समन्वय स्थापित किया है ।[1]

समूचे उपन्यास के कथाकार का एक कुशल,प्रतिभाशील और मौलिक व्यक्तित्व तो फलकता ही है, साथ ही उपन्यास में वर्णित कथा का आलोचक भी बन गया है । लेखक को अपनी कृति का आलोचक नहीं बनना चाहिए, इस तथ्य से बचने के लिए बड़ी खूबी से लेखक ने आलोचना का काम नैरेटर मणिक मुल्ला पर सौंप दिया है । लगता है वह अपने नूतन शिल्प-विधान को समझाने में पाठकों को कोई भ्रम या मुगालते में नहीं रखना चाहता ।

उपन्यास के उपोद्घात में लेखक लिखता है, `.... ये कहानियां मणिकमुल्ला की हैं, मैं तो केवल प्रस्तुतकर्ता हूं,अत: जैसे उनसे सुना था,उन्हें यथासंभव प्रस्तुत करने का प्रयास कर रहा हूं ।`[2] अर्थात् नैरेटर मणिक मुल्ला को कहानी सुनाने की जिम्मेदारी सौंप कर उपन्यास के गुण-दोष और कमजोरियों को अपने ऊपर लेने से बचने का प्रयास किया है । उपन्यास का लेखक होते हुए भी वह अपनी ओर से कुछ जोड़ता नहीं,बल्कि मणिकमुल्ला ने जिस प्रकार उन्हें कहानी सुनाया है,उसे

---

१ आलोचना, जुलाई १९५२,पृ०१०७-८ ।
२ `सूरज का सातवां घोड़ा`,पृ०२२

ज्यों-का-त्यों प्रस्तुत कर दिया है ।

मणिकमुल्ला प्रत्येक कहानियों का एक मुख्य पात्र है और कथा नैरेटर भी । जैसे वह एक यात्री हो और अपनी यात्रा का विवरण प्रस्तुत कर रहा है, लिली, जमुना, सती आदि को यात्रा-पथ पर जिस प्रकार देखा, परखा उसी प्रकार उन्हें उपस्थित कर दिया है । मणिक मुल्ला कहीं रुकते नहीं, सतत् चलते हैं । उनके मुख से कही गई सात दोपहर में छ: कहानियों का क्रम बहुत कुछ धार्मिक पाठ-चक्रों के समान है । जैसे कोई सन्त एक सप्ताह तक प्रतिदिन प्रवचन देता है और रोज प्रसाद बांटता है, उसी प्रकार मणिक मुल्ला कहानी सुनाने के बाद श्रोताओं[1] को मुंगफली एवं खरबूजे प्रसाद के रूप में बांटते हैं, साथ ही पाठकों को भी निष्कर्ष के रूप में प्रसाद रूप में बांटते हैं मिलता चलता है । इस प्रकार उपन्यास की कथा अत्यन्त प्राचीन लोक-कथात्मक पद्धति पर आधारित है । ग्रीष्म की दुपहरी में रोज मणिक मुल्ला के घर पर कुछ मित्र एकत्र होते हैं और वक्त काटने के लिए उन्हें कहानियां सुनाते हैं । बीच बीच में 'तो फिर क्या हुआ ?' की तरह श्रोतागण कुतूहल को बनाये रखते हैं । कहानी के अन्त में निष्कर्ष दिया जाता है । श्रोता इस निष्कर्ष के प्रति शंका या संदेह व्यक्त करते हैं । इस शंका का समाधान करने के लिए मणिकमुल्ला को दूसरी कहानी सुनानी पड़ती है । इस प्रकार निरन्तर सात दुपहर तक कहानी में से कहानी निकलने का क्रम चलता रहता है और अन्त में[2] स्वयं मणिकमुल्ला कहते हैं कि कहानियों के रूप में उन्होंने एक उपन्यास कह डाला है ।

'काठ का उल्लू और कबूतर' (केशवचन्द्र वर्मा) की भांति कहानी आरम्भ करने के पूर्व 'अनध्याय' की नियोजना की गई है । प्रवचन रुक जाने पर जिस जिस प्रकार श्रोतामंडली आपस में बातचीत करती है उसी प्रकार 'सूरज का सातवां घोड़ा' में मित्रमंडली कहानी के बारे में वाद-विवाद करती है और विवाद की समाप्ति के

----

१ 'सूरज का सातवा घोड़ा', पृ० २२

२ वही पृ० १२४

लिए इसी दुपहर दूसरी कहानी सुनी जाती है। इस प्रकार अनध्याय वर्णित कहानी की भूमिका हो जाती है। चौथी और सातवीं दोपहर में कथित कहानी के पूर्व 'अनध्याय' वस्तुत: आगे कहने वाली कहानी का सार प्रस्तुत करती है। एक तो यह मित्रमंडली शिक्षित है, दूसरे ये सभी मध्यवर्गीय हैं, तीसरे ये अवकाश के समय एकत्र होते हैं।..... तब यह कितना स्वाभाविक है कि रात को एक ही चबूतरे पर सोने वाले ये मित्र दुपहर में सुनी कहानी की प्रभाव प्रतिक्रिया का खुलकर आदान-प्रदान करें। नि:संदेह अनध्याय के रूप में अपनी ही कहानी के अध्ययन-आलोचन, तथा उसके माध्यम से पाठकों के परोक्ष शिक्षण का तरीका भारती जी का अद्भुत कलात्मक कौशल है। इससे प्राचीन लोककथा पद्धति मनोरंजन तथा सीधे उपदेश के स्तर से ऊपर उठकर नूतन कलात्मक हो जाती है ।[1]

शीर्षक-नामकरण प्रतीकात्मक और व्यंजना प्रधान है। सात दुपहर वस्तुत: सूरज के सात घोड़े हैं। जिस प्रकार सूरज को सात घोड़े खींचकर चलाते हैं उसी प्रकार मनुष्य की जिन्दगी को सात दुपहर में वर्णित कहानियां, सच्चाइयां प्रस्तुत करती है। लेखक छठें दोपहर में जो स्वप्न देखता है, वे सूरज के सातवें घोड़े द्वारा भेजे हुए हैं।[2] लेखक के पूछने पर माणिक मुल्ला उपन्यास के शीर्षक को स्पष्ट करते हैं, 'देखो ये कहानियां वास्तव में प्रेम नहीं वरन् उस जिन्दगी का चित्रण करता है जिसे आज का निम्न-मध्य वर्ग जी रहा है। उसमें प्रेम से कहीं ज्यादा महत्वपूर्ण हो गया है आज का आर्थिक संघर्ष, नैतिक विशृंखलता और इसलिए इतना अनाचार, निराशा, कटुता और अंधेरा मध्यवर्ग पर छा गया है। पर कोई न कोई ऐसी चीज है जिसने हमेशा अंधेरा चीरकर आगे बढ़ने, समाज व्यवस्था को बदलने और मानवता के सहज मूल्यों को पुन: स्थापित करने की ताकत और प्रेरणा दी है। चाहे उसे आत्मा कह लो या कुछ औ

---

१ सत्यपाल चुघ, प्रेमचंदोत्तर उपन्यासों की शिल्प-विधि, पृ० ८५०-५१

२ सूरज का सातवां घोड़ा, पृ० १२५

और विश्वास, साहस, सत्य के प्रति निष्ठा, उस प्रकाश को ही आत्मा को उसी तरह आगे ले चलते हैं जैसे सात घोड़े सूर्य को आगे बढ़ा ले चलते हैं। कहा भी गया है -- 'सूर्य आत्मा जगतस्थुषश्च' ..... पर विगलित, अनैतिक भ्रष्ट और अंधेरे जीवन की गलियों में चलने से सूर्य का रथ काफी टूट-फूट गया है और बेचारे घोड़ों की तो यह हालत है कि दुम किसी की कट गई है तो किसी का पैर उखड़ गया है, तो कोई सूखकर ठठरी हो गया है, तो किसी के खुर घायल हो गया है। अब बचा है सिर्फ एक घोड़ा जिसके पंख अब भी साबित हैं, जो सीना ताने, गर्दन उठाये आगे चल रहा है। वह घोड़ा है भविष्य का घोड़ा, तन्ना, जमुना और सती के नन्हें निष्पाप बच्चों का घोड़ा, जिनकी जिन्दगी हमारी जिन्दगी से ज्यादा अमन चैन की होगी, ज्यादा पवित्रता की होगी, उसमें ज्यादा प्रकाश होगा, ज्यादा अमृत होगा। वही सातवां घोड़ा हमारी पलकों में भविष्य के सपने और वर्तमान के नवीन आकलन भेजता है ताकि हम वह रास्ता बना सकें जिन पर होकर भविष्य का घोड़ा आयेगा, इतिहास के वे नये पन्ने लिख सकें जिन पर भविष्य के अश्वमेघ का दिग्विजयी घोड़ा दौड़ेगा।'[1]

इस प्रकार लेखक छः घोड़ों का प्रतीक वर्तमान व्यवस्था से सम्पृक्त करता है, जो विकलांग, दुर्बल और रक्तहीन हो चुकी है अर्थात वर्तमान मनुष्य जीवन का ढांचा एकदम सड़ गल गया है। लेकिन इससे वह निराश नहीं होता बल्कि भविष्य के प्रति आशावान है। यह भविष्य का घोड़ा बड़ा तेजस्वी और शक्तिशाली होगा। भविष्य में वर्तमान मूल्य बदलकर नवीन मूल्यों की स्थापना करेंगे। लेखक की यह आशावादी कल्पना उपन्यास में थोपी हुई है। जिस चिंतन के लिए वे पूरा एक परिच्छेद खर्च कर डालते हैं, उसका कोई स्वस्थ रूप उजागर नहीं हो पाता क्योंकि उसका चित्रण स्वाभाविक नहीं ऊपर से आरोपित है।[2]

उपन्यास के सीमित फलक में कथाकार ने मध्यवर्गीय समाज की एक ही वस्तु को कई स्तरों, कई कोणों और कालों में देखने-दर्शाने का प्रयत्न किया है, जिससे देश और काल दोनों प्रतिबिम्बित हो सकें। तन्ना, सती और जमुना की करुणा और उनकी पीड़ा हमारी सामाजिक जर्जर व्यवस्था का परिणाम है। एक एक करके

---

१ सूरज का सातवां घोड़ा, पृ० १२५
२ आलोचना, जुलाई १९५२, पृ० १०७

सभी कहानियों में निम्न मध्यवर्ग की समस्याओं और सचाइयों को उभार कर उसकी व्यापकता एवं समग्रता को जीवन्त बनाने का उपक्रम हुआ है ।

प्रथम कहानी में आर्थिक विषमता, निर्धनता और उसकी विद्रूपताओं का चित्र उपस्थित है । जमुना तन्ना से प्रेम करती है, लेकिन उसके पिता आर्थिक विवशता के कारण तन्ना से विवाह नहीं कर पाते, बल्कि वृद्ध जमींदार के हाथ सौंप देते हैं । तन्ना से सगाई टूट जाने पर जमुना कुंठित हो गयी । माणिक मुल्ला के सामने अप्रत्याशित हाव-भाव को व्यक्त करना उसकी कुंठित मनोदशा का द्योतन कराती है । समाज की चटखती रीढ़ का सबसे तीखा आघात जमुना सहन करती है ।

दूसरी कहानी पहली कहानी के क्रम में है । इसमें वृद्ध जमींदार के साथ जमुना का वैवाहिक जीवन और उससे उत्पन्न नर्क स्थिति की कथा है । अनमेल विवाह और पूर्ण संभोग में असमर्थ पति के कारण जमुना मां नहीं बन पाती जब कि विवाह होने के पश्चात् नारी का सबसे सुखद स्वप्न और इच्छा मां बनना होता है । जमुना अपने वैवाहिक जीवन में सभी भौतिक सुख तो प्राप्त करती है, लेकिन मां बनने की लालसा अतृप्त रह जाती है । फलस्वरूप वासना तृप्ति के लिए तथाकथित अनैतिक युक्तियों का सहारा लेती है । और जब मां बनती है, तब उसका पति मृत्यु के पंजों में दबोच लिया जाता है । `अनध्याय` में प्रकाश के शब्द-- `जमुना निम्न-मध्यवर्ग की एक भयानक समस्या है । आर्थिक नींव खोखली है । उसकी वजह से विवाह, परिवार, प्रेम सभी की नींवें हिल गई हैं । अनैतिकता छाई हुई है । पर सब उस ओर से आंखें मूंदे हैं । असल में पूरी जिन्दगी की व्यवस्था बदलनी होगी ।`[1]

उपन्यास की तीसरी कहानी बेहद करुण है । इसमें तन्ना अपनी समझौतावादी प्रवृत्ति के कारण हर तरफ पराजय और फलस्वरूप पीड़ाजनक परिस्थिति को भोगता है । यहां तक कि आत्यन्तिक वेदनामूलक स्थिति में अपने प्राण भी गंवा देता है-- केवल इसलिए कि व्यवस्था के प्रति विद्रोह नहीं कर पाता । जिसप्रकार जमुना व्यवस्था के खिलाफ आवाज नहीं उठाती और अनमेल विवाह से समझौता करके अनैतिक जीवन बिताती है, नारकीय परिस्थिति भोगती है । उसी प्रकार तन्ना

---

१ `सूरज का सातवां घोड़ा`, पृ०५२

व्यवस्था से समझौता करके स्थिति को विडम्बनापूर्ण बनाता है । पिता महेसर दलाल अनैतिक ढंग से एक स्त्री को घर पर रखते हैं और तन्ना इसे देखकर भी मूक रहता है,जरा भी तोखा नहीं होता और जब जमुना का हाथ मांगने का प्रयत्न करता है तो पारिवारिक परिस्थितियां इस प्रयत्न को सफल नहीं होने देतीं । उल्टे परिवार का समस्त बोझ उस पर लाद दिया जाता है, दुना-तिगुना परिश्रम करके घर का खर्च चलाता है। उसकी आंखें धंस जाती हैं, पीठ झुक जाती है, रंग झुलस जाता है और आंखों के आगे काले धब्बे उड़ने लगते हैं[1] । वह नौकरी से निकाल दिया जाता है, यहां तक कि रेल से उसके दोनों पैर कट जाते हैं, इस प्रकार सामाजिक व्यवस्था का खूनी पंजा उसे पीस डालता है ।

चौथी कहानी में मणिक मुल्ला और एक भावुक लड़की लिली (जो बाद में तन्ना की पत्नी होती है) की रोमानी जिन्दगी का वर्णन है ।इस कहानी के माध्यम से लेखक यह दिखाना चाहता है कि उपयुक्त साहस और परिपक्व प्रेम के अभाव में निम्न-मध्यवर्ग के युवा रोमानी स्वप्न में भटकते हैं और सपने टूट जाने पर यातना भोगते हैं । पारिवारिक संस्कारों से सम्पृक्त लिली सामाजिक व्यवस्था की दीवार को तोड़ नहीं पाती, इसलिए मरियल,मरणासन्न तन्ना जैसे पति को वरण करती है और जिन्दगी भर छटपटाती है ।

पांचवी कहानी मेहनत करने वाली एक स्वाधीन लड़की सती की कहानी है । इस कहानी के माध्यम से लेखक यह कहना चाहता है कि आज का समाज इतना अनैतिक और भ्रष्ट हो गया है कि कोई भी लड़की मेहनत करके स्वाधीन जीवन नहीं बिता सकती । अपनी सतीत्व रक्षा के लिए सती चाकू रखती है, लेकिन चाचा कहलाने वाला चमन ठाकुर हो जब उसकी इज्जत लेने पर उतारू हो गया और महेसर दलाल के हाथ-पांच सौ रुपये में बेच देता है, तब सामाजिक गठन की विद्रूपता पर एक तीखा प्रश्न चिन्ह लग जाता है । मणिक सती से प्यार करते थे, लेकिन पिछड़े संस्कारों के कारण साहसपूर्वक उसका हाथ नहीं पकड़ते । अन्त में विवश भिखारी जीवन बिताती हुई मृत्यु को प्राप्त करती है ।

---

१ `सूरज का सातवां घोड़ा`,पृ०६७

अन्तिम छठी कहानी में सती के जीवन की बर्बादी और उससे उत्पन्न माणिक की आत्मग्लानि की चर्चा है । सती की मृत्यु के पीछे माणिक अपने-आपको देखते हैं और पश्चात्ताप की आंच में फुलसते हुए आत्मघाती क्रियायें करते हैं । 'उनका स्वास्थ्य बुरी तरह गिर गया, उनका स्वभाव बहुत असामाजिक, उच्छृंखल और आत्मघाती हो गया था, पर उन्हें पूर्ण संतोष था कि वे सती की मृत्यु का प्रायश्चित्त कर रहे थे ।'[1]

इस प्रकार सभी छ: कहानियों में लेखक ने रूढ़ियों, पुराने संस्कारों और उससे उत्पन्न सामाजिक विकृतियों, खोखली मर्यादाओं के चित्र उरेहा है । इस समाज में निम्न-मध्यवर्ग किस प्रकार छटपटा रहा है, उसका बेलाग चित्रण किया है । लेकिन लेखक का चित्रण एकपक्षीय है, वह केवल समस्याओं का रूप प्रस्तुत कर देता है, किसी भी पात्र को इन समस्याओं से तीखा संघर्ष करते या सामाजिक विधानों के खिलाफ आवाज उठाते नहीं दिखाता है । करुण संवेदना उजागर करके समझौतावादी प्रवृत्ति से मानवता समन्वित आशावादी पहलू पर विश्वास करता है । सातवें अध्याय में वह विश्वास करता है कि भविष्य का सूरज जब उगेगा, उस समय अनाचार, निराशा, कटुता, विद्रूपता कुछ भी नहीं रहेगा । यह भविष्य का सूरज मानवता के सहज मूल्यों को स्थापित करेगा । उपेन्द्रनाथ अश्क कहते हैं--' राजनीति में भारती जी के जो विचार हैं, वे एक ओर उन्हें पुराने से विद्रोह करने पर मजबूर करते हैं, दूसरी ओर एकदम नये से डरने को विवश, इसीलिए जहां तक पुराने जीवन के प्रति विद्रोह का सम्बन्ध है, वहां तक उनकी कलम ने बड़े ही सुन्दर चित्र उतारे हैं, पर यद्यपि भविष्य के नाम पर पुस्तक का पूरा एक परिच्छेद सर्फ कर दिया है, वह उसका साफ चित्र नहीं दे पाये । सिवाय यह कहने के कि 'सूरज का सातवां घोड़ा' भविष्य के सपनों का घोड़ा है-- भविष्य के सपनों का, जिनमें हमारी जिन्दगी ज़्यादा अमन-चैन की होगी ।.....
किन्तु यह आशा उपन्यास की अन्तर्भुक्त आशा नहीं, ऊपर से लादी गई है ।'[2]

विषय के अनुरूप भारती जी पात्रों का गठन कर सकने में भी सफल हुए हैं । सभी पात्र निम्नवर्ग के हैं और सामाजिक विद्रूपताओं को रूपायित करते हैं ।

---

१ 'सूरज का सातवां घोड़ा', पृ०११४
२ 'आलोचना', जुलाई, १९५२, पृ०१०७

मणिक,जमुना और तन्ना का चरित्र पूर्ण और अत्यन्त सशक्त है । मणिक मध्यवर्ग के भारू व्यक्तित्व का प्रतिनिधित्व करते हैं । सती,लिली और जमुना को एक साथ ठुकराता हुआ नारकीय जीवन बिताने पर विवश करता है । जमुना खोखली नैतिकता को ओढ़े काम-अतृप्ति का शिकार होती है और निम्न मध्यवर्ग के आर्थिक ढांचे में पिसती हुई लाश की जिन्दगी ढोती है । बिलखती-छटपटाती जमुना बेहद करूण संवेदना उत्पन्न करती है । तन्ना का पात्रांकन संस्कारों के बोझ से लदे,मूक पीड़ा झेलते एक ईमानदार युवक के रूप में हुआ है । वह मध्यवर्गीय समाज की विषमता, मर्यादा और संस्कार के बीच जिन्दगी भर दारूण स्थिति भोगता है । `बादलों में एक टार्च जल उठती है । राह पर तन्ना चले आ रहे हैं । आगे-आगे तन्ना,कटे पांवों से घिसलते हुए पीछे पीछे उनकी दो कटी हुई टांगें लड़खड़ाती हुई चली आ रही हैं । टांगों पर आर०एम०एस० के रजिस्टर लदे हैं ।

फाटक पर पांव रूक जाते हैं । तन्ना फाइल उठाकर अन्दर चले जाते हैं । दोनों पांव बाहर छूट जाते हैं । बिस्तुइया की कटी हुई पूंछ की तरह छटपटाते हैं ।`[1] सती और लिली का चरित्र अपूर्ण है । इनके चरित्रांकन में लेखक ने चलताऊ ढंग से काम लिया है । सती को सेठ के यहां से हटाकर एकदम से उसको बेचने वाले चाचा को गाड़ी खींचते हुए तथा भीख मांगते हुए दिखाना चरित्र की दृष्टि से बड़ा अस्वाभाविक लगता है । इसी प्रकार लिली अपने प्रेमी के स्थान पर दूसरे युवक से विवाह के प्रश्न पर राजी नहीं होती, रो-रो कर आंसू बहाती है, लेकिन बाजार से लौटकर आने के बाद अचानक विवाह के लिए राजी हो जाती है-- चरित्र का यह आयाम भी स्वाभाविक नहीं कहा जा सकता ।

भाषा-शैली और संवाद पुरानी लगती हुई भी नव्य कलेवर और चेतना को उपस्थित करती है । लेखक कहता है--` आप मुझे इसके लिए क्षमा करेंगे कि इनकी शैली में बोलचाल के लहजे की प्रधानता है और मेरी आदत के मुताबिक उनकी भाषा रूमानी,चित्रात्मक,इन्द्रधनुष और फूलों से सजी हुई नहीं है ।`[2] अर्थात बहुत

---

१ `सूरज का सातवां घोड़ा`,पृ०७२।

२ वही, पृ०२२

सीधी और चलती-फिरती भाषा-- जैसा कि हम सब लोग, आम लोग बोलते हैं-- को सजा-संवार कर उसको और उपन्यास को नयी जीवन की शक्ति प्रदान की है। संवादों का नियोजन 'किस्सा तोता मैना' या 'कथासरित्सागर' किस्सागोई पद्धति की तरह है। 'अनध्यायों' में श्रोताओं के संवादों के बीच जो वाद-विवाद कराया गया है, उससे आगे वर्णन होने वाली कहानी का आभास तथा उसकी आलोचना प्रस्तुत हुई है, इन स्थलों पर संवादों का उपयुक्त चयन अत्यन्त आकर्षक और महत्वपूर्ण हो गया है। कहानी और पात्रों की तरह शैली में भी विविधता का सौन्दर्य देखा जा सकता है। प्रत्येक कहानी भिन्न शैली की संवेदना देती है। तन्ना की कहानी में मार्मिक भावात्मक शैली, लिली की कहानी में रूमानी शैली, काव्यात्मक शैली, छठी कहानी में भावुकतापूर्ण शैली आदि देखी जा सकती है। 'सातवीं दुपहर' में शीर्षक स्पष्टीकरण के समय प्रतीकात्मक शैली, अनध्यायों में संवाद शैली, आलोचनात्मक शैली को रूपायित देखा जा सकता है। इस प्रकार उपन्यास केव प्रस्तुतीकरण में लेखक एक साथ कवि, कहानीकार, उपन्यासकार और आलोचक व्यक्तित्व धारण करता है।

प्रत्येक कहानी के अन्त में प्राय: हल्के-फुल्के हास्य की भी योजना की गई है। पहली कहानी के अन्त में जब श्रोता पूछते हैं--'लेकिन फिर इससे सामाजिक कल्याण के लिए ठीक क्या निष्कर्ष निकला ?' तो माणिक मुल्ला बड़ी संजीदगी से उत्तर देतेहैं--'बिना निष्कर्ष के मैं कुछ नहीं लिखता। मित्रों। इससे यह निष्कर्ष निकला कि हर घर में एक गायहोनी चाहिए जिसमें राष्ट्र[1] का पशु धन भी बढ़े, संतानों का स्वास्थ्यअच्छे बने। पड़ोसियों का भी उपकार हो।' अश्क के शब्दों में --'भारती ने हास्य का सहारा लेकर पाठक की उस तकलीफ को कम करने की कोशिश की है, पर यहां वह सफल नहीं हुए, क्योंकि वह हास्य तकलीफ[2] को कम करने के बदले यहां और बढ़ाता है। पर कदाचित् यही लेखक को अभीष्ट है।'

---

१ 'सूरज का सातवां घोड़ा', पृ०३५

२ 'आलोचना', जुलाई १९५२, पृ०१०८।

कुल मिलाकर `सूरज का सातवां घोड़ा` पुराने में नई ताजगी, नया प्रकाश, नई चेतना-- भाववस्तु और शिल्प को समन्वित करके उजागर करने में भारती का कौशलपूर्ण एवं मौलिक प्रतिभा उपस्थित करता है । छोटे से कैनवस में बहुत कुछ कह देना अपने-आप में विशिष्ट और अत्यन्त महत्वपूर्ण है ।

`चांदनी के खण्डहर` (१९५४)[१]

हिन्दी के लघु उपन्यासों में `चांदनी के खण्डहर` का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है । गिरिधरगोपाल ने इसके माध्यम से शिल्प का नूतन प्रयोग किया है । प्राय: सभी शिविरों ने इसके नूतन शिल्प-विधान को बिना झिझक स्वीकृति दी है[२]। शिल्प और भाववस्तु की अद्भुत एकात्मकता बहुत कम उपन्यासों में देखने को मिलती है । मात्र एक सौ सत्ताईस पृष्ठों में, चौबीस घण्टे की काल सीमा में सारी भाववस्तु को समेटना अपने-आप में एक महत्वपूर्ण उपलब्धि है।प्रभाकर माचवे या रमेश बक्षी की भांति लेखक उपन्यास में चमत्कार प्रदर्शन नहीं करता,बल्कि कथानक,पात्र,शैली और शब्द प्रस्तुतीकरण सब कुछ नव्य होने पर भी सारे चित्र, घटनायें और औपन्यासिक चेतना स्वाभाविक है[३]। मध्यवर्गीय मनुष्य जीवन के सारे यथार्थ को अत्यन्त प्रभावात्मक ढंग पर अभिव्यक्ति देने की सफलता प्राप्त की है ।

उपन्यास का शीर्षक साभिप्राय,व्यंजनापूर्ण,प्रतीकात्मक और भाववस्तु के अनुरूप है । बसन्त लन्दन में पांच वर्ष प्रवासकाल के पश्चात् लौटता है और उसे अपना सजा-संवरा,व भरा-पूरा खंडहर सा दिखता है । कर्मण्य और हंसमुख पिता अब मरे मरे से और बूढ़े हो गये हैं । स्नेह का पारावार लुटाने वाली मां जैसे बोझ ढोते थक गई है, आंखों से रोशनी गायब हो चुकी है । नवघटा आषाढ़ सी सुन्दर लगने वाली भाभी खोई खोई सी और एनीमिया की मरीज हो चुकी हैं ।

---

१ गिरिधर गोपाल : `चांदनी के खण्डहर`,साहित्य भवन,इलाहाबाद,प्र०सं०१९५४
२ द्रष्टव्य--शिवनारायण श्रीवास्तव : `हिन्दी उपन्यास`,पृ०४१६-१८। लक्ष्मीकान्त वर्मा : `आलोचना`,अक्टूबर१९५६(उपन्यास विशेषांक)पृ०९७, शैलकुमारी : `आलोचना` जनवरी१९५५,पृ०१११-१२,इलाचन्द्र जोशी : `उपन्यास की भूमिका`,पृ०५।
३ इलाचन्द्र जोशी लिखित उपन्यास की भूमिका` से ,पृ०५ ।

बड़े भइया, बीना, मीना, राजु, कुंवर सभी घर में हैं, पर जैसे उनकी चेतना शून्य हो गई है। जंग लगे हुए मशीन के पुर्जों की भांति किसी तरह घिसट रहे हैं। दूसरे शब्दों में पूरा घर और घर के लोग खण्डहर हो चुके हैं। बसन्त के आने पर पिताजी के हृदय की समस्त भावनाएं उमड़ पड़ती हैं, "तू आ गया बसंत ? तू आ गया। अब ये बुरे दिन गये। सुनती हो बसंत की मां। अब मेरे बुरे दिन गये। अब मैं सिर ऊंचा कर घर से बाहर निकल सकूंगा। अब मुझे कोई कुछ न कह सकेगा। देखता हो। मेरा बेटा आ गया है। इंगलैण्ड से डाक्टरी पास करके लौटा है। शहर के सबसे बड़े अस्पताल का .... हमारा बसन्त सबसे बड़ा डाक्टर होगा। हां। अब मेरे बुरे दिन गये। गए--हिप हिप हिप। हुर्रे। हुर्रे--"[१] आर्थिक विपन्नता के बोझ से दबे हुए, भूखे, विवश परिवार को आशा की किरण दिखाई देने पर अति भावात्मक हो जाना बड़ा स्वाभाविक और सहज है। इससे यह भी ध्वनित होता है कि बसंत के आ जाने पर घर के चूते हुए खपरैल नहीं रहेंगे, गिरी हुई दीवारें फिर उठेंगी, किसी के भी अरमान अधूरे नहीं रहेंगे, खण्डहरों में पुन: चांदनी आयेगी।

बसन्त एक प्रकार से उपन्यास की खिड़की है, जिसके पास खड़े होकर अगर देखें तो खिड़की के उस पार के दृश्य फिल्म के पर्दे की भांति दिखाई पड़ेंगे। उन दृश्यों में एक मध्यवर्गीय परिवार की छटपटाती हुई, चलती-फिरती लाशों की जिन्दगी दिखाई पड़ेगी। या बसंत एक दर्पण है, जिसमें देखने पर हमारा आपका चेहरा दिखाई पड़ेगा, यानी जो यातनाएं बसंत के परिवार के लोग भोगते हैं, वही हम और आप भी भोग रहे हैं।

कथानक हल्का-फुल्का मुद्रा और उल्लासमय वातावरण में प्रारम्भ होता है और ज्यों-ज्यों कथा के सूत्र खुलते हैं, त्यों-त्यों वेदना घनीभूत होती जाती है। लन्दन से पांच वर्ष पश्चात् लौटने पर बसंत का ममतामय कुटुम्बियों से मिलने का अतिरिक्त उतावलापन बड़ा स्वाभाविक और आकर्षक है। स्टेशन पर उतरते ही हड़बड़ाहट में एक जवान लड़की से टकरा जाता है। धक्के में किसी फल वाले की डलिया बिखर जाती है। तांगे में बैठकर उसे लगता है कि वह बहुत धीरे-धीरे चला

---

१ 'चांदनी के खण्डहर', पृ०१८

रहा है । जैसे-जैसे उसका घर नजदीक आता जाता है उसकी पुलक,उसके हृदय की सारी भावनायें फूटने फूटने को होती हैं । उसको सामने देखकर तो उसकी हंसी बरबस फूटने को होती है । जो नाचने को करता है । सामने देखकर तो उसके हृदय

एक दो तीन चार पांच छै सात आठ नौ दस ।

रोक दो । आ गया । तांगे वाले मेरा घर आ गया[1] ।

घर पहुंचने की आवेगमयी व्याकुलता के बाद घर पहुंचने पर माता-पुत्र का वात्सल्य रुदन और मीठे उलाहने,देवर-भाभी का स्वस्थ स्नेह परिहास,इसी पर भइया का शृंगारिक परिहास,भतीजे कुंवर साहब का `घोंघा बसन्त` कहकर भोला और चपल मजाक , पिता-पुत्र का ममतामय मिलन और अतिरिक्त प्रसन्नता,बसंत द्वारा सबको यथानुसार `प्रेजेण्ट` भेंट करना आदि कुल मिलाकर उपन्यास के प्रारम्भिक दृश्यों को उल्लासमय बनाते हैं । लेकिन इसके बाद नाटकीय मुद्रा में कहानी तीखी और वेदनात्मक होने लगती है । जैसे कागज की पुड़िया पानी में धीरे-धीरे घुलती है या जैसे पटाखा धीरे-धीरे सुलगता हुआ विस्फोट करता है, उसी प्रकार परिवार का यथार्थ धीरे-धीरे बसंत के सामने मुखर और भयावह सा दिखाई देने लगता है । जहालत भरी और आर्थिक विपन्न अवस्था से जार-बेजार मुखौटे स्पष्ट होने लगते हैं ।

बसंत कहानी का नैरेटर, दर्शक,भोक्ता और परीक्षक चारों है । वह अपनी आंखों में दूरवीक्षण यंत्र लगाकर घर के सम्पूर्ण परिस्थितियों को देखता है, सुनता है, परखता है और अनुभव करता है कि उसके अपने लोग खंडहर हो चुके हैं,उनकी केवल लाशें भर हिल डुल रही हैं,सब अपने-अपने बोझ में दबे हुए छटपटा रहे हैं । वह भाभी से कहता है,--` भाभी । इस घर को क्या हो गया है ? यह घर बदल गया है। अब यह हमारा छोटा-सा पुराना घर नहीं रहा, जिसे छोड़कर मैं गया था.... यहीं नहीं मुस्कुराते हो तो लगता है पत्थर की मूरत मुस्कुरा रही है । काम करते हो तो लोहे की मशीन की तरह । जैसे उस काम के आरम्भ के उल्लास से, मध्य की उमंग से और अन्त के फल से तुम्हारा कोई सम्बन्ध न हो ।`[2] टूटी मेज , टूटी कुर्सियां और दीवारों का उखड़ा प्लास्टर एक दूसरी ही कहानी कह रहे हैं । मकड़ी के जाले,तस्वीरों

---

१ `चांदनी के खण्डहर`,पृ०१७

२ वही,पृ०४२-४३

के फूटे शीशे पहले यहां नहीं दिखाई पड़ते थे। दरवाजों की वार्निश उड़ गई है। दीवारों पर पुताई बरसों से नहीं हुई है। गुसलखाने का दरवाजा गायब हो गया है। नाली में लाखों बदसूरत घिनौने कीड़े बिजबिजा रहे हैं। इन नालियों में कितने ही दिनों से फिनाइल नहीं पड़ी है। तकिए गंदे चीकट, रजाइयां फटी गुदड़। क्रीम-पाउडर के डिब्बे -शीशियां तक गायब हैं। यहां तक कि अत्यन्त तुच्छ वस्तु जांघिए तक कुंवर के पास नहीं रह गये हैं[1]।

कर्तव्य के प्रति सजग रहने वाली ममतामयी मां आर्थिक विपन्नता[2] से लड़ते-लड़ते टूटकर पत्थर बन गई है और भगवान की ओर उन्मुख हो गई है। कर्मशील, परिश्रमी प्रसन्नवदन रहने वाले 'ब्लडप्रेशर' के शिकार, आशंका- निराशा लिए एक बच्चे की तरह सहमने लगे हैं, बात बात में रोने लगे हैं[3]। एक पैसे की भी जरूरत होती है तो भैया के सामने हाथ फैलाना पड़ता[4] है और ऐसा करते समय, उनके माथे पर पसीना आ जाता है, आवाज बंद हो जाती है। परी सी सुन्दर, हर क्षण ओठों पर मुस्कान, कर्तव्य-परायण भाभी साज-शृंगार, हंसी मजाक भूल गई हैं। दिन-रात[5] काम करते-करते रंग पीला हो गया है और 'एनीमिया' की मरीज हो गई हैं। दृढ़ निश्चयी और अपार शक्ति सम्पन्न भइया जिन्दगी की गाड़ी खींचते -खींचते पराजित[6] उम्र से पहले बूढ़े हो गये हैं, भविष्य निर्माण को 'फूल्स पैराडाइज' समझ लिया है। सर्वांग सुन्दरी, गौरैया की तरह चंचल उछलने वाली बीना प्लूरिसी और टी०बी० से खोखली हो गई[8] है। प्रतिभा सम्पन्न, तेज, हृदय में विस्फोट लिए कन्तो की बुद्धि को टी०बी० हो गई है।

----

१ 'चांदनी के खण्डहर', पृ०४२

२ वही, पृ०११४-११५

३ वही, पृ०११२-११३

४ वही, पृ०११३

५ वही, पृ०१०८-१०

६ वही, पृ०१०६-७

७ वही, पृ०१०५-६

८ वही, पृ०११८-११६

राधू,मोना,कुंवर सब चीथड़े लपेटे हुए रौनक की दुनिया से दूर,[१]अतृप्त,भूखे बिलबिला रहे हैं । कोई इन्हें आदमी का बच्चा हो नहीं कह सकता था ।

इस प्रकार बसंत मात्र सोलह-अठारह घंटे में घर की विकराल स्थिति को साक्षात्कार करता है और धीरे-धीरे पीड़ित होता हुआ घनीभूत वेदना का अनुभव करता है । उसका संत्रास और उसकी छटपटाहट रात्रि में स्वप्न के माध्यम से अभिव्यक्ति पाती है । स्वप्न प्रणाली का यह उपयोग बसंत के चरित्रोद्घाटन या मनोवैज्ञानिकों की उसकी दमित इच्छाओं, कुंठाओं की तृप्ति के लिए नहीं है बल्कि उसकी पीड़ा का अहसास स्वप्न में और भी घनीभूत होता है । जागृत अवस्था में देखी गई स्थितियां,भावबोध,सुने गये तीखे संवाद स्वप्न में दुहराये गये हैं या उसका सारांश दे दिया गया है,इसलिए यहां पुनरावृत्ति दोष नहीं बल्कि वह प्रसंगानुकूल सार्थक है ।

उसका मन अशान्त हो जाता है,क्योंकि अनुभव करता है कि घर की सम्पूर्ण दुर्दशा का एकमात्र कारण वही है । वह लन्दन न गया होता तो यह सब कुछ न होता, उसी ने घर के सभी लोगों को नजर लगा दी है । इसलिए पिछले सारे बीते हुए क्षणों को-- खासकर तीखे संवादों को स्वप्न में साक्षात्कार करता है ।

'मेरे बुरे दिन गये बसंत की मां ।'
'मैंने घर का ठेका नहीं लिया है ।'
'बस सुबह शाम दो रोटी दे दिया करना ।बोलो ।दोगे न ।'
'पता नहीं क्या हो गया है हम लोगों को । अब तो यह रोना-धोना भी पुराना पड़ गया है । भगवान जाने क्या होगा ।'
'चाचा क्या हम लोग आदमी नहीं हैं ?'
'खों खों खों खों । आफत मचा रखी है । मर भी नहीं जाती ससुरी ।'
'पता नहीं क्या हो गया है हम सब को । बसंता तू तो बहुत बड़ा डाक्टर है । हमारी बीमारी भी दूर कर दे भैया ।'

---

१ बब'चांदनी के खण्डहर',पृ०११६-१७

'भगवान जी बीना को अच्छा कर दो । मैं तुम्हें अपनी बन्दूक दे दूंगा ।'

'हां बाबू अब छोटे भैया आ गये हैं । अब मैं बिल्कुल अच्छी हो जाऊंगी ।'

इस युक्ति से लेखक ने वेदना और एक मध्यवर्गीय परिवार की आर्थिक दयनीयता और बेबसी को अधिक मुखर और संवेदनशील बनाया है ।

लेखक ने एक साथ अंधेरे और उजाले दोनों को प्रकट किया है। स्वप्न में बसंत एक ओर बर्फ सी चांदनी देखता है, खंडहर का अंधेरा देखता है,मुलसा घर देखता है, दूसरी ओर एक आलोक भी बिखरता है, मन की आंधी को शान्त करता है । स्वप्न में ही बड़बड़ाता है--' अम्मां की आंखों की रोशनी लौटेगी । बाबू का ब्लड प्रेशर ठीक होगा । भैया की कमर सीधी होगी । मामी के बदन में खून बनेगा। कंती बीना की बीमारियां ठीक होंगी । राजू,मीना,कुंवर को उनका हक मिलेगा । मैं तुम्हारी पहले की जिन्दगी दूंगा । चुप हो जाओ सब लोग । मैं तुम्हारी पहले की जिन्दगी दूंगा । अपने को मिटा डालूंगा तुम्हारे लिए । मेरे रास्ते में रोड़ा बन कर अगर कोई आयेगा तो उसका सर कुचल दूंगा,समाज आयेगा तो उसे चूर चूर कर दूंगा, सरकार आयेगी तो उसे उलट दूंगा । मैं ईश्वर से भी लड़ने के लिए तैयार हूं । तुम्हारे सुख-सपने जहां भी होंगे मैं तुम्हें ला दूंगा । मुझपर विश्वास करो ।'[1] यह निश्चय करके वह अंधेरे की हंसी को चुनौती देता है कि आओ हंसो देखें कौन विजयी होता है । सचमुच वह हंसने लगा था । हा हा हा हा हा -- अंधेरा मैदान छोड़कर भाग जाता है और जब उसकी नींद खुलती है तब वह बिल्कुल स्वस्थ हो जाता है'तो जिन्दगी का नया दिन शुरू हो गया ।[2]कहकर गुनगुनाते हुए टहलने लगता है । उसके अशांत मन की आंधी बुझ चुकी थी ।

उपन्यास में लेखक ने कथ्य को सशक्त ढंग से उजागर करने के लिए कुछ ऐसी युक्तियों से काम लिया है,जिससे संरचना में सहज एकोन्मुखी सजगता और एकान्विति आ गई है । उन युक्तियों को निम्न प्रकार से देखा जा सकता है --

---

१ 'चांदनी के खण्डहर',पृ०१२६

२ वही,पृ०१२७

(क) संकेतों और संगीत की पद्धति का उपयोग नायक के घर पहुंचने की तीव्र उत्सुकता और उन क्षणों के उल्लास और हर्ष के अतिरेक को तीव्र करने के लिए हुआ है। यह उल्लास कालान्तर में घर की तबाही के सन्दर्भ में वेदना की अनुभूति को सशक्त रूप से उजागर करता है।

(ख) लेखक का दृष्टिकेन्द्र एक ही समस्या पर केन्द्रित है। समस्त पात्र आर्थिक विपन्नता की कहानी को रो-रोकर, तिल तिल जलते हुए कहते हैं। पूरा मध्यवर्ग आर्थिक दुरवस्था की जिन्दगी भोग रहा है। बसंत परिवार से इतर पात्र भी अपनी भंगिमा में लाश जिन्दगी और किसी तरह बोझ को संभाले हुए लड़खड़ाते जाने की कथा कहते हैं। बसंत का मित्र जगदीश एक सौ बत्तीस रुपये में क्लर्की करता है। जगदीश की परिस्थिति देखकर बसंत अनुभव करता है-- 'फटा पाजामा, टूटी चप्पल, आधे बांह की फटे कालर की कमीज, बिखरे बाल, बढ़ी दाढ़ी, पिचके गाल, फड़कते होंठ, रह रहकर भभक उठने वाली धंसी आंखें, तेज आवाज, गालियां, बीड़ी का धुआं, सभी मिलजुलकर एक मुर्दा सांप के गीले बदन से उसके (बसंत के) चारों ओर लिपटने लगते हैं।'[1] जगदीश की तरह मोहन, भैरो आदि मित्र भी जहालत भरी जिन्दगी जी रहे हैं। टांगे वाले से गाने के लिए बहुत आग्रह किया गया तो उसके गाने पर[2] उसकी आवाज रात में रोती बिल्ली की तरह विलाप करती प्रतीत होती है।

(ग) उपन्यास की कहानी आत्मकथात्मक पद्धति पर है पर समग्र रूप में बसंत को कहानी का नैरेटर नहीं कहा जा सकता, क्योंकि जिन पांच वर्षों में उसके घर के और परिचित लोग विवशता तथा नर्क की जिन्दगी जीते हैं, उन वर्षों में वह बाहर रहा है, इसलिए उपन्यास में वेदना की कहानी प्रत्येक पात्र कहते हैं। प्रत्येक पात्र यहां पर नैरेटर हैं। बसंत केवल माध्यम का कार्य करता है। बसंत देखता, परखता, सुनता और सोचता है। उसे यदि सम्पूर्ण नैरेटर का रूप दे दिया जाता तो उपन्यास शायद डायरी का रूप ले लेती और यह युक्ति अधिक सफल न हो पाती।

---

१ 'चांदनी के खण्डहर', पृ०५४

२ वही, पृ०६२

(घ) स्वप्न पद्धति का उपयोग घटनाओं और कथनों को दुहराने के लिए किया गया है, इससे वेदना की अनुभूति अधिक तीव्र हुई है । मध्यवर्गीय व परिवार का जीवन्त यथार्थ लोला बन सका है, साथ ही नायक का अन्तर्द्वन्द्व भी घनीभूत हुआ है ।

(ड०) बसंत के लंदन जाने से पहले और लौटने के बाद की स्थितियों को तुलनात्मक रूप में प्रस्तुत किया गया है, इससे न केवल एक मध्यवर्गीय परिवार का, बल्कि सामयिक सामाजिक व्यवस्था और उसकी विद्रूपताओं का जीवन्त यथार्थ प्रस्तुत किया जा सका है ।

(च) सारे पात्रों को इधर-उधर से घुमा-फिरा कर एक ही स्थिति में खड़ा करने की युक्ति का प्रयोग अन्विति को सार्थकता प्रदान करता है । किसी धारदार या भारी वस्तु के आघात से चोट खाई वस्तु की तरह लेखक ने वेदनामूलक वाक्यों, कथनों और दृश्यों को बार-बार दुहराया है, इससे संवेदना तीव्र हुई है तथा स्थिति बड़ी सार्थक और मार्मिक बन सकी है ।

'चांदनी के खण्डहर' में पात्र बहुत थोड़े और गिने चुने हैं । आकाश से लिए गए धरती के किसी भाग को फोटो के समान इसमें जिन्दगी का खाका खींचा गया है, अर्थात् लेखक मध्यवर्गीय पात्रों के जीवन के खण्डचित्र संवेदनात्मक स्तर पर सम्प्रेषित करता है । सभी पात्र एक ही वर्ग का होने से चरित्र-चित्रण, और उपन्यास के सम्पूर्ण कथाविधान में अद्भुत समन्विति आ गई है । प्रथम परिच्छेद की उल्लासमयी स्थिति के बाद एक-एक व्यक्ति, एक-एक वस्तु तथा उपन्यास के एक-एक प्रसंग से बसंत-कुमार के भावुक उल्लास को वेदना में परिवर्तित कर तीव्रतर से तीव्रतम किया है--स्वयं चरित्र ने व्यथा कथा बनकर हमारी संवेदना को गति-दिशा दी है । आद्यन्त वही कथा केन्द्र है-- न कोई इतर पात्र हैं न कोई निरपेक्ष प्रसंग और न कोई स्वतंत्र उद्देश्य । चरित्र ही कथा है और वही संवेदनाधार । आद्यन्त समन्विति ने अन्त में अचूक प्रभावान्विति ला दी है[1] ।

पात्रों के माध्यम से मध्यवर्ग की भावनाएं, कुंठाएं, संघर्ष, आशा-निराशा, स्वप्न, आदर्श और इन सबके बीच छटपटाती हुई आत्माओं का क्रन्दन और

---

१ सत्यपाल चुघ : 'प्रेमचंदोत्तर उपन्यासों की शिल्प-विधि', पृ०८८७

विद्रोह का स्वर सम्प्रेषित किया गया है । सम्पूर्ण पात्र बसन्त से किसी न किसी प्रकार सम्पृक्त है और उसी के माध्यम से कथा के समस्त सूत्र भी खुलते हैं, फिर भी उसे परम्परित अर्थ वाला नायक नहीं कहा जा सकता । कथा के विकास में वह सक्रिय भाग नहीं लेता या घटनाओं को वह भोगता नहीं, मात्र द्रष्टा, श्रोता और परीक्षक है । बसंत के नायकत्व की अवतारणा नवीन है । एक-के-बाद-एक बसंत-परिवार से सम्बद्ध करुण स्थितियां दृश्यफलक पर आती हैं और उन सब की प्रतिक्रिया बसंत ही झेलता है । उसकी भाव विकास की चरम सीमा पर ले जाकर, आशावादी भविष्य की सुखद कल्पना और निश्चय से कथा की परिणति दे दी गई है । इलाचन्द जोशी ने बसंत को अणु युग की उपज कहा है । अणु युग ने हमारे समाज में नये `टाइप` को जन्म दिया है । इस `टाइप` में वे युवक सम्मिलित हैं जो वय की दृष्टि से पूर्ण युवावस्था को प्राप्त होने पर भी भावना की दृष्टि से अपरिपक्व यौवन ही रह गये हैं ।.... अणु युग की उपज होने के कारण उसकी प्रकृति में कुछ एक दम नये, विचित्र और पिछली परम्पराओं के `लाजिक` द्वारा तनिक भी समझ में न आने वाले रहस्यपूर्ण तत्व प्रविष्ट होकर उसकी आत्मा के कण - कण के साथ घुल मिल गये हैं । उसके चरित्र का विश्लेषण करना कोई आसान काम नहीं है । जब हिरोशिमा में पहला अणुबम गिरा था तब वैज्ञानिकों ने यह आशंका प्रकट की थी कि उसके द्वारा प्रजनित रेडियो सक्रियता के कारण शिवजी के गण की तरह विचित्र आकृति-प्रकृति वाले मनुष्य पैदा होंगे । आकृति वाली बात तो अभी तक गलत ही सिद्ध हुई है, पर जहां तक प्रकृति का प्रश्न है, वैज्ञानिकों की भविष्यवाणी अवश्य सफल हुई है ।

अणु-युग के युवक की प्रकृति में जो वैचित्र्य दिखाई देता है उसके कई रूप हमारे सामने आते हैं । इस कोटि का युवक ऊपरी विचार और व्यवहार में `जोकर` की तरह लगने पर भी भीतर से गम्भीरता को कायम रखता है, अपने प्रेम के छिछलेपन का मजाक उड़ाते हुए भी उसकी तीखी पीड़ा का अनुभव करके रोता है, पुराने नैतिक आदर्शों के अनुसार जो बातें और जो हरकतें अशिष्ट और असभ्य मानी गयी हैं, उन्हें बच्चों की सी निश्छलता से पूर्णतया अपनाते हुए भी वह हयादार है-- उसे एकान्त कमरे के सामने भी अपना हृदय उघाड़ने में `शरम लगती है` वह बाहर से

निर्द्वन्द्व लगने पर भी भीतर से विविध द्वन्द्वों को शिकार बना रहता है । अपनी जिस प्रेयसी से मिलने के लिए उसका अणु अणु विकल रहता है,उससे भेंट होने पर वह अपने भीतर की पीड़ा की गंभीरता से प्रकट करने के बजाय कभी प्रेयसी का मजाक उड़ाता है, कभी मीठी चुटकियां लेता है, और कभी बच्चों के से खेलवाड़ करता है । अपनी मार्मिक भावनाओं की अभिव्यक्ति का एकमात्र यही ढंग उसे मालूम है । लफंगा लगने पर भी वह 'कलचर्ड' है,अनुभूतिहीन जान पड़ने पर भी सहृदय है ।

आज के युग के ऐसे जटिल-प्रकृति नायक की अवतारणा भी गिरिधर-गोपाल ने प्रस्तुत उपन्यास में की है । गिरिधर जी की प्रतिभा की यह बहुत बड़ी विशेषता है कि ऐसे रहस्यमय चरित्र का चित्रण उन्होंने आश्चर्यजनक कुशलता के साथ किया है । उन्होंने अंत तक उसके निर्वाह में पूरी सफलता पाई है[1] । बसंत के अलावा अन्य पात्रों का चित्रण नहीं, वर्णन हुआ है,व्यंजना नहीं,इतिवृत्त दिया गया है । वे सब के सब अपने इतिवृत्त में मध्यवर्गीय समाज और व्यवस्था की गरीबी,विद्रूपताओं की गाथा कहते हैं-- नैतिकताओं,आदर्शों का खोल ओढ़कर सामर्थ्य से अधिक व्यय की प्रवृत्ति को लेकर ।

उपन्यास का कथ्य अपने समकालीन परिवेश और वातावरण से प्रसंगानुकूल सम्पृक्त है । उसे एक ही कोण में गाढ़ी स्याही की तूलिका से रंगने का प्रयास हुआ है-- केवल निम्नमध्यवर्गीय जीवन के अंधकारमय पक्ष के जीवन्त चित्र दिये गये हैं । कथनों के माध्यम से युग का संक्रमण,बदलावों और तनावों को घनाभूत स्पर्श किया गया है । आजादी मिलने के बाद राजनीति में जो अनैतिकता और भ्रष्टाचार का वातावरण अपनी भुजाएं फैलाने लगा, उससे उत्पन्न सामाजिक व्यवस्था की रीढ़ चरमरा गई और उसका शिकार सर्वाधिक हुआ निम्न मध्य वर्ग । व्यवस्था और उसकी जहालत की चक्की में न केवल बसन्त परिवार पिसता है बल्कि युग का पूरा वर्ग और अधिकांश जनता घुट रही है । आदमी नित प्रति बदल रहा है, लेकिन अनुभव नहीं कर पा रहे हैं कि बदल रहे हैं । तारा कहती है--'क्या बताऊं तुम्हें । बात खुद मेरे समझ में नहीं आती । मुझे भी कभी-कभी लगता है, यह लगता है कि हम सभी बदल गये हैं । हर घड़ी बदल रहे हैं ।..... हम बदल गये हैं यह ठीक है और मालूम है । किन्तु हम क्यों बदले ? कब से हमारा बदलना शुरू हुआ ? कितने दिनों में और कितना

१-- चांदनी के खण्डहर की भूमिका,पृ०३-५

हम बदले ? यह पता नहीं ।....[1] आम आदमी मंहगाई,गरीबी,बेकारी और तबाही में छटपटा रहा है । मास्टर साहब कहते हैं --'सुनते हैं सरकारी नौकरी में जब से यह नई सरकार आई है बड़ी धांधली हो रही है । हर कहीं बड़े आदमियों की सिफारिश चलती है । सिफारिश के बल पर ऐसे-ऐसे लड़कों को आजकल नौकरियां मिल रही हैं ,जो बिल्कुल गये हैं । जिनके दिमाग में कूड़ा है । और जो ईमानदार सरकारों के देशों में कूड़ा उठाने का ही काम पाते,ज्यादा कुछ नहीं । और वे जो वास्तव में योग्य है, सिफारिश न होने के कारण आज पचास रुपये की भी नौकरी न पाते । बेकारी दिन-प्रति-दिन बढ़ रही है । मंहगी तो थी ही ।...' एक मिनट चुप रहकर वे फिर बोलते हैं, --' कोई देखने वाला नहीं है । सब अपने में डूबे हैं । लूट-पाट,नोच-खसोट । जिसको जो मिला, लूटकर भागा । जिसने मौका देखा दूसरे का गला धर दबाया । बस अपना । अपना । अपना । यही नारा हो गया है आजकल । आदमियत खतम सी हो गई है । नैतिकता की अर्थी उठ चुकी है । यही हालरहा तो कुछ दिनों में घर घर पर खून का झण्डा फहरायेगा ।क्रान्ति हो जायेगी ।। क्रान्ति ।।।[2] इसके अतिरिक्त कथानक-स्थान का भी चित्रण लेखक ने यथानुकूल किया है । स्टेशन का कोलाहल,बाजारों ,सड़कों का हल्का विवरण वातावरण से सम्पृक्त किया गया है ।'पांच बज रहे थे । अभी सड़कों पर तथा दुकानों में ज्यादा चहल-पहल नहीं थी । दफ्तरों से घर लौटते हुए क्लर्कों का समूह इक्के, तांगे,रिक्शे और साइकिलों पर अस्तव्यस्त दशा में रेल के धुयें सा कैनिंग रोड पर जाता हुआ दिखाई पड़ रहा था। पान की दुकानों तथा फुटपाथों पर बनी चाय की दुकानों पर कुछ लोग जमा थे ।सूरज डूबने में अभी कुछ देर थी । पश्चिम में सूरज का प्रकाश धीरे-धीरे कम हो रहा था ।'[3]

भाषा और संवादों का गठन भाववस्तु और चरित्र-चित्रण के अनुकूल है। पात्रों की मन:स्थिति के अनुरूप उसमें विविधता देखी जा सकती है । वे उल्लासमय क्षणों को,वेदनामूलक भावप्रवण स्थितियों को,स्नेह सिंचित हास-परिहास

---

१ 'चांदनी के खण्डहर' ,पृ०४६

२ वही, पृ०५४

३ वही, पृ०६०

और शृंगारिक परिहासों को कथानक और चरित्र के एकाकार करके लेखक की कुशलता का परिचय देते हैं। ऊपर से मस्त और फक्कड़ दिखने वाला अनचीन्हा व्यक्तित्व बसंत यदि अपने कमरे को दोस्त सम्बोधित करते हुए वार्तालाप करता है,--" हलो मिस्टर कमरे गुड मार्निंग। हाउ डू यू डू? क्या हाल चाल हैं? कैसे रहे? इन पांच सालों में क्या किया?"[1] तो अप्रासंगिक नहीं है। संवादों-- विशेषकर स्वगत आत्मकथनों में छोटे-छोटे वाक्य कहानी को गति और चरित्र के आवेगमय उल्लास को अभिव्यक्ति देते हैं।" तो मैं घर आ गया। अपने घर। पुराने घर। स्वीट होम। बाबू के पास। अम्मा के पास। भाभी के पास। भइया के पास। राजो मीना के पास। मीना कुंवर के पास। ... के पास। ... के पास। वेरी गुड। बहुत अच्छे। मेनी मेनी थैंक्स मिस्टर गाड फार दिस काइण्डनेस[2]।" हास-परिहास और शृंगारिक कथन वातावरण को हल्का तथा वेदना की एकरसता को किंचित कम करते हैं।" डाक्टर साहब नमस्ते। मुझे भी कोई दवा दे दीजिए सरकार।" वह चोटी खींचते हुए कहने लगा," यह लो एक खुराक। दो खुराक। तीन--" वाक्य अधूरा रह गया।" कहिए बसंतकुमार जी" सुनकर वह चौंक पड़ा" मेरी ही बीबी से रोमान्स करो और रोमान्स की मधुराई में तांगे का पैसा भी देना भूल गये। सबेरे सबेरे यह डेढ़ रुपये की चोट भी मुझे हो। खैर[3]।" भाषा में काव्यात्मक लय और गति सम्पूर्ण कथा में देखी जा सकती है। उल्लासमय क्षणों से लेकर नायक के अशान्त मन की आकुलता और वेदना-कहानी के धीरे धीरे दृश्य अनावृत होने तक भाषा आकर्षक और कथा विधान से एकान्वित है।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि 'चांदनी के खण्डहर' सीमित काल में निबद्ध, शिल्प और कथ्य का ऐसा अद्भुत एकान्विति और प्रभावात्मकता उत्पन्न करता है, वर्णन को इतना संवेदनापरक और यथार्थ को इतना जीवन्त बनाता है कि उपन्यास का एक नया द्वार खुलता हुआ दिखाई देता है। निःसंदेह पूरी कृति में लेखक की प्रतिभा और अद्भुत कुशलता झलक आई हुई है।

---

१ चांदनी के खण्डहर, पृ०२६

२ वही, पृ०२५

३ वही, पृ०१५

तंतुजाल (१९५८)[१]

रघुवंश कृत `तंतुजाल`,`चांदनी के खण्डहर` और `डूबते मस्तूल` की भांति एक कथा प्रयोग है, किन्तु शिल्प और भाववस्तु का जो संघटन उपर्युक्त दो उपन्यासों में रूपायित होता है, उसका असमर्थ रूप तंतुजाल उपस्थित करता है । उसमें बौद्धिक चेतना इतनी वृहत् और विस्तार के साथ छाई हुई है कि उसमें भाववस्तु या संवेदन तत्त्व एकदम क्षीना हो गया है । वस्तुत: यहां वस्तु की अपेक्षा शिल्प-पक्ष अधिक प्रबल है । डा० प्रेम भटनागर ने इस कृति को प्रतीकात्मक शिल्प-विधि की रचना मानते हुए हिन्दी उपन्यासों में एक प्रयोग के रूप में प्रतिष्ठा दिया है[२] । डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी ने भी कथा-शिल्प के क्षेत्र में एक विशिष्ट प्रयोग कहा है[३] । इस प्रकार `तंतुजाल` को प्रयोगपरक शिल्प-विधान` का उपन्यास आसानी से माना जा सकता है--क्योंकि उपन्यास की सभी सामग्रियों में प्रयोग पक्ष सबसे अधिक सशक्त यहां देखा जा सकता है ।

एक दिन या कुछ घण्टों की सीमित कालावधि में उपन्यास की कथा को समाप्त करने की टेकनीक हिन्दी उपन्यासकारों की अपनी देन नहीं है । यूरोप में इस प्रकार के उपन्यास बहुत पहले लिखे जा चुके हैं । जेम्स ज्वायस का `यूलीसीस` इस विधि की सशक्ततम रचना है । यूरोपीय कथा-साहित्य में चेतन प्रवाह वादी शिल्प-विधान का तो पूरा एक दौर रहा है । हिन्दी में इस तकनीक के गिने हुने उपन्यास लिखे गये हैं, उसमें `तंतुजाल` का अपना एक विशिष्ट स्थान है । इसमे घटनाएं सीमित नहीं हैं,बल्कि कथानक का संगुफन सीमित कालावधि में समाप्त होता है । शिल्प की इस पद्धति की अपनी विशेषताएं तथा सीमाएं हैं पर अपेक्षाकृत सशक्त कृति होने पर भी इस शैली में संवेदना उतनी घनीभूत नहीं रहती जितनी कथा-शिल्प के उस प्रकार में होती है,जिसमें कथानक के चौबीस घण्टों का प्रयोग केवल वर्तमान को चित्रित करने के लिए होता है, फ्लैशबैक के सहारे अतीत को पुनर्जागृत

---

१ रघुवंश : `तंतुजाल`,किताब महल,इलाहाबाद,प्रथम संस्करण`,१९५८ ।

२ प्रेम भटनागर : `हिन्दी उपन्यास शिल्प? बदलते परिप्रेक्ष्य`,पृ०३२७ ।

३ रामस्वरूप चतुर्वेदी : `हिन्दी नवलेखन`,पृ०१२३

नहीं किया जाता[1]। इसीलिए गिरिधर गोपाल कृत `चांदनी के खण्डहर` में पाठक अधिक तल्लीनता से रमता है और अधिक संवेदनशील होता है। पर इस शिल्प के माध्यम से जीवन के किसी बृहत्तर मानवीय सम्बन्धों को उजागर नहीं किया जा सकता।

`विराट पीपल का एक पत्ता है... हरा भरा, चंचल, अस्थिर और जीवन से स्पन्दित।.... उसके कोमल तरंगित अस्तित्व के नीचे सहस्रों पतले सूक्ष्म तंतुओं का बेहद उलझाव है, जिनमें उसकी चेतना का स्रोत प्रवाहित है।

लेकिन.... लेकिन उसके साथ ही एक कीड़ा भी है, जो उस पत्ते में लगता है, धीरे-धीरे हरियाली को चाटता है, चाटता जाता है।....पत्ता सूखता जाता है, उसकी अनंत चेतना का स्रोत इसी के साथ विलीन हो जाता है।

फिर एक दिन अपनी समस्त पिछली स्मृतियों के रूप में रह जाता है... तंतुजाल[2]।`

`तंतुजाल` की उपर्युक्त टिप्पणी उसके शिल्प-विधान को पर्याप्त रूप से उजागर करता है। विराट पीपल का एक पत्ता उपन्यास की नायिका मीरा के व्यक्तित्व और जीवन का प्रतीक है। बेहद उलझे हुए तंतु जीवन की घटनाओं और विचारों का प्रतीक है। कीड़ा उसकी बीमारी है, और यह रुग्णावस्था उसकी जिन्दगी की हरियाली को शुष्क कर देता है। इससे वर्तमान चेतना का स्रोत समाप्त हो जाता है और शेष रह जाता है केवल समस्त पिछली स्मृतियां--बेहद उलझा हुआ तंतुओं की तरह। इसलिए अब वह अतीत में ही जीती है।

`तंतुजाल` में कई शिल्प प्रविधियों से काम लिया गया है। फ्लैशबैक अथवा पूर्वदीप्ति पद्धति तो पूरे उपन्यास के कथानक में बुना गया है, लेकिन इस पद्धति का जो समर्थ और सघन उपयोग `अठारह सूरज के पौधे` (रमेश बक्षी) तथा `शेखर : एक जीवनी` (अज्ञेय) में मिलता है, वह यहां अनुपलब्ध है, कारण कि `तंतुजाल`

---

१ रामस्वरूप चतुर्वेदी : `हिन्दी नवलेखन`, पृ० १०७

२ `तंतुजाल` के मुखपृष्ठ से

में इस पद्धति के माध्यम से केवल भावचित्रों को बौद्धिक कलेवर देकर मुखर किया गया है, जब कि उपर्युक्त दोनों उपन्यास में यह पद्धति तदनकूल यथार्थ को स्पष्ट करती है। इस प्रकार `तंतुजाल` में द्वैध की स्थिति बराबर बनी रहती है, न तो वह भाव-संवेदना को ही मुखर कर पाता है और न `फ्लैश बैक` पद्धति का कलात्मक उपयोग कर पाता है। छोटी-छोटी आकर्षक घटनाएं पूर्वदीप्ति में संगठित होकर अधिक समर्थ हो सकती थीं जैसा कि `शेखर : एक जीवनी` में हुआ है। किन्तु पूरे उपन्यास में बौद्धिक तत्व इतना अधिक छाया हुआ है कि वह कथानक को नीरस और बोझिल बना देता है।

आधुनिक चेतन प्रवाह पद्धति का उपयोग भी पूरे उपन्यास में देखा जा सकता है। नरेश दिल्ली से जयपुर ट्रेन में जा रहा है और इन घंटे की यात्रा में उसका अस्तित्व अतीत स्मृतियों के चेतन प्रवाह में डोलता है। `उसका एक अस्तित्व कम्पार्टमेण्ट में है, दूसरा बाहर फैला है, ट्रेन की गाड़ी से पीछे भागने वाले दृश्य जगत पर तैरता हुआ ट्रेन के साथ ही आ रहा है। पर एक अन्य अस्तित्व भी है जो उसे वर्तमान से अलग अतीत के क्षणों में ले गया है और इस अतीत में वह अधिक सचेत है.... अतीत ही उसके लिए अधिक यथार्थ है।`[१]

`.... नोरा जिजी में कुछ ऐसा था जो सबको अपनाने का आमंत्रण देता है, जो सबको स्नेह में बांधने के लिए आकर्षित करता है। उसकी आंखों में कौन सी जिज्ञासा है कि उसके सामने अपने को सम्पूर्णत: खोल देने के अतिरिक्त कोई चारा ही नहीं रह जाता। कुछ गोपन रखना संभव नहीं रहता। वह प्रश्नसूचक उत्सुकता के साथ सुन लेती है, और फिर अपनी बात कहती है तो उत्तर के पूरे आग्रह के साथ। लगता है उसके स्वभाव में कहीं कोई विरोध है.... कभी अपनी ममता में सहज भोलापन व्यक्त होता है, वह जैसे बादल बन गई हो। .... लेकिन जब वह अपनी बात कहती है, किसी का प्रतिवाद करती है, अपना मत प्रकट करती है, वह बिल्कुल बदली जान पड़ती है.... ।`[२]

---

१ `तंतुजाल`, पृ०३२
२ वही, पृ०३२-३३

नीरा रुग्णावस्था में पलंग पर लेटी है । बार-बार उसकी आँखें बन्द हो जाती हैं । पर वास्तव में सो नहीं रही है, वह तो कहीं खोई हुई है ।..... 'उसने आँखें बन्द कर लीं ... मां समझेंगी वह सो सकी है । पर आज न थकान है, न तन्द्रा । उसके मन में न जाने जीवन की कितनी अनुभूतियां आज नया भाव, नया अर्थ लेकर उपस्थित हुई हैं और वह....

नरेश भइया कालेज के सबसे अच्छे विद्यार्थियों में हैं... उनका अध्ययन, उनका ज्ञान, उनकी प्रतिभा सब सभी आकर्षक रही है.... पर वे किसी से बोलते कम हैं, मिलते जुलते भी कम हैं । सब के बीच बोलने लगते हैं तो जान पड़ता है कि अपने आत्मविश्वास के प्रभाव से श्रोताओं को अभिभूत कर रहे हैं .... कालेज में विद्यार्थी कम जानते हैं पर टीचर अधिक ।...'[1]

इस प्रकार के चेतन प्रवाह और पूर्वदीप्ति में नीरा का व्यक्तित्व उभरता है और अपने फ्लैशबैक और चेतन प्रवाह में नरेश के व्यक्तित्व को स्थापित करती है ।

कहीं-कहीं फ्लैश बैक के अन्दर फ्लैश बैक या पूर्वदीप्ति का दुहरा प्रयोग हुआ है । यह स्थिति उपन्यास में एकाधिक बार आई है । नरेश के लिए यह सम्भव नहीं रह गया है कि वह अपने वर्तमान में जी सके, क्योंकि वर्तमान का प्रतिक्षण अतीत और भविष्य को निरंतरता में स्पर्श होता रहता है.... और उसका सारा भविष्य अदृश्य हो रहा है, उसके मन में वह शक्ति नहीं है जो भविष्य को आलिंगित कर सके । वर्तमान तो हमारी स्थिति है, भविष्य हमारी शक्ति पर अतीत हमारे मन की दुर्बलता का प्रतीक है ।... और वह इस क्षण उद्विग्न है.... उसका मन इस क्षण दुर्बल हो उठा है... वह श्याम सुन्दरी के साथ बिताये गये दिनों को याद करता है । एस० सुन्दरी और नरेश गंगा ब्रिज की रेलिंग पर खड़े हैं । लेकिन रेलिंग पर खड़ा हुआ नरेश अतीत में खोया हुआ है ।

'.... उसे याद आ रही है कि... कि नीरा जिजी का पत्र

---

१ 'तंतु जाल', पृ०८५

आज ही उसे प्राप्त हुआ है... उन्होंने उसे लखनऊ मेडिकल कालेज से लिखा है .... धीरे धीरे चलने वाली बीमारी में उसका यह पहला अटैक है... ज्ञात हुआ है कि उनकी आंखें बेकार हो रही हैं ... उनकी आंतों का टी०बी० हुआ है .... एकदम कम्पलीट रेस्ट, हास्पिटल में महीनों वास, न जाने कितने प्रकार के के इन्जेक्शन.... और यह उनके जीवन-मरण की समस्या है ।...`[1]

इस प्रकार नरेश एवं सुन्दरी को एक फ्लैश बैक में देखता है और उसी फ्लैशबैक के अन्दर नीरा के पत्र के सन्दर्भ में एक-दूसरे विगत को याद करता है । पूर्वदीप्ति का यह दुहरा प्रयोग हिन्दी के बहुत कम उपन्यासों में देखने को मिलता है ।

`तंतुजाल` के रचना-संगठन में चेतन प्रवाह और पूर्वदीप्ति के अतिरिक्त कुछ अन्य शिल्प प्रविधियों का भी आश्रय लिया गया है । रुग्णा नीरा लगातार मृत्यु की प्रतीक्षा करती हुई जी रही है । अजब सी अवशता की स्थिति में वह बार-बार स्वप्न देखती है । और इन स्वप्नों में अतृप्त आकांक्षाएं और मृत्यु की छाया साकार होती है । वह देखती है.....

` नहीं यह अजगर कैसा आगे बढ़ रहा है... मैदान में फूलों के बीच वह खड़ी है, और वह अजगर न जाने कहां से उसकी ओर जीभ लपकाता हुआ आगे बढ़ा आ रहा है....फूल मुरझाते जा रहे हैं । मैदान बढ़ता जा रहा है... फूल ओझल हो गये हैं, जंगल की सघनता आस पास से लुप्त हो चुकी है... अब केवल विस्तृत मैदान में .... खाली पड़े मैदान में वह खड़ी है, और उसकी ओर ही वह अजगर बढ़ता आ रहा है.... अजगर एक छोटी पहाड़ी के मोड़ से निकल कर उसी की ओर आगे बढ़ रहा है, वह बहुत तेज नहीं भाग रहा है... केवल धीरे-धीरे आगे बढ़ रहा है और उस विस्तृत मैदान में वह अकेली खड़ी है । आगे बढ़ता हुआ अजगर निकट आ रहा है....`[2] ।

अजगर यहां मृत्यु का प्रतीक है जो रुग्णा नीरा के समीप लपलपाता हुआ धीरे-धीरे निरन्तर बढ़ रहा है । फूलों का मुरझाना नीरा के

----

१ `तंतु जाल`, पृ०१६७

२ वही, पृ०१७६

जीवन के मधुर पक्ष का मुरझाना है । इस प्रकार स्वप्न प्रविधि और प्रतीकात्मक विधि का प्रयोग लेखक पूरे उपन्यास में कई स्थलों पर करता है । कुछ स्थानों में पत्र विधि का भी उपयोग हुआ है[1] । दूसरे शब्दों में आधुनिक कई शिल्प प्रविधियों का एक साथ उपन्यास में उपयोग हुआ है ।

उपन्यास का कथानक अत्यन्त झीना है, लगभग अस्पष्ट सा । पूरा उपन्यास मात्र पात्रों का प्रणय गाथा कहता है, किसी भी प्रकार की मानवीय उपलब्धि नहीं दे पाता । चाहे वह नरेश-नीरा का सम्बन्ध हो, या राजेश-आरती का, नरेश-शांताबींदनी-- का हो या नरेश-मिस० सुन्दरी का-- सबमें प्रणय कहानी ही की संवेदना देखी जा सकती है । कथानक का अधिकांश भाग एक अजीब-से वातावरण में रुग्ण पड़ी नीरा के चिन्तन और ट्रेन में यात्रा करते हुए नरेश के भावचित्रों के माध्यम से बुना गया है । नीरा नरेश के साथ, राजेश -आरती के साथ बिताये गये क्षणों को याद करती है, और नरेश अतीत केभावचित्रों को मानस पर लाता है, इन्हीं के परिप्रेक्ष्य में कथानक विकसित होता है, किन्तु कुछ बौद्धिक चिन्तन के कारण उपन्यास बोझिल और नीरस हो गया है । उसमें आकर्षण के बजाय एकरसता अधिक उत्पन्न होती है । पूरा कथानक घूम-फिर कर एक ही समस्या -- प्रेम-विवाह के इर्द-गिर्द चक्कर काटता हुआ इससे आगे नहीं जा पाता । इसके आगे और भी बृहत्तर मानवीय समस्याएं हैं,उनका अल्पांश भी लेखक स्पर्श नहीं कर पाया है, वस्तुत: उसकी ऐसी इच्छा भी नहीं थी । नरेश नीरा के सम्बन्ध को लेकर एक उपलब्धि अवश्य है,क्योंकि उनका सम्बन्ध प्रचलित किसी भी कोटि में अट नहीं पाता । पूरे उपन्यास में स्पष्ट ही नहीं हो पाता कि उनका वास्तविक सम्बन्ध क्या है । सहज स्नेह सम्बन्ध प्रचलित सामाजिक सम्बन्धों की कोटि से एकदम अलग है । नरेश का मित्र मनहर एक दिन कहता है--'नरेश, एक बात मैं पूछना चाहता हूं.... हम लोग जयपुर में साथ-साथ दो वर्षों तक पढ़ते रहे, हमारी अभिन्नता प्रसिद्ध रही है... पर मेरे लिए भी यह स्पष्ट नहीं रहा कि नीरा और तुममें वास्तविक भाव किस प्रकार का रहा है.... प्लीज डोण्ट मिस

---

१ 'तंतुजाल',पृ०१०-१२

अण्डरस्टैंड मी ... मैं अपनी ओर से कुछ भी आरोप नहीं करता, पर .... नरेश कहीं अस्पष्ट सा जरूर मुझे । सदा लगा .... मैं कहता हूं नीरा जी का तुम्हारे प्रति अत्यन्त स्नेह और ममत्व रहा है और तुम भी उनको अत्यधिक मानते रहे हो ..... ।` नरेश उसके इस प्रश्न का क्या उत्तर दे .... पर चुप कैसे रहे --` भाई मनहर .... क्या तुम्हारे विचार में भी सहज स्नेह की कोई स्थिति नहीं ?`[1] लेखक का यह साहसिक प्रयोग सराहनीय है । डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी भी कहते हैं --` यह एक विचित्र तथ्य है कि भारतीय सामाजिक जीवन में प्रेम के सहजतम रूप को सबसे अधिक कुंठाग्रस्त और अनैतिक माना गया है । इस अपवारित सम्बन्ध का बड़ा पारिवारिक चित्र रघुवंश ने प्रस्तुत किया है ।`तंतुजाल` में नीरा और नरेश का स्नेह सम्बन्ध प्रचलित कोटियों के संदर्भ में स्पष्ट नहीं है । उपन्यासकार ने उसे इसी रूप में चित्रित करना चाहा है । मानव जीवन अंकगणित की भांति सदैव स्पष्ट और निश्चित हो भी नहीं सकता, जो कुछ अस्पष्ट है, उसे उसी अस्पष्टता में प्रस्तुत करना अन्यकथा शिल्प की विशेषता है ।`तंतुजाल` या का कथा संगुफन इस दृष्टि से अत्यन्त सफल है ।`[2]

कथानक की भांति उपन्यास में चरित्र-चित्रण भी असफल है । प्रत्येक पात्रों का व्यक्तित्व भावुकता-- अतिभावुकता से आक्रान्त है । वे प्रेम और विवाह आदि सवालों को लेकर संघर्ष करते हैं, लेकिन उससे कोई दृढ़ उपलब्धि नहीं होती । रुग्णा नीरा का भावुक होना तो समझ में आता है, किन्तु लगभग सभी पात्र उसी आवेग में जीते हैं जो बड़ा अस्वाभाविक लगता है । नीरा परम्परा और आधुनिकता के बीच टंगी हुई रहती है । विवाह के प्रश्न को लेकर वह हमेशा नरेश का विरोध करती है, क्योंकि नरेश मनुष्य जीवन के लिए विवाह को अनिवार्य मानता है, लेकिन नीरा ऐसा कभी स्वीकार नहीं कर पाती । वह कहती है--` .... क्यों है कि उसके बिना काम चलेगा नहीं । फिर सारी परवशता स्त्री को लेकर है, पुरुष चाहे मुक्त रह सकता है, चाहे तो एक के बाद दूसरा विवाह भी

---

१ `तंतुजाल`, पृ०३०२
२ डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी : `हिन्दी नवलेखन`, पृ०१२२

कर सकता है । पर स्त्री को विवाह के बिना कोई गति है ही नहीं जैसे[1] ।'

नीरा विवशता को भी कभी स्वीकार नहीं करती, शरीर से असमर्थ होकर भी मानसिक रूप से पराजित नहीं होती । मृत्यु के कगार पर होते हुए भी उससे अन्त तक संघर्ष करती है । यह संघर्ष उसके व्यक्तित्व का मोह कअंग है और बहुत हद तक प्रभावित भी करता है ।' वह नहीं समझ सकी कि बेबसी से कोई कुछ कैसे करता है । हार ही सकती है, पराजय वह समझ सकती है... लेकिन बिना युद्ध क: यह पराजय बेबसी उसके स्वभाव के विपरीत है । तिल तिल कण कण वह नष्ट होती रही है, पीड़ा की तीखी व्यथा घनी होती गई है, जीवन का कुहासा अधिकाधिक सघन होता गया है.... पर वह लड़ती रही है, संघर्ष करती रही है.... जीने के लिए नहीं, जीने की आकांक्षा से नहीं .... वरन् जीने की सांसों को अपमान से बचाने के लिए ... यह नहीं कि जीने का उसने मोह पाला हो ।[2] नरेश-नीरा का चरित्रांकन स्त्री-पुरुष के नये संभावित रूप के स्थापन के लिए हुआ है ।

राजेश और आरती का चरित्रांकन भी प्रेम और विवाह के सवाल को सुलझाने के लिए हुआ है, अंतर केवलइतना है कि जहां नीरा और नरेश का सम्बन्ध अस्पष्ट रह गया है, वहां आरती-राजेश अपने सम्बन्धों को खोल देते हैं । भाई-बहिन का सम्बन्ध रक्त का नहीं है, इसलिए विवाह के लिए खुलकर उपस्थित होते हैं[3] ।

शांता चांदनी का पात्रांकन उपन्यास का सबसे आकर्षक अंश है । उन्मादिनी शांता जिंदगी भर भटकती है, अनेक पुरुषों की कामुकता का शिकार बनती है,किन्तु नरेश के प्रति अनजाने प्रेम में वह पवित्र होती जाती है । नरेश एक स्वाभाविक और निश्छल ढंग से अपरिपक्व चांदनी की जिंदगी सुधारने का प्रयत्न करता है,किन्तु चांदनी उसका दूसरा ही अर्थ लगा लेती है । वह कहती है--'जब मेरी सारी अपनी शृंखला को तोड़कर नई पद्धति और नये आदर्श में डालने के लिए

---

१ 'तंतुजाल',पृ०२६-२७

२ वही,पृ०६२

३ वही,पृ०११६

मुझे उत्साहित और प्रेरित करते रहे हैं.... तब उनका क्या मनोभाव था, तुम जानती हो ? .... किसी को उसके मार्ग से विचलित कर देना बहुत बड़ा उत्तर-दायित्व हो जाता है ।.... क्या उन्होंने मुझसे नहीं कहा है-- शांता जीवन के किसी गत के लिए प्रतीक्षा करते रहने के लिए नहीं है और वह भी जो कभी लौटने वाला नहीं.... शांता जीवन केवल सुन्दर बनाने के लिए मिलता है... जीवन की ममता प्रतिबन्ध स्वीकार नहीं करती... और क्या नहीं कहा था कि चांदनी जब तुमको कभी आश्रय की आवश्यकता हो तो नि:संकोच मुझे याद करना। क्या स्त्री के लिए ये संकेत पर्याप्त नहीं हैं....[1] इस प्रकार उपन्यास के व्यक्तित्व भी प्रेम और विवाह से आगे नहीं बढ़ पाते । वे इस प्रश्न को लेकर अत्यन्त भावुक हो जाते हैं, एक सीमा के बाद यह बड़ा नीरस और अस्वाभाविक प्रतीत होने लगता है । लेखक ने अति भावुकता का सहारा लेकर उपन्यास को असमर्थ ही बनाया है ।

पात्रों की भावुकता का प्रभाव उपन्यास की भाषा और संवादों पर भी पड़ा है । एक ही चिन्तन के परिप्रेक्ष्य में कथानक विकसित होने से भाषा कृत्रिम और एकरस हो गई है । उपन्यास की जीवन्त शक्ति उसने खो दी है । प्रकारान्तर से अंग्रेज़ी शब्दों का अधिक प्रयोग भी अस्वाभाविकता का निर्माण करता है । विवाह की अनिवार्यता को भाषा में बार-बार दुहराया है[2] । 'आप' और 'तुम' के प्रयोग में भी सन्तुलन स्थापित नहीं कर सका है[3] । लम्बे-लम्बे चिन्तन और स्फीत कथन उपन्यास में भरे पड़े हैं, जो उसे बोझिल ही करते हैं । प्रतीकों, भावचित्रों और संकेतों से भी भाषा अस्पष्ट हुई है ।

कुल मिलाकर 'तंतुजाल' एक नया प्रयोग और नये मानवीय सम्बन्धों की खोज के बावजूद, असफल कृति है ।

---

१ 'व तंतुजाल', पृ० २०५-६

२ वही, पृ०७०, १५७, १६३-६४

३ वही, पृ० १७०-१७१

अठारह सूरज के पौधे (१९६५)[1]

सन् ६० के बाद हिन्दी साहित्य में नई पीढ़ी पुराने मुखौटों को उतार फेंकने, स्थापित मान्यताओं को झुठला देने, परम्परित मानों को अर्थहीन साबित करने और नये मूल्यों के अनुरूप रचनाधर्मिता के दावों और आग्रहों के साथ सामने आई। रमेश बक्षी इस नई पीढ़ी के सशक्त हस्ताक्षर हैं। उनका सम्पूर्ण लेखन प्रारम्भ से ही शिल्प के प्रति आग्रहशील और सचेत रहा है, क्योंकि नई पीढ़ी के रचनाकारों का एक आग्रह यह भी है कि शिल्प के पुराने आवरण को चीर उसे नया जामा पहनाया जाये। अधिकतर कथाकार अपने-अपने उपायों और माध्यमों से पाठकों को चौंका कर खींचने का उपक्रम करते हैं। बक्षी का सम्पूर्ण लेखन यदि सामने रखा जाय तो कहा जा सकता है कि उनकी पारदर्शी रचनाओं से सचेष्ट नव्य शिल्प और चमत्कार स्पष्ट दिखाई देता है। मधुरेश ने लिखा है--'रमेश बक्षी का अधिकांश लेखन शिल्प और चमत्कार की चेतना से आक्रान्त है। उनके आगे चमत्कृत कर देने वाले प्रभावों और उपायों की बात प्रमुख रहती है और सारी बातें प्रासंगिक एवं गौण। वैचारिक धरातल पर उतरने की बात वे बहुधा करते हैं, लेकिन भूमिका में लिखे उनके सूत्रों की संगति उनके कथ्य से मिला पाना हमेशा ही सरल नहीं होता।'[2] अन्य जगह की बात छोड़ यदि छोड़ भी दी जाय पर मधुरेश जी का यह कथन 'अठारह सूरज के पौधे' के विषय में सत्य प्रतीत होता है। उपन्यास के रचना संगठन में सर्वत्र चमत्कार और चौंकाने का भाव तो है ही और उसका कथ्य शिल्प के आगे पराजित, पंगु, असहाय और दीन- सा दिखता है। रचनाकार ने उपन्यास की भूमिका में कुछ दावे अथवा आग्रह उपस्थित किये हैं--

(क) यह लेखक की चार आयाम वाली तस्वीर है।

(ख) इसमें सामाजिक रचना की परम्परावादिता एवं रूढ़ि के प्रति गहरा आक्रोश अभिव्यक्त हुआ है।

(ग) यह एक यात्रा उपन्यास है, जिसकी सम्पूर्ण अनुभूति के लिए इस कृति को स्टेशन और गाड़ी के कोलाहल और आराम के बीच जब मन:स्थिति का कोई भी बिन्दु

---

१ रमेश बक्षी : 'अठारह सूरज के पौधे', भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्र०सं०१९६५

२ 'माध्यम', जून, १९६६, पृ०८९

उत्तेजना से उबल रहा हो तब--तब ऊपर वाली बर्थ पर सोये हुए या चकौट की भीड़ के बीच खड़े हुए पढ़ा जाय । ....

(घ) रचना बीसवीं शताब्दी के मनुष्य की मशीनी संघर्षपूर्ण या शोर भरी जिन्दगी जिसमें वह कोलाहल और भारी गति के बीच कहीं तो टंगा है और कहीं उसी के साथ लगातार भाग रहा है- की प्रतिनिधि तस्वीर है ।

उपर्युक्त दावे लेखक ने प्रत्यक्ष रूप से किये हैं, इसके अतिरिक्त कुछ अप्रत्यक्ष आग्रह भी है, जिनकी स्वीकृति की चेतना एवं संकेत भी लेखक ने दिये हैं । पुस्तक की पाठकीय प्रक्रिया के बीच ही वह आपसे ऐसा कुछ आग्रह मांगता है कि पुस्तक के शिल्प चमत्कार की ओर आपकी चेतना और कम से कम उस धरातल पर आप लेखक की उपलब्धियों से आश्वस्त हो सकें । इस सब कुछ का अर्थ यह निकलता है कि कथ्य के स्तर पर कुछ दावे लेखक ने स्वयं किये हैं और शिल्प के स्तर पर वे दावे इतने सीधे और प्रत्यक्ष न होने पर भी अपने व्यक्तित्व की चेतना बनाये रखते हैं[१] ।

अपनी विवेचना में हम देखेंगे कि लेखक के उपर्युक्त प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष दावे उपन्यास में कहां तक संगत बैठ पाये हैं ।

`अठारह सूरज के पौधे` के शीर्षक चयन में ही चमत्कार का भाव दिखलाई देता है । महाभारत का युद्ध अठारह दिन हुआ था । भयंकर विनाश और हृदयद्रावक भीषण युद्ध-- जिसकी लपेट में सृष्टि का अधः पतन । सब कुछ बीत गया, वे मनुष्य मर चुके, लेकिन उनकी इच्छायें अभी नहीं मरीं । सदियाँ बीत गये युद्ध और विनाश के बाद भी मनुष्य की इच्छायें नहीं बदलीं । महाभारत के युद्ध में नित्य एक नया सूरज निकलता था । उनकी दूरगामी किरणें पौधों के रूप में आज भी अंकुरित हैं । ये पौधे उन्हीं सूरज की भांति ध्वनि और वर्णन और यंत्र और शोर और संघर्ष और युद्ध और पिस्टन गियर और बैलेन्स व्हील में फंसे हैं । इन्हीं अठारह सूरज के अनगिनत पौधों की कुछ रेखाओं को लेखक उजागर करता है । जिंदगी इतनी गति और द्वन्द्व के बीच घिसट रही है कि उसकी एक क्षीण रेखा या रेखाचित्र को ही रूपायित किया जा सकता है । यह प्रयास आज की खंडित जिंदगी को व्यक्त करने के लिए प्रासंगिक है ।

---

१ `माध्यम`, जून, १९६६, पृ०८६

इस प्रकार लेखक ने शीर्षक स्पष्टीकरण के लिए भूमिका में उपन्यास के कथ्य व के साथ उसकी (शीर्षक की) संगति बिठानी चाही है, पर ऐसा हो नहीं सका है। महाभारत के युद्ध में विज्ञान और मशीन का संघर्ष तो था, लेकिन उसमें इतनी गति नहीं थी, इतनी अमानवीयता नहीं थी, संवेदन तत्व चारित नहीं था, जितना कि आज के युग में है। महाभारतकालीन आदमी की इच्छाओं और आज के आदमी की इच्छाओं में फर्क है। अत: उस समय के अठारह सूरज से आज के मनुष्यों को उसके पौधों के रूप में कल्पित करके प्रस्तुत करना अर्थपूर्ण नहीं लगता। वस्तुत: लेखक ने चमत्कार प्रदर्शन के लिए सप्रयास होकर शीर्षक का चयन किया है।

'सूरज और संजय तो नहीं बदले, युग और युयुत्सु (युद्ध की इच्छावाले) बदल गये।.... और पौधे ? उन्होंने ही तो यह अकथा मुझसे लिखवायी है। उन्हीं पर सूरज की दृष्टि है। मैं नहीं जानता कि यह एक रौबट की मानवीय ट्रैजिडी है या रूपायित होते नये समाज की तस्वीर।[1]' लेखक आग्रह के साथ परम्परागत अर्थ वाले उपन्यास से भिन्न अपनी रचना को तुलवाना चाहता है। यह मनुष्य जिंदगी की कथा नहीं अकथा है। उपन्यास को अकथा कहकर प्रस्तुत करता है इसलिए यहां परम्परित कथानक ढूढ़ना बेमानी लगता है। यदि कथा बीन बीन कर ढूढ़ भी लिया जाय तो सार्थक नहीं लगता, क्योंकि लेखक ऐसा चाहता नहीं। नायक की सघन स्मृतियां ही यहां रूपायित हैं-- वह भी चलचित्र की रीलों की भांति क्रमबद्ध नहीं बल्कि इधर उधर बिखरी हुई।

नायक पठानकोट से बम्बई तक की यात्रा करता है और उसके बीच यात्रा का सम्पूर्ण वातावरण सघनरूप से विन्यस्त है। लेखक का आग्रह भी इसे यात्रा उपन्यास मानने का है। पर सच यह है कि वह रैल यात्रा से अधिक अतीत स्मृतियों की यात्रा अधिक करता है। अपने बीते हुए दिनों की याद को पगुराता है। इस प्रकार, 'उपन्यास का शिल्प खंडचित्रों वाला शिल्प, जहां उसके आंतरिक फलक पर अतीत स्मृतियों की छवियां अंकित होती रहती हैं।[2]' कुछ स्मृतियां नायक की अबोध

---

१ 'अठारह सूरज के पौधे' की भूमिका से

२ 'माध्यम', जून १९६६, पृ०८६-९० ।

काल की है । पहली बार रेल यात्रा के समय `धूमकेतु : एक श्रुति` के उदयन की भांति बाल स्वभाव से प्रश्न पूछता है :

`अण्णा, ये रेल पटरी पर क्यों चलती है ?`

`अण्णा, ये पटरियां किसने डालीं ?`

`अण्णा, रेल जंगल में भी रुक सकती है क्या ?`

`अण्णा, ये डब्बा अपने घर से भी अच्छा क्यों है?`[१]

मस्तिष्क में स्मृति उभरती है, वह साथियों के साथ कोयला बीन रहा है ।` मैं डर रहा हूं और वह मेरा हाथ पकड़ कर खींच रहा है । उसकी तीनों बहिनें स्लीपरों में बैठ कर हाथ-पैर दोनों से मेंढक की तरह चलती हुई बीच पुल पर जा पहुंची हैं । मैं सचमुच रो दिया हूं । रोते हुए बोला हूं--` नाहीं, मामा जी नाहीं चल्ल जाती ।` अब उसने मुझे एक धप्प जमा दिया है,`चल, चलती नाहीं गाढव ।`[२] बचपन की और भी छोटी-छोटी स्मृति चित्र छवियां हैं,जो कुछ वैसी अनुभूति उत्पन्न करती हैं, व जैसे तालाब में एक कंकड़ डालने से एक हल्का शोर होता है और क्षण पश्चात् विलीन हो जाता है ।

दूसरी स्मृति गालों में उभरी हुई हड्डियों वाली लड़की से सम्बन्धित है । उससे मुलाकात अचानक हुई थी , जब वह `प्लीज ...``प्लीज हेल्प मी ।` कहते हुए चढ़ाने के लिए सहायता की याचना करती है,क्योंकि गाड़ी लगभग चल चुकी थी,क्योंकि कुरला में कुछेक क्षण ही गाड़ी रुकती है और उसके दोनों हाथ इंगेज्ड थे, नायक उसके हाथ से डिब्बा ले लेता है और वह चढ़ने में सफल हो जाती है ।

एक-एक करके स्मृतियां उभरती हैं, वह लड़की के साथ कभी चर्चगेट पर भीड़ और शोर,व्हिसिलऔर ट्रेन की धकधक के बीच खड़ा होता है,कभी लड़की की खोली में बैठा हुआ चाय के साथ आत्मीय वार्तालाप का जायका लेता है, कभी जुहू के पर मोटर लांच में बैठा हुआ समुद्र का अहसास करता है और इस बीच

---

१ अठारह सूरज के पौधे`,पृ०५

२ वही,पृ०१३

वह गुड्स क्लर्क से टी०टी० बन जाता है, फिर कभी लड़की ट्रेन में उसके कंधे पर हाथ रख देती है और वह शादी का प्रस्ताव रख देता है और अण्णा की नाक से चश्मा उतारते हुए देखता है.... वह लड़की के घर पुणे भी हो आया है और दादा से खुलकर बात भी कर लिया है, लेकिन इसी बीच अण्णा ने बीमारी के बहाने उसे घर बुला लिया । जाते हुए उसने लड़की से दो दिन बाद लौटने का वादा किया था, लेकिन लौट नहीं पाया ।

तीसरी स्मृति उसकी पत्नी और श्वसुर से सम्बन्धित है। अण्णा बिना बताये उसकी शादी कर देते हैं । अनमने ढंग से उसने पत्नी को देखा था -- काफी सांवला रंग । ससुर ने दहेज में चार भैंसें दी थीं । पत्नी के शरीर से आती हुई सरसों के तेल-गंध से उसे मितली आती थी । उसे लगता जैसे पास कहीं मरा हुआ चूहा पड़ा हो । पत्नी को भाऊ के माध्यम से लड़की और उसके सम्बन्ध मालूम हो जाते हैं और दोनों में तनाव उत्पन्न होता है । वह फूहड़ पत्नी को सम्पूर्ण स्वीकार नहीं कर पाता । भागकर वेश्या के यहां मन बहलाने की कोशिश करता है, लेकिन संतोष नहीं प्राप्त होता । एक बार पुन: घर लौट आता है । श्वसुर नौकरी छोड़कर भैंसों के दूध का कारोबार करने को कहते हैं । एक बार फिर भागकर लड़की के घर पुणे जाता है और कहता है,--' सुनो । अब मैंने अपनी नापसन्द को भटक कर अलग कर दिया है । अब मेरा उन बीते हुए दिनों से कोई सम्बन्ध नहीं । अब तुम मुझसे दूर नहीं रह सकतीं । मेरी सारी पगार तुम पूर्णे भेज दिया करना । हम[1] दोनों सूखी भाकर खाकर पानी पी लिया करेंगे । अब मैं सब चीजों को बदल दूंगा ।' दोनों ने एकदम बंध जाने का फैसला कर लिया, केवल दूसरे दिन शामवाली ट्रेन से लौटने भर की देर थी, पर वह लौट नहीं पाता, क्योंकि गलती से वह दूसरी ट्रेन में चढ़ गया था जो कुरला में नहीं रुकती ।

कथा की अन्तिम परिणति बड़ी अस्वाभाविक और अतिरंजित है । यदि नायक ने शादी का फैसला कर लिया था, तो पुणे से वापस जाने की

---

१ 'अठारह सूरज के पौधे', पृ०१२६

जरूरत रहता था । ट्रेन यदि दूसरी पकड़ ली गई थी तो देर-सवेर लौटा भी तो जा सकता था , लेकिन यहाँ पर लेखक स्मृति-कथा समाप्त कर देता है ।

उपन्यास के सम्पूर्ण रचाव में `फ्लैश बैक` और चेतन प्रवाह पद्धति से काम लिया गया है, जो वर्जीनिया वुल्फ की रचना `मिसेज डालावी` के शिल्प बंध के समान है । चेतन प्रवाह पद्धति वाले उपन्यासों का वर्णन प्राय: आत्म-कथात्मक रखा जाता है । नायक प्रतिक्षण चेतन प्रवाह में बहता है--` मैं अन्दर गया हूं । एक पार्सल तोड़कर कुली ने बोतल खोल ली है । हर कुली पियेला है-- शेट्टी सारी गाड़ी अनलोड कर दो .... एक घूंट ....अक्का के लिए फाड़ू लगाकर जो डब्बा साफ किया है उसी डब्बे में एक तीसरा घूंट.....खड़ंग खटर,खड़ंग खटर... अबे स्साले अभी से गाड़ी को क्यों पुश मारा ? इंजिन अण्णा चला रहे हैं... इंजिन चलाने में टांग की जरूरत थोड़े ही पड़ती है.... तभी तो मैं इंजिन चलाने लगी हूं....`[१] ।

जिसप्रकार लेखक का आग्रह परम्परित अर्थ वाला कथानक देना नहीं, उसी प्रकार पात्रांकन भी परम्परित अर्थ से भिन्न है । लगभग उपन्यास के पूरे शास्त्रीय रचाव को `अठारह सूरज के पौधे` के माध्यम से तोड़ने की कोशिश की है । उपन्यास में आये पात्रों की संख्या गिनने भर की है-- वे नामहीन मुद्राएं हैं । नैरेटर नायक और उसकी पत्नी , अण्णा,मामू,नायक श्वसुर, गालों पर उभरी हुई हड्डियों वाली लड़की और एकाध प्रसंगवश छिटपुट लोग हैं ।` ये महज व्यक्तिहीन संज्ञाएं हैं, जिनसे कदाचित् लेखक का ऐसा कोई मंशा रहा हो कि उसके पात्रों की नियति मात्र उनकी नहीं है, इन विशेष स्थितियों और दशाओं में वह किसी की भी नियति हो सकती है[२] ।`वस्तुत: पात्रांकन में भी लेखक चमत्कार से काम लेना चाहता है । नामहीन पात्र अपने को सम्पूर्णत: प्रस्तुत नहीं करते, महज धूप के टुकड़ों की भांति इधर उधर बिखर कर विलुप्त हो जाते हैं । नायक अपने बीते हुए दिन की याद को गाड़ी यात्रा करता हुआ ताजी करता है, इसलिए बीते प्रसंग फैले हुए अंधकार में टुकड़े टुकड़े

---

१ `अठारह सूरज के पौधे`,पृ०३१

२ `माध्यम`,जून,१९६६,पृ०८६

प्रकाशित होते हैं । लेखक का उद्देश्य चरित्र-चित्रण या उद्घाटन करना नहीं, बल्कि आज की दौड़ती हुई जिन्दगी का चित्र कवियों को उद्घाटित करना है । इसलिए पात्रों को भागते हुए दिखाया गया है । जाने की व्यस्तता में गालों में उभरी हुई हड्डियों वाली लड़की भागती है, नायक भागता है-- कभी लड़की के स्नेह को पाने के लिए, कभी फूहड़ पत्नी से विरक्त होकर व कभी अण्णा की सामाजिक रूढ़ियों एवं मर्यादाओं से ऊबकर । पात्रों की स्थिति लेखक की सामाजिक उद्देश्यता की पूर्ति के लिए है । नायक को रेल की नौकरी दिलाने में लेखक का उद्देश्य ही काम करता है, क्योंकि उससे मशीन की घड़घड़ाहट, स्टेशन का शोर, भागती हुई भीड़, टकराते हुए आदमी को अधिक वजन के साथ प्रस्तुत किया जा सकता था । नौकरी करते हुए नायक को रेल की जिन्दगी से प्रेम हो जाता है, वह उससे पलायन नहीं करता । लगता है लेखक यह कहना चाहता है कि आज की गतिपूर्ण जिन्दगी से हमें भागना नहीं है, उसी में जीना मरना है ।

विवाह के परम्परित रूप के प्रति लेखक के के मन में संचित घृणा के नाम पर ही पात्रों को बटोरा गया है, स्मृतियों को उकेरा गया है । नायक की पत्नी फूहड़ है, असंस्कृत है, उसके शरीर से सरसों के तेल की बदबू आती है, ऐसी पत्नी को वह स्वीकार नहीं कर पाता । अण्णा के नाक पर से चश्मा उतारते हुए देखकर वह डरता है, इसी डर से उसने शादी तो कर लिया लेकिन कुलचिपूर्ण देख कर वह ऊबता है। पत्नी से कभी मेल नहीं हो पाता । गालों पर उभरी हड्डियों वाली लड़की से संस्कार मिलते हैं, विवाहित होकर भी उससे शादी करने का फैसला करता है, लेकिन नाटकीय स्थिति में वापस नहीं लौट पाता । इस प्रकार लेखक ने भूमिका में जो दावा किया था कि " इसमें सामाजिक रचना की परम्परावादिता एवं रूढ़ि के प्रति गहरा आक्रोश है ।" वह गहराई से तो अभिव्यक्त नहीं हुआ है, पर विवाह जैसी संस्था के प्रति आक्रोश को व्यक्त करने में अवश्य सफल है । उसका आरोप विवाह-संस्था पर नहीं, बल्कि उसकी अतिरंजना और विडम्बनापूर्ण स्थिति पर है । इस आक्रोश अथवा आरोप को सतही कहा जा सकता है, क्योंकि नायक अपनी विडम्बनापूर्ण वैवाहिक स्थिति के बावजूद उसे तोड़ नहीं पाता, सारे इरादों के बावजूद उससे टकरा नहीं पाता, दूसरे शब्दों में, कथ्य के धरातल पर लेखक का एक

और तो पत्नी से पलायन, पुन: लड़की से विवाह करने के बावजूद न जाना असंगत स्थिति को उजागर करता है । `अण्ण को नाक पर खिसक आये चश्मे का वास्ता देकर नियति को उसकी सम्पूर्णता में स्वीकार कर लेने वाली दलील कैसी निरर्थक और थोथी है, इसे अलग से बताने की आवश्यकता नहीं है ।`[1]

लेखक का एक आग्रह यह भी है कि वह आज की संघर्षपूर्ण मशीनी जिंदगी का चित्रांकन कर रहा है । इसके लिए जानबूझकर शोर और भीड़-भाड़ और गति के उपयुक्त शब्द बार-बार प्रयोग करता है । विज्ञान और तकनीकी के विकास ने मनुष्य की जिंदगी को जो त्वरा और गति दी है, उस मशीनी गति को लेखक उपस्थित करने का प्रयास करता है ।`... इस जमाने में हमें आस पास के शोर और ट्रेन-लांच की छक-छक, भड़-भड़ से डिस्टर्ब नहीं होना चाहिए ।....`[2] इसीलिए नायक को बकेट की भीड़ ज्यादा पसन्द है । आती जाती ट्रेन की आवाज व्हिसिल और कितने ही शोर के मेल के बीच अच्छा लगता है । मशीनी दौड़, धक्का ठेलती भाड़, अनसुना शोर और आदमी की उलझन भरी जिन्दगी की अभिव्यक्ति के लिए वातावरण को सघन बनाया गया है । इस वातावरण की वास्तविक अनुभूति के लिए लेखक आग्रह करता है कि इसे यात्रा करते हुए या भरी भीड़ के बीच पढ़ा जाय । पर लेखक का यह आग्रह अर्थहीन लगता है, क्योंकि रेल यात्रा या भीड़ में इसे नहीं पढ़ा जा सकता, गंभीर उपन्यास अवकाश से पढ़ने की चीज है । गाड़ी की गति और शोर को बार बार दुहराया गया है--

छक-छक-छक् :

छक-छक-छक,

छकछकछकछकछकछकछकछकछकछकछक....

बार-बार उसे पुल पर से उतरते दिखाया गया है । पठानकोट से बम्बई तक कितने पुल पड़ते हैं, वह तो लेखक ही जाने । पुल पर गुजरती हुई गाड़ी के शोर के शब्द अलग हैं --

---

१ `माध्यम`, जून, १९६९, पृ०६०

२ `अठारह सूरज के पौधे की भूमिका से

खड़-खड़-खड़, खड़-खड़-खड़,

खड़ंग-खटर-खड़ंग- खटर ।

संवादों का चयन भी कुछ इस प्रकार किया गया है, जिससे भीड़ और शोर और गति भरा परिवेश सघन अभिव्यक्त हो--

'क्यों भाई कौन सा स्टेशन है यह ?

'गुरदासपुर ।'

'गुरदासपुर ही आया अभी । पठानकोट से चले दो-चार घण्टे हो गये भाई और अभी गुरदासपुर ही... ।'

'अच्छा, एक कष्टा हुआ है अबीसी... ।'

चाय-गर्म-चाय.... दूध-मिठा-दूध.....

एक जैसा आवाज । वही गुरदासपुर में, यहां भुसावल में ।

टण्ण- टण्ण,टण्ण-टण्ण,टण्ण-टण्ण, टण्ण.... ।

सात घण्टे । पांच मिनट और .... ।'[1]

वर्णन और भाषा को जानबूझकर शोर की अनुभूति प्रदान करने की कोशिश की गई है-- ' क्यों अक्का, ये रेल.... ये रेल कभी... ।'

'रेल-रेल-रेल.... सो जा ।'

मैंने आखें बंद कर ली हैं-- रेल-रेल-रेल-रेल मैं अब खुद भी रेल हो गया हूं-- इंजिन की तरह ठाट से सीटी देता चल रहा हूं --छक्-छक्-छक्-छक्-छक्... अण्णा क ने मेरे शरीर[2] को जोर से हिलाकर जगा दिया है-- ये क्या छक्-छक्-छक्-छक् लगा रखी है.... ।' संवाद संक्षिप्त और जिन्दगी की गति का बोध देते हैं --

'कहां रहे इतने दिनों ?'

'पठानकोट ।'

'ये कहां है ?'

---

१ 'अठारह सूरज के पौधे' ,पृ०४

२ वही, पृ०६

'उधर में ।'

'बहुत दूर है ?'

'हां ।'

'वहां किसी काम से गये थे ।'

'नहीं ।'

'फिर'

'यहां से मन ऊब गया था ... ।'

'मुझसे ?'

'नहीं ।'

'फिर ?'

'किसी से भी नहीं ।'[1]

इस प्रकार वर्णन और भाषा और संवाद आज की मशीनी जिंदगी, भागती हुई भीड़ और उगलते हुए शोर को अभिव्यक्ति सघन रूप से देता है । कुल मिलाकर उपन्यास के शिल्पविधान में अतिशय चमत्कार स्थापित है । कथ्य के धरातल पर जिन चार आयामों वाली बात लेखक ने कही है, वह उपन्यास के परिप्रेक्ष्य में कहीं भी फिट नहीं बैठ पाता ।' उसकी अतिशय चमत्कारप्रियता को यदि छोड़ भी दिया जाय तो 'अठारह सूरज के पौधे' की सबसे बड़ी असफलता यही है कि वैचारिक धरातल पर प्रस्तुत किए गए लेखकीयआग्रह की कोई स्पष्ट और तर्कसंगत परिणति उसमें प्राय: विरल ही है ।'[2]

दूसरी बार (१९६८)[3]

श्रीकान्त वर्मा का उपन्यास 'दूसरी बार' हिन्दी उपन्यास के शिल्प में कई नवीन संभावनाओं का द्वार खोलता है । कथानक के नाम पर मात्र कुछ

---

१ 'अठारह सूरज के पौधे', पृ० ११७

२ 'माध्यम', जून, १९६६, पृ०६१ ।

३ श्रीकांत वर्मा : 'दूसरी बार', अक्षरप्रकाशन, नई दिल्ली, प्र०सं०, १९६८।

दिनों की दिनचर्या का संकेत जिसमें घटनाएं सीमित और लगभग अमहत्वपूर्ण हैं। पात्र कुल मिलाकर तीन हैं, जिसमें नायक और नायिका बिन्दो के सम्बन्धों के संसार का अनुसंधान है। उपन्यास में वर्णित पात्रों में नायक का पात्रांकन और उसकी खोज एकदम नवीन है। नायिका बिन्दो की दोबारा उपस्थिति से टूटे विश्वासों वाला नायक उस उपस्थिति से आश्वस्त नहीं होता, बल्कि उद्वेलित, विक्षुब्ध और दिशाहीन वह स्त्री के विरुद्ध जाता हुआ स्वयं अपने विरुद्ध चलता है, वहां तक जहां आत्महनन के सिवा कुछ नहीं रह जाता। उपन्यास का यह 'एण्टी हीरो' हिन्दी कथा-साहित्य में नई उद्भावना है। श्रीकान्त वर्मा की कहानियों के अधूरे और आत्मघाती अन्य नायकों की तरह वह अपने ही अस्तित्व को झुठलाता है और संसार उसे डरावना प्रतीत होता है[1]।

जीवन को और अपने-आपको अवास्तविक बनाता हुआ 'दूसरी बार' का अतीत से आक्रान्त में अपनी अन्तिम परिणति में पूर्ण निर्मम और निरर्थक होकर रह जाता है। अनोखे संयम और भयानक आवेग से लिखा गया यह महत्वाकांक्षी उपन्यास व्यक्तिचित्रों को एक और ही अर्थ देता है। फ्रांस के 'एण्टी नावेल' की तरह वह उपन्यास की अवधारणा को नष्ट करता हुआ नये उपन्यास की झलक दिखाता है[2]।

उपन्यास का आरम्भ बिन्दो के दूसरी बार आगमन से होता है। अस्तु, शीर्षक चयन विषय के अनुरूप है। कभी नायक और बिन्दो ने एक-दूसरे के विश्वास को लेकर एक साथ जिन्दगी जिया था, लेकिन बिन्दो बिना कुछ बताये चली गई थी, इसलिए नायक का उसके प्रति विश्वास टूट चुका था। उसकी दोबारा उपस्थिति से नायक विचलित और विक्षुब्ध होता है। उसके टूटे हुए विश्वास जुड़ने की कोशिश नहीं करते, बल्कि अन्दर ही अन्दर विद्रोह के लिए लालायित होते हैं। बिन्दो उस टूटे हुए विश्वास को जोड़ने की कोशिश करती है, लेकिन स्वाभिमान को बेचकर नहीं। सम्बन्ध विश्वासों के आधार पर कुछ काल तक साथ-साथ रहे और

---

१ उपन्यास के आवरण पृष्ठ से

२ उपन्यास के आवरण पृष्ठ से

फिर किन्हीं कारणों से विश्वास टूटते जायं । यहां तक कि दोनों एक-दूसरे से अलग हो जायं । ऐसी स्थिति में दूसरी बार फिर विश्वास प्राप्त करने के लिए कठिनाई होगी । विश्वासों के आदान-प्रदान में व्यक्तित्वों का आदान-प्रदान होता है । अपने को दिया जाता है और औरों को ग्रहण किया जाता है । इस आदान-प्रदान में जीवन का जो चित्र उपस्थित किया जायगा वह सम्बन्धों का सही रूप बतलाने वाला होगा ।`[1]

पूरा उपन्यास छ: अध्यायों में, संख्याओं के शीर्षक आधार पर बांटा गया है । पहले अध्याय में नायिका बिन्दो का लिखा हुआ अन्तर्देशीय लिफाफा देखकर नायक को आश्चर्य अधिक उत्सुकता होती है, उसमें उसने मिलने के लिए कहा है । दोनों के सम्बन्ध टूटे हुए अरसा बीत चुका है । टूटे हुए विश्वासों के आधार पर दोबारा मिलन दहशत और खीफ की मन:स्थिति को जन्म देता है। नायक उससे मिलने जाता है और पूरा दिन उसी के साथ गुजारता है । उस दिन की भेंट के साथ और बीत गये दिन के साथ इस अध्याय का अन्त हो जाता है । बिन्दो के पत्र को पढ़कर नायक को उत्सुकता होती है कि शायद वह पुन: सम्बन्ध स्थापित करना चाहती है, लेकिन उससे मुलाकात करने पर ख्याल गलत निकलता है । नायक भीतर भीतर उस उत्सुकता को बदलना चाहता है, लेकिन उससे मिलने पर उसकी कठोरता और शायद समझौता का आभास न पाने पर प्रतिहिंसा के भाव से आक्रान्त हो जाता है । समझौता करने के लिए अपनी जिद को कौन तोड़े ? इस मुद्रा के बीच दोनों एक-दूसरे से मौन बने हुए खिंचा खिंचा व्यवहार करते हैं । बेमतलब संवादों के बीच, अप्रत्याशित ढंग से घर से निकल कर रेस्तरां में लंच लेते हैं, लेकिन किसी की ओर से बात नहीं होती । कुतुब की ओर घूमने[2] जाते हैं, वहां से उठते हुए बिन्दो केवल इतना कहती है, `मुझे कुछ बातें करनी थीं ।` लेकिन वह खुलती नहीं, इन्तजार करती है । इधर-उधर दिन[3] भर भटकने के बाद जब वह कहती है--`मेरे कारण आपको आज सारा दिन कष्ट हुआ ?` तो नायक अप्रत्याशित रूप से तिलमिला उठता

---

१ राजमलबोरा : `हिन्दी उपन्यास : प्रयोग के चरण`, पृ०२१८

२ `दूसरी बार`, पृ०२२

३ वही, पृ०२३

है । उसके टूटे हुए विश्वास पुन: पटरी पर से उतर जाते हैं । उस पर विश्वास नहीं किया जा सकता । इस अध्याय में नायक और बिन्दो के चरित्र की आंतरिक मन:स्थिति कथा को विकसित करता है । एक दूसरे की गांठ खोलने के लिए लालायित रहना, लेकिन अपने अहम् के कारण चुप और लगभग अजनबी रहना, तिलमिलाना, अपरिचित की तरह दिन भर भटकना आदि आंतरिक मन:स्थिति के द्वन्द्व को रूपायित करते हैं ।

दूसरे अध्याय में नायक की दूसरे दिन की अस्तव्यस्तता और बेचैनी की हालत का वर्णन किया गया है । दिन भर इधर-उधर भटक कर मानसिक शान्ति प्राप्त करना चाहता है, लेकिन बेचैनी बढ़ती जाती है । वह सोचता है, 'आखिर बिन्दो चाहती क्या है ? कुहरे के बढ़ने के साथ-साथ उसकी खिन्नता भी बढ़ती जाती थी ।'[1] और वह बिन्दो के घर के पास टैक्सी रोक देता है, लेकिन अहाते के भीतर सोचता है, कि वह पागलों जैसी हरकत कर रहा है और तेजी के साथ बाहर चला आता है । घर पहुंचने पर नौकर बताता है कि किसी बाई जी का फोन आया था । इस को सुनकर वह प्रसन्न हो जाता है । आखिर बिन्दो को ही तोड़ना पड़ा । दोबारा फोन की प्रतीक्षा में बेचैन होता हुआ लगभग ग्यारह बजे तक इन्तजार करता है । अन्त में फोन करके पूछता है 'फोन तुमने किया था ?' 'नहीं ।' उत्तर मिलने पर वह पुन: तिलमिला उठता है ।

तीसरे अध्याय के अन्तर्गत नायक के रात की व्यथा (दूसरे दिन की रात) और फिर सवेरे व्यथा की गांठ खोलने अनिल(उसका मित्र) के पास पहुंचने एवं दिन का बहुत बड़ा भाग उसके साथ गुजारने की कथा का वर्णन है । अनिल से मिलकर जो कुछ कहना चाहता था, वह पूरी तरह कह नहीं पाता, उल्टे[2] अनिल व्यथा के मूलकारणों का उल्लेख कर उसकी व्यथा को और बढ़ाता है । अनिल के बताने पर कि वह(बिन्दो) रीगल के पास मिली थी । नायक का वहम नाटकीय ढंग से बढ़ जाता है । उसे क्रोध और ईर्ष्या होती है ।वह अकेले तो कभी

---

१ 'दूसरी बार', पृ०३१

२ राजमल बोरा : 'हिन्दी उपन्यास : प्रयोग के चरण', पृ०२१८

नहीं जाता ? किसके साथ गई होगी ? और व्यग्रता की मन:स्थिति में जब घर लौटता है तो बिन्दो को अपने घर में, सोफे पर बैठी हुई ताश के पत्ते बिछाये, पाकर चौंक उठता है ।

चौथे अध्याय में नायक और बिन्दो के बीच हुए संघर्ष का कथा है । इसकी औपचारिकता, घुटन और कुढ़न के बीच एक दूसरे को नीचा दिखाने की कोशिश की जाती है । बिन्दो आई थी समझौता करने लेकिन नायक के व्यवहार से कुढ़कर वह अपनी चिट्ठियां मांगती है, इस बहाने तनाव और संघर्ष की इसकी अभिव्यक्ति कर दी गई है । अन्त में नाटकीय रूप से कह जाता है कि वह चिट्ठियां वापस लेने आई थी ?[1] इससे नायक को लगता है कि जैसे कोई भयानक दुर्घटना हो गई हो जिसके अवसाद ने उसे घेर लिया है ।

पांचवें अध्याय में बिन्दो का पत्रों को लेकर चले जाने के बाद नायक की छत्तीस घण्टे बाद की कहानी है । अपनी अस्त-व्यस्त मानसिकता में अचानक बिन्दो के घर जाता है और बिन्दो को पलंग पर उसके साथ संभोग करता है । सुबह चोर की तरह पराजित भाग आता है ।

अन्तिम छठें अध्याय में थके, निराश, पराजित नायक और बिन्दो का मिलन यानी समझौता स्थापित होता है । इसका संकेत लेखक ने सूचनात्मक ढंग पर किया है । ' जरा दूर चलकर मैं एक पत्थर पर बैठ गया । वह मुझसे सटकर बैठ गई । 'तुम थक गये हो ।' इसने और मुझे जकड़ लिया ठीक अमरबेल की तरह ।[2] यहीं पर उपन्यास की कथा समाप्त हो जाती है । इस प्रकार समूचे उपन्यास में चरित्र अपने टूटे हुए विश्वासों को लेकर समझौता करते हैं, इसका संगुफन लेखक ने बड़ी कुशलता के साथ किया है । कथानक मूल्यों की दृष्टि से कोई उपयोगी सामग्री नहीं दे पाता, न ही किसी जीवन्त तथ्य को सामने रखता है, कि जिससे

---

१ 'दूसरी बार', पृ०८०

२ वही, पृ०१३२

मनुष्य की जिन्दगी की गति शामिल की जा सके । वह केवल आज के जीवन में जी रहे स्त्री-पुरुष के बनते-बिगड़ते रिश्तों का मसौदा प्रस्तुत करता है-- वह भी सीमित और सतही रूप में ।

जिन्दगी का बिखराव, विश्वासों का टूटन, अजनबी और अकेलापन, मन की कुंठायें, सम्बन्धों को लेकर निराशा, अवसाद और मृत्यु की यंत्रणा शंका, घुटन, खोखला औपचारिकता, विक्षोभ, आकुलता आदि प्रकार की आधुनिक मन:स्थितियों को पूरे उपन्यास में पाथित किया गया है, लेकिन इसमें लेखक की दृष्टि किसी जीवन्त आयाम को स्पर्श नहीं कर पाती । वह वस्तुत: एक लम्बी कहानी की सामग्री हो सकती थी । लगता है 'दूसरी बार' किसी नवीन मुहावरे की तलाश में है, क्योंकि उपन्यास के परम्परित ढांचे में इसे फिट नहीं किया जा सकता । उपन्यास की अवधारणा को तोड़ता हुआ भी किसी महत्वपूर्ण उपलब्धि से साक्षात्कार नहीं कर पाता । शिल्प का चौंकता हुआ रूप ही उपन्यास को ऊंचा नहीं उठाता, यह अवश्य है कि वह किसी नये आयाम की तलाश के लिए एक दृष्टि दे जाता है । इस दृष्टि से ही उपन्यास के महत्व को आंका जा सकता है ।

उपन्यास का भाषिक रचाव महत्वपूर्ण है । भाषा का मुहावरा कहानी चेतना के अनुकूल है और नवलेखन की भाषिक विशेषताओं को अभिव्यक्ति देता है । संकेतों, बिम्बों, प्रतीकों की योजना शब्दों और वाक्यों के चयन में सर्वत्र देखी जा सकती है, जिससे पात्रों की आन्तरिक मन:स्थिति को उजागर करने में सरलता हुई है । और शायद इस रूप में वह प्रासंगिक भी है । लेखक लम्बे-लम्बे विवरण कहीं भी नहीं देता और न ही कहानी कहने की उसकी इच्छा है । वह क्षणों का मूल्यांकन करता हुआ व्यक्ति-मन से साक्षात्कार करता है । इस रूप में उसकी भाषा जीवन्त और ताजी हो सकी है । दो-एक उदाहरण द्रष्टव्य हैं --

(क) मैंने जल्दी-जल्दी कपड़े बदले और छत पर आकर अपना शरीर सेंकता हुआ साफ-सुथरे आसमान की ओर देखा जहां एक[1] ग्लाइडर धूप में चक्कर काट रहा था कई दिनों बाद पहिले दिन मुझे अच्छा लगा ।

1- दूसरी बार, पृ०85 ।

(ख) गुमसुम खंडहरों और परित्यक्त झाड़ियों में से गरम हवा छनकर आती है और सारा संसार बिल्कुल सूना प्रतीत होता है । ऐसे में अपने जीवित होने का अनुभव अधिक व्यक्तिगत होता है । इन झाड़ियों में बिन्दो के पास पड़ा हुआ मैं सोचता था, अगर इधर से कोई गुजरे तो एक बार ठिठक जायेगा और उसे भ्रम होगा कि झाड़ी के अन्दर कोई नर-बौता, मादा-बौता से जूझने के बाद उसे दुलारता हुआ थका पड़ा है[1] ।

(ग) मैंने सोचा था कि बिन्दो के चेहरे पर आतंक होगा । मेरा अनुमान सही निकला । सचमुच ही उसके चेहरे पर दहशत थी । बल्कि सारा शरीर ही अकड़ सा गया था । अपने को देने का भय शरीर को बेढंगा, मुख को कुरूप और व्यक्तित्व को टेढ़ा कर देता है । जब पहली बार बिन्दो के साथ यह हुआ था तब यह बिल्कुल सहज लगा था-- उसमें एक स्कूल का डर था । मगर इस समय यह एक जुआरी का भय लगा था[2] ।

कहीं-कहीं तत्व दर्शन की प्रवृत्ति उपन्यास की भाषा को कमजोर बनाती है । लेखक इस कमजोरी से बच नहीं सका है, जैसे --"......एक दूसरे को जानना, एक दूसरे से अलग होना या एक दूसरे से जुड़ना इसके बारे में क्या कहा जा सकता है, क्योंकि जो जिससे जितना जुड़ता है, उतना ही टूटता है, जो जिससे जितना प्रेम करता है, उतनी ही घृणा । प्रेम करना घृणा करना है और घृणा करना प्रेम करना है[3] ।"

संवाद संक्षिप्त और पात्रों की मन:स्थिति के अनुकूल हैं । पात्र चूंकि एक-दूसरे से परिचित होकर भी खुलना नहीं चाहते, एक दूसरे को पहले खुलने के लिए प्रतीक्षित रहते हैं, इस स्थिति के चित्रांकन के लिए संवाद संक्षिप्त और औपचारिक स्वाभाविक रूप से हो जायेंगे । अधिकांश स्थानों पर व्यंजनात्मक, सांकेतिक और कुतूहलवर्द्धक संवाद भी नियोजित हुए हैं । उसका तीखापन केवल संघर्ष की मन:स्थिति में देखा जा सकता है ।

---

१ 'दूसरी बार', पृ०२१

२ वही, पृ०१२१

३ वही, पृ०६०

'कहां रहीं ?' मैंने धीरे से कहा ।

.... फिर उसने अपने आंचल से अपना मुंह पोंछते हुए उत्तर दिया,

'पूना, पंचमढ़ी, अमृतसर ।'

'अजीब कम्बिनेशन है । उत्तर, मध्य, पश्चिम ।'

'किस सिलसिले में ।' मुझे उत्सुकता सी हुई ।

'रिसर्च ।'

'मगर रिसर्च तो तुमने छोड़ दी थी ।'

'जब करने को कुछ न हो तो पुराना काम फिर से शुरू किया जा सकता है ।'

'इस उम्र में ।' मैंने कहा और अपनी जीभ काट ली[1] ।

कुल मिलाकर 'दूसरी बार' उपन्यास चाहे किन्हीं जीवन्त मूल्यों को सम्प्रेषित करे या न करे हमारी चेतना को झकझोरे या न झकझोरे, वह उपन्यास की अवधारणा को तोड़ता हुआ आधुनिक जीवन की अनुभूतियों को जीवन्त और नव्य भाषा के सांचे में स्थापित करता है ।

-0-

---

१ 'दूसरी बार', पृ०१२

उपसंहार

अन्य साहित्य-रूपों की अपेक्षा उपन्यास सबसे अधिक आकर्षक विधा है । विशाल संख्या में पाठक जिस रुचि के साथ आज उपन्यास पढ़ते हैं, उतना अन्य किसी विधा को नहीं । कारण कि उपन्यास अपने शिल्प, कथ्य एवं मनोदृष्टि में हमारे जीवन से एकदम निकट है, उसे पढ़कर लगता है कि स्वयं हम उसमें जी रहे हैं, हमारे जीवन का गहरा और यथार्थ आयाम उसमें उजागर हो रहा है । हमारे जीवन में बहुत से ऐसे स्तर हैं, जिन्हें हम जानते हुए भी अनुभूत नहीं कर पाते, किन्तु उपन्यासकार उन अनजाने और अज्ञात स्तरों को आकर्षक ढंग से प्रस्तुत करता है । एक लेखक का कथन है कि उपन्यास प्राय: अवकाश के क्षण में समय काटने के लिए पढ़ा जाता है[1] । यह बात ऐसे पाठकों के लिए सही हो सकती है, जो मात्र मनोरंजन के ध्येय से उपन्यास पढ़ते हैं, किन्तु ऐसे पाठकों की संख्या आज नहीं के बराबर है । वस्तुत: कविता की भांति उपन्यास गम्भीर और कलात्मक विधा है, यहां तक कि पाठक को उसकी कलात्मकता एवं नव्यता को समझने के लिए समीक्षकों अथवा आलोचकों का सहारा लेना पड़ता है । समीक्षक औपन्यासिक कृति के अज्ञात तथ्यों को उघाड़ता है, उसको अधिक गहरे एवं सूक्ष्म रूप में आस्वाद्य बनाता है । बहुत से ऐसे तथ्यों को भी सामने लाता है, जिन्हें स्वयं लेखक भी नहीं सोच सकता था । उपन्यासकला को महत्वपूर्ण और ग्राह्य बनाने के लिए समीक्षकों, पाठकों एवं रचनाकारों का संबंध अन्योन्याश्रित या त्रिकोणात्मक है । उपन्यास एक बिन्दु है और उस बिन्दु पर बनी तीनों भुजाएं-- रचनाकार, समीक्षक एवं पाठक हैं । त्रिभुजाकार उपन्यास-संसार तीनों भुजाओं की सहायता से उपन्यास को अर्थवान बनाता है ।

---

1. O' Lesser, Simon / Fiction and unconscious / P. 50
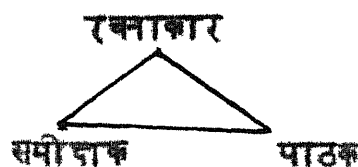
बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक दशक मानव प्रकृति की रचना के लिए महत्वपूर्ण रहे हैं। इस काल के पूर्व विज्ञान एवं तकनीकी का प्रसार तीव्र गति से हो रहा था। यंत्र में जहां गति एवं प्रसार की क्षमता होती है, वहां अनुभावन शक्ति विरल होती जाती है। यूरोप में विज्ञान के प्रति बढ़ता हुआ मादन भाव राष्ट्रों के परस्पर टकराहट के रूप में व्यक्त हो रहा था। आतंक की स्थिति में क्रमश: दो महायुद्ध क्रियान्वित हुए। राष्ट्र टकराहट के साथ व्यक्ति को अपनी कीमत चुकानी पड़ी। विज्ञान ने मानव दूरियां कम कर दीं, आपसी सम्पर्क में तीव्रता ला दी, लेकिन स्नेह तत्व शिथिल होता गया। अधिकाधिक बार सम्पर्क होने पर परस्पर सौहार्द्र में क्षरण की अवस्था आ ही जाती है। मनुष्य भी एक-दूसरे के प्रतिद्वन्द्वी तथा आगे बढ़ने की आकांक्षा में परस्पर अधिक कटु और विरोधी होने लगे। महायुद्धोत्तर परिस्थितियां तो और भी घातक सिद्ध हुईं। मनुष्य की जीवनी शक्ति का नाश हुआ और हमें लगा कि हमारे समस्त आदर्श और नैतिकताएं खोखली, अर्थहीन और बेमानी हैं। अपने ही अस्तित्व के प्रति भय और मोहभंग की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई। सार्त्र, कामु, काफ्का, ज्याजेने, कालिन् विल्सन आदि का सम्पूर्ण दर्शन इसी अस्तित्व हीनता की कहानी कहता है। इस सन्दर्भ में एक महत्वपूर्ण बात यह हुई कि हम अपने विरोधी से एकदम कट नहीं गये, बल्कि उससे सम्पर्क बनाये रखा। यह सम्पर्क अवगुंठन पैदा करता है। मनुष्य अपने अंदर सारी कमजोरियों को छिपाये हुए, ऊपर से प्रेमभाव जताता है। अन्दर ही अन्दर घुटता और खोखला होता जाता है। इस अनुभव को इलियट की प्रसिद्ध कविता--

> We are the Holo men
> We are the stuffed men
> Leaning together
> Headpiece filled with straw.[1]

२

---

१ Eliot, T.S. / The complete poems and plays of T.S. Eliot / P. 83.

में तीखी अभिव्यक्ति दी गई है । आदमी में भुस भरा होना उसका कमजोर होना ध्वनित करता है ।

इस अवस्था में मनुष्य समाजोन्मुखी न होकर व्यक्ति उन्मुखी होता गया । मनुष्य का आंतरिक संसार जटिल एवं उलझा हुआ होता है । उसे सीधे-सीधे व्यक्त नहीं किया जा सकता । उपन्यासकार का लक्ष्य अंतत: मनुष्य जीवन को समग्रत: अभिव्यक्ति देना है । उसका आन्तरिक संसार बाह्य संसार से ज्यादा सत्य होता है । अत: कथाकार उस आंतरिक संसार के उद्घाटन का ज्यादा से ज ज्यादा प्रयत्न करता है । इस प्रकार मनुष्य की प्रकृति एवं रचना के अनुकूल उपन्यास का शिल्प-विधान भी दुरूह बनतागया । दुरूहता एवं जटिलता केवल नगरों एवं महानगरों के जीवन में निर्मित हुई,आंचलिक जीवन अब भी वैसा ही अकृत्रिम और सहज रहा । इस प्रकार के मनुष्य को व्यक्त करने के लिए उपन्यास का शिल्प 'सहज' या 'सरल' ही बना रहा । पुराने ढंग के रचनाकार भी अपने ढर्रे पर शिल्प को सपाट या सीधे रूप में व्यक्त करते हैं । उनका भी औपन्यासिक शिल्प सहज सम्प्रेष्य रहा । इस प्रकार शिल्प की दो कोटियां अपने-आप बन जाती हैं--

(क) सहज सम्प्रेष्य उपन्यास शिल्प-विधान

(ख) दुरूह सम्प्रेष्य उपन्यास शिल्प विधान ।

वैसे उपन्यास अपने जन्मकाल से ही निरन्तर नवीनता की ओर अग्रसर हो रहा है । कथ्य की अपेक्षा शिल्प विधान के क्षेत्र में यह नव्यता अधिक देखी जा सकती है । किन्तु स्वतंत्रता के बाद जिस बहुआयामी एवं विविध रूप में अपने नये भाववस्तु के अनुरूप नया आवरण धारण करता है,वह निश्चित रूप से एक बड़ी उपलब्धि है । मनुष्य के छोटे-छोटे भाव-चित्रों एवं अनुभूतियों को जिस खूबी से बांधा जाता है, वह अपने आप में अत्यन्त आकर्षक है । नित प्रति नूतन प्रयोग हो रहे हैं । नई पीढ़ी के अनुसार कथाकार अधिकतर शिल्प चमत्कार और नये विधान में अपनी प्रतिष्ठा स्थापित करता है । अधिक से अधिक चौंकाव के द्वारा पाठकों को अपनी ओर खींचने का प्रयत्न करता है,यहां तक कि उसने उपन्यास की परम्परित अवधारणा को विनष्ट तो किया ही है, साथ ही

अ- उपन्यास या एंटी उपन्यास प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है । बीसवीं शताब्दी के नये और अजीब मनुष्य के अनुकूल नये भाववस्तु को पुराने शिल्प आवरण में बांधना अर्थवान नहीं लगता । इन सारे प्रयत्नों से उपन्यास शिल्प दुरूह हो हुआ है, पर अंग्रेजी और फ्रेंच के उपन्यासों का शिल्प-विधान जितना जटिल और दुरूह है, उतना हिन्दी के उपन्यासों का नहीं । जेम्स ज्वायस, विलियम प्राउस्त, डोरोदी रिचर्डसन वर्जीनिया वुल्फ और विलियम फाकनर के उपन्यास जितने जटिल रूप में बांधे गये हैं, वह स्थिति अभी हिन्दी उपन्यासों में नहीं आई है, जो हमारे लिए स्वस्थ ही है । लेकिन ऐसा लगता है कि अंग्रेजी के उपन्यासों की भांति हिन्दी उपन्यासों में शिल्प की यह अत्यधिक जटिलता आएगी और अत्यधिक जटिलता के पश्चात् एक ऐसा भी मोड़ आयेगा, जब संक्रमण की स्थिति से उपन्यास गुजरेगा और फिर किसी नये रूप को उजागर करेगा या फिर अपने उसी पुराने ढांचे में चला आवेगा।

नये निर्मित शिल्पविधान को पुराने शास्त्रीय सिद्धान्तों द्वारा परखना स्वस्थ न होगा । इस बात को ध्यान में रखकर शोधार्थी ने अपने विवेचन में यथासाध्य उपन्यास के नवीन कलेवर को नये ढांचे में व्याख्यायित करने का प्रयत्न किया है, इस प्रकार उपन्यास की पूर्ण नवीन प्रकृति से परिचय कराने की कोशिश की है कथाकृति में अपनी व्यक्तिगत मान्यताओं या सिद्धान्तों को ऊपर से आरोपित करना भी न्याय संगत नहीं है । प्रत्येक कथाकृति का अपना विशिष्ट शिल्प-विधान होता है और उसी के अनुसार उसका अध्ययन प्रस्तुत करना स्वस्थ होगा। समीक्षक जिस बात को लेकर किसी कृति में कमजोरी या असमर्थता आरोपित करते हैं, वस्तुतः वही उसका नव्यरूप या विशिष्ट विधान है, जिसे जानबूझकर लेखक सम्प्रेषित करने का प्रयत्न करता है । इसीलिए हमने अध्ययन में कृति का मूल्यांकन उसकी विशिष्ट शिल्प पद्धति की पहचान के आधार पर किया है और परम्परित आलोचना से अधिक से अधिक बचने का प्रयास किया है ।

-0-

परिशिष्ट (१)

सहायक ग्रन्थ सूची

१- अध्ययन और अन्वेषण -- डा० देवराज उपाध्याय, नेशनल पब्लिशिंग हाउस दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९६६ ।

२- अलग अलग वैतरणी -- डा० शिवप्रसाद सिंह, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद प्रथम संस्करण, १९६७ ।

३- अठारह सूरज के पौधे -- रमेश बक्षी, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, वाराणसी, प्रथम संस्करण, १९६५ ।

४- अन्वेषण की सह यात्रा -- उपेन्द्रनाथ अश्क, नीलाभ प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, १९७३ ।

५- अधूरे साक्षात्कार -- नेमिचन्द्र जैन, अक्षर प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण १९६६ ।

६- अंधेरे बंद कमरे -- मोहन राकेश, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण १९६६ ।

७- अज्ञेय का कथा साहित्य -- ओम प्रभाकर, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९६६ ।

८- अज्ञेय के उपन्यास ? कथ्य और विश्लेषण -- डा० नन्दकुमार राय, हिन्दी साहित्य संसार, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७३ ।

९- अज्ञेय के उपन्यासों की शिल्प विधि -- डा० सत्यपाल चुघ, दिल्ली पुस्तक सदन, दिल्ली प्रथम संस्करण, १९६५ ।

१०- आज का हिन्दी उपन्यास -- डा० इन्द्रनाथ मदान, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९६६ ।

११- आत्मनेपद -- सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन `अज्ञेय`, भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी, प्रथम संस्करण, १९६० ।

१२- आलवाल -- `अज्ञेय`, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७१

१३- आस्था और सौन्दर्य -- रामविलास शर्मा, किताब महल, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, १९५२ ।

१४- आस्था के प्रहरी -- डा० सत्यपाल चुघ, इकाई प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, १९७० ।

१५- आधा गांव -- राही मासूम रजा, अक्षर प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण १९६६ ।

१६- आधुनिक साहित्य : विविध परिदृश्य -- सुन्दर लाल कथूरिया (सम्पा०) वाणी प्रकाशन, दिल्ली, प्र०सं०, १९७३ ।

१७- आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य और मनोविज्ञान -- डा० देवराज उपाध्याय, साहित्य भवन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, १९५६ ।

१८- उपन्यास कला: एक विवेचन -- आलादि विश्वमित्र, सरस्वती मन्दिर, वाराणसी, प्र०सं०, १९६२ ।

१९- एक कटी हुई जिन्दगी : एक कटा हुआ कागज -- लक्ष्मीकांत वर्मा, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, प्र०सं० १९६५ ।

२०- एक चूहे की मौत -- बदीउज्जमा, शब्दकार, दिल्ली, प्रथम संस्करण १९७१ ।

२१- एक प्यासा तालाब-- श्याम व्यास, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्र०सं०, १९६८ ।

२२- एक पति के नोट्स -- महेन्द्र भल्ला, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्र०सं०, १९६७ ।

२३- ऐतिहासिक उपन्यास -- डा० सत्यपाल चुघ, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, प्र०सं० १९७४ ।

२४- ऐतिहासिक उपन्यास : प्रकृति और स्वरूप -- डा० गोविन्द जी (सम्पा०), साहित्य वाणी प्रकाशन, इलाहाबाद, प्र०सं०, १९७०

२५- कई आवाजों के बीच-- डा० सुरेश सिन्हा, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, १९६८ ।

२६- काठ का उल्लू और कबूतर --केशवचन्द्र वर्मा, साहित्य भवन, इलाहाबाद प्रथम संस्करण, १९५५ ।

२७-कालेज स्ट्रीट के नये मसीहा -- शरद देवड़ा, अपरा प्रकाशन,कलकत्ता,प्रथम सं०,
१९६६ ।
२८- कुछ विचार -- प्रेमचन्द, हंस प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण १९५४ ।
२९- कुणाल की आंखें -- आनंद प्रकाशजैन,राजकमल प्रकाशन,दिल्ली, प्र०सं०१९६७।
३०- खाली कुर्सी की आत्मा -- लक्ष्मीकांत वर्मा, किताब महल,इलाहाबाद,प्र०सं०
१९५८ ।
३१- गिरती दीवारें -- उपेन्द्रनाथ अश्क, भारती भण्डार,प्रयाग,प्र०सं०,संवत्२००३
३२- चांदनी के खण्डहर -- गिरिधर गोपाल, साहित्य भवन, इलाहाबाद,प्र०सं०,
१९५४ ।
३३- चारुचन्द्र लेख -- हजारी प्रसाद द्विवेदी,राजकमल प्रकाशन,दिल्ली,प्र०सं०१९६३।
३४- जहाज का पंछी -- इलाचन्द्र जोशी, राजकमल प्रकाशन,दिल्ली, प्रथम संस्करण
१९५५ ।
३५- जिप्सी -- इलाचन्द जोशी,सेण्ट्रल बुक डिपो,प्रयाग,प्रथम संस्करण,१९५२ ।
३६- जुगलबन्दी-- गिरिराजकिशोर, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण १९७३
३७- जैनेन्द्र के विचार -- प्रभाकर माचवे, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर,बम्बई,संस्करण
१९६३ ।
३८- झूठा सच -- यशपाल, विप्लव कार्यालय, लखनऊ,प्रथम संस्करण,१९५८ ।
३९- डूबते मस्तूल -- नरेश मेहता, आत्माराम एण्ड सन्स,दिल्ली, प्रथम संस्करण
१९५४ ।
४०- तंतुजाल -- रघुवंश , किताब महल, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण,१९५८ ।
४१- दर्पण का व्यक्ति-- विष्णु प्रभाकर, राजपाल एण्ड सन्स,दिल्ली,प्रथम सं०,
१९६८ ।
४२- द्वाभा -- प्रभाकर माचवे, साहित्य भवन , इलाहाबाद ,प्रथम संस्करण १९५५।
४३- दिशाओं का परिवेश -- डा० ललित शुक्ल, वाणी प्रकाशन, दिल्ली,प्र०सं०
१९६८ ।
४४- दूसरी बार -- श्रीकांत वर्मा, अक्षर प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण १९६८
४५- दो एकांत -- नरेश मेहता, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद,प्र०सं०१९६४

४६- धूपछांही रंग -- गिरीश अस्थाना, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, प्र०सं०१९७०

४७- धूमकेतु : एक श्रुति -- नरेश मेहता, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, प्र०सं०१९६२

४८- नदी के द्वीप -- 'अज्ञेय', प्रगति प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण १९५१ ।

४९- नागफनी का देश -- अमृतराय, हंस प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, १९५६

५०- परती परिकथा -- फणीश्वर नाथ रेणु, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम सं० १९५७ ।

५१- प्रश्न और प्रश्न -- जैनेन्द्रकुमार, पूर्वोदय प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण १९६६

५२- पानी के प्राचीर, -- रामदरश मिश्र, हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी, प्रथम संस्करण, १९६१ ।

५३- प्रेमचंदोत्तर उपन्यासों की शिल्प विधि -- डा० सत्यपाल चुघ, इकाई प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, १९६८ ।

५४- फ्रायड : मनोविश्लेषण -- देवेन्द्रकुमार देवालंकार (अनु०) राजपाल एण्ड संस, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९५८ ।

५५- फिलहाल -- अशोक वाजपेयी, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण १९७०

५६- बदलते परिप्रेक्ष्य -- नेमिचन्द जैन, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्र०सं० १९६८

५७- बलचनमा -- नागार्जुन, किताब महल, इलाहाबाद, प्र०सं० १९५२

५८- बहती गंगा -- शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र', राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्र०सं० १९५२

५९- बाबा बटेसरनाथ -- नागार्जुन, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्र०सं० १९५४

६०- बोरीवली से बोरीबंदर -- शैलेश मटियानी, आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली, प्र०सं० १९५९ ।

६१- भारत और पश्चिम -- आर०एस० भारद्वाज (अनु०), आत्माराम एण्ड संस दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९६४ ।

६२- मछली मरी हुई -- राजकमल चौधरी, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्र०सं० १९६६

६३- मन वृन्दावन -- लक्ष्मीनारायणलाल, नेशनल पब्लिशिंगहाउस, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९६६ ।

६४- मानव मूल्य और साहित्य -- धर्मवीर भारती, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन वाराणसी, प्रथम संस्करण, १९६१

६५- मुर्दों का टीला -- रांगेय राघव, किताब महल, इलाहाबाद, प्र०सं०१९४८
६६- मैला आंचल -- फणीश्वरनाथ रेणु, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्र०सं०१९५४
६७- यह पथ बंधु था -- नरेश मेहता, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर, बम्बई, प्र०सं०१९६२
६८- यहां से वहां -- श्रीलाल शुक्ल, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्र०सं०१९६९
६९- युग चिन्तन -- शरद देवड़ा, रूपा एण्ड कम्पनी, कलकत्ता, प्र०सं०१९६३
७०- राग दरबारी -- श्रीलाल शुक्ल, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, द्वितीय सं०१९७०
७१- रुकोगी नहीं राधिका -- उषा प्रियंवदा, अक्षर प्रकाशन, दिल्ली, प्र०सं०१९६७
७२- लोक लाज खोई -- सुरेन्द्रपाल, नीलाभ प्रकाशन, इलाहाबाद, प्र०सं०१९६३ ।
७३- वयं रक्षामः -- आचार्य चतुरसेन, शारदा प्रकाशन, भागलपुर, प्र०सं०१९५५
७४- बाणभट्ट की आत्मकथा -- हजारीप्रसाद द्विवेदी, शान्तिनिकेतन, कलकत्ता,
प्र०सं०संवत्२००३ ।
७५- विचार और विश्लेषण -- डा० नगेन्द्र, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली,
प्रथम संस्करण, १९६६ ।
७६- विज विवेक के रंग -- डा० देवीशंकर अवस्थी, भारतीय ज्ञानपीठ-प्रकाशन,
वाराणसी, प्र०सं०१९६५ ।
७७- विवेचना -- इलाचन्द्र जोशी, हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, प्र०सं०१९४८
७८- वे दिन -- निर्मल वर्मा, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्र०सं० १९६४
७९- सबहिं नचावत राम गोसांई -- भगवतीचरण वर्मा, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली,
प्रथम संस्करण, १९७० ।
८०- समय, समस्या और सिद्धान्त -- जैनेन्द्रकुमार, प्रश्नकर्ता रामावतार, पूर्वोदय प्रकाशन
दिल्ली, प्र० सं०, १९७१ ।
८१- समलक्ष्य, समबोध -- राममनोहर लोहिया, राममनोहर लोहिया समता विद्यालय
न्यास, हैदराबाद, प्र०सं०१९६९ ।
८२- स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास -- डा० कान्ति वर्मा, रामचन्द्र एण्ड कंपनी,
दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९६६ ।
८३- साहित्य का श्रेय और प्रेय -- जैनेन्द्रकुमार, पूर्वोदय प्रकाशन, दिल्ली, प्र०सं०१९६४
८४- साहित्य की मान्यतायें -- भगवतीचरणवर्मा, हिन्दुस्तानी एकेडमी, प्रयाग, प्र०सं०
१९६२ ।

८५- साहित्य : साधना और संघर्ष -- रणवीर रांग्रा, भारतीय साहित्य मंदिर, दिल्ली, १९६५ ।

८६- सिद्धान्त, अध्ययन और समस्यायें--डा० सियाराम तिवारी, बिहार ग्रन्थ कुटीर, पटना, प्र०सं०१९६७ ।

८७- सुनीता-- जैनेन्द्र, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर, बम्बई, प्र०सं० १९४९ ।

८८- सूरज का सातवां घोड़ा -- धर्मवीर भारती, साहित्य भवन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, १९५५ ।

८९- सूरज मुखी अंधेरे के -- कृष्णा सोबती, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्र०सं० १९७२ ।

९०- सोया हुआ जल -- सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी, प्रथम संस्करण, १९५९ ।

९१- शहर में घूमता आईना-- उपेन्द्रनाथ अश्क, नीलाभ प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, १९६३ ।

९२- शैली निरूपण: सिद्धान्त और विनियोग-- जगदीश पाण्डेय, अखिल भारतीय हिन्दी शोध मण्डल, पटना, प्र०सं० १९५५ ।

९३- हिन्दी उपन्यास -- डा० सुरेशसिन्हा, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, द्वितीय संस्करण, १९७२ ।

९४- हिन्दी उपन्यास -- सुषमा प्रियदर्शिनी (संपादिका) राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७२ ।

९५- हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद -- डा० त्रिभुवन सिंह, हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी, प्रथम संस्करण संवत् २०२२

९६- हिन्दी उपन्यास: उद्भव और विकास -- डा० सुरेश सिन्हा, अशोक प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम सं० १९६५ ।

९७- हिन्दी उपन्यास : उपलब्धियां -- डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, प्र०सं०१९७० ।

९८- हिन्दी उपन्यास : एक अन्तर्यात्रा -- डा० रामदरश मिश्र, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९६८ ।

९९- हिन्दी उपन्यास : पहचान और परख -- डा० इन्द्रनाथ मदान, लिपि प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७३ ।

१००- हिन्दी उपन्यास पर पाश्चात्य प्रभाव -- डा० भारतभूषण अग्रवाल, दिग्दर्शन चरण जैन,कृष्णचरण जैन एवं संतति,दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७१ ।

१०१- हिन्दी उपन्यास की शिल्प विधि का विकास -- डा० कृष्णा नाग, लोकचेतना प्रकाशन,जबलपुर,प्रथम संस्करण,१९६२ ।

१०२- हिन्दी उपन्यास का शिल्प विधि का विकास-- डा० ओम शुक्ल,अनुसंधान प्रकाशन,कानपुर,प्रथम संस्करण,१९६४ ।

१०३- हिन्दी उपन्यास--विवेचन-- डा० सत्येन्द्र, कल्याणमल एण्ड संस,जयपुर, प्रथम संस्करण,१९६८ ।

१०४- हिन्दी उपन्यास : सिद्धान्त और समीक्षा -- डा० मक्खनलाल शर्मा, प्रभात प्रकाशन,दिल्ली,प्रथम संस्करण,१९६५ ।

१०५- हिन्दी उपन्यास : शिल्प और प्रयोग-- डा० त्रिभुवन सिंह, हिन्दी प्रचारक संस्थान, वाराणसी,प्रथम संस्करण,१९७३ ।

१०६- हिन्दी उपन्यास: बदलते परिप्रेक्ष्य -- डा० प्रेम भटनागर,अर्चना प्रकाशन, जयपुर,प्रथम संस्करण,१९६८ ।

१०७- हिन्दी उपन्यास : प्रयोग के चरण-- डा० राजमल बोरा,नमिता प्रकाशन, औरंगाबाद,(महाराष्ट्र)प्रथम संस्करण,१९७२

१०८- हिन्दी उपन्यास : पृष्ठभूमि और परम्परा -- डा० बदरीदास,ग्रन्थम प्रकाशन, कानपुर, प्रथम संस्करण,१९६६ ।

१०९- हिन्दी उपन्यास में चरित्र- चित्रण का विकास-- डा० रणवीर रांग्रा, भारतीय साहित्य मन्दिर,दिल्ली,प्रथम संस्करण,१९६१

११०- हिन्दी उपन्यास में कथा शिल्प का विकास -- डा० प्रतापनारायण टण्डन, हिन्दी साहित्य भंडार,लखनऊ,प्रथम संस्करण,१९५९ ।

१११- हिन्दी उपन्यासों में नायक -- डा० कुसुम वार्ष्णेय,शोध साहित्य प्रकाशन, इलाहाबाद,प्र०सं०१९७३ ।

११२- हिन्दी उपन्यासों में नायिका की परिकल्पना-- डा० सुरेश सिन्हा,अशोक प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण,१९६४ ।

११३- हिन्दी कहानी की रचना-प्रक्रिया-- डा० परमानन्द श्रीवास्तव,ग्रन्थम प्रकाशन, कानपुर,प्रथम संस्करण, १९६५ ।

११४- हिन्दी के आंचलिक उपन्यास और उनकी शिल्प विधि-- डा० आदर्श सक्सेना, सूर्य प्रकाशन मन्दिर,बीकानेर,प्र०सं०,१९७१ ।

११५- हिन्दी एकांकी की शिल्प विधि का विकास-- डा० सिद्धनाथ कुमार,ग्रन्थम प्रकाशन,कानपुर ,प्रथम संस्करण,१९६६ ।

११६- हिन्दी नवलेखन -- डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी,भारतीय ज्ञानपीठ,वाराणसी, प्र०सं० १९६० ।

११७- हिन्दी साहित्य-- एक आधुनिक परिदृश्य --'अज्ञेय',राधाकृष्ण प्रकाशन दिल्ली, प्रथम संस्करण,१९६७ ।

११८- हिन्दी साहित्य की अधुनातन प्रवृत्तियाँ-- डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी,केन्द्रीय हिन्दी संस्थान, आगरा, प्र०सं०१९६९

परिशिष्ट--२

<u>ENGLISH BOOKS</u>

1. Aldridge, John W. -- Critiques and essays on modern Fiction; The Ronald Press Co. N.Y. edition 1951.

2. Allen, Walter -- Writers on writing; Phoenix house Ltd. London; first published 1948.

3. Allott, Miriam -- Novelists on the Novel - Routledge and Kegan paul Ltd, London; First published 1959.

4. Batho, E. Edith and Dobree, Bonamy -- Victorians and after; The cresset Press, London; second edition 1950.

5. Beach, J.W. -- The Twentith century Novel - Appleton-Century crofts, Inc. N.Y. First imp. 1932.

6. Brooks, Cleanth & Warren, Robert Penn-- Understanding Fiction; Appleton-century-Crofts Inc. N.Y. First imp. 1943.

7. Edel, Leon -- Modern Psychological Novel- Grove Press. Inc. N.Y. edition 1953.

8. Eliot, T.S. -- The complete poems and plays of T.S. Eliot; Faber and Faber Ltd. London; second edition 1970.

9. Faithfull, Theodore-- A Hand book of self analysis; Rylee Ltd. London; First Published 1948.

10. Forster, E.M. -- Aspects of the Novel; Harcourt, Brace & Co. Inc. N.Y. First edition 1940.

11. Freud, Sigmund -- The Ego and the Id; Hogarth Press Ltd. London; Forth edition 1947.
    -- Collected papers (vol.iv); Hogarth Press Ltd. London; Third edi. 1946.

12. Gacia, Eugene Current & Walton R. Patrick -- Realism and Romantism in Fiction; Scott, Foresman Co. America; edition 1962.

13. Goodman, Theodore -- The writing of Fiction- Collier Books Ltd, N.Y. Ltd, First Pub. 1961.

14. Hale, Nancy -- The Realities of Fiction; Macmillan & Co. Ltd. London; First pub. 1963.

15. Hicks, Granvelle -- The Living Novel; Collier Books Ltd. N.Y. edition 1962.

16. Humphry, Robert -- Stream of Consciousness in Modern Novel; University of California Press, America, edition 1958.

17. Huxley, Aldous -- On Art and Artists; Chatto and Windus Ltd. London; Sixteenth impression 1960.
    -- Brave New World; Chatto and Windus Ltd. London; edition 1956.

18. James, Henry -- The Art of Fiction; Oxford University Press. N.Y. First impression 1948.

19. Lever, Katherine -- The Novel and the Reader; Methuen & Co. Ltd. London; First Pub. 1961.

20. Liddell, Robert -- A Treatise on the Novel; Jonathan cape; London; Second imp. 1949.

21. -- Some Principles of Fiction; Jonathan cope, London; First impression 1953.

21. Martin Secker and Warburg Ltd. — Writers at work (The paris Review interviews) London, second impression 1958.

22. Muir, Edwin — The structure of the novel; Hogarth press, London; edition 1929.

23. O, Lesser, Simon — Fiction and unconscious. Peter Owen Ltd. London; edi. 1960.

24. Shaperio, Charles (editor) — Twelve Original essays on great English Novels; Wayne University press, Michigan; edi. 1960.

25. Trilling, Lionel — The Liberal Imagination; Penguin Books Ltd, England; edi. 1970.

26. Van O' Connor, William — Forms of Modern Fiction; Indiana University press, Bloomington, America; Second imp. 1959.

27. Woolf, Virginia — Moment and other essays; The Hogarth press Ltd. London; edition 1952.
— Mrs. Dalloway; The Hogarth press Ltd., London; Eighth imp. 1954.
— The Common Reader; The Hogarth press Ltd., London; Seventh imp. 1959.

***

परिशिष्ट(३)

कोश,पत्र-पत्रिकायें,जर्नल्स एवं परिचर्चा

कोश

१- मानक अंग्रेजी हिन्दी कोश-- डा० सत्यप्रकाश आदि,हिन्दी साहित्य-सम्मेलन,प्रयाग,प्रथम संस्करण,१९७१ ।

२- मानविकी पारिभाषिक कोश -- डा० नगेन्द्र,राजकमल प्रकाशन,दिल्ली,प्रथम संस्करण,१९६५ ।

३- हिन्दी साहित्य कोश(भाग१ व २)-- डा० धीरेन्द्र वर्मा आदि, ज्ञानमण्डल लि०वाराणसी ।

४- बृहद् ... कोश-- ज्ञानमण्डल लि०,वाराणसी

पत्र-पत्रिकायें

१-`आलोचना` जुलाई १९५२,अक्टूबर,१९५४(उपन्यास विशेषांक),जनवरी,१९५५ जुलाई१९६५(स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी साहित्य विशेषांक),अक्टूबर-दिसम्बर१९६८,अप्रैल-जून,१९६९ तथा जनवरी-मार्च१९७० ।

२-`कल्पना` जनवरी-फरवरी१९६७,अगस्त-सितम्बर१९६८,तथा अगस्त व सितम्बर १९६९(नवलेखन विशेषांक)

३-`माध्यम` मार्च १९६४,मई १९६४,अगस्त १९६४,फरवरी१९६५,मई१९६५, मार्च १९६६ तथा जून १९६६ ।

४-`साहित्य संदेश`-- जुलाई - अगस्त १९५६(आधुनिक उपन्यास अंक)

JOURNALS

1. Ti Literary Suppliment, Oct. 8, 1964.

2. Illustrated weekly, Feb. 3, 1967.

परिचर्चा

समकालीन हिन्दी-साहित्य : बहस के लिए कुछ मुद्दे --हिन्दुस्तानी एकेडमी की एक परिचर्चा में पढ़े गये निबन्ध ।